प्रकाशक
मनुभाई भ० मोदी, ऑ० व्यवस्थापक,
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टेशन–अगास, वाया–आणंद,
पोस्ट–बोरिया–३८८१३० (गुजरात)

[प्रथमावृत्ति विक्रम स० १९६६ प्रति १०००]
[द्वितीयावृत्ति विक्रम स० १९९१ प्रति १०००]
[तृतीयावृत्ति विक्रम स० २०२६ प्रति १०००]
[चतुर्थावृत्ति विक्रम स० २०३५ प्रति १५००]

मुद्रक
(मूल ग्रन्थ तथा परिशिष्ट इ०)
प० मगनलाल गांधी,
नयन प्रिन्टिंग प्रेस,
नीची गेड पुल नीचे,
अहमदाबाद

मुद्रक
(प्रस्तावना के पृष्ठ [१] से [४०])
बाबूलाल जैन फागुल्ल,
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी (U P)

प्राक्कथन

आज मेरे लिए बडे हर्ष और सौभाग्यका अवसर है कि मै अपने सुयोग्य शिष्य तथा प्रिय मित्र जगदीशचन्द्र जैन एम ए द्वारा अनुवादित तथा सपादित स्याद्वादमञ्जरीके आदिमें कतिपय शब्द लिख रहा हूँ। ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थके सिद्धान्तो और उनसे सम्बद्ध अनेक विषयोका परिचय तो जगदीशचन्द्रजीने पाठकोको सरल और निर्दोष राष्ट्रीय भाषामें भली भाँति दे ही दिया है। मुझे इस विषयमें यहाँपर अधिक कुछ नही कहना है। मेरे लिये तो एक ही विषय रह गया है। वह है पाठकोको सम्पादक महोदयका परिचय देना।

जगदीशचन्द्र जैन सुप्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अग्रगण्य स्नातकोमेंसे है। उन्होने वहाँसे सन् १९३२ में दर्शन (Philosophy) में एम ए की उपाधि प्राप्त की थी। विश्वविद्यालयके गर्भमें भारतीयदर्शन—विशेषत जैन और बौद्ध—के साथ साथ उन्होने पाश्चात्य दर्शनका गहरा और विस्तृत अध्ययन किया, और दार्शनिक समस्याओपर निष्पक्ष भावसे स्वतत्र विचार किया। मुझे उनके आचार-विचार और आदर्शोंसे खूब परिचिति है, क्योकि वे कई वर्ष तक मेरी निरीक्षकता (Wardenship) में छात्रावासमें रहे है, और उन्होने मेरे साथ मनोविज्ञान (Psychology) और भारतीयदर्शनका अध्ययन किया है। सायकालके भ्रमणमें अक्सर उनके साथ दार्शनिक विषयोपर बातचीत हुआ करती थी। अपनी इस परिचितिके आधारपर मै नि संकोच यह कह सकता हूँ कि जगदीशचन्द्रजी एक बहुत होनहार दार्शनिक विद्वान् और लेखक है। दार्शनिकोके दो सबसे बडे गुण—निष्पक्ष और न्यायपूर्वक विचार और समन्वय बुद्धि—उनमें कूट-कूट कर भरे है। वे केवल दार्शनिक ही नही है, सहृदय भी है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसावादमें उनकी श्रद्धा है। स्याद्वादमञ्जरीमें इन सिद्धान्तोका प्रतिपादन है, इसीलिये उन्होने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका राष्ट्रभाषामें अनुवाद तथा सम्पादन किया है। अनुवाद और सम्पादन बहुत ही उत्तम रीतिसे हुए है। प्रत्येक श्लोक और उसकी टीकाके अनुवादके अन्तमें जो भावार्थ दिया गया है, उसमें विषयका बहुत सरलतासे प्रतिपादन हुआ है। कही-कही जो टिप्पणियाँ दी गई है, वे भी बहुत उपयोगी है। अन्तमें सब दर्शनो सम्बन्धी—विशेषत बौद्धदर्शन सम्बन्धी—परिशिष्टो और कई प्रकारकी अनुक्रमणिकाओने पुस्तकको बहुमूल्य बना दिया है। गुणज्ञ पाठक स्वय ही समझ जायेंगे कि सम्पादक महोदयने कितना परिश्रम किया है।

मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि इस पुस्तकका प्रचार खूब हो, और विशेषत: उन लोगोमें हो जो जैनधर्मावलम्वी नही है। सत्य और उच्च भाव और विचार किसी एक जाति या मजहबवालोंकी वस्तु नही है। इनपर मनुष्यमात्रका अधिकार है। मनुष्यमात्रको अनेकान्तवादी, स्याद्वादी और अहिंसावादी होनेकी आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नही, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें, विशेषत इस समय—जब कि समस्त भूमण्डलकी सभ्यताका एकीकरण हो रहा है और सब देशो, जातियो और मतोके लोगोका सपर्क दिन पर दिन अधिक होता जा रहा है—इन ही सिद्धान्तोपर आरूढ होनेसे ससारका कल्याण हो सकता है। मनुष्यजीवनमें कितना ही वाञ्छनीय परिवर्तन हो जाय, यदि सभी मनुष्योको प्रारम्भसे शिक्षा मिले कि सब ही मत सापेक्षक है, कोई भी मत सर्वथा सत्य अथवा असत्य नही है, पूर्ण सत्यमें सब मतोका समन्वय होना चाहिये, और सबको दूसरोके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा कि वे दूसरोसे अपने प्रति चाहते है। मै तो इस दृष्टिके प्राप्त कर लेनेको ही मनुष्यका सभ्य होना समझता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक पाठकोको इस प्रकारकी दृष्टि प्राप्त करनेमें सहायक होगी।

भिक्खनलाल आत्रेय एम ए, डी लिट्,
दर्शनाध्यापक,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आषाढ़ पूर्णिमा १९९२

प्रथम आवृत्ति की भूमिका

स्याद्वादमजरीके निम्नलिखित सस्करण प्रकाशित हो चुके है—

१ सपादित, दामोदरलाल गोस्वामी, चौखबा सस्कृत सीरीज, बनारस, १९००
२ हीरालाल वी० हसराज, मूल सहित गुजराती अनुवाद, जामनगर, १९०३
३ पडित जवाहिरलालशास्त्री व पडित वशीधरशास्त्री,रायचद्रजैन शास्त्रमाला,ववई,वि०स०१९६६
४ सपादित, पडित बेचरदास व पडित हरगोविन्ददास, काशी, वीर सवत् २४३८
५ सपादित, मोतीलाल लाघाजी, पूना, वी स २४५२
६ अगरचन्द्रजी भैरोदानजी सेठिया, सेठिया जैन ग्रथ माला, वीकानेर, १९२७
७ आनदशकर वापूजीध्रुव,मूल सहित अग्रेजी अनुवाद, ववई सस्कृत एण्डप्राकृत सीरीज ववई,१९३३
८ जगदीशचन्द्र जैन, मूल सहित हिन्दी अनुवाद, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, ववई, १९३५
९ एफ डवल्यू, थॉमस, अग्रेजी अनुवाद, वर्लिन अकादमी वर्लिन, १९६०
१० उपर्युक्त पुनर्मुद्रण, मोतीलाल, वनारसीदास, १९६८
११ साध्वी सुलोचनाश्री, मूलसहित गुजराती अनुवाद, आत्मानन्द जैन गुजराती ग्रन्थमाला, ९८, भावनगर वि स० २०२४

प्रस्तुत सस्करणको अनेक दृष्टियोसे परिपूर्ण वनानेका प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत सस्करणका संक्षिप्त परिचय

१ सशोधन—इस ग्रथका सशोधन रायचन्द्रमालाकी एक प्राचीन और शुद्ध हस्तलिखित प्रतिके आधारसे किया गया है। इस प्रतिके आदि अथवा अन्तमें किसी सवत् आदिका निर्देश न होनेसे इस प्रतिका ठीक ठीक समय मालूम नही हो सका, परन्तु प्रति प्राचीन मालूम होती है।

२ संस्कृतटिप्पणी—सस्कृतके अभ्यासियोके लिये मूल पाठके कठिन स्थलोको स्पष्ट करनेके लिये इस ग्रथमें सस्कृतकी टिप्पणियाँ लगाई गई है। इन टिप्पणियोमें सेठ मोतीलाल लाघाजीद्वारा सपादित स्याद्वाद-मजरीकी सस्कृत टिप्पणियोंका भी उपयोग किया गया है। एतदर्थ हम सम्पादक महोदयके आभारी है।

३ अनुवाद—अनुवादको यथाशक्य सरल और सुवोध वनानेका प्रयत्न किया गया है। इसके लिये अनुवाद करते समय वहुतसे शब्दोकी छूट भी लेनी पडी ह। विषयका वर्गीकरण करनेके साथ विषयको सरल और स्पष्ट वनानेके लिये न्यायके कठिन विपयोको 'शका-समाधान,' 'वादी-प्रतिवादी,' 'स्पष्टार्थ' रूपमें उपस्थित किया गया है। प्रत्येक श्लोकके अतमें श्लोकका सक्षिप्त भावार्थ दिया गया है। अनेक स्थलोपर भावार्थ लिखते समय ग्रथके मूल विषयके वाह्य विषयोकी भी विस्तृत चर्चा की गई है। कही-कही हिन्दी अनुवाद करते समय और भावार्थ लिखते समय हिन्दीकी टिप्पणियाँ भी जोडी गई है।

४ अयोगव्यवच्छेदिका—इस सस्करणमें हेमचन्द्रकी दूसरी कृति अयोगव्यवच्छेदिकाका अनुवाद भी दे दिया गया है। इसके साथ तुलनाके लिये सिद्धसेन और समतभद्रकी कृतियोमेंसे टिप्पणीमें अनेक श्लोक उद्धृत किये गये है।

५ परिशिष्ट—इस सस्करणका महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें जैन, वौद्ध, न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, पूर्वमीमासा, वेदान्त, चार्वाक और विविध नामके आठ परिशिष्ट है। जैन परिशिष्टमें तुलनात्मक दृष्टिसे जैन पारिभाषिक शब्दों और विचारोका स्पष्टीकरण है। वौद्ध परिशिष्टमें वौद्धोके विज्ञानवाद, शून्यवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक सिद्धातोका पालि, सस्कृत और अग्रेजी भाषाके ग्रथोके आधारसे प्रामाणिक विवेचन किया गया है। आशा है इसके पढनेसे पाठकोकी वौद्धदर्शन सवधी वहुतसी भ्रातिपूर्ण धारणायें दूर होगी।

तीसरे न्याय-वैशेषिक परिशिष्टमें ईश्वर सबधी चर्चा विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। चौथे साख्य-योग परिशिष्टमें साख्य, योग, जैन और बौद्ध-दर्शनोकी तुलना करते समय जो ब्राह्मण और श्रमण सस्कृति सबधी भेद दिखाया गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। पाँचवे परिशिष्टमें मीमासक और जैनोकी तुलना, छठेमें शकरके मायावादकी विज्ञानवाद और शून्यवादसे तुलना, सातवेमें चार्वाकमत और आनन्दघनजीका उसे जिनभगवानकी कूख बताना, और आठवे परिशिष्टमें आजीविक सम्प्रदाय—ध्यानपूर्वक पढने योग्य है।

६ **अनुक्रमणिका**—इस सस्करणमें नीचे लिखी तेरह अनुक्रमणिकाये दी गई है—

(१) स्याद्वादमजरीके अवतरण-इन अवतरणोमें कई अनुपलब्ध अवतरणोकी खोज पहली बार की गई है। अवतरण प्राय सेठ मोतीलाल लाधाजी और प्रो ध्रुवकी स्याद्वादमजरीके आधारसे लिये गये है।

(२) स्याद्वादमजरीमें निर्दिष्ट ग्रथ और ग्रथकार

(३) स्याद्वादमजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका) के श्लोकोकी सूची

(४) स्याद्वादमजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका) के शब्दोकी सूची

(५) स्याद्वादमजरीके न्याय

(६) स्याद्वादमजरीके श्लोकोकी सूची

(७) स्याद्वादमंजरीकी सस्कृत, तथा हिन्दी टिप्पणियोके ग्रथ और ग्रथकार

(८) अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोकी सूची

(९) अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोकी सूची

(१०) अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रथ

(११) परिशिष्टके शब्दोकी सूची

(१२) परिशिष्टमें उपयुक्त ग्रथ

(१३) सम्पादनमें उपयुक्त ग्रथ

उपसंहार

जिस समय मैं बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटीमें एम ए में आदरणीय प्रो फणिभूषण अधिकारीसे स्याद्वादमजरी पढता था, उस समय मुझे उनके साथ दर्शनशास्त्रके अनेक विषयोपर चर्चा करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समयसे मेरी इच्छा थी कि मै स्याद्वादमजरीपर कुछ लिखकर जैनदर्शन तथा राष्ट्रभाषाकी सेवा करूँ। सयोगवश पिछले वर्ष मेरा बम्बईमें आना हुआ, और मैंने रायचन्द्र जैनशास्त्रमालाके व्यवस्थापक श्रीयुत मणीलाल रेवाशकर जगजीवन झवेरीकी स्वीकृतिपूर्वक स्याद्वादमजरीका काम आरभ कर दिया। इस ग्रथके आरभसे इसकी समाप्ति तक अनेक सज्जनोने मुझे अनेक प्रकारसे सहयोग दिया है, उसके लिये मैं उन सबका आभार मानता हूँ। स्नेही श्रीयुत दलसुख डाह्याभाई मालवणियाने स्याद्वादमजरीके सस्कृत और उसके अनुवादके बहुतसे प्रूफोका सशोधन किया है। बधु साहित्यरत्न प दरबारीलालजी न्यायतीर्थने इस ग्रथ सबधी अनेक प्रश्नोकी चर्चामें रस लेकर अपना बहुमूल्य समय खर्च किया है। स्थानीय बुद्धिस्ट सोसायटीके मत्री के ए पाध्ये बी. ए, एलएल बी, वकील बम्बई हाईकोर्टने स्थानीय एशियाटिक लायब्रेरीमें मुझे हरेक प्रकारकी सुविधा दिलवाकर, तथा एन आर फाटक बी ए ने अपनी लाइब्रेरीमेंसे बहुतसी पुस्तके देकर सहायता की है। रायचन्द्रशास्त्रमालाके मैनेजर श्रीयुत कुन्दनलालजीने आवश्यकीय पुस्तको आदिका प्रबन्ध किया है। प नाथूरामजी प्रेमी, मुनि हिमाशुविजयजी, मोहनलाल दलीचद देसाई बी ए, एलएल बी, तथा मोहनलाल भगवानदास झवेरी एम ए सोलिसीटर आदि सज्जनोने भी सहानुभूतिका प्रदर्शन किया है। मेरी पत्नी कमलश्रीने हिन्दीके प्रूफ पढवानेमें और अनुक्रमणिका बनानेमें सहायता की है। मैं इन सब महानुभावोका हृदयसे आभार मानता हूँ। मुनि मोहनलाल सेंट्रल जैन लाइब्रेरी, हीराचन्द गुमानजी जैन बोर्डिंग लाइब्रेरी, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन तथा न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेसके अध्यक्षोने अपना पूर्ण सहयोग

दिया है। इस सस्करणके तैयार करनेमें प्रो आनन्दशकर वापूभाई ध्रुवकी स्याद्वादमजरी तथा अन्य अनेक ग्रन्थोसे जो मुझे सहायता मिली है, उसका यथास्थान उल्लेख किया गया है। इन सवका आभारी हूँ।

जुवेलीवाग,
तारदेव वम्वई
२०–६–३५

जगदीशचन्द्र जैन

द्वितीय आवृत्तिकी भूमिका

स्याद्वादमजरी सस्कृत एव अग्रेजीकी विविध परीक्षाओके पाठ्यक्रममें अनेक वर्षोसे नियत है। तरुण जैन साधु-साध्विया भी जैन दर्शनका सरल एव वोधगम्य भापामें ज्ञान प्राप्त करनेके लिये इस ग्रथका पारायण करते आये है।

किन्तु इधर अनेक वर्षोसे इस ग्रथके उपलब्ध न होनेके कारण विद्यार्थियोको वडी कठिनाईका सामना करना पड रहा था। साहित्यप्रेमी डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। रायचन्द्र शास्त्रमालाके अधिकारियोसे उन्होने पत्रव्यवहार किया। इसका परिणाम है यह प्रस्तुत सस्करण जो पूर्व सस्करणके ३५ वर्ष वाद प्रकाशित हो रहा है।

अनुवादके सशोधित और परिमार्जित करनेमें कोई कमी नही रक्खी गई है। फलटण (महाराष्ट्र) के वयोवृद्ध सस्कृत एव जैन दर्शनके विद्वान् प्रोफेसर एम जी कोठारीका सशोधनमें हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है। अस्वस्थ रहते हुए भी आपने इस कार्यमें रुचि दिखाई है।

२८ शिवाजी पार्क
वंवई २८
१-६-७०

जगदीशचन्द्र जैन

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र आचार्य श्वेताम्बर परम्परामें महान प्रतिभाशाली असाधारण विद्वान हो गये हैं। हेमचन्द्राचार्यका जन्म ई०स० १०७८ में गुजरातके धन्धुका ग्राममें मोढ वणिक् जातिमें हुआ था। हेमचन्द्रके जन्मका नाम चगदेव अथवा चागोदेव था। इनके पिताका नाम चच्च, चाच अथवा चाचिग, और माताका पाहिनी अथवा चाहिणी था। एक वार देवचन्द्र नामके एक जैन साधु धधुकामें आये। चगदेवकी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी। पाहिनी अपने पुत्रको लेकर जिनमदिरके दर्शन करने गई। देवचन्द्र भी इसी मदिरमें ठहरे थे। जिस समय पाहिनी जिन प्रतिविम्वकी प्रदक्षिणा दे रही थी, चगदेव देवचन्द्र महाराजके पास आकर बैठ गये। आचार्य चगदेवके शरीरपर असाधारण चिह्न देखकर आश्चर्यचकित हुए और उन्होने चगदेवके घर जाकर पाहिनीसे उसके पुत्रको जैन साधुसघमें दीक्षित करनेकी अनुमति मागी।[1] पाहिनीने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की और चगदेवको देवचन्द्र आचार्यके सुपुर्द कर दिया। जव चगदेवके पिता वाहरसे लौटे, इस घटनाको सुनकर वहुत क्रुद्ध हुए। अन्तमें सिद्धराजके तत्कालीन जैन मत्री उदयनने चगदेवके पिताको शान्त किया, तथा चगदेवका विधि विधानपूर्वक दीक्षा-सस्कार हो गया। दीक्षाके पश्चात् चगदेवका नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। प्रतिभाशाली सोमचन्द्रने शीघ्र ही तर्क, लक्षण, साहित्य और आगम इन चारो विद्याओका पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। देवचन्द्र सूरिने अपने शिष्यका अगाध पाडित्य देख सोमचन्द्रको सूरिकी उपाधिसे विभूषित किया, और अव सोमचन्द्र हेमचन्द्र सूरिके नामसे कहे जाने लगे।

एक वार हेमचन्द्र आचार्य विहार करते करते गुजरातकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणमें पधारे। उस समय वहाँ महाराज सिद्धराज जयसिह राज्य करते थे। सिद्धराजने हेमचन्द्र आचार्यको राजसभामें आमन्त्रित किया, और हेमचन्द्रके अगाध पाण्डित्यको देखकर वे वहुत मुग्ध हुए। हेमचन्द्र अणहिल्लपुरमें ही रहने लगे। सिद्धराजने कोई अच्छा व्याकरण न देखकर हेमचन्द्रसे कोई व्याकरण लिखनेका अनुरोध किया। तत्पश्चात् हेमचन्द्रने गुजरातके लिये सिद्धहैमशब्दानुशासन नामके व्याकरणकी रचना की। यह व्याकरण राजाके हाथीपर रखकर राज दरवारमें लाया गया। सिद्धराज शैवधर्मी थे। एक वार हेमचन्द्र सिद्धराजके साथ सोमनाथके मदिरमें गये। हेमचन्द्रने निम्न श्लोकोसे शिवको नमस्कारकर अपने हृदयकी विशालताका परिचय दिया—

भववीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया यया।
वीतदोपकलुप स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥

हेमचन्द्रके उपदेशसे सिद्धराजको जैनधर्मके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई, और फलस्वरूप सिद्धराजने पाटणमें 'रायविहार' और सिद्धपुरमें 'सिद्धविहार' नामक चौवीस जिन प्रतिमावाले मदिर वनवाये। सिद्धराजके समय हेमचन्द्र केवल अपने विद्या-वैभवके कारण सत्कारके पात्र हुए थे। परन्तु सिद्धराजके उत्तराधिकारी कुमारपाल हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानने लगे। हेमचन्द्रके उपदेशसे कुमारपालने अपने राज्यमें देव-

१ सोमप्रभसूरिके अनुसार चगदेवने स्वय ही देवचन्द्रसूरिके उपदेश सुनकर उनका शिष्य होनेकी इच्छा प्रगट की, और वे देवचन्द्रसूरिके साथ-साथ भ्रमण करने लगे। देवचन्द्र भ्रमण करते-करते जब खंभात आये तो वहाँ चगदेवके मामा नेमिचन्द्रने चगदेवके माता-पिताको समझाया और देवचन्द्रसूरिने चगदेवको दीक्षा दी।

देवियोके निमित्तसे की जानेवाली प्राणियोकी हिंसाको, और मास, मद्य, द्यूत, शिकार आदि दुर्व्यसनोको रोकनेकी घोपणा कराई, और जैनधर्मके सिद्धातोका अधिकाधिक प्रचार किया।

हेमचन्द्र चारो विद्याओके समुद्र थे, और अपने असामान्य विद्या-वैभवके कारण कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रख्यात थे। मल्लिपेण हेमचन्द्रका पूज्य दृष्टिसे स्मरण करते हैं, और उन्हे चार विद्याओ सबधी साहित्यके निर्माण करनेमें साक्षात् ब्रह्माकी उपमा देते है। [1]सिद्धहैमशब्दानुशासनके अतिरिक्त हेमचन्द्रने तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति आदि विविध विषयोपर अनेक ग्रथोकी रचना करके जैन साहित्यको पल्लवित बनाया। कहा जाता है कि कुल मिलाकर हेमचन्द्रने साढे तीन करोड श्लोकोकी रचना की है। हेमचन्द्रके मुख्य ग्रथ निम्न प्रकार है—

१ सिद्धहैमशब्दानुशासन (अ) प्रथम सात अध्यायोमें सस्कृत व्याकरण
(आ) आठवें अध्यायमें प्राकृत एव अपभ्रश व्याकरण

२ द्व्याश्रयमहाकाव्य (माघकृत भट्टिकाव्य के आदर्श पर)
(अ) सस्कृत द्व्याश्रय, (आ) प्राकृत द्व्याश्रय

३ कोश (अ) अभिधानचिंतामणि–सवृत्ति (हैमीनाममाला), (आ) अनेकार्थसग्रह, (इ) देशीनाममाला–सवृत्ति (रयणावलि), (ई) निघटुशेप

४ अलकार काव्यानुशासन–सवृत्ति

५ छद छदोनुशासन–सवृत्ति

६ न्याय (अ) प्रमाणमीमासा [अपूर्ण], (आ) अन्ययोगव्यवच्छेदिका (स्याद्वादमजरी), (इ) अयोगव्यवच्छेदिका

७ योग योगशास्त्र-सवृत्ति (अध्यात्मोपनिषद्)

८ स्तुति वीतरागस्तोत्र

९ चरित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

इन ग्रथोके अतिरिक्त हेमचन्द्रने और भी ग्रथोका निर्माण किया है। हेमचन्द्र भारतके एक दैदीप्यमान रत्न थे, उनके बिना जैन साहित्य ही नही, गुजरातका साहित्य शून्य समझा जायेगा।[2]

अन्ययोग और अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायें

दार्शनिक विचारोको सस्कृत पद्योमें प्रस्तुत करनेकी पद्धति भारतवर्षमें बहुत समयसे चली आती है। उपलब्ध भारतीय साहित्यमें सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्ध आचार्य वसुबधुद्वारा, विज्ञानवादकी सिद्धिके लिये बीस श्लोकप्रमाण विंशिका, और तीस श्लोकप्रमाण त्रिंशिकाकी रचना देखनेमें आती है। जैन साहित्यमें सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकरने द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओकी रचना की। हरिभद्रने भी विंशतिविंशिकाओको लिखा है। हेमचन्द्रने सिद्धसेनकी द्वात्रिंशिकाओके अनुकरण पर सरल और मार्मिक भाषामें अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद नामकी दो द्वात्रिंशिकाओकी रचना की है।

१, एक विद्वान्ने इस व्याकरणकी प्रशसा निम्न श्लोकसे की थी—

भ्रात सवृणु पाणिनीप्रलपित कातत्रकथा वृथा
मा कार्षी कटुशाकटायनवच क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तय ॥ जैन साहित्यनो इतिहास पृ० २९४।

२ विशेपके लिये देखिये प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित होनेवाली 'भारतके सास्कृतिक अग्रदूत' पुस्तकमें लेखकका 'आचार्य हेमचन्द्र' नामक निबध।

हेमचन्द्रकी उक्त दोनो द्वात्रिंशिकाये महावीर भगवानकी स्तुतिरूप है। दोनोमें वत्तीस-वत्तीस श्लोक हैं जिनमें इकतीस श्लोक उपजाति और अन्तका एक श्लोक शिखरिणी छन्दमें है। अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें[1] अन्य दर्शनोमें दूषणोका प्रदर्शन किया गया है। इसमें आदिके तीन और अन्तके तीन श्लोकोमें भगवानकी स्तुति, सतरह श्लोकोमें न्याय-वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाकदर्शनोकी समीक्षा, तथा नौ श्लोकोमें स्याद्वादकी सिद्धि की गई है—

१—स्तुतिरुप छह श्लोकोमें भगवानके अतिशय, उनके यथार्थवाद, नयमार्ग, और निष्पक्ष शासनका वर्णन करते हुए अन्तमें जिन भगवानके द्वारा ही अज्ञानाधकारमें पडे हुए जगतकी रक्षाकी शक्यताका प्रतिपादन किया है।

२—(क) अन्य दर्शनोके समीक्षात्मक रूप सतरह श्लोकोमेंसे छह श्लोकोमें (४-१०) न्याय-वैशेषिकोके सामान्यविशेषवाद, नित्यानित्यवाद, ईश्वरकर्तृत्व, धर्म-धर्मीका भेद, सामान्यका भिन्नपदार्थत्व, आत्मा और ज्ञानका भिन्नत्व, बुद्धि आदि आत्माके गुणोके उच्छेदसे मुक्ति, आत्माकी सर्वव्यापकता, तथा छल, जाति और निग्रहस्थानके ज्ञानसे मुक्ति मानना—इन सिद्धान्तोकी समीक्षा की गई है।

(ख) ११-१२ वें श्लोकमें मीमासकोकी,

(ग) १३ वें श्लोकमें वेदान्तियोके मायावादकी,

(घ) १४ वे में एकान्त सामान्य और एकान्त विशेप रूप वाच्य-वाचक भावकी,

(ङ) १५ वे में साख्यदर्शनके सिद्धान्तोकी, तथा

(च) १६–१९ में बौद्धोके प्रमाण और प्रमितिकी अभिन्नता, ज्ञानाद्वैत, शून्यवाद और क्षणभगवादकी, तथा

(छ) २० वें श्लोकमें चार्वाकदर्शनकी समीक्षा की गई है।

३—शेष नौ श्लोकोमें वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि, सकलादेश और विकलादेशसे सप्तभगीका प्ररूपण, स्याद्वादमें विरोध आदि दोषोका खडन, एकान्तवादोका खडन, दुर्नय, नय और प्रमाणका स्वरूप, और सर्वज्ञनिर्दिष्ट जीवोकी अनन्तताके प्ररूपणके साथ स्याद्वादकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की गई है।

अयोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिकामें स्वपक्षकी सिद्धि की गई है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोका उल्लेख हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासावृत्ति, योगशास्त्रवृत्ति आदि ग्रन्थोमें मिलता है। इससे मालूम होता है कि इन ग्रथोके वननेसे पहले ही द्वात्रिंशिकाओकी रचना हो चुकी थी। अयोगव्यवच्छेदिकामें हेमचन्द्र आचार्यने तीर्थिकोके आगमको सदोप सिद्ध करके जिनशासनकी महत्ताका प्रतिपादन किया है। हेमचन्द्राचार्यकी मान्यता है कि जैनेतर शास्त्रोमें हिंसा आदिका विधान पाया जाता है, अतएव पूर्वापरविरोधसे रहित यथार्थवादी जिन भगवानका शासन ही प्रामाणिक हो सकता है। जिन शासनके सर्वोत्कृष्ट और कल्याणरूप होने पर भी जो लोग जिनशासनकी उपेक्षा करते है, वह उन लोगोके दुष्कर्मका ही परिणाम समझना चाहिये। हेमचन्द्र घोषित करते है कि वीतरागको छोडकर अन्य कोई देव, और अनेकान्तको छोडकर अन्य कोई न्यायमार्ग नही है—

इमा समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोपणा ब्रुवे।
न वीतरागात्परमस्ति दैवत न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिति ॥

अन्तमें हेमचन्द्र जिनदर्शनके प्रति पक्षपात और जिनेतर दर्शनोके प्रति द्वेषभावका निराकरण करते हुए अपने समदर्शीपनेका उद्घोप करते हुए जिनशासनकी ही महत्ता सिद्ध करते है—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचि परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिता स्म ॥

१ अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके कई श्लोकोका उल्लेख माधवाचार्यने सर्वदर्शनसग्रहमें किया है।

टीकाकार मल्लिषेण

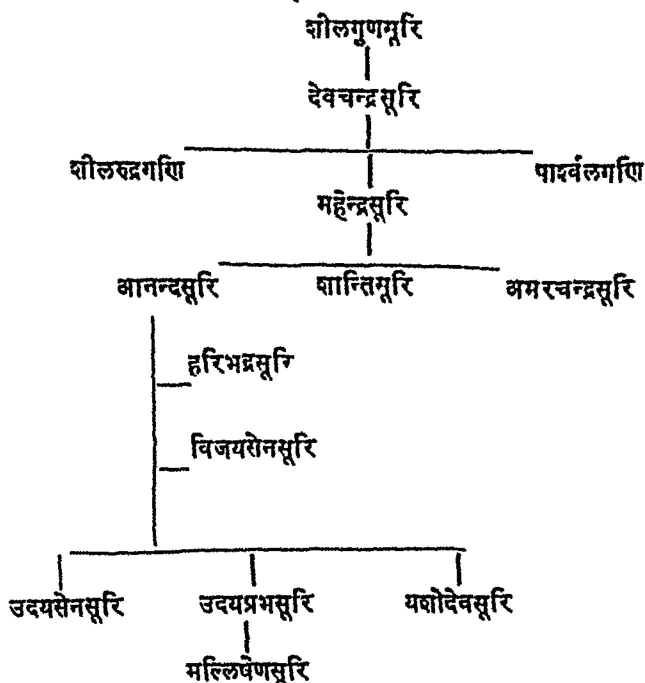
मल्लिषेण नामके अनेक जैन आचार्य हो गये हैं।[1] हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर स्याद्वादमंजरी टीका लिखनेवाले प्रस्तुत मल्लिषेणसूरि श्वेताम्बर विद्वान् हैं। मल्लिषेणने अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकाकी टीकाके अतिरिक्त अन्य कौनसे ग्रन्थोंकी रचना की है, ये कहाँके रहनेवाले थे, आदि बातोंके सबधमें कुछ विशेष पता नहीं लगता। स्याद्वादमंजरीके अंतमें दी हुई[2] प्रशस्तिसे केवल इतना ही मालूम होता है कि नागेन्द्रगच्छीय[3] उदयप्रभसूरि[4] मल्लिषेणके गुरु थे, तथा शक संवत् १२१४ (ई. स. १२९३) में दीपमालिका-

---

१ पं. नाथूराम प्रेमीजीने अपनी विद्वद्रत्नमाला (प्रथम भाग) में मल्लिषेण नामके दो दिगम्बर विद्वानोंका उल्लेख किया है। एक मल्लिषेण उभयभाषाचक्रवर्ती कहे जाते थे, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे। अब तक इनके महापुराण, नागकुमार महाकाव्य, और सज्जनचित्तवल्लभ नामके तीन ग्रन्थोंका पता लगा है। दूसरे मल्लिषेण 'मलधारिन्' नामसे प्रसिद्ध थे। ये शक संवत् १०५० में फाल्गुन कृष्ण तृतीयाके दिन श्रवणबेलगुलमें समाधिस्थ हुए थे। प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकायटीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या और आदिपुराण नामक ग्रन्थ भी मल्लिषेण आचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ कौनसे मल्लिषेणने रचे थे।

२ नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमंजरी॥

३ मोतीलाल लाधाजीने आर्हतमतप्रभाकर पूनासे प्रकाशित स्याद्वादमंजरीकी प्रस्तावनामें नागेन्द्रगच्छके आचार्योंकी परम्परा निम्न प्रकारसे दी है—



४ उदयप्रभसूरिने धर्माभ्युदयमहाकाव्य, आरंभसिद्धि, उपदेशमालाकर्णिकावृत्ति आदि ग्रन्थोंकी रचना की है।

मल्लिषेण हरिभद्रसूरिकी कोटिके सरल प्रकृतिके उदार और समन्वयवादी विद्वान थे। सिद्धसेन आदि जैन विद्वानोंकी तरह मल्लिषेण भी 'सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंके समूहको जैनदर्शन' प्रतिपादित कर 'समन्वयवाद' का उपयोग करते हैं। अन्य दर्शनोंके विद्वानोंके लिये पशु, कृपण आदि असभ्य शब्दोंका प्रयोग न कर वेदान्तियोंका सम्यग्दृष्टि, व्यासका ऋषि, कपिलका परमर्षि, उदयनका प्रामाणिकप्रकाण्ड रूपमें उल्लेख करना, तथा श्वेताम्बर परम्पराके अनुयायी होते हुए भी समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दिगम्बर विद्वानोंके उद्धरण निःसंकोच भावसे प्रस्तुत करना मल्लिषेणकी सहिष्णुता और उनके समदर्शीपनेको प्रमाणित करता है। स्याद्वादमजरीमें सप्तभंगिविधि [illegible] प्रसंगपर भी [illegible] स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके विवादग्रस्त प्रश्नोंमें मल्लिषेण मौन रहते हैं, इससे भी प्रतीत होता है कि अन्य दिगम्बर एव श्वेताम्बर आचार्योंकी तरह मल्लिषेणको साम्प्रदायिक चर्चाओंमें रस नहीं था। अनेक वृक्षोंसे पुष्पोंको चुनने के समान, अनेक दर्शन सम्बन्धी शास्त्रीय प्रमेयोंको [illegible], निस्सन्देह मल्लिषेणसूरिने 'अकृत्रिमबहुमति' स्याद्वादमजरी नामकी माला गूथकर जैनन्यायको समलकृत किया है।

स्याद्वादमजरीका विहगावलोकन

श्लोक १–३

ये श्लोक स्तुतिरूप हैं। इनमे चार अतिशयो सहित भगवानके यथार्थवादका प्रतिपादन करते हुए उनके शासनकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है।

श्लोक ४–१०

इन छह श्लोकोमें न्याय-वैशेषिकोके निम्न सिद्धान्तोपर विचार किया गया है—

(१) सामान्य और विशेष भिन्न पदार्थ नही है।

(२) वस्तुको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य मानना न्यायसगत नही है।

(३) एक, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, स्वतत्र और नित्य ईश्वर जगतका कर्ता नही हो सकता।

(४) धर्म-धर्मीमें समवाय सबध नही बन सकता।

(५) सत्ता (सामान्य) भिन्न पदार्थ नही है।

(६) ज्ञान आत्मासे भिन्न नही है।

(७) आत्माके बुद्धि आदि गुणोके नाश होनेको मोक्ष नही कह सकते।

(८) आत्मा सर्वव्यापक नही हो सकती।

(९) छल, जाति, निग्रहस्थान आदि तत्त्व मोक्षके कारण नही हो सकते।

तथा—

(क) तम (अन्धकार) अभावरूप नही है, वह आकाशकी तरह स्वतन्त्र द्रव्य है, और पौद्गलिक है।

(ख) 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और सदास्थिरत्व' नित्यका लक्षण मानना ठीक नही। 'पदार्थके स्वरूपका नाश नही होना' ही नित्यका लक्षण ठीक हो सकता है।

(ग) किरणे गुणरूप नही है, उन्हें तैजस पुद्गलरूप मानना चाहिये।

(घ) नैयायिकोके प्रमाण, प्रमेय आदिके लक्षण दोषपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोमे—

(अ) जैनदृष्टिसे आकाश आदिमें नित्यानित्यत्व,

(ब) पतजलि, प्रशस्तकार और बौद्धोके अनुसार वस्तुओका नित्यानित्यत्व,

(स) अनित्यैकान्तवादी बौद्धोके क्षणिकवादमें दूषण,

(ङ) वैदिकसहिता, स्मृति आदिके वाक्योमें पूर्वापरविरोध, तथा

(इ) केवलिसमुद्घात अवस्थामें जैनसिद्धातके अनुसार आत्म-व्यापकताकी सगतिका प्ररूपण किया गया है।

श्लोक ११-१२

इन श्लोकोमें पूर्वमीमासकोके निम्न सिद्धातोपर विचार किया गया है—

(१) वेदोमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका कारण नही हो सकती।

(२) श्राद्ध करनेसे पितरोकी तृप्ति नही होती।

(३) अपौरुषेय वेदको प्रमाण नही मान सकते।

(४) ज्ञानको स्वपरप्रकाशक न माननेसे अनेक दूषण आते है, इसलिये ज्ञानको स्व और परका प्रकाशक मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोमें—

(क) जिनमदिरके निर्माण करनेका विधान,

(ख) साख्य, वेदान्त और व्यास ऋषि द्वारा याज्ञिक हिंसाका विरोध, तथा

(ग) ज्ञानको अनुव्यवसायगम्य माननेवाले न्याय-वैशेषिकोका खडन किया गया है।

श्लोक १३

इस श्लोकमें ब्रह्माद्वैतवादियोके मायावादका खडन है। यहांपर प्रत्यक्ष प्रमाणको विधि और निषेध-प्रतिपादन किया है।

श्लोक १४

इस श्लोकमें एकान्त-सामान्य और एकान्त-विशेष वाच्य-वाचक भावका खडन करते हुए कथचित् और कथचित् विशेष वाच्य-वाचक भावका समर्थन किया गया है। इस श्लोकमें निम्न महत्वपूर्ण प्रतिपादन हैं—

(१) केवल द्रव्यास्तिकनय अथवा सग्रहनयको माननेवाले अद्वैतवादी, साख्य और मीमासकोका का·न्तवाद मानना युक्तियुक्त नही है।

(२) केवल पर्यायास्तिकनयको माननेवाले बौद्धोका विशेषैकान्तवाद ठीक नही है।

(३) केवल नैगमनयको स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिकोका स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष वि· व द मानना ठीक नही है।

५—

(क) शब्द आकाशका गुण नही ह, वह पौद्गलिक है, और सामान्य-विशेष दोनो रूप हे।

(ख) आत्मा भी कथचित् पौद्गलिक है।

(ग) अपोह, सामान्य अथवा विधिको शब्दार्थ नही मान सकते।

श्लोक १५

इस श्लोकमें साख्योकी निम्न मान्यताओकी समीक्षा की गई है—

(१) चित्शक्ति (पुरुष) को ज्ञानसे शून्य मानना परस्पर विरुद्ध है।

(२) बुद्धि (महत्) का जड मानना ठीक नही है। अहकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नही।

(३) सत्कार्यवाद माननेवाले साख्य लोगोका आकाश आदिका पाँच तन्मात्राओसे उत्पत्ति मानना असगत है।

(४) बध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नही।

(५) वाक्, पाणि आदिको पृथक् इन्द्रिय नही कह सकते, इसलिये पाँच ही इन्द्रियाँ माननी चाहिये।

(६) केवल ज्ञानमात्रसे मोक्ष नही हो सकता।

श्लोक १५-१९

इन श्लोकोमें बौद्धोके निम्न मुख्य सिद्धातोपर विचार किया गया है—

(१) प्रमाण और प्रमाणके फलको सर्वथा अभिन्न न मानकर कथचित् भिन्नाभिन्न मानना चाहिये।

(२) सम्पूर्ण पदार्थोंको एकान्त रूपसे क्षणध्वसी न मानकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित स्वीकार करना चाहिये।

(३) पदार्थोंके ज्ञानमें तदुत्पत्ति और तदाकारताको कारण न मानकर क्षयोपशमरूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये।

(४) विज्ञानवादी बौद्धोका विज्ञानाद्वैत मानना ठीक नही है।

(५) प्रमाता, प्रमेय आदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे सिद्ध होते है, इसलिये माध्यमिक बौद्धोका शून्यवाद युक्तिसगत नही है।

(६) बौद्धोके क्षणभगवादमें अनेक दोष आते हैं, अत क्षणभगवादका सिद्धात दोषपूर्ण है।

(७) क्षणभगवादकी सिद्धिके लिए नाना क्षणोकी परम्परारूप वासना अथवा सतानको मानना भी ठीक नही।

तथा—

(क) नैयायिकोके प्रमाण और प्रमितिमें एकान्त-भेद नही बन सकता।

(ख) आत्माकी सिद्धि।

(ग) सर्वज्ञकी सिद्धि।

श्लोक २०

इस श्लोकमें चार्वाक मतके सिद्धातोका खण्डन किया गया है।

श्लोक २१-२९

इन श्लोकोमें स्वपक्षका समर्थन करते हुए स्याद्वादकी सिद्धि की गई है। इन श्लोकोमें निम्न सिद्धातोका प्रतिपादन किया गया है—

(१) प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुमें ध्रौव्य और पर्यायकी अपेक्षा सदा उत्पाद और व्यय होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर सापेक्ष है।

(२) आत्मा, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि सम्पूर्ण द्रव्योमें नाना अपेक्षाओसे नाना धर्म रहते हैं, अतएव प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक मानना चाहिये। जो वस्तु अनन्तधर्मात्मक नही होती, वह वस्तु सत् भी नही होती।

(३) प्रमाणवाक्य और नयवाक्यसे वस्तुमें अनन्त धर्मोकी सिद्धि होती है। प्रमाणवाक्यको सकलादेश और नयवाक्यको विकलादेश कहते है। पदार्थके धर्मोका काल, आत्मरूप, अर्थ, सबध, उपकार गुणिदेश, ससर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेदरूप कथन करना सकलादेश, तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेदविवक्षासे पदार्थोंके धर्मोका प्रतिपादन करना विकलादेश है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य,

स्यान्नास्तिअवक्तव्य, और स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्यके भेदसे सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभगीके सात सात भेदोमें विभक्त हैं।

(४) स्याद्वादियोके मतमें स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तुमें अस्तित्व और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व है। जिस अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व है, उसी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व नही है। अतएव सप्तभगी नयमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, सकर, व्यतिकर, सशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोष नही आ सकते।

(५) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तु नित्य, सामान्य, अवाच्य, और सत् है, तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् है। अतएव नित्यानित्यवाद, सामान्यविशेषवाद, अभिलाप्यानभिलाप्यवाद तथा सदसद्वाद इन चारो वादोका स्याद्वादमें समावेश हो जाता है।

(६) नयरूप समस्त एकातवादोका समन्वय करनेवाला स्याद्वादका सिद्धात ही सर्वमान्य हो सकता है।

(७) भावाभाव, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य आदि एकातवादोमें सुख-दु ख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नही बनती।

(८) वस्तुके अनन्त धर्मोमेंसे एक समयमें किसी एक धर्मकी अपेक्षा लेकर वस्तुके प्रतिपादन करनेको नय कहते हैं। इसलिये जितने तरहके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। नयके एकसे लेकर सख्यात भेद तक हो सकते हैं। सामान्यसे नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये सात भेद किये जाते हैं। न्याय-वैशेषिक केवल नैगमनयके, अद्वैतवादी और साख्य केवल सग्रहनयके, चार्वाक केवल व्यवहारनयके, बौद्ध केवल ऋजुसूत्रनयके, और वैयाकरण केवल शब्दनयके माननेवाले हैं। प्रमाण सम्पूर्ण नयरूप होता है। नयवाक्योमें स्यात् शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाणके दो भेद होते हैं।

(९) जितने जीव व्यवहारराशिसे मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि निगोदकी अव्यवहारराशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं, और यह अव्यवहारराशि आदिरहित है, इसलिये जीवोके सतत मोक्ष जाते रहनेपर भी ससार जीवोसे कभी खाली नही हो सकता।

(१०) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें जीवत्वकी सिद्धि।

(११) प्रत्येक दर्शन नयवादमें गर्भित होता है। जिस समय नयरूप दर्शन परस्पर निरपेक्ष भावसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये दर्शन परसमय कहे जाते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियाँ एक समुद्रमें जाकर मिलती है, उसी तरह अनेकात दर्शनमें सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोका समन्वय होता है, इसलिये जैनदर्शन स्वसमय है।

श्लोक ३०–३२

यहाँ महावीर भगवानकी स्तुतिका उपसहार करते हुए अनेकातवादसे ही जगतका उद्धार होनेकी शक्यताका प्रतिपादन किया गया है।

जैनदर्शनमें स्याद्वादका स्थान

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थानमिव गोपी ॥ (अमृतचन्द्र)

स्याद्वादका मौलिक रूप और उसका रहस्य—विज्ञानने इस बातको भले प्रकार सिद्ध कर दिया है कि जिस पदार्थको हम नित्य और ठोस समझते हैं, वह पदार्थ बडे वेगसे गति कर रहा है, जो हमें काले, पीले, लाल आदि रग दिखाई पडते हैं, वे सब सफेद रगके रूपान्तर हैं, जो सूर्य हमें छोटासा और बिलकुल पास दिखाई देता है, वह पृथिवी मडलसे साढे बारह लाख गुना बडा और यहाँसे नौ करोड तीस लाख मीलकी ऊँचाईपर है । इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि हम अनन्त समय बीत जानेपर भी ब्रह्माण्डकी छोटीसे छोटी वस्तुओका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही कर सके, तो जिसको हम दार्शनिक भाषामें पूर्ण सत्य (Absolute) कहते हैं, उसका साक्षात्कार करना कितना दुष्कर होना चाहिये । भारतके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओने तत्त्वज्ञान सबधी इस रहस्यका ठीक-ठीक अनुभव किया था । इसीलिये जब कभी आत्मा, परब्रह्म, पूर्ण सत्य आदिके विषयमें पूर्वकालकी परिषदोमें प्रश्नोकी चर्चा उठती, तो 'नैषा तर्केण मतिरापनेया, (कठ), 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (मुण्डक), 'सव्वे सरा नियट्टति तक्का तत्थ न विज्जइ' (आचाराग), 'परमार्थो हि आर्याणा तूष्णीभाव ' (चन्द्रकीर्ति)—वह केवल अनुभवगम्य है, वह वाणी और मनके अगोचर है, वहाँ जिह्वा रुक जाती है, और तर्क काम नही करता, वास्तवमें तूष्णीभाव ही परमार्थ सत्य है', आदि वाक्योसे इन शकाओका समाधान किया जाता था[1] । इसका मतलब यह नही कि भारतीय ऋषि अज्ञानवादी थे, अथवा उनको पूर्ण सत्यका यथार्थ ज्ञान नही था । किन्तु इस प्रकारके समाधान प्रस्तुत करनेसे उनका अभिप्राय था कि पूर्ण सत्य तक पहुँचना तलवारकी धार पर चलनेके समान है, अतएव इसकी प्राप्तिके लिये अधिकसे अधिक साधनाकी आवश्यकता है । वास्तवमें जितना-जितना हम पदार्थोंका विचार करते है, उतने ही पदार्थ विशीर्यमाण दृष्टिगोचर होते है । महर्षि सुकरातके शब्दोमें, हम जितना-जितना शास्त्रोका अवलोकन करते है, हमें उतना ही अपनी मूर्खताका अधिकाधिक आभास होता है ।

जैनदर्शनका स्याद्वाद भी इसी तत्त्वका समर्थन करता है । जैन दार्शनिकोका सिद्धान्त है कि मनुष्यकी शक्ति बहुत अल्प है, और बुद्धि बहुत परिमित है । इसलिये हम अपनी छद्मस्थ दशामें हजारो-लाखो प्रयत्न करनेपर भी ब्रह्माण्डके असख्य पदार्थोका ज्ञान करनेमें असमर्थ रहते है । हम विज्ञानको ही ले । विज्ञान अनन्त समयसे विविध रूपमें प्रकृतिका अभ्यास करनेमें जुटा है, परन्तु हम अभी तक प्रकृतिके एक अशमात्रको भी पूर्णतया नही जान सके । दर्शनशास्त्रकी भी यही दशा है । सृष्टिके आरभसे आज तक अनेक ऋषि-महर्षियोने तत्त्वज्ञान सबधी अनेक प्रकारके नये-नये विचारोकी खोज की, परन्तु हमारी दार्शनिक गुत्थियाँ आज भी पहलेकी तरह उलझी पडी हुई है । स्याद्वाद यही प्रतिपादन करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता, यह पदार्थोंकी अमुक अपेक्षाको लेकर ही होता है, इसलिए हमारा ज्ञान आपेक्षिक सत्य है । प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म है । इन अनन्त धर्मोंमेंसे हम एक समयमें कुछ धर्मोका ही ज्ञान कर सकते है, और दूसरोको भी कुछ धर्मोका ही प्रतिपादन कर सकते है । जैन तत्त्ववेत्ताओका कथन है कि जिस प्रकार कई अधे मनुष्य किसी हाथीके भिन्न भिन्न अवयवोको हाथसे टटोलकर हाथीके उन भिन्न-भिन्न अवयवोको ही पूर्ण हाथी समझकर परस्पर विवाद उत्पन्न करते है, इसी प्रकार ससारका प्रत्येक दार्शनिक सत्यके केवल अशमात्रको ही जानता है, और सत्यके इस अशमात्रको सम्पूर्ण सत्य समझकर परस्पर विवाद और वितण्डा खडा करता है । यदि ससारके दार्शनिक अपने एकान्त

---

१ पश्चिमके विचारक ब्रैडले (Bradley), बर्गसॉ (Bergson) आदि विद्वानोने भी सत्यको बुद्धि और तर्कके बाह्य कहकर उसे Experience और Intution का विषय बताया है ।

आग्रहको छोडकर अनेकान्त अथवा स्याद्वाददृष्टिसे काम लेने लगें, तो हमारे जीवनके बहुतसे प्रश्न सहजमें ही हल हो मकते है । वास्तवमें सत्य एक है, केवल सत्यकी प्राप्तिके मार्ग जुदा-जुदा है। अल्प शक्तिवाले छद्मस्थ जीव इस सत्यका पूर्ण रूपसे ज्ञान करनेमें असमर्थ हैं, इसलिये उनका सम्पूर्ण ज्ञान आपेक्षिक सत्य ही कहा जाता है। यही जैन दर्शनकी अनेकात दृष्टिका गूढ रहस्य है।

यहाँ शका हो सकती है कि इस सिद्धातके अनुसार हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्ध सत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्य नही जान सकते । दूसरे शब्दोमें कहा जा सकता है कि स्याद्वाद हमें अर्ध सत्योके पास ले जाकर पटक देता है, और इन्ही अर्ध सत्योको पूर्ण सत्य मान लेनेकी हमें प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध सत्योको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता। तथा किसी न किसी रूपमें पूर्ण सत्यको माने बिना कोई भी दर्शन पूर्ण कहे जानेका अधिकारी नही है। इस भावको भारतके प्रसिद्ध विचारक विद्वान् प्रो० राधाकृष्णन्ने निम्न प्रकारसे उपस्थित किया है—

The theory of Relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute The Jains admit that things are one in their universal aspect (Jati or Karana) and many in their partcular aspect (vyakti or karya). Both these, according to them, are partial points of view A plurality of reals is admittedly a relative truth We must rise to the complete point of view and took at the whole with all the wealth of its attitudes If Jainism stops short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of the world, connected with one another, vitally, essentially and imminently, it throws overboard its own logic and exalts a relative truth into an absolute one [1]

इस शकाका समाधान स्पष्ट है। वह यह है, जैसा कि ऊपर बताया गया है कि स्याद्वाद पदार्थोंके जाननेकी एक दृष्टि मात्र है। स्याद्वाद स्वय अतिम सत्य नही है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुँचानेके लिये केवल मार्गदर्शकका काम करता है। स्याद्वादसे केवल व्यवहार सत्यके जाननेमें उपस्थित होनेवाले विरोधोका ही समन्वय किया जा सकता है, इसीलिये जैन दर्शनकारोने स्याद्वादको व्यवहार सत्य माना[2] है।

१ इन्डियन फिलासफी जि १, पृ ३०५-६। इसी प्रकारके विचार 'इन्डियन फिलॉसफिकल कॉंग्रेसके किसी अधिवेशनके समय Jain Instrumental theory of knowledge नामक लेखमें, सभवत हनुमतराव एम ए ने प्रगट किये है। लेखका कुछ अश निम्न प्रकारसे हैं—

Its great defect lies in the fact that it (the doctrine of Syadvada) yields to the temptation of an easy compromise without overcoming the contradictions inherent in the opposed standpoints in a higher synthesis. It takes care to show that the truths of science and of every day experience are relative and one-sided, but it leaves us in the end with the view that truth is a sum of relative truths A mere putting together of half truths definite-indefinite cannot give us the whole truth

२ स्याद्वादसे ही लोकव्यवहार चल सकता है, इस बातको सिद्धसेन दिवाकरने निम्न गाथामें व्यक्त किया है—

जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणगतवायस ॥

व्यवहार सत्यके आगे भी जैनसिद्धांतमें निरपेक्ष सत्य माना गया है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दोंमें केवलज्ञान-के नामसे कहा जाता है। स्याद्वादमें सम्पूर्ण पदार्थोंका क्रम-क्रमसे ज्ञान होता है, परन्तु केवलज्ञान सत्यप्राप्तिकी वह उत्कृष्ट दशा है, जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ और उन पदार्थोंकी अनन्त पर्यायोंका एक साथ ज्ञान होता है। स्याद्वाद परोक्षज्ञानमें गर्भित होता है, इसलिये स्याद्वादमें केवल इन्द्रियजन्य पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, किन्तु केवलज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, अतः केवलज्ञानमें भूत, भविष्य और वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते[1] है। अतएव स्याद्वाद हमें केवल जैसे-तैसे अर्ध सत्योंको ही पूर्ण सत्य मान लेनेके लिये बाध्य नहीं करता, किन्तु वह सत्यका दर्शन करनेके लिये अनेक मार्गोंकी खोज करता है। स्याद्वादका कहना है कि मनुष्यकी शक्ति सीमित है, इसलिये वह आपेक्षिक सत्यको ही जान सकता है। पहले हमें व्यावहारिक विरोधोंका समन्वय करके आपेक्षिक सत्यको प्राप्त करना चाहिये। आपेक्षिक सत्यके जाननेके बाद हम पूर्ण सत्य—केवलज्ञान—का साक्षात्कार करनेके अधिकारी हैं।

स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि—अहिंसा और अनेकान्त ये जैनधर्मके दो मूल सिद्धांत हैं। महावीर भगवानने इन्हीं दो मूल सिद्धांतोंपर अधिक भार दिया था। महावीर शारीरिक अहिंसाके पालन करनेके साथ मानसिक अहिंसा (intellectual toleration) के ऊपर भी उतना ही जोर देते हैं। महावीरका कहना था कि उपशम वृत्तिसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है, और यही वृत्ति मोक्षका साधन है। भगवानका उपदेश था कि प्रत्येक महान् पुरुष भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही सत्यकी प्राप्ति करता है। इसलिये प्रत्येक दर्शनके सिद्धांत किसी अपेक्षासे सत्य हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम व्यर्थके वाद-विवादमें न पड़कर अहिंसा और शांतिमय जीवन यापन करें। हम प्रत्येक वस्तुको प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं, और साथ ही इस वस्तुके नित्यत्वका भी अनुभव करते हैं, अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षासे नित्य और सत्, और किसी अपेक्षासे अनित्य और असत् आदि अनेक धर्मोंसे युक्त है। अनेकातवाद सम्बन्धी इस प्रकारके विचार प्राय प्राचीन आगम ग्रथोंमें देखनेमें आते हैं। गौतम गणधर महावीर भगवान्से पूछते हैं—'आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अथवा अज्ञान स्वरूप?' भगवान उत्तर देते हैं—'आत्मा नियमसे ज्ञान स्वरूप है। क्योंकि ज्ञानके बिना आत्माकी वृत्ति नही देखी जाती। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञानरूप भी है[2]।

१ समतभद्रने आप्तमीमासामें स्याद्वाद और केवलज्ञानके भेदको स्पष्ट रूपसे निम्न श्लोकोंमें प्रतिपादन किया है—

> तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत्सर्वभासन।
> क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृत ॥ १०१ ॥
> उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी।
> पूर्व वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य गोचरे ॥ १०२ ॥
> स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
> भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥ १०५ ॥

तथा देखिये अष्टसहस्री, पृ २७५-२८८

२ सर्वनयाना जिनप्रवचनस्यैव निबधनत्वात्। किमस्य निबधनमिति चेत्। उच्यते। निबधन चास्य 'आया भन्ते नाणे अन्नाणे' इति स्वामी गौतमस्वामिना पृष्टो व्याकरोति—'गोदमा णाणे णियमा' अतो ज्ञान नियमादात्मनि। ज्ञानस्यान्यव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनात्। नयचक्र, हस्तलिखित।

(जैनसाहित्यसशोधक १-४, पृ १४६)

ज्ञातृधर्मकथा[1] और भगवतीसूत्र[2] भी एक ही वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षासे अस्ति, किसीसे नास्ति और किसी अपेक्षासे अवक्तव्य कहा गया है। प्राचीन आगमोमें स्याद्वादके सात भगोका उल्लेख नही मिलता, परन्तु यहाँ त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य), सिय अत्थि सिय णत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि स्याद्वादके सूचक शब्दोका अनेक स्थानोपर उल्लेख पाया जाता है। आगम-ग्रन्थोपर ईसाके पूर्व चौथी शताब्दीमें भद्रबाहुकी दश निर्युक्तियोमें भी इन्ही विचारोको विशेष रूपसे प्रस्फुटित किया गया है। इसके पश्चात् ईसवी सन् प्रथम शताब्दीके आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यमें अनेकान्तवाद और विशेषकर नयवादकी चर्चा विस्तृत रूपमें पायी जाती है। यहाँ अर्पित, अनर्पित, नयोके भेद और उपभेदोका वर्णन विस्तारसे किया गया है। परन्तु यहाँ तक स्याद्वादके सात भगोके नामोका उल्लेख नही मिलता।

इन सात भगोका नाम सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्दके पचास्तिकाय और प्रवचनसारमें दिखाई पडता है। यहाँ सात भगोके केवल नाम एक गाथामें गिना दिये गये है। जान पडता है कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धातोपर होनेवाले प्रतिपक्षियोके कर्कश तर्कप्रहारसे सतर्क हो गये थे, और इसीलिये बौद्धोके शून्यवादकी तरह जैन श्रमण अनेकातवादको सप्तभगीका तार्किकरूप देकर जैन सिद्धान्तोकी रक्षाके लिये प्रवृत्तिशील होने लगे थे। इसके पूर्व सप्तभगी नयवाद अथवा अधिकसे अधिक स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य इन तीन मूल भगोके रूपमें ही पाया जाता है। स्याद्वादको प्रस्फुटित करनेवाले जैन आचार्योमें ईसवी सन्की चौथी शताब्दीके विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर और समतभद्रका नाम सबसे महत्वपूर्ण है। ये दोनो अपूर्व प्रतिभाशाली उच्च कोटिके दार्शनिक विद्वान थे। इन विद्वानोने जैन तर्कशास्त्रपर सम्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमासा आदि स्वतन्त्र ग्रन्थोकी रचना की। सिद्धसेन और समन्तभद्रने अनेक प्रकारके दृष्टान्तोसे और नयोके सापेक्ष वर्णनसे स्याद्वादका अभूतपूर्व ढगसे प्रतिपादन किया तथा जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियोको अनेकान्त दृष्टिके अशमात्र प्रतिपादन कर[3] मिथ्यादर्शनोके समूहको जैनदर्शन बताते हुए[4] अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावनाका परिचय दिया। इनके बाद ईसाकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमें मल्लवादि और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामके श्वेताम्बर विद्वानोका प्रादुर्भाव हुआ। मल्लवादि अपने समयके महान तार्किक विद्वान

---

१ सुया, एगे वि अह दुवे वि अह जाव अणेगभूयभावभविए वि अह।
से केणट्ठाण भते, एगे वि अह जाव।
सुया, दव्वट्ठाए एगे अह, नाणदसणट्ठाए दुवे वि अह, पाएसट्ठाए अक्खए वि अह अव्वए वि अह, अव्वट्ठिए वि अह उपओगट्ठाए अणेगभूयभावभविए वि अह। ज्ञातृधर्मकथा ५–४६, पृ० १०७।
उ यशोविजयजीने इसी भावको निम्न रूपसे व्यक्त किया है—
यथाह सोमिलप्रश्ने जिन स्याद्वादसिद्धये।
द्रव्यार्थादहमेकोऽस्मि दृग्ज्ञानार्थाद्विभावपि॥
अक्षयश्चाव्ययश्चास्मि प्रदेशार्थविचारत।
अनेकभूतभावात्मा पर्यायार्थपरिग्रहात्॥ अध्यात्मसार।

२ आया भते, रयणप्पभा पुढवी अन्ना रयणप्पभा पुढवी ?
गोयमा, रयणप्पभा सिय आया, सिय नो आया,
सिय अवत्तव्व आया तिय नो आया तिय। भगवती १२–१०, पृ० ५९२।

३ उदधाविव सर्वसिंघव समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टय।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि॥ द्वा० द्वात्रिंशिका ०-१५।

४. भद्द मिच्छादसणसमूहमइयस अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्गसुहाहिमग्गस्स॥ सम्मतितर्क, ३-६५।

समझे जाते थे। इन्होने अनेकातवादका प्रतिपादन करनेके लिये नयचक्र आदि ग्रन्थोंकी रचना की। जिनभद्रगणि श्वेताम्बर आगमोके मर्मज्ञ पण्डित थे, उन्होने विशेषावश्यकभाष्य आदि शास्त्रोंकी रचना की। जिनभद्रने प्राय सिद्धसेन दिवाकरकी शैलीका ही अनुसरण किया। इन विद्वानोंके पश्चात् ईसाकी आठवी-नौवी शताब्दीमें अकलक और हरिभद्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन विद्वानोंने स्याद्वादका नाना प्रकारसे ऊहापोहात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन कर स्याद्वादको सागोपाग परिपूर्ण बनाया।[1] इस समय प्रतिपक्षी लोग अनेकातवादपर अनेक प्रहार करने लगे थे। कोई लोग अनेकातको सशय कहते थे, कोई केवल छलका रूपान्तर कहते थे, और कोई इसमें विरोध, अनवस्था आदि दोषोका प्रतिपादन कर इसका खंडन करते थे। ऐसे समयमें अकलक और हरिभद्रने तत्त्वार्थराजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय, अनेकातजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थोका निर्माण कर योग्यतापूर्वक उक्त दोषोका निवारण किया, और अनेकातकी जयपताका फहराई। ईसाकी नौवी शताब्दीमें विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि सुविख्यात दिगम्बर विद्वान् हो गये हैं। विद्यानन्द अपने समयके बडे भारी नैयायिक थे। इन्होने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानोके जैनदर्शनपर होनेवाले आक्षेपोका बडी योग्यतासे परिहार किया है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोको लिखकर अनेक प्रकारसे तार्किक शैलीद्वारा स्याद्वादका प्रतिपादन और समर्थन किया है। माणिक्यनन्दिने सर्वप्रथम जैन न्यायको परीक्षामुखके सूत्रोमें गूथ अपनी अलौकिक प्रतिभाका परिचय देकर जैनन्यायको समुन्नत बनाया है। ईसाकी दसवी-ग्यारहवी शताब्दीमें होनेवाले प्रभाचन्द्र और अभयदेव महान तार्किक विद्वान थे। इन विद्वानोंने सम्मतितर्कटीका (वादमहार्णव), प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्रोदय आदि जैनन्यायके ग्रन्थोकी रचना कर जैनदर्शनकी महान सेवा की है। इन विद्वानोने सौत्रातिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि वादोका समन्वय करके स्याद्वादका नैयायिक पद्धतिसे प्रतिपादन किया है। इनके पश्चात् ईसाकी बारहवी शताब्दीमें वादिदेवसूरि और कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रका नाम आता है। वादिदेव वादशक्तिमें असाधारण माने जाते थे। वादिदेवने स्याद्वादका स्पष्ट विवेचन करनेके लिये प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थ लिखे हैं। हेमचन्द्र अपने समयके असाधारण पुरुष थे। इन्होने अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, प्रमाणमीमासा आदि ग्रन्थ लिख कर अपूर्व ढगसे स्याद्वादकी सिद्धि कर जैनदर्शनके सिद्धान्तोको पल्लवित किया है। ईसवी सन्‌की सतरहवी-अठारहवी शताब्दीमें उपाध्याय यशोविजयजी और पण्डित विमलदास जैनदर्शनके अन्तिम विद्वान् हो गये हैं। उपाध्याय यशोविजयजी जैन परम्परामें लोकोत्तर प्रतिभाके धारक असाधारण विद्वान थे। इन्होने योग, साहित्य, प्राचीन न्याय आदिका गभीर पाडित्य प्राप्त करनेके साथ नव्य न्यायका भी पारायण किया था। स्याद्वादके द्वारा अभूतपूर्व ढगसे सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करके स्याद्वादको 'सार्वतान्त्रिक' सिद्ध करना, यह उपाध्यायजीकी ही प्रतिभाका सूचक है।[2] यशोविजयजीने शास्त्रवार्तासमुच्चयकी स्याद्वादकल्पलताटीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायखण्डखाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्रीटीका आदि अनेक ग्रथोकी रचना की है। प० विमलदास दिगम्बर विद्वान थे। इन्होने नव्य न्यायको अनुकरण करनेवाली भाषामें सप्तभगीतरगिणी नामक स्वतत्र ग्रन्थकी सक्षिप्त और सरल भाषामें रचना करके एक महान क्षतिकी पूर्ति की है।

स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमे स्थान—किसी वस्तुको भिन्न-भिन्न अपेक्षाओसे विविध रूपमें दर्शन करनेके स्याद्वादसे मिलते-जुलते सिद्धात जैन साहित्यके अतिरिक्त अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेदमें कहा

---

१ देखिये तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्रकी व्याख्या, तथा अनेकातजयपताका।

२ तुलनीय—ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदा स्याद्वाद सार्वतान्त्रिकम् ॥ ५१ ॥ अध्यात्मसार।

गया है, 'उस समय सत् भी नही था और असत् भी नही था'[१]। ईशावास्य, कठ, प्रश्न, श्वेताश्वतर आदि प्राचीन उपनिषदोमें भी 'वह हिलता है और हिलता भी नही है, वह अणुसे छोटा है और बडेसे बडा है, सत् भी है, असत् भी है[२]' आदि प्रकारसे विरुद्ध नाना गुणोकी अपेक्षा ब्रह्मका वर्णन किया गया है। भारतीय षट्दर्शनकारोने भी इस प्रकारके विचारोका प्रतिपादन किया है। उदाहरणके लिये, वेदान्तमें अनिर्वचनीयवाद[३], कुमारिलका सापेक्षवाद, बौद्धका मध्यममार्ग[४] आदि सिद्धात स्याद्वादसे मिलते जुलते विचारोका ही समर्थन करते हैं[५]। ग्रीक दर्शनमें भी एम्पीडोक्लीज (Empedocles), एटोमिस्ट्स (Atomists) और अनैक्सागोरस (Anaxagoras) दार्शनिकोने इलिअटिक्स (Eleatics) के नित्यत्ववाद और हैरेक्लिटस (Hereclitus) के क्षणिकवादका समन्वय करते हुए पदार्थोके नित्य दशामें रहते हुए भी आपेक्षिक

---

१ नासदासीन्न सदासीत्तदानीम्। ऋग्वेद। १०–१२९–१।
यद्यपि सदसदात्मक प्रत्येक विलक्षण भवति तथापि भावाभावयो सहवस्थानमपिसभवति। सायण भाष्य।
उ यशोविजयजीका कथन है कि वेदोमें भी स्याद्वादका विरोध नही किया गया है। देखिये इसी पृष्ठकी टि १।

२ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। ईसी ५। अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ २-२०। सदसच्चामृत च यत्। प्रश्न २–५।

३ प्रो ध्रुवने वेदान्त और जैन दर्शनकी तुलना करते हुए लिखा है—While the Vedantin sees intellectul peace in the absolute by transcending the antinomies of intellect, the Jain finds it in the fact of the relativity of knowledge and the consequent revelation of the many-sidedness of reality—the one leading to religious mysticism, the other to intellectual toleration

प्रो ध्रुव, स्याद्वादमजरी, प्रस्तावना, पृ XII

४ तुलनीय—अस्तीति काश्यपो अय एकोऽन्त नास्तीति काश्यपो अय एकोऽन्त यदनयोर्द्वयो अन्तयोर्मध्य तदरूप्य अनिदर्शन अप्रतिष्ठ अनाभास अनिकेत अविज्ञसिक यमुच्यते काश्यप मध्यमप्रतिपदधर्माणा। काश्यपपरिवर्तन महायानसूत्र।

५ नैयायिक आदि दार्शनिकोने किस प्रकारसे स्याद्वादके सिद्धातको स्वीकार किया है, इसके विशेष जाननेके लिये देखिये षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ ९६–९८, दर्शन और अनेकातवाद। तथा—

इच्छन् प्रधान सत्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुंफित गुणैं।
साख्य सख्यावता मुख्यो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
चित्रमेकमनेक च रूप प्रामाणिक वदन्।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
प्रत्यक्ष भिन्नमात्रशे मेयाशो तद्विलक्षणम्।
गुरुर्ज्ञान वदन्नेक नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
जातिव्यक्त्यात्मक वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वापि मुरारिर्वा नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
अवद्ध परमार्थेन वद्ध च व्यवहारत।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नियभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदा स्याद्वाद सार्वतान्त्रिकम्।

अध्यात्मसार ४५–५१।

परिवर्तन (relative change) का स्वीकार किया है।[१] ग्रीकके महान् विचारक प्लेटोने भी इसी प्रकारके विचार प्रकट किये हैं[२]। पश्चिमके आधुनिक दर्शनमें भी इस प्रकारके समान विचारकोंकी कमी नहीं है। उदाहरणके लिये, जर्मनीके प्रकाण्ड तत्त्ववेत्ता हेगेल (Hegel) का कथन है कि विरुद्धधर्मात्मकता ही संसारका मूल है। किसी वस्तुका यथार्थ वर्णन करनेके लिये हमें उस वस्तु संबंधी संपूर्ण सत्य कहनेके साथ उस वस्तुके विरुद्ध धर्मोंका किस प्रकार समन्वय हो सकता है, यह प्रतिपादन करना चाहिये[३]। नये विज्ञानवाद (New Idealism) के प्रतिपादक ब्रैडलेके अनुसार, प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओंसे तुलना किये जानेपर आवश्यक और अनावश्यक दोनों सिद्ध होती है। संसारका कोई भी पदार्थ नगण्य अथवा अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रत्येक तुच्छसे तुच्छ विचारमें और छोटीसे छोटी सत्तामें सत्यता विद्यमान है[४]। आधुनिक दार्शनिक जोअचिम (Joachim) का कहना है कि कोई भी विचार स्वतः ही, दूसरे विचारसे सर्वथा अनपेक्षित होकर केवल अपनी ही अपेक्षासे सत्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरणके लिये, तीनसे तीनको गुणा करनेपर नौ होता है (३ × ३ = ९), यह सिद्धान्त एक बालकके लिये सर्वथा निष्प्रयोजन है, परन्तु इसे पढ़कर एक विज्ञानवेत्ताके सामने गणितशास्त्रके विज्ञानका सारा नक्शा सामने आ जाता है[५]। मानसशास्त्र-

---

१ There are beings or particles of reality that are permanent, original, imperishable, underived, and these can not change into anything else They are what they are and must remain so, just as the Eleatic school maintains These beings of particles of reality however, can be combined, and separatu, that is, form bodies that can again be resolved into their elements The original bits of reality can not be created or destroyed or change their nature, but they can change their relations in respect to each other And that is what we mean by change

Thilly History of Philosophy, Page 32

२ When we speak of not being, we speak, I supposed not of something opposed to being, but only different —Dialogues of Plato

३ Reality is now this, now that, in this sense it is full of negations, contradictions, and oppositions the plant germinates, blooms, withers and dies, man is young, mature and old To do a thing justice, we must tell the whole truth about it, predicate all those contradictions of it, and show how they are reconciled and perserved in the articulated whole which we call the life of the thing

Thilly History of Philosphy, Page 467

४ Everything is essential and everything worthless in comparison with other Now where is there even a single fact so fragmentary and so poor that to the universe it does not matter There is truth in every idea however false, there is reality in every existence however slight

Appearance and Reality Page 487

५ No judgment is true in itself and by itself Every judgment as a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent, constituted by the apperceipient character of the mind Nature of Truth, ch 3, Page 92-3

वेत्ता प्रो विलियम जेम्स (W James) ने भी लिखा है, हमारी अनेक दुनिया है। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओका एक दूसरेसे असम्बद्ध तथा अनपेक्षित रूपसे ज्ञान करता है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता वही है, जो सम्पूर्ण दुनियाओको एक दूसरेसे सम्बद्ध और अपेक्षित रूपमें जानता है[१]। इसी प्रकारके विचार पेरी[२] (Perry), नैयायिक जोसेफ (Joseph), एडमण्ड होम्स[3] (Edmund Holms) प्रभृति विद्वानोने प्रकट किये है[४]।

स्याद्वाद और समन्वय दृष्टि—स्याद्वाद सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोका समन्वय करता है। जैन दर्शनकारो-का कथन है कि सम्पूर्ण दर्शन नयवादमें गर्भित हो जाते है, अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयकी अपेक्षासे सत्य है। उदाहरणके लिये, ऋजूसूत्रनयकी अपेक्षा बौद्ध, सग्रहनयकी अपेक्षा वेदान्त, नैगमनयकी अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, शब्दनयकी अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी, तथा व्यवहारनयकी अपेक्षा चार्वाक दर्शनोको सत्य कहा जा सकता[५] है। ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यक्त्व रूप कहे जाते है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मणियोके एकत्र गूँथे जानेसे सुन्दर माला तैयार हो जाती है, उसी तरह जिस समय भिन्न-भिन्न दर्शन सापेक्ष वृत्ति धारण कर एक होते है, उस समय ये जैन दर्शन कहे जाते है। अतएव जिस प्रकार धन, धान्य आदि वस्तुओके लिये विवाद करनेवाले पुरुषोको कोई साधु पुरुष समझा बुझाकर शात कर देता है, उसी तरह स्याद्वाद परस्पर एक दूसरेके ऊपर आक्रमण करनेवाले दर्शनोको सापेक्ष सत्य मानकर सबका समन्वय करता है। इसीलिये जैन विद्वानोने जिन भगवानके वचनोको 'मिथ्यादर्शनोका समूह' मानकर अमृतका सार बताया है। उपाध्याय यशोविजयजीके शब्दोमें, "सच्चा अनेकातवादी किसी भी दर्शनसे द्वेष नही करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनोको इस प्रकारसे वात्सल्य दृष्टिसे देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रोको देखता है। क्योकि अनेकान्तवादीकी न्यूनाधिक बुद्धि नही हो सकती। वास्तवमें सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जानेका अधिकारी वही है, जो स्याद्वादका अवलवन लेकर सम्पूर्ण दर्शनोमें समान भाव रखता है। वास्तवमें माध्यस्थभाव ही शास्त्रोका गूढ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहनेपर शास्त्रोके एक पदका ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोडो

---

१ The Principles of Psychology, Vol 1, ch 20, Page 291

२ Present Philosophical Tendencies, Chapter on Realism

३ Introduction to Logic, Page 172-3

४ Let us take the antithesis of the swift and the show It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow, swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself   In the Quest of Ideal, Page 21

'स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि' तथा 'स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमें स्थान' ये दोनो शीर्षक लेखकके विशालभारत, मार्च १९३३ के अकमें प्रकाशित 'जैनदर्शनमें अनेकान्तपद्धतिका विकासक्रम' नामक लेख-के आधारसे लिखे गये है। वह लेख The History and Development of Anekantavada in Jain Philosophy के नामसे पूनासे प्रकाशित होनेवाले Review of Philosophy and Religion, मार्च १९३५ के अकमें अंग्रेजीमें भी प्रकाशित हुआ है।

५. बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिना सग्रहात्।
साख्याना तत एव नैगमनयाद् यौगश्च वैशेपिक ॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयत सर्वैर्नयैर्गुफिता।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥ अध्यात्मसार, जिनमतिस्तुति।

शास्त्रोके पढ जानेसे भी कोई लाभ नही ।"[१] निस्सन्देह सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है, वह राग-द्वेपरूप आत्माके विकारो पर विजय प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करता है । वह दूसरोके सिद्धान्तोको आदरकी दृष्टिसे देखता है, और मध्यस्थ भावसे सम्पूर्ण विरोधोका समन्वय करता है । सिद्धसेन दिवाकरने वेद, साख्य, न्याय-वैशेपिक, बौद्ध आदि दर्शनोपर द्वात्रिंशिकाओकी रचना करके, और हरिभद्रसूरिने षड्दर्शनसमुच्चयमें छह दर्शनोकी निष्पक्ष समालोचना करके इसी उदार वृत्तिका परिचय दिया है। मल्लवादि, हरिभद्रसूरि, रमशेखर, प० आशाधर, उ० यशोविजय आदि अनेक जैन विद्वानोने वैदिक और बौद्ध ग्रन्थोंपर टीकाटिप्पणियाँ लिखकर अपनी गुणग्राहिता, समन्वयवृत्ति और हृदयकी विशालताको स्पष्टरूपसे प्रमाणित किया है[२] ।

वास्तवमें देखा जाय तो सत्य एक है तथा वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनोमें कोई परस्पर विरोध नही । प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार सत्यके केवल अशमात्रको ग्रहण करता है । वैदिक धर्म व्यवहारप्रधान है, बौद्ध धर्मको श्रवणप्रधान, और जैनधर्मको कर्तव्यप्रधान कहा जा सकता है ।[३] एक दर्शन कर्म उपासना और ज्ञानको मोक्षका प्रधान कारण कहता है, दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञाको, तथा तीसरा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको मोक्षका प्रधान कारण मानता है, परन्तु ध्येय सबका एक ही है । जिस प्रकार सरल और टेढे मार्गसे जानेवाली भिन्न भिन्न नदियाँ अन्तमें जाकर एक ही समुद्रमें मिलती है, उसी तरह भिन्न-भिन्न रुचियोके कारण उद्भव होनेवाले समस्त दर्शन एक ही पूर्ण सत्यमें समाविष्ट हो जाते है ।[४] षड्दर्शनोको जिनेन्द्रके अग कहकर परमयोगी आनदघनजीने आनन्दघनचौवीसीमें इस भावको निम्न रूपमें व्यक्त किया है—

पट्दरसण जिन अग भणीजे । न्यास षडग जो साधे रे ।
नमिजिनवरना चरण उपासक । षट्दर्शन आराधे रे ॥ १ ॥
जिनसुर पादप पाय वखाणु । साख्यजोग दोय भेदे रे ।
आतम सत्ता विवरण करता । लहो दुग अग अखेदे रे ॥ २ ॥

---

१ यस्य सर्वत्र समता नयेपु तनयेष्विव ।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥ ६१ ॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यता ।
मोक्षोद्देशाविशेषेण य पश्यति स शास्त्रवित् ॥ ७० ॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिध्यति ।
स एव धर्मवाद स्यादन्यद्बालिशवल्गनम् ॥ ७२ ॥
माध्यस्थसहित ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा ।
शास्त्रकोटि वृथैवान्या तथा चोक्त महात्मना ॥ ७३ ॥ अध्यात्मसार ।

२ सुना गया है कि गुजरातमें जैन विद्वानोकी ओरसे ब्राह्मणोके वेदको अपनानेका भी प्रयत्न हुआ था ।

३ श्रोतव्यो सौगतो धर्म कर्तव्यः पुनरार्हत ।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्य' परम शिव ॥ हरिभद्र ॥

४ त्रयी साख्य योग पशुपतिमत वैष्णवमिति ।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमत पथ्यमिति च ।
रूचीना वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषा ।
नृणामेको गमयत् त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ शिवमहिम्न स्तोत्र ।

भेद अभेद सुगत मीमासक । जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलबन भजिये । गुरुगमथी अवधारी रे ।। ३ ।।
लोकायतिक कूख जिनवरनी । अशविचार जो कीजे ।
तत्त्वविचार सुधारस धारा । गुरुगम विण केम पीजे ।। ४ ।।
जैन जिनेश्वर ऊत्तम अंग । अतरग वहिरगे रे।
अक्षरन्यास धरा आराधक । आराधे धरी सगे रे ।। ५ ।।

इस प्रकार एकतामें विविधता और विविधतामें एकताका दर्शन कर जैन आचार्योंने भारतीय सस्कृतिको समुन्नत बनाया है।

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

जिस महापुरुषकी विश्वविहारी प्रज्ञा थी, अनेक जन्मोंमें आराधित जिसका योग था अर्थात् जन्मसे ही योगीश्वर जैसी जिसकी निरपराध वैराग्यमय दशा थी तथा सर्व जीवोंके प्रति जिसका विश्वव्यापी प्रेम था, ऐसे आश्चर्यमूर्ति महात्मा श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म महान् तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत सौराष्ट्रके ववाणिया वदर नामक एक शान्त रमणीय गाँवके वणिक कुटुम्बमें विक्रम सवत् १९२४ (ईस्वी सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमा रविवारको रात्रिके दो बजे हुआ था। इनके पिताका नाम श्री रवजीभाई पचाणभाई मेहता और माताका नाम श्री देववाई था। इनके एक छोटा भाई और चार वहनें थी। श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनन्दन' था। वादमें यह नाम वदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद् राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

वाल्यावस्था, समुच्चय वयचर्या

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे और उनकी माताजी देववाई जैनसस्कार लाई थीं। उन सभी सस्कारोंका मिश्रण किसी अद्भुत ढगसे गगा-यमुनाके सगमकी भाँति हमारे वाल-महात्माके हृदयमें प्रवाहित हो रहा था। अपनी प्रौढ वाणीमें वाईस वर्षकी उम्रमें इस वाल्यावस्थाका वर्णन 'समुच्चयवयचर्या' नामके लेखमें उन्होंने स्वय किया है—

"सात वर्ष तक एकान्त वालवयकी खेलकूदका सेवन किया था। खेलकूदमें विजय पानेकी और राजेश्वर जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम अभिलाषा थी। वस्त्र पहननेकी, स्वच्छ रखनेकी, खाने-पीनेकी, सोने-बैठनेकी, सारी विदेही दशा थी, फिर भी अन्त करण कोमल था। वह दशा आज भी बहुत याद आती है। आजका विवेकी ज्ञान उस वयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये विशेष अभिलाषा न रहती।

सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता। उस समय निरपराध स्मृति होनेसे एक ही वार पाठका अवलोकन करना पडता था। स्मृति ऐसी वलवत्तर थी कि वैसी स्मृति बहुत ही थोडे मनुष्योंमें इस कालमें, इस क्षेत्रमें होगी। पढनेमें प्रमादी बहुत था। वातोंमें कुशल, खेलकूदमें रुचिवान और आनन्दी था। जिस समय शिक्षक पाठ पढाता, उसी समय पढकर उसका भावार्थ कह देता। उस समय मुझमें प्रीति—सरल वात्सल्यता—बहुत थी। सबसे ऐक्य चाहता, सबमें भ्रातृभाव हो तभी सुख, यह मैंने स्वाभाविक सीखा था। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी, जो वादमें जाँचने पर समाप थी।

अभ्यास इतनी त्वरासे कर सका था कि जिस व्यक्तिने मुझे प्रथम पुस्तकका वोध देना शुरू किया था उसीको गुजराती शिक्षण भली-भाँति प्राप्त कर उसी पुस्तकका पुन मैंने वोध किया था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति करते थे। उनसे उस वयमें कृष्णकीर्तनके पद मैंने सुने थे तथा भिन्न-भिन्न अवतारोंके सवधमें चमत्कार सुने थे, जिससे मुझे भक्तिके साथ-साथ उन अवतारोंमें प्रीति हो गई थी, और रामदासजी नामके साधुके पास मैंने वाल-लीलामें कठी बँधवाई थी। उनके सम्प्रदायके महन्त होवें, जगह-जगह पर चमत्कारसे हरिकथा करते होवें और त्यागी होवें तो कितना आनन्द आये? यही कल्पना हुआ करती, तथा कोई वैभवी भूमिका देखता कि समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा होती। गुजराती भाषा-की वाचनमालामें जगतकर्त्ता सम्बन्धी कितने ही स्थलोंमें उपदेश किया है वह मुझे दृढ हो गया था, जिससे

जैन लोगोके प्रति मुझे बहुत जुगुप्सा आती थी तथा उस समय प्रतिमाके अश्रद्धालु लोगोकी क्रियाएँ मेरे देखनेमें आई थी, जिसमे वे क्रियाएँ मलिन लगनेसे मैं उनसे डरता था अर्थात् वे मुझे प्रिय न थी।

लोग मुझे पहलेसे ही समर्थ शक्तिशाली और गाँवका नामाकित विद्यार्थी मानते थे, इसलिए मैं अपनी प्रगसाके कारण जानबूझकर वैसे मडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति दर्शानेका प्रयत्न करता। कठीके लिए बार-बार वे मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, फिर भी मैं उनसे वाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता। परन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके (जैनके) प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढनेके लिए मिली, उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके सब जीवोसे मित्रता चाही है। अत मेरी प्रीति इसमें भी हुई और उसमें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसग बढा। फिर भी स्वच्छ रहनेके तथा दूसरे आचार-विचार मुझे वैष्णवोके प्रिय थे और जगतकर्त्ताकी श्रद्धा थी। उस अरसेमें कठी टूट गई, इसलिए उसे फिरसे मैंने नही बाँधा। उस समय बाँधने, न बाँधनेका कोई कारण मैंने ढूँढा नही था। यह मेरी तेरह वर्षकी वयचर्या है। फिर मैं अपने पिताकी दूकान पर बैठता और अपने अक्षरोकी छटाके कारण कच्छ-दरबारके उतारे पर मुझे लिखनेके लिए बुलाते तब मैं वहाँ जाता। दूकान पर मैंने अनेक प्रकारकी लीला-लहर की हैं, अनेक पुस्तके पढी है, राम इत्यादिके चरित्रो पर कविताएँ रची है, सासारिक तृष्णाएँ की है, फिर भी किसीको मैंने न्यून-अधिक भाव नही कहा या किसीको न्यून-अधिक तोल कर नही दिया, यह मुझे निश्चित याद है।" (पत्राक ८९)

जातिस्मरणज्ञान और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्‌जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसग उनके जीवनमें बना। उन दिनो ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्‌जीके प्रति बहुत प्रेम था। एक दिन साँपके काट खानेसे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। यह बात सुनकर श्रीमद्‌जी पितामहके पास आये और पूछा—'अमीचन्द गुजर गये क्या ?' पितामहने सोचा कि मरणकी बात सुननेसे बालक डर जायेगा, अत उन्होने, व्यालू कर ले, ऐसा कहकर वह बात टालनेका प्रयत्न किया। मगर श्रीमद्‌जी बार-बार वही सवाल करते रहे। आखिर पितामहने कहा—'हाँ, यह बात सच्ची है।' श्रीमद्‌जीने पूछा—'गुजर जानेका अर्थ क्या ?' पितामहने कहा—'उसमेंसे जीव निकल गया, और अब वह चल-फिर या बोल नही सकेगा, इसलिए उसे तालाबके पासके स्मशानमें जला देंगे।' श्रीमद्‌जी थोडी देर घरमें इधर-उधर घूमकर छिपे-छिपे तालाब पर गये और तटवर्ती दो शाखावाले बबूल पर चढ कर देखा तो सचमुच चिता जल रही थी। कितने ही मनुष्य आसपास बैठे हुए थे। यह देखकर उन्हें विचार आया कि ऐसे मनुष्यको जला देना यह कितनी क्रूरता ! ऐसा क्यो हुआ ? इत्यादि विचार करते हुए परदा हट गया, और उन्हें पूर्वभवोंकी स्मृति हो आई। फिर जब उन्होने जूनागढका गढ देखा तब उस (जातिस्मरणज्ञान) में वृद्धि हुई।

इस पूर्वस्मृतिरूप ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन अध्याय जोडा। इसीके प्रतापसे उन्हे छोटी उम्रसे वैराग्य और विवेककी प्राप्ति द्वारा तत्त्वबोध हुआ। पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई। सवत् १९४९, कार्तिक वद १२ के एक पत्रमें लिखते है—"पुनर्जन्म है—जरूर है। इसके लिए 'मैं' अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ। यह वाक्य पूर्वभवके किसी योगका स्मरण होते समय सिद्ध हुआ लिखा है। जिसने पुनर्जन्मादि भाव किये है, उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर यह वाक्य लिखा गया है।" (पत्राक ४२४)

एक अन्य पत्रमे लिखते है—"कितने ही निर्णयोसे मैं यह मानता हूँ कि इस कालमें भी कोई-कोई महात्मा गतभवको जातिस्मरणज्ञानसे जान सकते है, यह जानना कल्पित नही किंतु सम्यक् (यथार्थ) होता है। उत्कृष्ट सवेग, ज्ञानयोग और सत्सगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है। जब तक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए सशकित धर्मप्रयत्न किया करता है, और ऐसा सशकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नही देता।" (पत्राक ६४)

अवधान-प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

वि० स० १९४० से श्रीमद्जी अवधान-प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे वे *शतावधान तक पहुँच गये थे। जामनगरमें बारह और सोलह अवधान करने पर उन्हें 'हिन्दका हीरा' ऐसा उपनाम मिला था। वि० स० १९४३ में १९ वर्षकी उम्रमें उन्होने वम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ० पिटर्सनकी अध्यक्षतामें शतावधानका प्रयोग दिखाकर बडे-बडे लोगोको आश्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया था और 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधिसे सम्मानित किया था।

श्रीमद्जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामें उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ कर सुना दिये गये। बादमें उनकी आँखोपर पट्टी बाँध कर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथ पर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोसे टटोलकर उन्होने बता दिये।

श्रीमद्जीकी इस अद्भुत शक्तिसे प्रभावित होकर तत्कालीन बबई हाईकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजन्टने उन्हें यूरोपमें जाकर वहाँ अपनी शक्तियाँ प्रदर्शित करनेका अनुरोध किया, परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नही किया। उन्हें कीर्त्तिकी इच्छा न थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्ति आत्मोन्नतिमें बाधक और सन्मार्ग-रोधक प्रतीत होनेसे प्राय बीस वर्षकी उम्रके बाद उन्होने अवधान-प्रयोग नही किये।

महात्मा गांधीने कहा था

महात्मा गाधीजी श्रीमद्जीको धर्मके सम्बन्धमें अपना मार्गदर्शक मानते थे। वे लिखते हैं—

"मुझ पर तीन पुरुषोने गहरा प्रभाव डाला है—टालसटॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टालसटॉयने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोडे पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्दभाईने अपने गाढ परिचयसे। जब मुझे हिन्दुधर्ममें शका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचन्दभाई थे

जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कडियोमें झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा है। उनके लेखोंमें एक असाधारणता यह है कि उन्होने जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कही भी कृत्रिमता नही है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिए एक पक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नही देखा।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नही देखा।

व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नही देखा।"

'श्रीमद् राजचन्द्र जयन्ती' के प्रसग पर ईस्वी सन् १९२१ में गाधीजी कहते हैं—"बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोके जीवनमेंसे बहुत कुछ लिया है। परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनमेंसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद्जी) के जीवनमेंसे है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवनमेंसे सीखा है। खून करनेवालेसे भी प्रेम करना यह दयाधर्म मुझे कविने सिखाया है।"

---

* शतावधान अर्थात् सौ कामोको एक साथ करना। जैसे शतरज खेलते जाना, मालाके मनके गिनते जाना, जोड बाकी गुणाकार एव भागाकार मनमें गिनते जाना, आठ नई समस्याओकी पूर्ति करना, सोलह निर्दिष्ट नये विषयोपर निर्दिष्ट छदमें कविता करते जाना, सोलह भाषाओके अनुक्रमविहीन चार सौ शब्द कर्ताकर्मसहित पुन अनुक्रमबद्ध कह सुनाना, कतिपय अलकारोका विचार, दो कोठोमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोसे कविता करते जाना इत्यादि। एक जगह ऊँचे आसनपर बैठकर इन सब कामोमें मन और दृष्टिको प्रेरित करना, लिखना नही या दुबारा पूछना नही और सभी स्मरणमें रख कर इन सौ कामोको पूर्ण करना। श्रीमद्जी लिखते हैं—"अवधान आत्मशक्तिका कार्य है यह मुझे स्वानुभवसे प्रतीत हुआ है।" (पत्राक १८)

गृहस्थाश्रम

वि० स० १९४४ माघ सुदी १२ को २० वर्षकी आयुमें श्रीमद्जीका शुभ विवाह जौहरी रेवाशकर जगजीवनदास मेहताके बडे भाई पोपटलालकी महाभाग्यशाली पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। इसमें दूसरोकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते है। विवाहके एकाध वर्ष बाद लिखे हुए एक लेखमें श्रीमद्जी लिखते है—"स्त्रीके सबधमें किसी भी प्रकारसे रागद्वेष रखनेकी मेरी अशमात्र इच्छा नही है। परन्तु पूर्वोपार्जनसे इच्छाके प्रवर्तनमें अटका हूँ।" (पत्राक ७८)

स० १९४६ के पत्रमें लिखते है—"तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करनेपर गृहाश्रमसे विरक्त होना अधिकतर सूझता है।" (पत्राक ११३)

श्रीमद्जी गृहवासमें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी मान्यता थी—"कुटुबरूपी काजलकी कोठडीमें निवास करनेसे ससार बढता है। उसका कितना भी सुधार करो, तो भी एकान्तवाससे जितना ससारका क्षय हो सकता है उसका शताश भी उस काजलकी कोठडीमें रहनेसे नही हो सकता, क्योकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।" (पत्राक १०३) फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोकी पूरी सम्भाल रखकर चले।

सफल एवं प्रामाणिक व्यापारी

श्रीमद्जी २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बबई आये और सेठ रेवाशकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहिरातका व्यापार करने लगे। व्यापार करते हुए भी उनका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। व्यापारसे अवकाश मिलते ही श्रीमद्जी कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे। ज्ञानयोग और कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। श्रीमद्जीके भागीदार श्री माणेकलाल घेलाभाईने अपने एक वक्तव्यमें कहा था—"व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ आती थी, उनके सामने श्रीमद्जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हे जड वस्तुओकी चितासे चितातुर नही देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे।"

जवाहिरातके साथ मोतीका व्यापार भी श्रीमद्जीने शुरू किया था और उसमें वे सभी व्यापारियोमें अधिक विश्वासपात्र माने जाते थे। उस समय एक अरब अपने भाईके साथ मोतीकी आढतका धन्धा करता था। छोटे भाईके मनमें आया कि आज मै भी बडे भाईकी तरह बडा व्यापार करूँ। दलालने उसको श्रीमद्जीसे भेंट करा दी। उन्होने कस कर माल खरीदा। पैसे लेकर अरब घर पहुँचा तो उसके बडे भाईने पत्र दिखाकर कहा कि वह माल अमुक किमतके बिना नही बेचनेकी शर्त की है और तूने यह क्या किया? यह सुनकर वह घबराया और श्रीमद्जीके पास जाकर गिडगिडाने लगा कि मै ऐसी आफतमें आ पडा हूँ। श्रीमद्जीने तुरन्त माल वापस कर दिया और पैसे गिन लिये। मानो कोई सौदा किया ही न था ऐसा समझकर होनेवाले बहुत नफेको जाने दिया। वह अरब श्रीमद्जीको खुदाके समान मानने लगा।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलंत उदाहरण है। एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्जीने हीरोका सौदा किया कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमद्जीको अमुक हीरे दे। उस विषयका दस्तावेज भी हो गया। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय भाव बहुत बढ गये। श्रीमद्जी खुद उस व्यापारीके यहाँ जा पहुचे और उसे चिन्तामग्न देखकर वह दस्तावेज फाड डाला और बोले—"भाई, इस चिट्ठी (दस्तावेज) के कारण तुम्हारे हाथ-पाँव बँधे हुए थे। बाजार भाव बढ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेने निकलते है, परन्तु मै तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे ले लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नही।" वह व्यापारी कृतज्ञभावसे श्रीमद्जीकी ओर स्तब्ध होकर देखता ही रह गया।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्‌जीका ज्योतिष-संबंधी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देख कर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्री जूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने सवा दो मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था। एक बार सं० १९५५ की चैत्र वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्व दिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पडनेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा—"ऋतुको सन्निपात हुआ है।" तदनुसार सं० १९५५ का चौमासा कोरा रहा और सं० १९५६ में भयंकर दुष्काल पडा। श्रीमद्‌जी दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्‌जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने 'स्त्रीनीति-बोधक', 'सद्‌बोधशतक', आर्यप्रजानी पडती' 'हुन्नरकला वधारवा विषे' आदि अनेक कविताएँ केवल आठ वर्षकी वयमें लिखी थी। नौ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त न हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ है। प्रमुखरूपसे 'आत्मसिद्धि', 'अमूल्य तत्त्वविचार', भक्तिना वीस दोहरा', 'परमपदप्राप्तिनी भावना (अपूर्व अवसर)', 'मूलमार्ग-रहस्य', 'तृष्णानी विचित्रता' है।

'आत्मसिद्धि-शास्त्र'के १४२ दोहोंकी रचना तो श्रीमद्‌जीने मात्र डेढ घंटेमें नडियादमें आश्विन वदा १ (गुजराती) सं० १९५२ को २९ वर्षकी उम्रमें की थी। इसमें सम्यग्दर्शनके कारणभूत छ पदोंका बहुत ही सुन्दर पक्षपातरहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है। इसके अंग्रेजीमें भी गद्य पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके है।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्‌जीने 'पुष्पमाला', 'भावनाबोध' और 'मोक्षमाला'की रचना की। इसमें 'मोक्ष-माला' तो उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है जिसे उन्होंने १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र तीन दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ शिक्षापाठ है। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नही आता जबकि श्रीमद्‌जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्वभवका अभ्यास ही इसमें कारण था। 'मोक्षमाला'के संबंधमें श्रीमद्‌जी लिखते है—"जैनधर्मको यथार्थ समझानेका उसमें प्रयास किया है, जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक उसमें नही कहा है। वीतराग मार्गमें आबालवृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझे तथा उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे इसकी बालावबोधरूप योजना की है।"

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय' ग्रंथकी मूल गाथाओंका श्रीमद्‌जीने अविकल (अक्षरशः) गुजराती अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्री आनन्दघनजीकृत चौवीसीका अर्थ लिखना भी प्रारम्भ किया था, और उसमें प्रथम दो स्तवनोंका अर्थ भी किया था, पर वह अपूर्ण रह गया है। फिर भी इतने से, श्रीमद्‌जीकी विवेचन शैली कितनी मनोहर और तलस्पर्शी है उसका ख्याल आ जाता है। सूत्रोंका यथार्थ अर्थ समझने-समझानेमें श्रीमद्‌जीकी निपुणता अजोड थी।

मतमतान्तरके आग्रहसे दूर

श्रीमद्‌जीकी दृष्टि बडी विशाल थी। वे रूढि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। वे मतमतान्तर और कदाग्रहादिसे दूर रहते थे, वीतरागताकी ओर ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने आत्मधर्मका ही उपदेश दिया। इसी कारण आज भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले उनके वचनोंका रुचिपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते है।

श्रीमद्‌जी लिखते है—

"मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नही है, मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला—१४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नही, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे ससारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर।" (पुष्पमाला–१५)

"दुनिया मतभेदके बन्धनसे तत्त्व नही पा सकी।" (पत्राक–२७)

"जहाँ तहाँसे रागद्वेषरहित होना ही मेरा धर्म है मैं किसी गच्छमें नही हूँ, परन्तु आत्मामें हूँ यह मत भूलियेगा।" (पत्राक–३७)

श्रीमद्जी ने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह मेहता आदि सन्तोकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हे मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होने जैनशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है—

"श्रीमत् वीतराग भगवन्तोका निश्चितार्थ किया हुआ ऐसा अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परम-हितकारी, परम अद्भुत, सर्व दुःखका नि सशय आत्यन्तिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वतधर्म जयवन्त वर्तो, त्रिकाल जयवन्त वर्तो। उस श्रीमत् अनन्तचतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयवन्त धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है।" (पत्राक–८४३)

परम वीतराग दशा

श्रीमद्जीकी परम विदेही दशा थी। वे लिखते है—

"एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसम्पत्ति सिवाय हमें कुछ रुचिकर नही लगता, हमें किसी पदार्थमें रुचिमात्र रही नही है हम देहधारी है या नही—यह याद करते है तब मुश्केलीसे जान पाते है।" (पत्राक–२५५)

"देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योकि हम भी अवश्य उसी स्थितिको पानेवाले है, ऐसा हमारा आत्मा अखण्डतासे कहता है और ऐसा ही है, जरूर ऐसा ही है।" (पत्राक–३३४)

"मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमें नही है, तथापि अशरीरी भावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नही, अपितु सिद्धत्व है, और यह अशरीरीभाव इस कालमें नही है ऐसा यहाँ कहे तो इस कालमें हम खुद नही है, ऐसा कहने तुल्य है।" (पत्राक–४११)

अहमदाबादमें आगाखानके बँगलेपर श्रीमद्जीने श्री लल्लूजी तथा श्री देवकरणजी मुनिको बुलाकर अन्तिम सूचना देते हुए कहा था—"हमारेमें और वीतरागमें भेद न मानियेगा।"

एकान्तचर्या, परमनिवृत्तिरूप कामना

मोहमयी (बम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे और पत्रो द्वारा मुमुक्षुओको शकाओका समाधान करते रहते थे, फिर भी बीच-बीचमें पेढीसे विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जगल या पर्वतोमें पहुच जाते थे। मुख्यरूपसे वे खभात, वडवा, काविठा, उत्तरसडा, नडियाद, वसो, रालज और ईडरमें रहे थे। वे किसी भी स्थान पर बहुत गुप्तरूपसे जाते थे, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नही पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनके सत्समागमका लाभ पानेके लिए पीछे-पीछे कही भी पहुच ही जाते थे। ऐसे प्रसगो पर हुए बोधका यत्किंचित् सग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें 'उपदेशछाया' 'उपदेशनोध' और 'व्याख्यानसार' के नामसे प्रकाशित हुआ है।

यद्यपि श्रीमद्जी गृहवास-व्यापारादिमें रहते हुए भी विदेहीवत् थे, फिर भी उनका अन्तरङ्ग सर्व-सगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटा रहा था। एक पत्रमें वे लिखते है—"भरतजीको हिरनके सग-से जन्मकी वृद्धि हुई थी और इस कारणसे जडभरतके भवमें असग रहे थे। ऐसे कारणोसे मुझे भी असगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असगताके बिना परम दुःख होता है। यम अन्तकालमें प्राणीको दु खदायक नही लगता होगा, परन्तु हमें सग दु खदायक लगता है।" (पत्राक २१७)

फिर हाथनोधमें वे लिखते हैं—"सर्वसग महास्वरूप श्री तीर्थंकरने कहा है मो मत्य है। ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कहाँ तक रखनी ? जो बात चित्तमें नही सो करनी, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस प्रकारसे हो सकता है ? वैश्यवेषमें और निर्ग्रन्थभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते है।" (हाथनोध १–३८) "आकिंचन्यतासे विचरते हुए एकान्त मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा ?" (हाथनोध १–८७)

सवत् १९५६ में अहमदाबादमें श्रीमद्जीने श्री देवकरणजी मुनिसे कहा था—"हमने सभामें स्त्री और लक्ष्मी दोनोका त्याग किया है, और सर्वसगपरित्यागकी आज्ञा माताजी देगी ऐसा लगता है।" और तदनुसार उन्होने सर्वसगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे अनुज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगडता गया। ऐसे ही अवसर पर किसीने उनसे पूछा—"आपका शरीर कृश क्यो होता जाता है ?" श्रीमद्जीने उत्तर दिया—"हमारे दो बगीचे है, शरीर और आत्मा। हमारा पानी आत्मारूपी बगीचेमें जाता है, इससे शरीररूपी बगीचा सूख रहा है।" अनेक उपचार करने पर भी स्वास्थ्य ठीक नही हुआ। अन्तिम दिनोमें एक पत्रमें लिखते है—"अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिर पर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिस प्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नही होता यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।" (पत्राक ९५१)

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नही था। देहत्यागके पहले दिन शामको अपने छोटे भाई मनसुखलाल आदिसे कहा—"तुम निश्चिन्त रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाला है। तुम शान्ति और समाधिपूर्वक रहना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकनेवाली थी उसे कहनेका समय नही है। तुम पुरुषार्थ करना।" रात्रिको ढाई बजे वे फिर बोले—"निश्चिन्त रहना, भाईका समाधिमरण है।" अवसानके दिन प्रात पौने नौ बजे कहा—"मनसुख, दु खी न होना। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।" फिर वे नही बोले। इस प्रकार पाँच घटे तक समाधिमें रहकर सवत् १९५७ की चैत्र वदी ५ (गुजराती) मगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी सन्तको खो बैठी। उनके देहावसानके समाचारसे मुमुक्षुओमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये। जिन-जिन पुरुषोको जितने प्रमाणमें उन महात्माकी पहचान हुई थी उतने प्रमाणमें उनका वियोग उन्हें अनुभूत हुआ था।

उनकी स्मृतिमे शास्त्रमालाकी स्थापना

वि० स० १९५६ में भादो मासमें परम सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। श्रीमद्जीके देहोत्सर्गके बाद उनकी स्मृतिस्वरूप 'श्री रायचन्द्रजैनग्रन्थमाला' की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत दोनो सम्प्रदायोके अनेक सद्ग्रन्थोका प्रकाशन हुआ है जो तत्त्वविचारकोके लिए इस दुषमकालको बितानेमें परम उपयोगी और अनन्य आधाररूप हैं। महात्मा गाधीजी इस सस्थाके ट्रस्टी और श्री रेवाशकर जगजीवनदास मुख्य कार्यकर्त्ता थे। श्री रेवाशकरके देहोत्सर्ग बाद सस्थामें कुछ शिथिलता आ गई परन्तु अब उस सस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके ट्रस्टियोने सम्भाल लिया है और सुचारुरूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहा है।

श्रीमद्जीके स्मारक

श्रीमद्जीके अनन्य भक्त आत्मनिष्ठ श्री लघुराजस्वामी (श्री लल्लूजी मुनि) की प्रेरणासे श्रीमद्जीके स्मारकके रूपमें और भक्तिधामके रूपमें वि० स० १९७६ की कार्तिकी पूर्णिमाको अगास स्टेशनके पास

'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना हुई थी। श्री लघुराज स्वामीके चौदह चातुर्मासोसे पावन हुआ यह आश्रम आज बढते-बढते गोकुल-सा गाँव बन गया है। श्री स्वामीजी द्वारा योजित सत्सगभक्तिका क्रम आज भी यहाँ पर उनकी आज्ञानुसार चल रहा है। धार्मिक जीवनका परिचय करानेवाला यह उत्तम तीर्थ बन गया है। सक्षेपमें यह तपोवनका नमूना है। श्रीमद्जीके तत्त्वज्ञानपूर्ण साहित्यका भी मुख्यत यहीसे प्रकाशन होता है। इस प्रकार यह श्रीमद्जीका मुख्य जीवत स्मारक है।

इसके अतिरिक्त वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोपर श्रीमद् राजचन्द्र मदिर आदि सस्थाएँ स्थापित है जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्म-कल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते है—ववाणिया, राजकोट, मोरबी, वडवा, खभात, काविठा, सीमरडा, वडाली, भादरण, नार, सुणाव, नरोडा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसडा, बोरसद, बम्बई (घाटकोपर एव चौपाटी), देवलाली, बैंगलोर, इन्दौर, आहोर (राजस्थान), मोम्बासा (आफ्रिका) इत्यादि।

अन्तिम प्रशस्ति

आज उनका पार्थिव देह हमारे बीच नही है मगर उनका अक्षरदेह तो सदाके लिये अमर है। उनके मूल पत्रो तथा लेखोका सग्रह गुर्जरभाषामें 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुका है (जिसका हिन्दी अनुवाद भी प्रगट हो चुका है) वही मुमुक्षुओके लिए मार्गदर्शक और अवलम्बनरूप है। एक-एक पत्रमें कोई अपूर्व रहस्य भरा हुआ है। उसका मर्म समझनेके लिए सन्तसमागमकी विशेष आवश्यकता है। इन पत्रोंमें श्रीमद्जीका पारमार्थिक जीवन जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा उनके जीवनके अनेक प्रेरक प्रसग जानने योग्य है, जिसका विशद वर्णन श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम प्रकाशित 'श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला' में किया हुआ है। यहाँ पर तो स्थानाभावसे उस महान विभूतिके जीवनका विहगावलोकनमात्र किया गया है।

श्रीमद् लघुराजस्वामी (श्री प्रभुश्रीजी) 'श्रीसद्गुरुप्रसाद' ग्रन्थकी प्रस्तावनामें श्रीमद्जीके प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोमे प्रगट करते है—"अपरमार्थमें परमार्थके दृढ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभूलैयाँके प्रसग दिखाकर, इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्तपुरुपका परम सत्संग और उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने है सजीवनी औषध समान मृतको जीवित करें, ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिमे प्राप्त होती है, वे इस दुषम कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलम्बन है।··· परम माहात्म्यवत सद्गुरु श्रीमद् राजचन्द्रदेवके वचनोमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है, या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।"

ऐसे महात्माको हमारे अगणित वन्दन हो!

ॐ

द्रव्यानुयोग परम गम्भीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रन्थप्रवचनका रहस्य है, शुक्ल ध्यानका अनन्य कारण है। शुक्लध्यानसे केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महाभाग्यसे उस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नष्ट होनेसे, विपयके प्रति उदासीनतासे और महत्पुरुषके चरणकमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग परिणत होता है।

ज्यो-ज्यो सयम वर्धमान होता है, त्यो-त्यो द्रव्यानुयोग यथार्थ परिणत होता है। सयमकी वृद्धिका कारण सम्यक्दर्शनकी निर्मलता है, उसका कारण भी 'द्रव्यानुयोग' होता है।

सामान्यत द्रव्यानुयोगकी योग्यता पाना दुर्लभ है। आत्माराम-परिणामी, परम वीतरागदृष्टिवान्, परमअसग ऐसे महात्मापुरुप उसके मुख्य पात्र है।

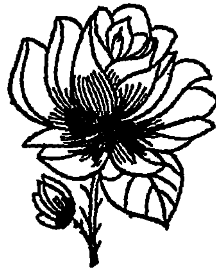
हे आर्य ! द्रव्यानुयोगका फल सर्वभावसे विराम पानेरूप सयम है। इस पुरुषके इन वचनोको तू अपने अत करणमे कभी भी शिथिल मत करना। अधिक क्या ? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दु खसे मुक्त होनेका अनन्य उपाय यही है।

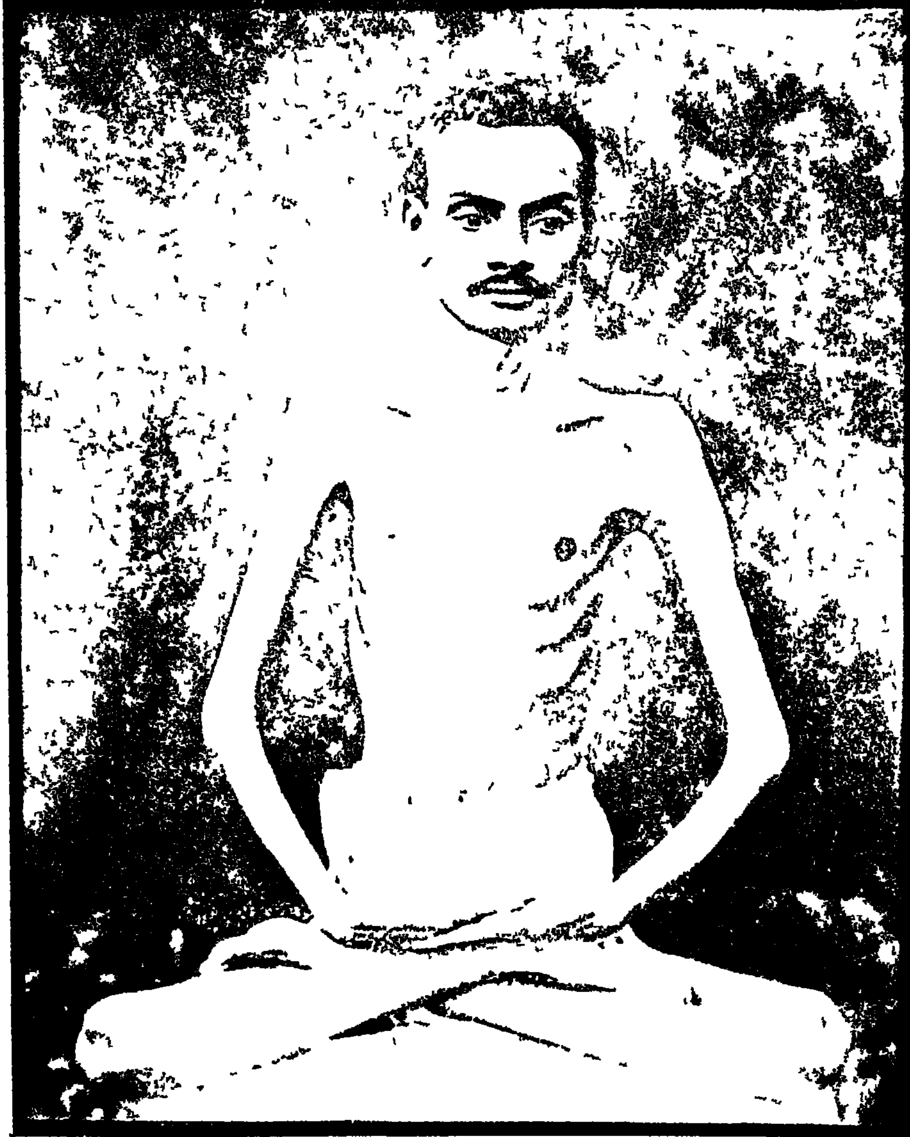
× × ×

यदि मन शकाशील हो गया हो तो 'द्रव्यानुयोग' विचारना योग्य है, प्रमादी हो गया हो तो 'चरणकरणानुयोग' विचारना योग्य है, और कपायी हो गया हो तो 'धर्मकथानुयोग' विचारना योग्य है, जड हो गया हो तो 'गणितानुयोग' विचारना योग्य है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

विषयानुक्रमणिका





श्रीमद् राजचंद्र

जन्म ववाणिया
वि स १९२४ कार्तिक पूर्णिमा, रविवार

देहविलय राजकोट
वि स १९५७ चैत्र वद ५, मगलवार



नम सर्वज्ञाय

श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमालायां

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका

हिन्दीभाषानुवादसहिता ।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद्येन सा
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥

निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥ २ ॥

ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवामिषतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भवन्ति ॥ ३ ॥

टीकाकारका मंगलाचरण

अर्थ—जो अनन्त वस्तुओंको जानते हैं, देवोंके द्वारा पूजे जाते है, जिनके वचन दुर्नयके कोलाहलसे लुप्त नहीं होते, तथा जिन्होंने रागद्वेष-प्रधान शत्रुओंकी सभाको क्षण-भरमे परास्त कर दिया है, ऐसे वीरप्रभु मेरी बुद्धि निर्मल करें ॥ १ ॥

समस्त मध्यलोकवर्ती प्राणियोंके पुण्य-प्रतापसे, असीम प्रतिभारूप प्राणोंके धारक, सरस्वती और बृहस्पतिको अपने शरीररूपमें धारण करते हुए, जिन्होंने अपने शरीरके दृष्टान्तसे ही स्याद्वादके सिद्धान्तको सिद्ध कर दिखाया है,—जिन्होंने एक ही शरीरमें परस्पर भिन्न सरस्वती और सुरगुरुके धारण करनेसे, एक ही पदार्थको परस्पर भिन्न अनेक धर्मोंका धारक सूचित किया है—ऐसे हेमचन्द्रप्रभु मेरे सद्बुद्धिरूपी समुद्रकी अभिवृद्धि करें ॥ २ ॥

जो लोग इस ग्रन्थके अध्ययनके बहाने हेमचन्द्रमुनिका आश्रय लेते हैं, वे उज्ज्वल कलाओंके गौरव-को प्राप्त करने योग्य पदको प्राप्त करते है ॥ ३ ॥

मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत् सारस्वतः शाश्वतो
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

अवतरणिका

इह हि विषमदुःषमारजनितिमिरतिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणी-देश्यदेशनावितानपरमार्हतीकृत श्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताभयदानाभिधानजीवातुसंजीवितनाना-जीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पावधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यनिर्माणैकब्रह्मणाश्रीहेम-चन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्धमानजिनस्तुतिरूप-मयोगव्यवच्छे[1]दान्ययोगव्यवच्छे[2]दाभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वाववोधनिवन्धनं विदधे । तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोन्नेयत्वाद् तद्व्याख्यानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःशेषदुर्वादिपरिषद्-धिक्षेपदक्षायाः कतिपय पदार्थविवरणकरणेन स्वस्मृतिवीजप्रवोधविधिर्विधीयते । तस्याश्चेदमादि काव्यम्—

हे सरस्वती माता ! तुम मेरे हृदयमें निवास करो, जिससे मैं आप्तस्तुति (द्वात्रिंशिका) व्याख्या (स्याद्वादमंजरी) शीघ्र ही प्रारम्भ कर सकूँ । अथवा नहीं, मैं भूल गया, क्योंकि 'श्रीउदयप्रभ'-रचनासे मनोहर शाश्वत सरस्वतीका मन्त्र तो दिन-रात मेरे होठोंमें स्फुरित हो ही रहा है । (उदयप्र टीकाकारके गुरुका नाम है । यहाँ टीकाकार गुरुभक्तिके वश होकर कहते हैं कि गुरुस्मरणके प्रभावसे सरस्वत माता स्वयं मेरे हृदयमें विराजमान है, अतएव सरस्वती मातासे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता ही नहं रहती ।) ॥ ४ ॥

अवतरणिका

अर्थ—इस लोकमें दुषमा आरा (पंचमकाल, देखिये परिशिष्ट (क)) की रात्रिके अन्धकारको दू करनेके लिए सूर्यके समान, तथा पृथ्वीतलपर उतरकर आयी हुई अमृत-नदीके समान धर्मोपदेश द्वार परम आर्हत बनाये हुए कुमारपाल राजाकी अभयदानरूप जीवनौषधिसे जीवनको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंवे आशीर्वादके माहात्म्यसे कल्पकालपर्यन्त स्थायी निर्मल यशरूपी शरीरको धारण करनेवाले, तथा चार विद्याअें (लक्षण, आगम, साहित्य, तर्क) की निर्दोष रचना करनेके लिए ब्रह्माके समान, ऐसे श्रीहेमचन्द्रसूरिने जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धसेनदिवाकर द्वारा रचित द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका का अनुसरण करनेवाली श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप, विद्वानोंको तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाली अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामकी दो वत्तीसियोंकी रचना की हैं । तात्पर्य यह है कि सिद्धसेनदिवाकरकी वत्तीस वत्तीसियोंकी रचनाका अनुसरण करके हेमचन्द्रसूरिने भी दो वत्तीसियाँ वनायी हैं । अयोगव्यवच्छेद नामक वत्तीसीमें जैन सिद्धान्तोंकी स्थापना करके 'स्वपक्ष-साधन' तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें परवादियोंके मतोंका खण्डन करते हुए 'परपक्षदूषण' का प्रदर्शन किया गया है । यहाँ टीकाकार मल्लिषेण अयोगव्यवच्छेदिका नामक पहली वत्तीसीके सरल होनेके कारण उसकी व्याख्याकी उपेक्षा करके, समस्त दुर्वादियोंकी सभाको परास्त करनेमें समर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामकी दूसरी वत्तीसीके कतिपय पदार्थोका विस्तृत विवरण कर अपनी स्मृतिको प्रवुद्ध करते हैं । दूसरी वत्तीसीका यह प्रथम श्लोक है—

---

१ विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदवोधक, यथा शङ्ख पाण्डुर एवेति । अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षण चोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम् । २. विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगवच्छेदवोधक, यथा [illegible] एव धनुर्धरः । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेद ।

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥

श्रीवर्धमानं जिनमहं स्तोतुं यतिष्य इति क्रियासम्बन्धः । किंविशिष्टम् ? अनन्तम्—अप्रतिपाति, वि—विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं, ज्ञानं—केवलाख्यं विज्ञानम्, ततोऽनन्तं विज्ञानं यस्य सोऽनन्तविज्ञानस्तम् । तथा अतीताः—निःसत्ताकीभूतत्वेनातिक्रान्ताः, दोषाःरागादयो यस्मात् स तथा तम् । तथा अबाध्यः—परैर्बाधितुमशक्यः, सिद्धान्तः—स्याद्वादश्रुतलक्षणो यस्य स तथा तम् । तथा अमर्त्याः—देवाः, तेषामपि पूज्यम्—आराध्यम् ॥

अत्र च श्रीवर्धमानस्वामिनो विशेषणद्वारेण चत्वारो मूलातिशयाः प्रतिपादिताः । तत्रानन्तविज्ञानमित्यनेन भगवतः केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानानन्त्यप्रतिपादनाद् ज्ञानातिशयः । अतीतदोषमित्यनेनाष्टादशदोषसंक्षयाभिधानाद् अपायापगमातिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद् वचनातिशयः । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञानात् पूजातिशयः ॥

अत्राह परः । अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु, नातीतदोषमिति । गतार्थत्वात् । दोषात्ययं विनाऽनन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः । अत्रोच्यते । कुनयमतानुसारिपरिकल्पिताप्तव्यवच्छेदार्थमिदम् । तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः —

श्लोकार्थ—अनन्तज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, अबाध्य सिद्धान्तसे युक्त, देवों द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओं (आप्तों)मे प्रधान और स्वयम्भू, ऐसे श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिए मैं प्रयत्न करूँगा ।

व्याख्यार्थ—मैं वर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेका प्रयत्न करूँगा । वर्धमान जिनेन्द्र अनन्त केवलज्ञानके धारक, रागद्वेष आदि अठारह दोषोंसे रहित, प्रतिवादियों द्वारा अखण्डनीय ऐसे स्याद्वादरूप सिद्धांतसे युक्त तथा देवोंसे पूजनीय हैं ।

यहाँ उपर्युक्त चार विशेषणोंसे वर्धमानस्वामीके चार मूल अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है । 'अनन्तज्ञान' से विशिष्टज्ञान—केवलज्ञानकी अनन्ततारूप ज्ञानातिशय, 'अतीतदोष'से अठारह दोषोंके क्षयरूप अपायापगम अतिशय, 'अबाध्यसिद्धांत'से कुतीर्थिकोंके कुहेतुओं-द्वारा अखण्डनीय स्याद्वाद सिद्धांतकी प्ररूपणारूप वचनातिशय, तथा 'अमर्त्यपूज्य' विशेषणसे सहजभक्तिभावसे परिपूरित देवों और असुरोंके नायक इन्द्र द्वारा की हुई महाप्रातिहार्य पूजारूप पूजातिशयका सूचन किया गया है ।

उपर्युक्त चार विशेषणोंकी सार्थकता

(क) शंका—वर्धमानस्वामीको 'अनन्तविज्ञान' विशेषण देना ही पर्याप्त है, 'अतीतदोष' विशेषणकी आवश्यकता नहीं । कारण कि बिना दोषोंके नाश हुए अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ? समाधान—कुवादियों द्वारा कल्पित आप्तके निराकरण करनेके लिये 'अतीतदोष' विशेषण दिया गया है । आजीविकमतके अनुयायी कहते हैं—

१ पण्डा तत्तानुगा मोक्षे ज्ञानं विज्ञानमन्यतः । शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ॥
—इत्यभिधानचिन्तामणौ द्वितीयकाण्डे २२४ श्लोकः ।

२ अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगाः हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ ७२ ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा । रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ ७३ ॥
—अभिधानचिन्तामणौ प्रथमकाण्डे श्लोकौ ।

३ कंकिल्लि कुसुमवुट्ठि देवज्झुणि चामरासणाइं च । भावलयभेरिछत्तं जयन्ति जिणपाडिहेराइं ॥ १ ॥
प्रवचनसारोद्धारे द्वार ३९ (गाथा ४४०) ।

छाया—१ अशोकवृक्ष, २ कुसुमवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४ चामरे, ५ आसनानि च, ६ भामण्डल, ७ भेरी, ८ छत्रम् ।

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥"

इति । तन्नूनं न तेऽतीतदोषाः । कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ॥

आह । त्वन्मतमतीतदोषमित्येवास्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते । दोषात्ययेऽवश्यंभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य । न । कैश्चिद्दोषाभावेऽपि तदनभ्युपगमात् । तथा च वैशेषिकवचनम्—

"सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥"

तथा— "तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥"

तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव । विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याप्यर्थस्य यथावत् परिज्ञानाभावात् । तथा चार्षम्—

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ[१] ॥"

"धर्मतीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करते हैं, तथा अपने तीर्थका तिरस्कार होते देखकर वे फिर संसारमें चले आते हैं।"

निश्चय ही ये ज्ञानी दोषोंसे रहित नहीं हैं। अन्यथा अपने तीर्थका तिरस्कार देख उन्हें संसारमें फिरसे आनेकी आवश्यकता न होती। आजीविकमतका निराकरण करनेके लिए यहां 'अतीतदोष' विशेषण दिया गया है।

(ख) शंका—यदि ऐसा ही है, तो केवल 'अतीतदोष' विशेषण ही दिया जाय, 'अनन्तविज्ञान'की क्या आवश्यकता है? कारण कि दोषोंके नष्ट होनेपर अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति अवश्यभावी है। *समाधान—कितने ही वादी दोषोंके नाश होनेपर भी अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं स्वीकार करते, अतएव 'अनन्तविज्ञान' विशेषण दिया गया है।*

वैशेषिकोंने कहा है—

"ईश्वर सब पदार्थोंको जाने अथवा न जाने, वह इष्ट पदार्थोंको जाने, इतना ही बस है। यदि ईश्वर कीड़ोंकी संख्या गिनने बैठे तो हमारे किस कामका?"

तथा—"अतएव ईश्वरके उपयोगी ज्ञानकी ही प्रधानता है। क्योंकि यदि दूर तक देखनेवालेको ही प्रमाण माना जाय, तो फिर हमें गीध पक्षियोंकी पूजा करनी चाहिये।"

तात्पर्य यह है कि वैशेषिक लोग ईश्वरको अतीतदोष स्वीकार करके भी उसे सकल पदार्थोंका ज्ञाता नहीं मानते। इसलिए इस मतका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने अनन्तविज्ञान विशेषण दिया है, और यह विशेषण सार्थक ही है, क्योंकि अनन्तज्ञानके बिना किसी वस्तुका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। आगमका वचन है—

---

१ आचारांगसूत्रे प्रथमश्रुतस्कंधे तृतीयाध्ययने चतुर्थोद्देशे सूत्रम् १२२ ।
छाया—यः एकं जानाति स सर्वं जानाति । यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ॥
तुलनीय—जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥
दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि । ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥
(प्रवचनसार अ १ गा ४८, ४९)
छाया—यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥
द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातीनि । न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥

तथा—"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥"

ननु तर्ह्यबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकम् । यथोक्तगुणयुक्तस्याव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात् । न । अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् । निर्दोषपुरुषप्रणीत एवाबाध्यः सिद्धान्तः । नापरेऽपौरुषेयाद्याः असम्भवादिदोषाऽऽघ्रातत्वात्[1], इति ज्ञापनार्थम् । आत्ममात्रतारकमूकान्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो[2] यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत् ॥

"जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, और जो सबको जानता है, वह एकको जानता है।"

तथा—"जिसने एक पदार्थको सब प्रकारसे देखा है, उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे देख लिया है। तथा जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है।"

(कहनेका भाव यह है कि जबतक हम एक पदार्थका पूर्ण रीतिसे ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, उस समय तक हमें सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नही हो सकता। अतएव 'एक' और 'अनेक' सापेक्ष है अर्थात् 'एक' का ज्ञान प्राप्त करना, 'अनेक' को जानना है। इसलिए अतीतदोषके विशेषणके समान अनन्तविज्ञान विशेषण भी उतना ही आवश्यक है। इसीलिए वैशेषिक मतका निराकरण करनेके लिए अतीतदोषके साथ अनन्त विज्ञान विशेषण दिया गया है।)

(ग) शंका—'अबाध्यसिद्धान्त' विशेषण देना व्यर्थ है। कारण कि जो पुरुष 'अनन्तविज्ञान' और 'अतीतदोष' है, उसके वचनोंमे कोई दोष नहीं होता, इसलिए उसका सिद्धान्त अबाध्य होगा ही। समाधान—अबाध्यसिद्धान्त विशेषणका अभिप्राय है, कि निर्दोष पुरुष द्वारा निर्मित सिद्धान्त ही अबाध्य है, असम्भव आदि दोष युक्त होनेसे अपौरुषेय आदि—पुरुषके बिना निर्मित वेद आदि सिद्धान्त—दोषरहित नही है। अथवा, सिद्धान्तोंके रचनेमें असमर्थ, स्वय अपना ही उद्धार करनेवाले मूक तथा अन्तकृत् मुण्डकेवलियोंके (देखिए परिशिष्ट क) निराकरण करनेके लिए अबाध्यसिद्धान्त विशेषण दिया गया है। अबाध्यसिद्धान्त विशेषणकी सार्थकता यहाँ दो प्रकारसे बतायी गयी है (अ) निर्दोष पुरुष द्वारा निर्मित सिद्धान्त ही बाधारहित हो सकता है, पुरुष बिना निर्मित (अपौरुषेय) वेद अबाधित नहीं हो सकता। क्योंकि तालु आदिसे उत्पन्न वर्णोंके समूहको वेद कहते है, तथा तालु आदि स्थान मनुष्यजन्य है, अतएव वेदोंका अपौरुषेय मानना असम्भव दोषसे दूषित है। (आ) मुण्डकेवलियोंका निराकरण उक्त विशेषणकी दूसरी सार्थकता है। बाह्य अतिशयोंसे रहित, ससारसे वैराग्यभावको प्राप्त होकर जो केवल अपनी ही आत्माके उद्धारका प्रयत्न करते है, वे मुण्डकेवली कहे जाते है। ये केवली अन्तःकृत और मूक दो प्रकारके होते है। दोनों ही केवली कर्मो के नाश करनेवाले और सम्पूर्ण पदार्थो के द्रष्टा होते है। अन्तर केवल इतना ही है कि अन्त कृत् केवली के ससारमे मुक्त होनेका समय बहुत नजदीक रहता है, या कहना चाहिए कि मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही अन्तःकृत् केवलीको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, तथा मूककेवली किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश देनेमे असमर्थ होते है, इसलिए वे मौन रहते है। उक्त दोनों केवली किसी सिद्धान्तकी रचना नही कर सकते है। यही कारण है, कि अतीतदोष और अनन्तविज्ञानके धारक होते हुए भी मुण्डकेवलियोंका निराकरण

१. ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुट च।
पुसश्च ताल्वादि तत कथ स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीति ॥

२ (१) द्रव्यभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधबाह्यातिशयशून्य केवली ।
(२) सविग्नो भवनिर्वेदादात्मनि सरण तु य ।
आत्मार्थं सप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥
(३) य पुन सम्यक्त्वावाप्तौ भवनैर्गुण्यदर्शनतस्तन्निर्वेदादात्मनि सरणमेव केवलमभिवाञ्छति तथैव चेष्टते स मुण्डकेवली भवति । इति।

अन्यस्त्वाह । अमर्त्यपूज्यमिति न वाच्यम् । यावता यथोद्दिष्टगुणगरिष्ठस्य त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यत्वं न कथञ्चन व्यभिचरतीति । सत्यम् । लौकिकानां हि अमर्त्याः पूज्यतया प्रसिद्धाः, तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणेनानेन ज्ञापयन्नाचार्यः परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति ॥ एवं पूर्वार्धे चत्वारोऽतिशया उक्ताः ॥

अनन्तविज्ञानत्वं च सामान्यकेवलिनामप्यवश्यंभावीत्यतस्तद्व्यवच्छेदाय श्रीवर्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते । श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्ध्यनुभवात्मकभावार्हन्त्यरूपया वर्धमानं वर्धिष्णुम् । नन्वतिशयाना परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वात्कथं वर्धमानतोपपत्तिः इति चेत्, न । यथा निशीथचूर्णौ[1] भगवता श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यबाह्यलक्षणसङ्ख्यया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम् । एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम् । ततो नातिशयश्रिया वर्धमानत्वं दोषाश्रय इति ॥

अतीतदोषता चोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहाख्याऽप्रतिपातिगुणस्थान[2]प्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थं जिनमिति विशेषणम् । रागादिजेतृत्वाद् जिनः, समूलकाषङ्क-

करनेके लिए ग्रन्थकारने अबाध्यसिद्धान्त विशेषण दिया है । मुण्डकेवली सिद्धान्तकी रचना करनेमें ही असमर्थ हैं, फिर उस सिद्धान्तके अबाध्य होनेकी बात नहीं ।

(घ) शंका—'अमर्त्यपूज्य' विशेषणकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि उक्त गुणोंसे युक्त भगवान् देवों द्वारा पूजनीय होते ही हैं । समाधान—लौकिक पुरुष देवोंको ही पूज्य दृष्टिसे देखते हैं । ये देव भी भगवान्को ही पूज्य मानते हैं, यही सूचित करनेके लिए आचार्यमहोदयने भगवान्को देवाधिदेव कहा है ॥ इस प्रकार पूर्वार्धके श्लोकमें चार अतिशयोंका वर्णन किया गया है ॥

श्रीवर्धमान आदि विशेषणोंकी सार्थकता

अनन्तविज्ञान सामान्यकेवलियोंमें भी पाया जाता है, अतएव सामान्यकेवलियोंके परिहारके लिए 'श्रीवर्धमान' विशेष्य होनेपर भी इसकी विशेषणरूपसे व्याख्या की गयी है । श्रीवर्धमान अर्थात् चौतीस अतिशयोंकी (देखिए परिशिष्ट [क]) समृद्धि भाव—अर्हन्तरूप लक्ष्मीसे बढ़े हुए । शंका—जैन-सिद्धान्तमें अतिशयोंकी संख्या सीमित (चौतीस) है, फिर 'अतिशय समृद्धिसे बढ़े हुए' कहना ठीक नहीं है ? समाधान—निशीथचूर्णि में श्री अरिहन्त भगवान्के एक हजार आठ बाह्य लक्षणोंको उपलक्षण मानकर सत्त्व आदि अन्तरंग लक्षणोंको अनन्त कहा गया है । इसी प्रकार उपलक्षणसे अतिशयोंको परिमित मानकर भी उन्हे अनन्त कहा जा सकता है, इसलिए कोई शास्त्रविरोध नहीं है । अतएव 'अतिशय लक्ष्मीसे बढ़े हुए' कहना दोषयुक्त नहीं है ।

'अतीतदोषत्व' उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवालोंके भी सम्भव है, इसलिए अप्रतिपाति क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतानेके लिए 'जिन' विशेषण दिया गया है । जिसने रागादि

१ निशीथचूर्णिग्रन्थे १७ उद्देशे, उपाध्याय कविअमरमुनिना मुनिकन्हैयालालेन च सम्पादित सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७-६० ।

२ गुणस्थानस्य चतुर्दशभेदा

१ मिच्छे २ सासण ३ मीसे ४ अविरय ५ देसे ६ पमत्त ७ अपमत्ते ।
८ नियट्टि ९ अनियट्टि १० सुहुमु ११ वसम १२ खीण १३ सजोगि १४ अजोगिगुणा ।
(द्वितीयकर्मग्रन्थे द्वितीय गाथा)

छाया—मिथ्यात्वसासादनमिश्रमविरतदेश प्रमत्ताप्रमत्तम् ।
निवृत्त्यनिवृत्तिसूक्ष्मोपशमक्षीणसयोग्ययोगिगुणा ॥

पितरागादिदोष इति । अबाध्यसिद्धान्तता च श्रुतकेवल्या[1]दिष्वपि दृश्यतेऽतस्तदपोहायाप्तमुख्य-मिति विशेषणम् । आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च[2] क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः अभ्रादित्वाद्[3]मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गानां प्रधानत्वेन मुख्यम् । "शाखादेर्यः[4]" इति तुल्ये यः । अमर्त्यपूज्यता च तथाविधगुरूपदेशपरिचर्यापर्याप्त-विद्याचरणसम्पन्नानां सामान्यमुनीनामपि न दुर्घटा, अतस्तन्निराकरणाय स्वयम्भुवमिति विशेषणम् । स्वयम्—आत्मनैव, परोपदेशनिरपेक्षतयाऽवगततत्त्वो भवतीति स्वयम्भूः—स्वयं संबुद्धः, तम् । एवंविधं चरमजिनेन्द्रं स्तोतुं—स्तुतिविषयीकर्तुम् अहं यतिष्ये—यत्नं करिष्यामि ।। अत्र चाचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं न पुनर्यथाऽवस्थितभगवद्गुणस्तवन-सिद्धिरिति सूचितवान् । अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निज-श्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम् ।।

अथवा । श्रीवर्धमानादिविशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्यायते । यत एव श्रीवर्धमानम्, अत एवानन्तविज्ञानम् । श्रिया—कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूतानन्त-

दोषोंको जीतकर उन्हे जडमूलसे नष्ट कर दिया है, उसे जिन कहते हैं। 'अबाध्यसिद्धात' श्रुतकेवली आदिमें भी पाया जाता है, उसका निराकरण करनेके लिए 'आप्तमुख्य' विशेषण दिया गया है। जिसके राग, द्वेष और मोहका सर्वथा क्षय हो गया है, उसे आप्त कहते हैं । [यहाँ अभ्रादिगणमे मत्वर्थमें 'अ' प्रत्यय हुआ है, ('अभ्रादिभ्य' हेमशब्दानुशासन ७।२।४६) । जिस प्रकार सम्पूर्ण अगोंमे मुख प्रधान है, इसी तरह जिनेन्द्रभगवान् आप्तोंमे प्रधान है, इसलिए उन्हे आप्तमुख्य कहा गया है । यहाँ 'शाखादेर्य' (हेमशब्दानु-शासन ७।१।११४) सूत्रसे तुल्य अर्थमे 'य' प्रत्यय हुआ है] । सद्गुरुओंके उपदेश और सेवासे पर्याप्त ज्ञान और चारित्रको प्राप्त करनेवाले सामान्य मुनि भी देवों द्वारा पूजे जाते है, इसलिए उनका निराकरण करनेके लिए 'स्वयम्भू' विशेषण दिया गया है। जिसने दूसरेके उपदेशके विना स्वय ही तत्वोंको जान लिया है, वह स्वयम्भू कहलाता है—जो स्वय सम्बुद्ध हो । इन पूर्वोक्त विशेषणोसे युक्त अन्तिम जिनेन्द्र (वर्धमान-स्वामी) की स्तुति करनेका मै (हेमचन्द्र) प्रयत्न करूँगा । भगवान्के गुणोंका स्तवन योगियों द्वारा भी अशक्य है, और असाधारण श्रद्धाके वश ही उन गुणोंकी स्तुति की जाती है, यह सूचित करनेके लिए आचार्यने 'यतिष्ये' भविष्यकालका प्रयोग किया है । अर्थात् प्रयत्न करना ही मेरे अधीन है, यथावस्थित भगवान्के गुणोंके स्तवनकी सिद्धि नहीं, यही इससे सूचित होता है । यद्यपि 'यतिष्ये' कहनेसे 'अह' का स्वय बोध हो जाता है, फिर भी दूसरोंके उपदेशके विना, बिना किसीकी आज्ञाके, केवल अपनी ही भक्तिसे मै इस स्तवनको आरम्भ करता हूँ, यह बतानेके लिए 'अह' पद दिया गया है ।

अथवा—(१) श्रीवर्धमान, (२) जिन, (३) आप्तमुख्य, (४) स्वयम्भुव—ये चारों विशेषण क्रमश. (१) अनन्तविज्ञान, (२) अतीतदोष, (३) अबाध्यसिद्धान्त, (४) अमर्त्यपूज्य के साथ कारण और कार्यरूपसे प्रतिपादित किये जा सकते है। भगवान् सम्पूर्ण कर्मोके नाशसे उत्पन्न होनेवाली अनन्तचतुष्टय लक्ष्मीसे

१ श्रुतेन केवलिन श्रुतकेवलिन, चतुर्दशपूर्वधरत्वात् ।
अथ प्रभव प्रभु'। शय्यम्भवो यशोभद्र सम्भूतविजयस्तत ।। ३३ ।।
भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट् ।। ३४ ।।
इति अभिधानचिन्तामणौ प्रथमकाण्डे ।

२ नि शेषीकृतेऽपि पुनरुद्भवमाशङ्क्यात्यन्तिक, अभूय सम्भवदोषविनाश ।

३. 'अभ्रादिभ्यः' हैमसूत्रम् ७।२।४६ ।

४. हैमसूत्रम् ७।१।११४ ।

चतुष्क[1]सम्पद्रूपया वर्धमानम् । यद्यपि श्रीवर्धमानस्य परमेश्वरस्यानन्तचतुष्कसम्पत्तेरुत्पत्त्यनन्तरं सर्वकालं तुल्यत्वाच्चयापचयौ न स्तः, तथापि निरपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद्वर्धमानत्वमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्धमानविशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तविज्ञानत्वपि सिद्धम्, तथाप्यनन्तविज्ञानस्यैव परोपकारसाधकतमत्वाद्, भगवद् वृत्तेश्च परोपकारैकनिबन्धनत्वाद्, अनन्तविज्ञानत्वं शेषानन्तत्रयात् पृथग् निर्धार्याचार्येणोक्तम् ॥

ननु यथा जगन्नाथस्यानन्तविज्ञानं परार्थं, तथाऽनन्तदर्शनस्यापि केवलदर्शनापरपर्यायस्य पारार्थ्यमव्याहतमेव । केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यामेव हि स्वामी क्रमप्रवृत्तिभ्यामुपलब्धं सामान्यविशेषात्मकं पदार्थसार्थं परेभ्यः प्ररूपयति । तत्किमर्थं तन्नोपात्तम्? इति चेत्, उच्यते । विज्ञानशब्देन तस्यापि संग्रहाद्दोषः, ज्ञानमात्राया[2] उभयत्रापि समानत्वात् । य एव हि[3] अभ्यन्तरीकृतसमता ख्यधर्मा विषमताधर्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्थाः, त एव ह्यभ्यन्तरीकृतविषमताधर्माः समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते, जीवस्वाभाव्यात् । सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृत[4]विशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते । तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति ॥

तथा यत एव जिनम्, अत एवातीतदोषम् । रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । न चाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत एवाप्तमुख्यम्, अत एवावाध्यसिद्धान्तम् । आप्ता हि प्रत्ययित उच्यते । तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठमाप्तमुख्यम् । आप्तमुख्यत्वं च प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात् । अत एवावाध्यसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी

वृद्धिंगत हैं, अतएव अनन्तविज्ञानके धारक हैं । यद्यपि वर्धमानस्वामीके अनन्तचतुष्टय रूप लक्ष्मी सर्वदा एक समान रहती है, अतएव उसमें घटना-बढना नहीं होता, फिर भी उस लक्ष्मीके सदा एक समान रहनेके कारण उसमें वर्धमानताका उपचारसे प्रतिपादन किया गया है । तथा, यद्यपि श्रीवर्धमान विशेषणसे अनन्तविज्ञान अनन्तचतुष्टयमें गर्भित हो जाता है, फिर भी अनन्तविज्ञानसे ही जीवोंका परोपकार होता है, और परोपकारके लिये ही भगवान्की प्रवृत्ति होती है, इसलिए अनन्तविज्ञानको अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्तवीर्य इन तीनोंसे पृथक् कहा है ।

शंका—जिस प्रकार भगवान्का अनन्तज्ञान परोपकारके लिए कहा जाता है, उसी तरह अनन्तदर्शन—केवलदर्शन—भी परोपकार के लिए ही होता है । क्योंकि क्रमसे होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनसे जाने हुए सामान्य-विशेष पदार्थोंको ही भगवान् दूसरोंको प्रतिपादित करते हैं । फिर, यहाँ अनन्तदर्शनका उल्लेख क्यों नहीं किया है ? समाधान—अनन्तज्ञानमें ज्ञान शब्दसे दर्शनका भी सूचन होता है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनोंमें ज्ञानकी मात्रा समान है । कारण कि जो पदार्थ सामान्य धर्मोंको गौण करके विशेष धर्मो सहित ज्ञानसे जाने जाते हैं, वे ही पदार्थ विशेष धर्मोंकी गौणतापूर्वक सामान्य धर्मो सहित दर्शनसे जाने जाते हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शन दोनों ही जीवके स्वभाव हैं । सामान्यकी मुख्यतापूर्वक विशेषको गौण करके पदार्थके जाननेको दर्शन कहते हैं । तथा विशेषकी मुख्यतापूर्वक सामान्यको गौण करके किसी वस्तुके जाननेको ज्ञान कहते हैं ।

अतएव भगवान् जिन हैं, इसी कारण दोषोंसे रहित हैं । रागादि जीतनेके कारण उन्हे जिन कहा गया है । जो जिन नहीं हैं, वे दोषोंसे रहित नहीं हैं । भगवान् आप्तोंमें मुख्य हैं, इसलिए उनका सिद्धान्त बाधारहित है । जो प्रतीत (विश्वास) के योग्य है, उसे आप्त कहते हैं, जो आप्तोंमें प्रधान अर्थात् श्रेष्ठ हो वह आप्तमुख्य है । भगवान् के वचनोंमें कोई विसवाद न होनेसे तथा सब प्राणियोंकी विश्वासभूमि होनेसे

१ (१) अनन्तज्ञान (२) अनन्तदर्शन (३) अनन्तचारित्र (४) अनन्तवीर्य इति चतुष्कम् ।
२ ज्ञानेयत्ताया । ३ समता-सामान्याख्यधर्म । ४. उपसर्जन-गौणम् ।

सिद्धान्तः कुनयैर्बाधितुं शक्यते । यत एव स्वयम्भुवम्, अत एवामर्त्यपूज्यम् । पूज्यते हि देवदेवो जगत्त्रयविलक्षणलक्षणेन स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति । अत्र च श्रीवर्धमानमिति विशेषणतया यद् व्याख्यातं तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यतृतीयपादवर्तमानं "श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम्[१]" इति विशेष्यवर्तमानं बुद्धौ सम्प्रधार्य विज्ञेयम् । तत्र हि आत्मरूपमिति विशेष्यपदम्, प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्तं परमात्मानमिति यावत । आवृत्त्या वा विशेषणमपि विशेष्यतया व्याख्येयम् ।। इति प्रथमवृत्तार्थः ।।१।।

अस्यां च स्तुतावन्ययोगव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाभासनिरासेन तेषामाप्तत्वव्यवच्छेदः स्वरूपम् । तच्च भगवतो यथावस्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रामाण्यमश्नुते । अतः स्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्यं गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—

अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ।।२।।

भगवान् आप्तमुख्य है। अतएव भगवान्का सिद्धांत अबाध्य है। क्योंकि जिस प्रकार पदार्थ ज्ञानमें झलकते है, उन्हें उसी प्रकार कथन करनेवाले सिद्धांतमें बाधा नहीं आ सकती । भगवान् स्वयम्भू है, इसलिए देवोंसे वन्दनीय है। तीनों लोकोंमें विलक्षण स्वयम्भूसम्बुद्धत्व (स्वयं ज्ञानको प्राप्त) गुणके कारण देवोंके देव भगवान् सौधर्म इन्द्रादि देवोंसे पूजे जाते हैं। यहाँ 'श्रीवर्धमान' विशेषणका सम्बन्ध अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाके प्रथम श्लोकके तृतीय चरण 'श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम्' विशेष्यके साथ लगाना चाहिए । 'आत्मरूप' विशेष्य है, जिसकी आत्मा प्रकृष्ट हो उसे आत्मरूप—परमात्मा—कहते हैं । अथवा पुन आवृत्ति करके, श्रीवर्धमान पदको पहले विशेषण बनाकर फिर विशेष्य रूपसे प्रतिपादन करना चाहिए ।। यह प्रथम श्लोकका अर्थ है ।। १ ।।

भावार्थ—इस श्लोकमें ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरण द्वारा भगवान्का स्तवन करते हुए, अनन्तविज्ञान, अतीतदोष, अबाध्यसिद्धांत, अमर्त्यपूज्य विशेषणोंसे भगवानके ज्ञानातिशय, अपायापगमातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय नामक चार अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है । तथा आजीवक और वैशेषिकमतके निराकरण करनेके लिए क्रमश अनन्तविज्ञान और अतीतदोष, तथा अपौरुषेय वेदादिकी निवृत्तिके लिए और भगवान्का देवाधिदेवत्व सूचित करनेके लिए क्रमसे अबाध्यसिद्धांत और अमर्त्यपूज्य विशेषण दिये गये हैं ।

इस स्तुतिमें 'अन्ययोगव्यवच्छेद' अर्थात् 'दूसरे दर्शनोंका व्यवच्छेद' किया गया है। अन्य तीर्थिकों द्वारा मान्य तत्त्वाभासोंके खण्डन करनेसे ही उनके आप्तत्वका व्यवच्छेद किया जा सकता है। तथा यह कार्य भगवान्के यथार्थवादित्व गुणके विवेचनसे ही साध्य हो सकता है। अतएव स्तुतिकार आचार्य तीन लोकके अधिपति भगवान्के समस्त गुणोंकी स्तुतिमें श्रद्धा रखते हुए भी यथार्थवादित्व गुणका ही वर्णन करते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ ! परीक्षा करनेमें अपनेको पण्डित समझनेवाला, मैं (हेमचन्द्र), आपके दूसरे गुणोंके प्रति स्पृहाभाव रखते हुए भी, आपके स्तवनके लिए आपके यथार्थवाद गुणका प्रतिपादन करता हूँ ।

---

१ अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि ।। १ ।।
इति अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया सम्पूर्ण श्लोकः ।

हे नाथ ! अयं—मल्लक्षणो जन तव गुणान्तरेभ्यो—यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्य साधारणशारीरलक्षणादिभ्यः, स्पृहयालुरेव—श्रद्धालुरेव । किमर्थम् ? स्तवाय–स्तुतिकरणाय । इयं "तादर्थ्ये चतुर्थी[१]" । पूर्वत्र तु "स्पृहेर्व्याप्यं वा[२]" इतिलक्षणा चतुर्थी । तव गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं[३] जन इति भावः । ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुता तत्कि[४] तान्यपि स्तोष्यति स उत नेत्याशङ्क्योत्तरार्धमाह—किन्त्विति—अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः । एकम्—एकमेव । यथार्थवादं—यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणम्, अयं जनो विगाहता—स्तुतिक्रियया समन्ताद्व्याप्नोतु । तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तन्त्रान्तरीयदैवतेभ्यो वैशिष्ट्यख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ।

अथ प्रस्तुतगुणस्तुतिः सम्यक्परीक्षाक्षमाणां दिव्यदृशामे[५]वौचितीं[६]मञ्चति, नार्वाग्दृशां[७] भवादृशामित्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण निराकरोति । यतोऽयं जनः परीक्षाविधिदुर्विदग्धः—अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धः—पण्डितंमन्य इति यावत् । अयमाशयः । यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षा मादृशां मतेरगोचरः, तथापि भक्तिश्रद्धातिशयात् । तस्यामहमात्मानं विदग्धमिव मन्य इति । विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्तिमात्रस्वरूपत्वात् स्तुतेः ॥ इति वृत्तार्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! मैं (हेमचंद्र) आपके यथार्थवादके अतिरिक्त दूसरोंमें न पाये जानेवाले शरीरलक्षण आदि अन्य गुणोंके प्रति भी श्रद्धा रखता हूँ । ('स्तवाय' यहाँ 'तादर्थ्ये चतुर्थी' (२।२।५४) सूत्रसे तादर्थ्यमें चतुर्थी, तथा 'गुणान्तरेभ्य.' पदमें स्पृहेर्व्याप्यं वा' (२।२।२६) सूत्रसे स्पृह धातुके कर्ममें विकल्पसे चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग हुआ है)। तात्पर्य यह कि आपके अन्य गुणोंका स्तवन करनेकी भी मेरी इच्छा है। शंका—यदि अन्य गुणोंके स्तवन करनेमें भी आपकी श्रद्धा है तो उनकी उपेक्षा क्यों करते हैं ? समाधान—इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्धमें दिया गया है । 'किन्तु' शब्दका यहाँ स्वीकृतिपूर्वक विशेष अर्थमें निपात हुआ है। यथार्थवाद नामक एक ही गुणके वर्णनसे अन्यमतों द्वारा मान्य देवताओंसे भगवान्की विशिष्टता सिद्ध होती है इसलिए इस एक गुणके स्तवनसे भगवान्के सम्पूर्ण गुणोंका स्तवन हो जाता है ।

शंका—उत्तम रीतिसे परीक्षा करनेमें समर्थ दिव्य, नेत्रवाले मुनीश्वर ही भगवान्के गुणोंकी स्तुति कर सकते हैं, आप जैसे छद्मस्थोंमें स्तुति करनेकी योग्यता नहीं है । समाधान—प्रस्तुत गुणोंकी परीक्षामें अपनेको पण्डित मानकर मैं (हेमचंद्र) स्तुति आरम्भ करता हूँ । तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवानके यथार्थवादित्व गुणकी परीक्षा करना मेरी बुद्धिके बाहर है, फिर भी भक्ति और श्रद्धाके वश मैं उस परीक्षामें अपनेको पण्डित समझता हूँ । क्योंकि विशुद्ध श्रद्धा और भक्ति प्रगट करना ही स्तुति है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥ २ ॥

भावार्थ—यद्यपि भगवान् अनन्त गुणोंसे भूषित है, परन्तु अन्य मतों द्वारा मान्य आप्तोंसे भगवान्की असाधारणता दिखानेके लिये भगवान्के यथार्थवाद गुणका स्तवन करना ही पर्याप्त है । अतएव हेमचंद्राचार्य दूसरे गुणोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी यहाँपर भगवानके यथार्थवाद गुणकी ही स्तुति करते हैं ।

---

१ हैमसूत्रम् २।२।५४ । २. हैमसूत्रम् २।२।२६ । ३. 'स्पृहावानेवायम्' पाठान्तरम् । ४ तत्किमर्थ तत्रोपेक्षा इत्याशङ्क्योत्तरार्धमाह' पाठान्तरम् । ५. अतीन्द्रियज्ञानिना । ६ योग्यता । ७ छद्मस्थाना ।

अथ ये कुतीर्थ्याः कुशास्त्रवासनावासितस्वान्ततया त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नाः, तानपि तत्त्वविचारणा प्रति शिक्षयन्नाह—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि संमील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

अमी इति—"[1]अदसस्तु विप्रकृष्टे" इति वचनात् तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्वाद् विप्रकृष्टाः, परे—कुतीर्थिकाः, भवन्तं—त्वाम्, अनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि, मा ईशं शिश्रियन्—मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूया दधतः—गुणेषु बद्धमत्सराः गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया । यो हि यत्र मत्सरी भवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते, यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थमिवास्थाय, तान्प्रति हितशिक्षामुत्तरार्धेनोपदिशति । तथापि—त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि, लोचनानि—नेत्राणि, संमील्य—मिलितपुटीकृत्य, सत्यं—युक्तियुक्तं, नयवर्त्म—न्यायमार्गं, विचारयन्तां—विमर्शविषयीकुर्वन्तु ॥

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैवं ज्ञापयत्याचार्यो यदवितथनयपथविचारणया तेषामेव फलं, वयं केवलमुपदेष्टारः । किं तत्फलम्? इति चेत्, प्रेक्षावत्तेति ब्रूमः । संमील्य विलोचनानीति च वदतः प्रायस्तत्त्वविचारणमेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वकं लोके प्रसिद्धमित्यभिप्रायः । अथवा अयमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाचार्येण वितीर्यते ततोऽस्वदमानोऽप्ययं कटुकौषधपानन्यायेनायतिसुखत्वाद् भवद्भिर्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्याकूतम् ॥

मिथ्याशास्त्रोंकी वासनासे दूषित जो कुतीर्थिक तीन लोकके स्वामी जिनभगवान्को स्वामी नहीं मानते, उन्हें उपदेश देनेके लिए कहते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ, यद्यपि आपके गुणोंमें ईर्ष्या रखनेवाले तीर्थिक आपको स्वामी नहीं मानते, परन्तु ये लोग आपके सत्य न्याय मार्गका जरा नेत्र बन्द करके विचार तो करें ।

व्याख्यार्थ—'अमी परे भवन्त मा ईश शिश्रियन् यत गुणेषु असूया दधत' तत्त्व और अतत्त्वका विचार न करनेवाले दूरस्थ परमतावलम्बी असाधारण गुणोंके समूह ऐसे आपको ईश्वर नहीं मानते, क्योंकि वे आपके गुणोंमें ईर्ष्या करते हैं। गुणोंके रहते हुए भी दोषान्वेषणको असूया (ईर्ष्या) कहते हैं । जो जिन गुणोंमें ईर्ष्या करता है, वह उन गुणोंको गुणरूपसे नहीं स्वीकार करता। जैसे माधुर्य रससे ईर्ष्या करनेवाला ऊँट पौण्डेको नहीं चाहता । परन्तु गुण आपमें मौजूद हैं। इस प्रकार भगवान्की आज्ञाकी स्वीकारोक्तिका प्रतिषेध करनेवाले तीर्थिकोंके प्रति उदासीन भाव रखते हुए आचार्य उपदेश करते हैं। 'तथापि'—आपकी आज्ञाको न मानकर भी, तैर्थिक लोग नेत्र बन्द करके आपके युक्तियुक्त न्यायमार्गका जरा विचार तो करें ।

यहाँ 'विचारयन्ता' आत्मनेपदका प्रयोग किया गया है, इसलिए क्रियाका फल कर्त्ताको ही मिलना चाहिए । अर्थात् सच्चे न्यायमार्गका विचार करनेसे तैर्थिक लोगोंको ही फल मिलेगा क्योंकि हम तो केवल उपदेश देनेवाले हैं । वह फल कौन सा है? प्रेक्षावान होना ही उस फलकी सार्थकता है । यहाँ किसी तत्त्वका विचार करते समय एकाग्रता प्राप्त करनेके लिए नेत्रोंको बन्द कर विचार करनेकी लौकिक विधिका सूचन किया गया है। अथवा उपदेशके रुचिकर नहीं होनेपर भी आचार्य इसका उपदेश देते हैं । अतएव 'कटुक औषधपान' न्यायसे इस उपदेशके कटु होनेपर भी यह उपदेश आगामी कालमें सुखकर होगा, इसलिए इस उपदेशका नेत्र निमीलित करके पान करना चाहिए ।

१ इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तादति परोक्षे विजानीयात् ॥१॥ इति सम्पूर्ण श्लोक ।

ननु यदि च पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकता, तत्किमर्थं तान् प्रत्युपदेशक्लेश इति ? नैवम् । परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगता[1] रुचिमरुचि वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात । तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात । न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः । तथा चार्षम्—

"रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तऊ ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया" ॥[2]

उवाच च वाचकमुख्यः—

"न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति"॥[4]

इति वृत्तार्थः ॥३॥

अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वाना प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह—

शंका—यदि अविवेककी प्रचुरतासे किसीको जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंमें रुचि नहीं होती, तो आप उसे क्यों उपदेश देनेका कष्ट उठाते हैं ? समाधान—यह बात नहीं है। परोपकार स्वभाववाले महात्मा पुरुष किसी पुरुषकी रुचि और अरुचिको न देखकर हितका उपदेश करते हैं। क्योंकि महात्मा लोग दूसरेके उपकारको ही अपना उपकार समझते हैं। हितका उपदेश देनेके बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है। आर्षवाक्य है—

"उपदेश दिया जानेवाला पुरुष चाहे रोष करे, चाहे उपदेशको विषरूप समझे परन्तु स्वपक्ष, हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिए ।"

उमास्वाति वाचकमुख्यने भी कहा है—

'सभी उपदेश सुननेवालोंको पुण्य नहीं होता है। परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे हितका उपदेश देनेवालेको निश्चय ही पुण्य मिलता है ॥"

यह श्लोकका अर्थ है ॥३॥

भावार्थ—एकान्तरूपसे वस्तु तत्त्वको स्वीकार करनेवाले अन्यमतावलम्बी आपके गुणोंमें ईर्ष्याबुद्धि रखते हुए आपको अपना इष्टदेव नही मानते । परन्तु यदि वे लोग एकान्तका आग्रह छोडकर आप द्वारा प्रतिपादित न्यायमार्गका विचार करें, तो उन्हे आपकी महत्ता स्वय ही प्रकट हो जायगी ।

अब यथार्थ नयमार्गका विचार करनेके लिए परमतावलम्बियों द्वारा मान्य तत्त्वोंके प्रामाण्यका निराकरण करनेके हेतु छह श्लोकोंमें वैशेषिकमतके तत्त्वोमे दूषण बताते हुए सर्वप्रथम 'सामान्य-विशेष'मे दोष दिखाते है ।

---

१ बोध्यछात्रविषयिणीम् ।

२. छाया—रुष्यतु वा परो मा वा विष वा परिवर्तयतु (विषवत् प्रतिभातु वा) ।
भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिका ॥

एतदर्थक एव श्लोको श्रीहेमचन्द्रकृतश्रेणिकचरित्रे द्वितीयसर्गे ३२ उपलभ्यते । तथाहि—
परो रुष्यतु वा मा वा विषवत् प्रतिभातु वा ।
भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिणी ॥३२॥

३ उमास्वाति । अयमुमास्वामीत्यपि भण्यते । ४ तत्त्वार्थसूत्रसम्बन्धकारिकासु २९ श्लोक ।

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो[1] भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥

अभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति, चेति भावाः—पदार्थाः, आत्मपुद्गलादयस्ते[2] स्वत इति—सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति इति, स्वत एव—आत्मीयस्वरूपादेव । अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः—एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः । व्यतिवृत्तिः—व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः । ते उभे अपि संवलिते भजन्ते—आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, सामान्यविशेषोभयात्मका इत्यर्थः ॥

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह । न भावान्तरनेयरूपा इति । नेति निषेधे । भावान्तराभ्यां—पराभिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां । नेयं—प्रतीतिविषयं प्रापणीयं । रूपं—यथासंख्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति । तथाहि । घट एव तावत् पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्यां लभते । स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् [3]विशेषव्यपदेशमश्नुते । इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम् । पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात् । न च धर्मा धर्मिणः

श्लोकार्थ—पदार्थ स्वभावसे ही सामान्य-विशेषरूप है, उनमे सामान्य-विशेषकी प्रतीति करानेके लिए पदार्थान्तर माननेकी आवश्यकता नही । इसलिए जो अकुशलवादी पररूप और मिथ्यारूप सामान्यविशेपको पदार्थसे भिन्नरूप कथन करते है, वे न्याय मार्गसे भ्रष्ट होते हे ।

व्याख्यार्थ—आत्मा और पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थों की विना सहायताके ही सामान्य विशेषरूप होते ह । एकाकार और एक नामसे कही जानेवाली प्रतीतिको अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हें। सजातीय और विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हे । आत्मा और पुद्गल आदि पदार्थ स्वभावसे ही इन दोनों धर्मों से—सामान्य-विशेषसे—युक्त है ।

इसीको व्यतिरेक रूपसे कहते है । आत्मा और पुद्गलादि पदार्थ, वैशेषिकों द्वारा मान्य द्रव्य, गुण, कर्म और समवायसे पृथक्, सामान्य और विशेषसे भिन्न नहीं हे। क्योंकि स्वय ही सामान्य और विशेषरूप ज्ञानको उत्पन्न करना पदार्थोंका स्वभाव है । उदाहरणके लिए, मोटा, तलीयुक्त और उदर आदि आकारवाला घडा स्वय ही उसी आकृतिवाले अन्य पदार्थोंको भी घटरूप और घटशब्दरूप जनाता हुआ 'सामान्य' कहा जाता है । इसलिए घटको छोडकर घटसामान्य अथवा घटत्व कोई पृथक् वस्तु नही है । यही घडा दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थों से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अपनी व्यावृत्ति करता हुआ 'विशेष' कहा जाता है। अतएव सामान्य और विशेषको अलग पदार्थ मानना न्यायसगत नही हे । क्योंकि सामान्यविशेषका ज्ञान पदार्थके धर्म (गुण) से ही होता है। तथा धर्मी (गुणी) से धर्म (गुण) सर्वथा भिन्न नही होते । क्योंकि धर्म और धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेसे विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध नहीं बन सकता। उदाहरणके लिए, ऊँट और गधा दोनों सर्वथा भिन्न है, इसलिए इनमे धर्म-धर्मी-सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि धर्मको धर्मीसे अलग पदार्थ माना जाय, तो एक ही वस्तुमे अनन्त पदार्थ प्रस्तुत हो जायेगे कारण कि वस्तु अनन्त-

१. अनुवृत्ति—अन्वय। व्यतिवृत्ति—व्यतिरेक । २. पूरणगलनधर्माण पुद्गला (दशवैकालिकवृत्ति प्रथमाध्ययने) ३. विशेषसञ्ज्ञाम् ।

सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः । एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः, करभरासभयोरिव धर्मधर्मिव्यपदेशाभावप्रसङ्गाच्च । धर्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः । अनन्तधर्मकत्वाद् वस्तुनः ॥

तदेवं सामान्यविशेषयोः स्वतत्त्वं यथावदनवबुध्यमाना अकुशलाः अतत्त्वाभिनिविष्टदृष्टयः[1] तीर्थान्तरीया स्खलन्ति—न्यायमार्गात् भ्रश्यन्ति निरुत्तरीभवन्तीत्यर्थः । स्खलनेन चात्र प्रामाणिकजनोपहसनीयता ध्वन्यते । किं कुर्वाणाः, द्वयम्—अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं प्रत्ययद्वयं वदन्तः । कस्मादेतत्प्रत्ययद्वयं वदन्तः ? इत्याह । परात्मतत्त्वात्—परौ पदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तत्वादन्यौ परस्परनिरपेक्षौ च यौ सामान्यविशेषौ तयोर्यदात्मतत्त्वं स्वरूपम् अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं, तस्मात् तदाश्रित्येत्यर्थः । "गम्ययपः कर्माऽधारे[2]" इत्यनेन पञ्चमी । कथंभूतात् परात्मतत्त्वाद् ? इत्याह । अतथात्मतत्त्वात् मा भूत् पराभिमतस्य परात्मतत्त्वस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम् । यथा येनैकान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परैः प्रकल्पितं, न तथा तेन प्रकारेणात्मतत्त्वं स्वरूपं यस्य तत्तथा । तस्मात् यतः पदार्थेष्वविष्वग्भावेन[3] सामान्यविशेषौ वर्तेते । तैश्च तौ तेभ्यः परत्वेन कल्पितौ । परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्तभेदाविनाभावि ॥

किञ्च, पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयमनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्ययद्वयं नोपपद्येत । एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः । सामान्यविशेषव्यवहाराभावश्च स्यात् । सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः । परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु

धर्मात्मक होती है। (भाव यह है कि वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन छह पदार्थोंमें सामान्य और विशेष नामक पदार्थ द्रव्य, गुण कर्म आदिसे भिन्न माने गये हैं। दूसरे शब्दोंमें, वैशेषिक मतके अनुसार, पदार्थोंमें 'सामान्य-विशेष'का ज्ञान पदार्थोंका गुण (धर्म) नहीं है, बल्कि यह ज्ञान सामान्य और विशेष नामके भिन्न पदार्थोंसे होता है। उदाहरणके लिए, घटत्व घटका गुण नहीं है, यह घटमें समवाय सम्बन्धसे रहता है। इसी प्रकार नील-पीत आदि भी घटके गुण नहीं हैं, वे भी घटमें समवाय-सम्बन्धसे रहते हैं। जैनदर्शन अनेकान्तात्मक (सामान्यविशेषात्मक) है, इसलिए वह वैशेषिकोंके इस सिद्धांतका खण्डन करता है। जैनदर्शनके अनुसार, पदार्थोंमें स्वभावसे ही सामान्य विशेषकी प्रतीति होती है। क्योंकि सामान्य-विशेष पदार्थोंके ही गुण हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। धर्मीसे धर्म भिन्न नहीं हो सकता, अतएव सामान्य-विशेषको भिन्न पदार्थ स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है)।

इस प्रकार सामान्य-विशेषके स्वरूपको ठीक-ठीक न समझकर कदाग्रही तैर्थिक लोग न्यायमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं—निरुत्तर होनेके कारण प्रामाणिक मनुष्योंके हास्यास्पद होते हैं। कारण कि ये लोग सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे भिन्न और परस्पर निरपेक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु यह मान्यता सत्य नहीं है। क्योंकि सामान्य–विशेष पदार्थोंमें अभिन्न रूपसे रहते हैं, और वैशेषिकोंने सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे एकान्त-भिन्न माना है। परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार सामान्य-विशेष पदार्थोंके स्वभाव हैं, क्योंकि गुणगुणीका एकान्त भेद नहीं बन सकता। जैनदर्शनमें सामान्य-विशेष पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार किये गये हैं।

तथा सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न माननेपर एक वस्तुमें सामान्य और विशेष सम्बन्ध नहीं बन सकते। क्योंकि पदार्थोंके सामान्य-विशेषसे एकान्त-भिन्न होनेके कारण पदार्थ और सामान्य विशेषका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। यदि सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा अभिन्न माने, तो पदार्थ और सामान्य विशेषके एकरूप हो जानेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव हो जायेगा। तथा, इस तरह सामान्य विशेषका

---

१. कुत्सिताग्रहवन्त । २ हैमसूत्रम् । २।२।७४ । ३ अपृथग्भावेन ।

पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते । अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रिययोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते । यो हि अन्यथास्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम् ॥ इति वृत्तार्थः ॥४॥

अथ तदभिमतानेकान्तनित्यपक्षौ दूषयन्नाह—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥५॥

आदीपं—दीपादारभ्य, आव्योम—व्योम मर्यादीकृत्य, सर्ववस्तुपदार्थस्वरूपं । समस्वभावं—समः तुल्यः, स्वभावः—स्वरूपं यस्य तत्तथा । किञ्च वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः । तथा च वाचकमुख्यः—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"[1] इति । समस्वभावत्वं कुतः । इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—स्याद्वादमुद्रानतिभेदि—स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वादः—अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । तस्य मुद्रा—मर्यादा, तां नातिभिनत्ति—नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्रानतिभेदि । यथा हि न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते, तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् एवं विजयिनि निष्कण्टके

व्यवहार भी न बन सकेगा, क्योंकि, प्रमाणसे सामान्य-विशेष उभय रूप ही वस्तुकी प्रतीति होती है । सामान्यविशेषकी परस्पर निरपेक्षताका आगे खण्डन किया जावेगा (देखिये १४ वीं कारिकाकी व्याख्या) । इसीलिए वादियोंके स्खलनसे यहाँ उनके हास्यास्पद होनेका सूचन किया गया है । जो पुरुष वस्तुके अमुक स्वरूपको उस रूपसे स्वीकार न करके अन्यथा रूपसे स्वीकार करता है, तथा दूसरोंको भी उसी तरह प्रतिपादन करता है, वह स्वयं नष्ट होता है, और दूसरोंको नष्ट करता है, ऐसा पुरुष हास्यका पात्र होता ही है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥४॥

भावार्थ—इस श्लोकमे वैशेषिक दर्शनके द्वारा मान्य सामान्य-विशेषका खण्डन किया गया है । वैशेषिकोंका कहना है, कि सामान्य-विशेष पदार्थोंसे भिन्न और एक दूसरेसे निरपेक्ष है । उदाहरणके लिए, वैशेषिक मतके अनुसार घटमें घटत्व समवाय सम्बन्धसे रहता है, तथा नील-पीतादि भी समवाय सम्बन्धसे रहता है । परन्तु जैनदर्शन अनेकान्तरूप है, इसलिए वह सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे एकान्त-भिन्न स्वीकार नहीं करता । जैनदर्शनके अनुसार घटमें घटत्व अथवा नील-पीतादि किसी सम्बन्ध-विशेषसे नहीं रहते, ये स्वयं घटके ही गुण हैं । इसलिए पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष नामके पदार्थोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

अब वैशेषिकोंके एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्षमे दोष दिखाते हैं—

श्लोकार्थ—दीपकसे लेकर आकाश तक सभी पदार्थ नित्यानित्य स्वभाववाले हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु स्याद्वादकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करती । ऐसी स्थितिमे भी आपके विरोधी लोग दीपक आदिको सर्वथा अनित्य और आकाश आदिको सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं ।

व्याख्यार्थ—दीपसे लेकर आकाशपर्यन्त सब पदार्थोंका स्वरूप एक-सा है । क्योंकि हम वस्तुके स्वभावको द्रव्य और पर्यायरूप मानते हैं । वाचकमुख्य कहते हैं—"जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह सत् है ।" अतएव वस्तुका स्वभाव नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक स्याद्वादकी मर्यादाको उल्लंघन नहीं करता । जिस प्रकार न्यायी राजाके शासन करने पर उसकी प्रजा राज्यमुद्राका उल्लंघन नहीं

1. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे अ ५ सू २९ ।

स्याद्वादमहानरेन्द्रे, तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ।

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेव इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते ।

तथाहि । प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः [1]स्वरसतस्तैलक्षयाद् वाताभिघाताद्वा ज्योतिष्पर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमाश्रयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः, पुद्गलद्रव्यरूपतयावस्थितत्वात्तेषाम् । न ह्येतावतैवानित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद्द्रव्यं [2]स्थासककोशकुशूलशिवकघटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याबालगोपालं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम् चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् ॥

कर सकती, क्योंकि उसके उल्लंघन करनेसे प्रजाके सर्वस्वका नाश होता है । उसी प्रकार विजयी निष्कण्टक स्याद्वाद महाराजाके विद्यमान रहते हुए कोई भी पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाके अतिक्रमण नहीं करता । क्योंकि इस मर्यादाके उल्लंघन करनेसे पदार्थोंका स्वरूप नहीं बन सकता ।

यहाँ सब पदार्थोंके द्रव्य और पर्यायरूप कथन करनेसे आकाश आदिके सर्वथा नित्यत्व और प्रदीप आदिके सर्वथा अनित्यत्वका खण्डन हो जाता है । कारण कि सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायार्थिककी अपेक्षासे अनित्य हैं । यहाँ परवादियों द्वारा मान्य दीपककी एकान्त-अनित्यतापर विचार करते हुए दीपकको नित्य-अनित्य सिद्ध करनेके लिए संक्षेपमें कुछ कहा जाता है ।

दीपककी पर्यायमें परिणत तैजस परमाणु तेलके समाप्त हो जानेसे अथवा हवाका झोंका लगनेसे प्रकाशरूप पर्याय छोड़कर तमरूप पर्यायको प्राप्त करनेपर भी सर्वथा अनित्य नहीं हैं । क्योंकि तेजके परमाणु तमरूप पर्यायमें भी पुद्गल द्रव्यरूपसे मौजूद हैं । तथा पूर्व पर्यायके नाश और उत्तर पर्यायके उत्पन्न होने मात्रसे ही दीपककी अनित्यता सिद्ध नहीं होती । उदाहरणके लिए, मिट्टी द्रव्यके स्थासक, कोश, कुशूल, शिवक घट (मिट्टीके पिण्डसे घड़ा बनने तककी उत्तरोत्तर अवस्थाएँ) आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर लेनेपर भी मिट्टीका सर्वथा नाश नहीं होता । क्योंकि स्थासक आदि पर्यायोंमें प्रत्येक पुरुषको मिट्टीका ज्ञान होता है । अन्धकारको भी पुद्गलकी ही पर्याय मानना चाहिए, क्योंकि दीपकके प्रकाशकी भाँति वह भी चक्षुसे दिखाई देता है । जैनदर्शनके अनुसार संसारके समस्त पदार्थोंमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म विद्यमान हैं । इसलिए दीपकमें भी नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म पाये जाते हैं । दीपकका अनित्यत्व सर्व साधारणमें प्रसिद्ध ही है । इसलिए यहाँ दीपकमें केवल नित्यत्व सिद्ध किया जाता है । नैयायिक लोग अन्धकारको अभावरूप मानते हैं, इसलिए नैयायिकोंके अनुसार अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर केवल प्रकाशका अभाव मात्र है । इसलिए तमको अभावरूप माननेसे नैयायिक दीपकको नित्य नहीं मानते । परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार तम केवल प्रकाशका अभाव मात्र नहीं है, वह प्रकाशकी भाँति ही स्वतन्त्र द्रव्य है । जैनदर्शनमें प्रकाशकी भाँति अन्धकारको भी पुद्गलकी पर्याय माना है । तेजके परमाणु दीपकके प्रकाशकी पर्यायमें परिणत होते हैं । जब तेल आदि समाप्त हो जाता है, अथवा हवाका झोंका लगता है, उस समय ये ही परमाणु प्रकाशकी पर्याय छोड़कर तमकी पर्यायमें परिणत हो जाते हैं । जैनदर्शनके अनुसार केवल पर्यायान्तरको प्राप्त करना ही अनित्यत्वका लक्षण नहीं है । उदाहरणके लिए, मिट्टीका घड़ा बनाते समय मिट्टी अनेक पर्यायोंको धारण करती है, परन्तु इन अनेक पर्यायोंमें मिट्टीका नाश नहीं हो जाता, मिट्टी हरेक पर्यायमें

१ स्वभावत । २ स्थासककोशादयो घटस्योत्पत्तेः प्राक् मृद एवावस्था ।

अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते। न चैवं तमः। तत्कथं चाक्षुषम्? नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते। विचित्रत्वात् भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः। प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः। इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्॥

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि, तुल्ययोगक्षेमत्वात्॥

सदा विद्यमान रहती है। इसी तरह दीपकके तेज-परमाणुओंका अन्धकार-परमाणुओमे परिणमन होनेसे द्रव्यका नाश (अनित्यत्व) नहीं होता। यह केवल परमाणुओंका एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमे परिणत हो जाना मात्र है। इसलिए हमे दीपकको सर्वथा अनित्य ही नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तम अभावरूप नहीं है। पर्यायसे पर्यायान्तर होनेको ही तम कहते है। अन्धकारका पौद्गलिक होना असिद्ध नही क्योंकि वह प्रकाशकी तरह चक्षुका विषय है। जो जो चक्षुका विषय होता है, वह पौद्गलिक होता है। प्रकाशकी तरह अन्धकार भी चक्षुका विषय है, इसलिए वह पौद्गलिक है।

शंका--जो चाक्षुष पदार्थ है, वह प्रतिभासित होनेमें आलोककी अपेक्षा रखता है। परन्तु तमके प्रतिभासमे प्रकाशकी जरूरत नही, इसलिए तम चक्षुका विषय नही कहा जा सकता। समाधान--उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है। क्योंकि उल्लू आदि विना आलोकके भी तमको देखते है। यह ठीक है कि अन्य चाक्षुष घट, पट आदिको विना प्रकाशके हम नहीं देखते, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तमके देखनेमे भी हमें प्रकाशकी आवश्यकता पडे। ससारमे पदार्थोके विचित्र स्वभाव होते है। पीत सुवर्ण और श्वेत मोती आदि तैजस होनेपर भी विना प्रकाशके प्रतिभासित नहीं होते जबकि दीपक, चन्द्र आदि प्रकाशके विना ही दृष्टिगोचर होते है। अतएव तम चाक्षुष है, यद्यपि प्रकाशके अभावमें भी उसका ज्ञान होता है।

तथा अन्धकार रूपवान् होनेके कारण स्पर्शवान् भी है। क्योंकि इसमे शीत स्पर्शका ज्ञान होता है। वैशेषिक लोग तमका पौद्गलिकत्व निषेध करनेके लिए (१) कठोर अवयवोंका न होना (२) अप्रतिघाति होना, (३) अनुद्भूत स्पर्शका न होना, (४) खण्डित अवयवीरूप द्रव्यविभागकी प्रतीति न होना--आदि हेतु देते है। इन हेतुओंको ग्रन्थकार प्रदीपकी प्रभाके दृष्टान्तसे खण्डित करते है। क्योंकि अन्धकार और प्रदीपप्रभा दोनों ही समान है। (तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमे प्रकाश और अन्धकारको पुद्गलकी पर्याय माना है, अतएव प्रकाशकी भाति अन्धकार भी एक स्वतन्त्र वस्तु है, अन्धकार भी प्रकाशकी भाति चक्षुका विषय है। परन्तु वैशेषिकोंके मतमे प्रकाशका अभाव ही तम है, स्वतन्त्र द्रव्य वह नहीं। वैशेषिकोंका कहना है कि जो घट, पट पदार्थ चक्षुसे जाने जाते है, उन सबमे प्रकाशकी आवश्यकता होती है जबकि तमको जाननेमें प्रकाशकी जरूरत नही पडती, इसलिए तम चक्षुका विषय नही है, और इसलिए उसे पुद्गलकी पर्याय भी नही कहा जा सकता। इसके उत्तरमे जैनोंका कथन है कि वैशेषिकोंकी उपर्युक्त व्याप्ति ठीक नहीं कही जा सकती। कारण कि बिल्ली, उल्लू वगैरह प्रकाशके न रहते हुए भी तमका ज्ञान करते है। इसलिए यह व्याप्ति तर्कसगत नही कि समस्त चाक्षुष पदार्थ आलोककी अपेक्षा रखते है। सुवर्ण, मोती आदि चाक्षुष होनेपर प्रकाशकी सहायतासे प्रतिभासित होते हुए देखे जाते है, परन्तु दीपक, चन्द्र आदि नही। इसलिए प्रकाशकी भाति तमको भी चक्षुका विषय मानना युक्तियुक्त है। अन्धकार चाक्षुष होनेसे जैनदर्शनमें उसे स्पर्शवान् भी माना गया है। क्योंकि जैनदर्शनके अनुसार किसी पदार्थमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमेंसे किसी एकके रहनेपर बाकीके तीन गुण उसमे अवश्य रहते है। यही पुद्गलका लक्षण भी है। परन्तु

न च वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति । पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद् भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः । इति सिद्धो नित्यानित्यः प्रदीपः । यदापि निर्वाणादर्वाग्देदीप्यमानो दीपस्तदापि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्यानित्य एव ॥

एवं व्योमाप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वाद् नित्यानित्यमेव । तथाहि । अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह[1] एव तल्लक्षणम् । "अवकाशदमाकाशम्[2]" इति वचनात् । यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो[3] विस्रसातो[4] वा एकस्मान्नभःप्रदेशात् प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः । संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ । तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः । तथा चाहुः—"अयमेव हि भेदो[5] भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति" । ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तर संयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम् । उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् ॥

वैशेषिकोंको अन्धकारमें स्पर्शत्व स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है। उनका कहना है कि अन्धकारमें कठोरता नहीं है, वह अप्रतिघाति है, उसमें स्पर्श नहीं और उसका विभाग नहीं हो सकता, इसलिए अन्धकार पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता। जैनदर्शन उक्त हेतुओंका प्रदीप-प्रभाके दृष्टान्तसे खण्डन करता है। जैनदर्शनके अनुसार अन्धकार और दीपककी प्रभामें पर्यायरूपसे कोई अन्तर नहीं। इसलिए यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अन्धकारको भी पुद्गलकी पर्याय मानना चाहिए। क्योंकि प्रकाशकी भांति अन्धकार भी द्रव्यकी पर्याय है, फिर दोनोंमें असमानता क्यों?)

दीपकके तेज-परमाणु तमरूपमें कैसे परिणत हो सकते हैं, यह शंका भी निर्मूल है। क्योंकि पुद्गलोंकी अमुक सामग्रीका सहकार मिलनेपर विसदृश कार्योंकी भी उत्पत्ति होती है। उदाहरणके लिए, प्रकाशमान अग्निसे, गीले ईंधनके सहयोगसे अप्रकाशमान धूमकी उत्पत्ति होती है। (इसलिए यह नियम नहीं है कि तेजके परमाणुओंसे तेजरूप कार्यकी ही उत्पत्ति हो, अन्धकाररूप कार्यकी नहीं, क्योंकि तेजरूप अग्निसे भी अन्धकाररूप धूमकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए सिद्ध होता है कि दीपककी पर्यायमें परिणत तेजके परमाणु तेल आदिके क्षय हो जानेसे ही अन्धकाररूप पर्यायान्तरको धारण करते हैं। वास्तवमें द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, केवल पर्यायकी अपेक्षासे ही वह अनित्य कहा जा सकता है।) तथा दीपकके बुझनेसे पहले देदीप्यमान दीपक अपनी नयी नयी पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेकी अपेक्षा अनित्य है, परन्तु इन पर्यायोंके बदलते रहनेपर भी हमे यह भान होता रहता है कि एक ही दीपककी ये असंख्य पर्याय है, इसलिए दीपक नित्य है। अतः दीपकका नित्यानित्यत्व सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आकाश भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होनेसे नित्य और अनित्य दोनों है (देखिए परिशिष्ट (क))। जीव और पुद्गलोंको अवकाश-दान देना (स्थान देना) ही आकाशका लक्षण है। कहा भी है "अवकाश देनेवालेको आकाश कहते है।" जब आकाशमें रहनेवाले जीव और पुद्गल किसीकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाते हैं,

१ उपग्रह—उपकार इति तत्त्वार्थभाष्ये ।

२ उत्तराध्ययनसूत्रे अध्ययने २८ गाथा ९ । अत्र वृत्तौ महोपाध्यायश्रीमद्भावविजयगणिकृतायामिदमुपलभ्यते ।

३ पुरुषशक्त्या ।

४. स्वभावेन ।

५ वस्तूनि द्विविधानि लक्षणभेदात्कारणभेदाच्च । घटो जलाहरणादिगुणवान् पटश्च शीतत्राणादिगुणवान् । तथा घटस्य कारणं मृत्पिण्डादि । पटस्य कारणं तन्त्वादि ।

तथा च यद् "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते । तदपास्तम् । एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । "तद्भावाव्ययं नित्यम्[1]" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावात् अन्वयिरूपात् यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात् । यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः । न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः ।

"द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।[2]
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ? ॥

उस समय आकाशका जीव-पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें विभाग और दूसरे प्रदेशमें सयोग होता है । ये सयोग और विभाग एक दूसरेके विरुद्ध है। इसलिए सयोग-विभागमे भेद होनेसे, सयोग-विभागको धारण करनेवाले आकाशमे भी भेद होना चाहिए। कहा भी है "विरुद्ध धर्मोका रहना और भिन्न-भिन्न कारणोंका होना यही भेद और भेदका कारण है।" (यहाँपर लक्षण और कारणके भेदसे भेद दो प्रकारका बताया गया है। जैसे घट जल लाने और पट ठण्डसे बचानेके काममे आता है—यही घट और पटमे लक्षण-भेद है। तथा घट मृत्तिकाके पिण्ड और पट तन्तुसे उत्पन्न होता है—यही घट और पटका कारण-भेद है।) इसलिए यहाँ पुद्गलके एक प्रदेशमे सयोगके विनाशसे आकाशमे व्यय होता है, और दूसरे प्रदेशमे सयोगके होनेसे आकाशमे उत्पाद होता है । तथा उत्पाद और व्यय दोनों अवस्थाओंमे आकाश ही एक अधिकरण है, इसलिए आकाश ध्रौव्य है। (भाव यह है कि जैनदर्शनके अनुसार दीपककी तरह आकाश भी नित्यानित्य है। जैनसिद्धान्तमे आकाश एक अनन्त प्रदेशवाला अखण्ड द्रव्य माना गया है। आकाश द्रव्यका काम जीव और पुद्गलको अवकाश देना है । जिस समय जीव और पुद्गल द्रव्य आकाशके एक प्रदेशको छोडकर दूसरे प्रदेशके साथ सयोग करते है, उस समय आकाशका जीव पुद्गलके साथ विभाग और सयोग होता है। अर्थात् जीव-पुद्गलके आकाश-प्रदेशोंको छोडनेके समय आकाशमे विभाग और जीव-पुद्गलके आकाश-प्रदेशोंके साथ सयोग करनेके समय आकाशमे सयोग होता है। दूसरे शब्दोंमे कहना चाहिए कि एक ही आकाशमे सयोग-विभाग नामके दो विरुद्ध धर्म पाये जाते है। क्योंकि सयोग-विभाग नामके धर्मोमे भेद होनेसे सयोग-विभाग धर्मोको धारण करनेवाले आकाश धर्मोमे भी भेद पाया जाता है । अतएव जीव-पुद्गलके आकाश-प्रदेशोंको छोडकर अन्यत्र गमन करनेमे जीव-पुद्गलका आकाशके प्रदेशोंके साथ सयोगका विनाश होता है, अर्थात् आकाशमे विनाश (व्यय) होता है । तथा जीव-पुद्गलका आकाशके दूसरे प्रदेशोंके साथ सयोग होनेके समय आकाशमे उत्पाद होता है। तथा उक्त उत्पाद और व्यय दोनों दशाओंमे आकाश मौजूद रहता है, इसलिए आकाशमे ध्रौव्य भी है । अतएव आकाशमे उत्पाद-व्यय होनेसे अनित्यत्व और ध्रौव्य होनेसे नित्यत्वकी सिद्धि होती है ।)

इस पूर्वोक्त कथनसे "जो नाश और उत्पन्न न होता हो, और एकरूपसे स्थिर रहे, उसे नित्य कहते हे"—इस नित्यत्वके लक्षणका भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि ऐसा कोई भी पदार्थ नही, जो उत्पत्ति और नाशसे रहित हो, और सदा एकसा रहे। "पदार्थके स्वरूपका नाश नही होना नित्यत्व है"—जैनदर्शन द्वारा मान्य नित्यत्वका यही लक्षण ठीक है । क्योकि उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी जो अपने स्वरूपको नहीं छोडता वही नित्य है। यदि अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त नित्यका लक्षण माना जाये, तो उत्पाद और व्ययका कोई भी आधार न रहेगा। जैनसिद्धान्तके अनुसार नित्य पदार्थमे जो उत्पाद और व्यय माना गया है, उससे पदार्थकी नित्यतामे कोई हानि नही आती । कहा भी है—

"पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय किसने, किस समय, कहाँपर, किस रूपमे, और कौनसे प्रमाणसे देखे ह ?" अर्थात् द्रव्य विना पर्याय और पर्याय बिना द्रव्य कही भी सम्भव नही ।

१ तत्त्वार्थसूत्रम् अ ५ सू ३० ।
२ एतदर्थिका गाथा सन्मतितर्के प्रथमकाण्डे दृश्यते—
'दव्वं पज्जवविज्जुअं दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि ॥१२॥

इति वचनात् ॥

लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्। घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे, पटेनाक्रान्तं, तदा पटाकाशमिति व्यवहार। न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत् तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात् कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादि तत्तद्व्यपदेशनिवन्धनं भवति। तत्तद्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिः। ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः। तासां ततोऽविष्वग्भावात्। इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः ॥

(भाव यह है कि जैनोंको वैशेषिकोंका नित्यत्व लक्षण मान्य नहीं है। वैशेषिकोंके अनुसार, जिसमें उत्पत्ति और नाश न हो और जो सदा एकसा रहे, वही नित्य है। जैन इस मान्यताको स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार, उत्पाद और व्ययके होते हुए भी पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना ही नित्यत्व है। जैनसिद्धान्तके अनुसार वैशेषिकोंका नित्यत्व लक्षण स्वीकार करनेसे उत्पाद और व्ययको कोई स्थान नहीं मिलता। क्योंकि कूटस्थ नित्यत्वमें उत्पत्ति और नाशका होना सम्भव नहीं। तथा उत्पाद और व्ययके अभावमे कोई भी पदार्थ 'सत्' नहीं कहा जा सका। इसलिए जैन लोग कहते हैं कि नित्यत्वको सर्वथा नित्य न मानकर उत्पाद-व्यय सहित नित्य अर्थात् आपेक्षिक-नित्य मानना चाहिए। क्योंकि कहीं भी द्रव्य और पर्याय अलग-अलग नहीं पाये जाते। द्रव्यको छोडकर पर्यायका और पर्यायको छोडकर द्रव्यका अस्तित्व सम्भव नही। अतएव द्रव्यकी अपेक्षासे पदार्थ नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य, इस तरह नित्य-अनित्य दोनों साथ रहते है। इसीलिए आकाश भी नित्यानित्य है।)

प्रकारान्तरसे भी आकाश नित्यानित्य है, क्योंकि सर्वसाधारणमे भी 'यह घटका आकाश है', 'यह पटका आकाश है' यह व्यवहार होता है। जिस समय घटका आकाश घटके दूर हो जानेपर पटसे संयुक्त होता है, उस समय वही घटका आकाश पटका आकाश कहा जाता है। यह 'घटका आकाश', 'पटका आकाश' का व्यवहार उपचारसे होता है, इसलिए अप्रमाण नही कहा जा सकता। क्योंकि उपचार भी किसी न किसी साधर्म्यसे ही मुख्य अर्थको द्योतित करनेवाला होता है। आकाशका सर्वव्यापकत्व मुख्य परिमाण आकाशमे रहनेवाले घट-पटादि सम्बन्धी नियत परिमाणसे भिन्न होकर, प्रतिनियत प्रदेशोंमे व्यापक होनेसे ही घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहारका कारण होता है। अर्थात् मुख्यरूपसे सर्वव्यापकत्व परिमाणवाला आकाश अपने आधेय घट पटादिके सम्बन्धसे प्रतिनियत देशव्यापित्व परिमाणरूप कहा जाता है। इसीसे यह घटाकाश है, यह पटाकाश है, यह व्यवहार होता है। तथा व्यापक आकाशके अमुक घट पट आदिके सम्बन्धसे एक अवस्थासे अवस्थान्तरकी उत्पत्ति होती है। अवस्थाभेद होनेपर अवस्थाके धारक आकाशमे भेद होता है। क्योंकि ये अवस्थाये आकाशसे अभिन्न है। (भाव यह है कि जिस समय घट एक स्थानसे (आकाशसे) अलग होता है, और उसकी जगह पट रखा जाता है, तो यह घटका आकाश है, यह पटका आकाश है, इस प्रकारका व्यवहार होता है। अर्थात् आकाशमे एक ही जगह घटाकाशका नाश होता है, और पटाकाशकी उत्पत्ति होती है। इसलिये आकाशमे नित्यानित्य दोनों धर्म विद्यमान है। यह घटाकाश और पटाकाशका व्यवहार औपचारिक है अर्थात् वास्तवमे आकाशमे उत्पाद-विनाश नहीं होता, केवल आकाशके आधेय घट पटादिके परिवर्तनसे ही आकाशमे परिवर्तन होनेका व्यवहार होता है, यह शका ठीक नहीं। क्योंकि मुख्य अर्थके सम्बन्धके बिना उपचार नहीं हो सकता। प्रस्तुत प्रसगमें आकाशका सर्वव्यापकत्व मुख्य परिमाण है। यही मुख्य परिमाण आकाशके आधेय घट पटादिके सम्बन्धसे प्रतिनियत देशपरिमाणरूप कहा जाता है। इसीसे घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहार होता है। अतएव सर्वव्यापी आकाशके साथ घट पट आदिका सम्बन्ध होनेपर आकाशकी अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है।

स्वायंभुवा[1] अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः। तथा चाहुस्ते—"त्रिविधः खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः। सुवर्णं धर्मि। तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादिः। धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः। यदा खल्वयं हेमकारो वर्धमानकं भङ्क्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते। रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते। वर्तमानतापन्न एव तु रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणा भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात् तन्नित्यत्वेन नित्याः। भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वम्। इत्युभयमुपपन्नमिति[2]।।"

अथोत्तरार्धं विव्रियते। एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशात्मादिकं नित्यमेव अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते। इत्थं हि दुर्नयवादापत्तिः[3]। अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्। इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतांभवत्प्रणीतशासनविरोधिनां, प्रलापाः—प्रलपितानि, असम्बद्धवाक्यानीति यावत्।।

अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्यानित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तम् तदेवं ज्ञापयति। यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्। यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित्। प्रक्रान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्यानित्यत्वाभ्युपगमात्।

आकाशकी अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेसे आकाशमें परिवर्तन होता है। इसलिए आकाशको नित्य-अनित्य ही मानना चाहिए।)

पातञ्जलयोगको माननेवाले भी वस्तुको नित्यानित्य स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—"धर्मीका परिणाम धर्म, लक्षण और अवस्थाके भेदसे तीन प्रकारका है। धर्मी सुवर्णका धर्म-परिणाम वर्धमान रुचक आदि है। धर्मके आगामी कालमें होनेको लक्षण-परिणाम कहते हैं। जिस समय सुनार वर्धमानकको तोडकर रुचक बनाता है, उस समय वर्धमानक वर्तमान लक्षणको छोडकर अतीत लक्षणको, तथा रुचक अनागत लक्षणको छोडकर वर्तमान लक्षणको प्राप्त करता है। वर्तमान दशाको प्राप्त रुचक नये और पुरानेपनको धारण करता हुआ धर्मीका अवस्था-परिणाम कहा जाता है। धर्म, लक्षण और अवस्थाके भेदसे धर्मीका यह परिणाम धर्मीसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी। धर्म, लक्षण और अवस्था धर्मीसे अभिन्न हैं, इसलिए धर्मीके नित्य होनेसे ये भी नित्य हैं, और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण, उत्पन्न और नाश होनेवाले हैं इसलिए अनित्य है। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था नित्य-अनित्य दोनों हैं।"

अब श्लोकके उत्तरार्धका विवेचन करते हैं। इस प्रकार सब पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप होनेपर आकाश, आत्मा आदि सर्वथा नित्य हैं और प्रदीप, घट आदि सर्वथा अनित्य—यह मानना दुर्नयवादको स्वीकार करना है। वस्तुके अनन्तधर्मात्मक होनेपर भी सब धर्मोंका तिरस्कार करके अपने अभीष्ट नित्यत्व आदि धर्मोंका ही समर्थन करना दुर्नय है। इस उल्लेखसे यह प्रतिपादित किया कि आपके द्वारा प्रणीत शासनके विरोधियोंके ये असंबद्ध वाक्य ही हैं।

इस श्लोकके पूर्वार्धमें ग्रन्थकारने अनित्य दीपक और नित्य व्योमका क्रमसे उल्लेख किया है। उत्तरार्धमें इस क्रमका उल्लंघन करके पहले नित्य और बादमें अनित्यका उल्लेख है। इस तरह जो क्रमसे अनित्य और नित्य हैं, वही उत्तरार्धमें क्रमसे नित्य और अनित्य प्रतिपादित किया

१. पातञ्जलयोगानुसारिणः। २. पातञ्जलयोगसूत्र ३।१३ इत्यत्रैतदर्थकं वाक्यजातम्।
३. निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूय समासेदुषां। वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुतासङ्गिनः। औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नयाश्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः। इति नयदुर्नययोर्लक्षणं श्रीउमास्वातिकृतपञ्चाशतो ग्रन्थे।

तथा च प्रशस्तकारः—"सा तु द्विविधा नित्या चानित्या च । परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा[1] त्वनित्या[2]" इति ॥

न चात्र परमाणुकार्यद्रव्यलक्षणविषयद्वयभेदाद् नैकाधिकरणं नित्यानित्यत्वमिति वाच्यम्, पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात । एवमबादिष्वपीति । आकाशेऽपि संयोगविभागाङ्गीकारात् तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव । तथा च स एवाह—"शब्दकारणत्ववचनात् संयोगविभागौ"[3] इति नित्यानित्यपक्षयोः संवलितत्वम् । एतच्च लेशतो भावितमेवेति ॥

प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम् । वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् । तच्चैकान्तनित्यानित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा ? अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न तावत् क्रमेण, स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात्, समर्थस्य कालक्षेपायोगात् । कालक्षेपिणो वा असामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न तर्हि सामर्थ्यम्, अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । "सापेक्षमसमर्थम्[4]" इति न्यायात् ॥

इस शका का उत्तर है कि इस क्रमके उल्लघन करनेका केवल यही अभिप्राय है कि कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा अनित्य नहीं कहा जा सकता —जो अनित्य है, वह भी कथचित् नित्य है, और जो नित्य है, वह भी कथचित अनित्य है । वैशेषिकोंने भी एक ही पृथिवीमे नित्य और अनित्य दोनों धर्म माने है । प्रशस्तकारने कहा है "पृथिवी नित्य-अनित्य दो प्रकारकी है । परमाणुरूप पृथिवी नित्य और कार्यरूप पृथिवी अनित्य है ।"

यहाँपर शका हो सकती है, कि प्रशस्तकारके उक्त कथनमे पृथिवीका नित्यानित्यत्व सिद्ध नहीं होता । क्योंकि नित्यानित्य दोनों धर्मोका अधिकरण एक पृथिवी नही है, किन्तु परमाणु और कार्य दो अलग-अलग पदार्थ है । परन्तु यह शका ठीक नही है । क्योंकि पृथिवीत्व नित्य पृथिवी अर्थात् परमाणु पृथिवी अर्थात् कार्यरूप पृथिवी दोनोंमे रहता है, इसलिए पृथिवीत्वका नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ एकाधिकरण है । जल आदिमे भी वैशेषिकोंने नित्यानित्यरूप दोनों धर्म स्वीकार किये है । तथा सयोग-विभागके अगीकार करनेसे आकाशमे भी उन्होंने युक्तिपूर्वक अनित्यत्व माना है । प्रशस्तभाष्यमे कहा भी है "आकाश शब्दका कारण है, इससे आकाशमे सयोग और विभाग होते है ।" इस प्रकार भाष्यकारने आकाशको नित्य-अनित्य स्वीकार किया है ।

अब यहाँपर वादियोंके वचनोको प्रलापप्राय बताकर सामान्यरूपसे वस्तुके नित्यत्वानित्यत्वका समर्थन करते है । अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है । वस्तुको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य स्वीकार करनेसे यह लक्षण घटित नहीं होता । क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार जिसका कभी नाश न हो, जो उत्पन्न न हो, और जो सदा एकरूप रहे, वही नित्य है । अब यदि नित्य वस्तु वास्तवमे कोई वस्तु है, तो उसमें अर्थक्रियाकारित्व होना चाहिए । यहाँ प्रश्न होता है कि यह अर्थक्रिया नित्य पदार्थमे क्रमसे होती है, अथवा अक्रमसे ? अन्योन्यव्यवच्छेदकोंमे किसी अन्य प्रकारकी सम्भावना नही है । नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती । क्योंकि नित्य पदार्थ समर्थ है; इसलिए कालान्तरमें होनेवाली क्रियाओंको वह प्रथम क्षणमे होनेवाली क्रियाओंके समयमें ही एक साथ कर सकता है, क्योंकि जो समर्थ है, वह कार्य करनेमें विलम्ब करता है, तो वह सामर्थ्यवान नहीं कहा जा सकता । यदि कोई शका करे कि पदार्थके समर्थ होनेपर भी अमुक सहकारी कारणोंके मिलनेपर ही पदार्थ अमुक कार्य करता है, तो इससे नित्य पदार्थकी असमर्थता ही सिद्ध होती है, क्योंकि वह नित्य पदार्थ दूसरोंके सहयोगकी अपेक्षा रखता है । न्यायका वचन भी है—"जो दूसरोंकी अपेक्षा रखता है, वह असमर्थ है ।"

---

१ द्व्यणुकादिलक्षणा । २ वैशेषिकदर्शने प्रशस्तपादभाष्ये पृथिवीनिरूपणप्रकरणे । ३ प्रशस्तपादभाष्ये आकाशनिरूपणे । ४. हेमहंसगणिसमुच्चितहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्याय २८ ।

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्, तत् किं स भावोऽसमर्थः, समर्थो वा? समर्थश्चेत्, किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति। ननु समर्थमपि बीजम् [1]इलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा। तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत, न वा? यदि नोपक्रियेत, तदा सहकारिसन्निधानात् प्रागिव किं न तदाप्यर्थक्रियायामुदास्ते। उपक्रियेत चेत् सः, तर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो, भिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्। अभेदे स एव क्रियते। इति लाभमिच्छतो[2] मूलक्षतिरायाता कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः।

भेदे तु कथं तस्योपकारः, किं न सह्यविन्ध्यादेरपि। तत्सम्बन्धात् तस्यायमिति चेत् उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः? न तावत् संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः। नापि समवायः, तस्यैकत्वात् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेनसर्वत्रतुल्यत्वाद् न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः। नियतसम्बन्धि-सम्बन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः। तथा च सति उपकारस्य

अब यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ स्वयं सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं करते, परन्तु सहकारी कारणोंके अभावमें नहीं होनेवाला कार्य ही सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता है, तो प्रश्न होता है कि वह नित्य पदार्थ समर्थ है या असमर्थ? यदि वह समर्थ है तो वह सहकारी कारणोंके मुँहकी तरफ क्यों देखता है? क्यों झटपट कार्य नहीं कर डालता? यदि कहो कि जिस प्रकार बीजके समर्थ होते हुए भी बीज पृथिवी, जल, वायु आदिके सहयोगसे ही अंकुरको उत्पन्न करता है, अन्यथा नहीं, इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहकारियोंके बिना कार्य नहीं करता। तो प्रश्न होता है, कि सहकारी कारण नित्य पदार्थका कुछ उपकार करते है या नहीं? यदि सहकारी कारण नित्य पदार्थका कुछ उपकार नहीं करते है तो वह नित्य पदार्थ जैसे सहकारी कारणोंके सम्बन्धके पहले अर्थक्रिया करनेमें उदास था, वैसे ही सहकारियोंके संयोग होनेपर भी क्यों उदास नहीं रहता? यदि कहो कि सहकारी नित्य पदार्थका उपकार करते है, तो प्रश्न होता है कि यह उपकार पदार्थसे अभिन्न है या भिन्न? यदि सहकारी पदार्थसे अभिन्न ही उपकार करते है तो सिद्ध हुआ कि नित्य पदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है। इस प्रकार लाभकी इच्छा रखनेवाले वादीके मूलका भी नाश हो जाता है। क्योंकि यदि नित्य पदार्थ सहकारियोंकी अपेक्षा रखेगा तो वह कृतक हो जायेगा और कृतक होनेसे वह नित्य नहीं रह सकता।

यदि सहकारियोंका उपकार पदार्थसे भिन्न है, तो भेदत्व सामान्यसे सह्य-विन्ध्यके साथ भी उस भिन्न-उपकारका सम्बन्ध क्यों नहीं मानते? (अर्थात् यदि सहकारियोंके उपकारसे नित्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो यह नहीं मालूम हो सकता कि वह उपकार नित्य पदार्थका ही है। ऐसी हालतमें सह्य और विन्ध्यका भी उपकार माना जा सकता है, क्योंकि सहकारियों तथा सह्य और विन्ध्यमे भी भेद है।) यदि कहो, कि नित्य पदार्थके साथ उपकारके सम्बन्धसे यह उपकार इस नित्य पदार्थका है—ऐसी प्रतीति होती है, तो प्रश्न होता है कि उपकार्य और उपकार दोनोंमें कौनसा सम्बन्ध है? उपकार और उपकार्यमे संयोग सम्बन्ध बन नहीं सकता, क्योंकि दो द्रव्योंमें ही संयोग-सम्बन्ध होता है। यहाँपर उपकार्य द्रव्य है, और उपकार क्रिया है, इसलिए संयोग-सम्बन्ध सम्भव नहीं। उपकार्य और उपकारमें समवाय-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। क्योंकि समवाय एक है और व्यापक है। इसलिए समवाय न किसी पदार्थसे दूर है और न समीप, वह सब पदार्थोमे समान है। अतएव नियत सम्बन्धियोंके साथ समवायका सम्बन्ध मानना ठीक नहीं। यदि नियत-सम्बन्धियोंके साथ समवायका सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो सहकारियोंसे किये हुए उपकारको भी समवायका उपकार मानना चाहिए। तथा इस तरह उपकारके विषयमे जो भेद अभेद कल्पनाएँ की गयी थीं, वे

१ पृथिवी। २. यदा कश्चिद्वार्धुषिः स्वद्रव्यं कुसीदेच्छयाधमर्णाय प्रयच्छति। तेनाधमर्णेन न मूलद्रव्यं न वा कुसीदं प्रत्यावर्त्यते तदायं न्यायः समापतति। वृद्धिमिच्छतो मूलद्रव्यक्षतिरुत्पन्नेत्यर्थः।

भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव । उपकारस्य समवायस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात् । भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वम् । तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते ॥

नाप्यक्रमेण । नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम् । कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात् । करणे वा, क्रमपक्षभावी दोषः । अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाभावाद् अवस्तुत्वप्रसङ्गः । इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति । अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयति । इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः ॥

एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात् । क्रमो हि पौर्वापर्यम्, तच्च क्षणिकस्यासम्भवि । अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिः देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते । न चैकान्तविनाशिनि सास्ति ।

वैसी की वैसी ही रहीं । तथा उपकार और समवायका अभेद माननेपर समवाय और उपकार एक ही ठहरे, और फिर तो सहकारियोंने उपकार नहीं किया, किन्तु समवायने ही किया—ऐसा कहना चाहिए । यदि समवाय और उपकार भिन्न हैं, तो नियत सम्बन्धियोंके साथ समवायका सम्बन्ध नहीं हो सकता । (अभिप्राय यह है कि उपकार और समवायके भेद माननेमे दोनोंका सयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सयोग सम्बन्ध द्रव्योंमें ही होता है । यदि दोनोंमें समवाय सम्बन्ध माना जाय तो समवाय व्यापक है, इसलिए नियत सम्बन्धियोंके साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता ।) अतएव एकान्त नित्यमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती ।

नित्य पदार्थ अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं करता है । क्योंकि एक पदार्थ समस्त कालमे होनेवाली अर्थक्रियाको एक ही समयमे कर डाले, यह अनुभवमें नहीं आता । अथवा यदि नित्य पदार्थ अक्रमसे अर्थक्रिया करे भी तो वह दूसरे क्षणमें क्या करेगा ? यदि कहो कि दूसरे क्षणमें भी वह अर्थक्रिया करता है तो जो दोष क्रमसे अर्थक्रिया करनेमें आते हैं, वे सब दोष यहाँ भी आयेंगे । यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ दूसरे क्षणमे कुछ भी नहीं करता, तो दूसरे क्षणमे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव होनेसे नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरेगा । इस प्रकार व्यापककी अनुपलब्धिके कारण व्यापककी निवृत्ति हो जानेसे विरत हो जानेवाली क्रम और अक्रमसे व्याप्त ऐसी अर्थक्रिया अपने व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वकी भी निवृत्ति कर देती है । तथा निवृत्त होनेवाला अर्थक्रियाकारित्व अपने व्याप्य पदार्थकी भी निवृत्ति कर देता है । अत एकान्त-नित्य पदार्थमें क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनती । तथा वस्तुमे अर्थक्रियाकारित्वके नष्ट हो जानेपर वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता । (तात्पर्य यह है कि पदार्थको सर्वथा नित्य स्वीकार करनेमे नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं है । और अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण कहा गया है । इसलिए नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकारित्वके अभाव होनेसे नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरता है । क्रम और अक्रम दोनों ही तरहसे सर्वथा नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती । नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थक्रिया हो तो यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि नित्य पदार्थ सर्वदा समर्थ है, फिर वह दूसरे क्षणमे होनेवाली क्रियाओंको एक ही साथ न करके क्रम-क्रमसे क्यों करता है ? नित्य पदार्थमे अक्रमसे अर्थक्रिया मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ समस्त कालमे होनेवाली क्रियाओंको एक ही समयमें कर डाले, ऐसी प्रतीति नहीं होती । थोडी देरके लिए यदि यह सम्भव भी हो, तो नित्य पदार्थ दूसरे क्षणमे क्या काम करेगा ? इस प्रकार क्रम और अक्रम दोनों पक्ष दोषपूर्ण हैं ।) अतएव वस्तुका एकान्त-नित्यत्व स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है ।

एकान्त-नित्यकी तरह पदार्थको एकान्त-अनित्य स्वीकार करना भी योग्य नहीं । क्योंकि अनित्य

यदाहुः—

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते" ॥

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति; सन्तानस्यावस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं, न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः । अथाक्षणिकत्वं, तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥

नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके सम्भवति । स ह्येको बीजपूरादिक्षणो[1] युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्, एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मभूता, अनात्मभूता वा ? अनात्मभूताश्चेत् स्वभावत्वहानिः । यद्यात्मभूताः तर्हि तस्यानेकत्वम्, अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावाना वा एकत्वं प्रसज्येत, तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषां तस्य चैकत्वात् ॥

पदार्थ क्षण-क्षणमे नष्ट होनेवाला है इसलिए वह क्रमसे अर्थक्रिया नही कर सकता । कारण कि अनित्य पदार्थमे देश और कालकृत क्रम सभव नहीं । पूर्वक्रम और अपरक्रम क्षणिक पदार्थमें असम्भव है । क्योंकि नित्य पदार्थमें ही अनेक देशोंमे रहनेवाला देशक्रम और अनेक कालमें रहनेवाला कालक्रम सम्भव हो सकता है । सर्वथा अनित्य पदार्थोंमे देश और कालक्रम नही हो सकता । कहा भी है —

"जो पदार्थ जिस स्थान (देश) और जिस क्षण (काल) मे है, वह उसी स्थान और उसी क्षणमे है क्षणिक भावोंके साथ देश और कालकी व्याप्ति नहीं वन सकती ।"

यदि कहा जाय कि सन्तानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणमे क्रम सम्भव हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सन्तान कोई वस्तु ही नही । यदि सन्तानको वस्तु स्वीकार किया जाय, तो सन्तान क्षणिक है, अथवा अक्षणिक ? सन्तानको क्षणिक माननेपर सन्तानमे क्षणिक पदार्थों से कोई विशेषता न होगी। अर्थात् जिस प्रकार पदार्थोंके क्षणिक होनेपर उनमे क्रम नही होता, वैसे ही सन्तानमे भी क्रम न होगा । यदि सन्तान अक्षणिक है, तो क्षणभगवाद ही नही वन सकता ।

क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया सम्भव नही । क्योंकि एक बीजपूर (बिजौरा) आदि क्षण (बौद्ध लोग वस्तुओंको क्षण कहते हैं, क्योंकि उनके मतमें सब पदार्थ क्षणिक है) एक साथ अनेक रस आदि क्षण (वस्तु) को एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, अथवा नाना स्वभावसे ? यदि एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण रस आदि पदार्थोंमे एकता हो जानी चाहिए । यदि बीजपूर क्षण रस आदि क्षणको नाना स्वभावोंसे उत्पन्न करता हैं—अर्थात् किसी रूप आदिको उपादानभावसे, और किसी रस आदिको सहकारीभावसे उत्पन्न करता हैं—तो प्रश्न होता है कि वे उपादान और सहकारीभाव बीजपूरके आत्मभूत (निजस्वभाव) हैं, या अनात्मभूत (परस्वभाव) ? यदि उपादानादि भाव बीजपूरके अनात्मभूत है तो उपादानादि भाव बीजपूरके स्वभाव ही नही कहे जा सकते । यदि उपादानादिभाव बीजपूरके आत्मभूत है तो अनेक स्वभावरूप होनेसे बीजपूर पदार्थमें अनेकता हो जायेगी, अर्थात जितने स्वभाव होंगे, उतने ही उन स्वभावोंके धारक बीजपूर पदार्थ भी होंगे । अथवा उपादानादि बीजपूर पदार्थसे अभिन्न है, और बीजपूर एक है, इसलिए स्वभावोंका एकत्व हो जायेगा ।

---

१ 'बीजपूरादिरूपादि' पाठान्तरम् । एते बौद्धाः क्षणशब्देन पदार्थान् गृह्णन्ति । यतः सर्वे पदार्था क्षणिका ।

अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते। तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना। अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रमं, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः इति चेत्, अहो स्वपक्षपाती देवानांप्रियः यः खलु स्वयमेकस्माद् निरंशाद् रूपादिक्षणलक्षणात् कारणाद् युगपदनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्माद् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा। इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते। इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः॥

स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्, नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात्। तथा च पठन्ति—

यदि कहो कि जो स्वभाव एक स्थानमें उपादानभाव होकर रहता है, वही दूसरे स्थानमें सहकारीभाव हो जाता है, इसलिए हम पदार्थमें स्वभावका भेद नहीं मानते, तो क्षणिकवादी नित्य और एकरूप क्रमसे नाना कार्य करनेवाले पदार्थका स्वभावभेद और कार्यसंकरत्व कैसे स्वीकार करते हैं? [तात्पर्य यह है कि बौद्ध लोग नित्य पदार्थके माननेमें जो दोष देते हैं कि 'यदि नित्य पदार्थ क्रमसे एक स्वभावसे अर्थक्रिया करे, तो वह एक ही समयमें अपने सब कार्य कर लेगा, इस कारण कार्यसंकरता (सब कार्योंकी अभिन्नता) हो जायेगी, और यदि अनेक स्वभावोंसे अर्थक्रिया करे, तो स्वभावका भेद हो जानेके कारण नित्य पदार्थ क्षणिक सिद्ध होगा', सो ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध भी एक क्षणिक पदार्थ से उपादान और सहकारी भावो द्वारा कार्यकी उत्पत्ति मानकर स्वभावका भेद मानते हैं।] यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ एक रूप होनेसे क्रम रहित है, और अक्रम पदार्थमें अनेक क्रमसे होनेवाले पदार्थोंकी कैसे उत्पत्ति हो सकती है? तो यह बौद्धोंका पक्षपात मात्र है। क्योंकि बौद्ध लोग एक और अंश रहित रूप आदि क्षण कारणसे एक साथ अनेक कार्योंको स्वीकार करके भी, नित्य वस्तुमें क्रमसे नाना कार्योंकी उत्पत्तिमें विरोध खड़ा करते हैं। अर्थात् बौद्ध लोग निरंश पदार्थ ही-से अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं, फिर वे नित्य पदार्थमें क्रमसे अनेक कार्योंकी उत्पत्तिमें क्यों दोष देते हैं? अतएव क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए एकान्त-अनित्य पदार्थमें क्रम-अक्रम व्यापकोंकी निवृत्ति होनेसे व्याप्य अर्थक्रिया भी नहीं बन सकती। तथा अर्थक्रियाकी निवृत्ति होनेपर पदार्थमें व्यापककी अनुपलब्धि हो ही जाती है। इससे क्षणिक पदार्थके अस्तित्वका भी अभाव हो जाता है। (तात्पर्य यह है कि जैन लोग सर्वथा नित्यत्ववादकी तरह सर्वथा अनित्यत्ववादको भी नहीं मानते हैं। उनका कहना है, कि एकान्त-अनित्य पदार्थमें क्रम-अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। एकान्त-अनित्यमें क्रमसे अर्थक्रिया इसलिए नहीं बन सकती, कि एकान्त-क्षणिक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है। इसलिए सर्वथा क्षणिक पदार्थोंमें देशकृत अथवा कालकृत क्रम सम्भव नहीं है। तथा क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि यदि क्षणिक पदार्थोंमें अक्रमसे अर्थक्रिया हो, तो एक ही क्षणमें समस्त कार्य हो जाया करेंगे, फिर दूसरे क्षणमें कुछ भी करनेको बाकी न रहेगा। अतएव दूसरे क्षणमें वस्तुके अर्थक्रियासे शून्य होनेके कारण वस्तुको अवस्तु मानना पड़ेगा।) अतएव एकान्त-अनित्यत्ववादको भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्याद्वाद सिद्धान्तके स्वीकार करनेमें पूर्व आकारका त्याग, उत्तर आकारका ग्रहण, और पूर्वोत्तर दोनों दशाओंमें पदार्थके ध्रुव रहनेके कारण पदार्थोंमें अर्थक्रिया माननेमें कोई विरोध नहीं आता। यदि कहो कि एक ही पदार्थमें परस्पर दो विरुद्ध धर्म कैसे सम्भव है, तो हमारा उत्तर है कि स्याद्वादमें एकान्त नित्य और एकान्त-अनित्यसे विलक्षण तीसरा ही पक्ष स्वीकार किया गया है। क्योंकि स्याद्वादमें प्रत्येक

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते" ।। इति ।।

वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात् एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः । सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् ।।

अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तरावस्थायित्वात् क्षणिकं न मन्यन्ते तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवानित्यतालक्षणात् । तथापि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः इति तदधिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना । यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु तदापि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति ।। इति काव्यार्थः ।।५।।

वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य और किसी अपेक्षासे अनित्य स्वीकार की गयी है । यह नित्यानित्यरूप सबके अनुभवमें भी आता है । कहा भी है—

"एक भागमें सिंह दूसरे भागमें नर, इस प्रकार दो भागोंको धारण करनेसे भागरहित नृसिंहावतार को नरसिंह कहा जाता है ।" (भाव यह है कि जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भागमें नर हैं और दूसरेमें सिंह हैं, अर्थात् नर और सिंहकी दो विरुद्ध आकृतियोंको धारण करता है, और फिर भी नृसिंहावतार नृसिंह नामसे कहा जाता है, उसी तरह नित्य-अनित्य दो विरुद्ध धर्मोंके रहनेपर भी स्याद्वादके सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं आता है ।)

इसी तरह वैशेषिक लोग भी एक अवयवीको ही चित्ररूप (परस्पर विरुद्धरूप) तथा एक ही पटको चल और अचल, रक्त और अरक्त, आवृत और अनावृत आदि विरुद्ध धर्मयुक्त स्वीकार करते हैं । बौद्धोंने भी एक ही चित्रपटी ज्ञानमें, नील और अनीलमें विरोधका होना स्वीकार नहीं किया है ।

यद्यपि वैशेषिक लोगोंने दीपक आदिको एक क्षणके बाद कालान्तरमें स्थायी माना है, इसलिए उसे क्षणिक स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनके मतमें पूर्व और अपर अन्तसे अवच्छिन्न सत्ताको अनित्य कहा है (बौद्धोंकी तरह क्षण-क्षणमें होनेवाले अभावको नहीं), फिर भी वैशेषिक लोगोंने बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक स्वीकार किया ही है । अतएव यहाँपर क्षणिकवादकी चर्चा अप्रासंगिक नहीं समझनी चाहिए । (नोट—वैशेषिक लोग बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक मानते हैं, इससे मालूम होता है कि वैशेषिक लोग अर्धबौद्ध गिने जाते थे । इसीलिए शंकराचार्यने उन्हें अर्ध-वैनाशिक अर्थात् अर्ध-बौद्ध कहकर सम्बोधन किया है—प्रो०ए०बी०ध्रुव—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ५४) । वैशेषिक लोग जिस तरह बुद्धि, सुख आदिको सर्वथा क्षणिक मानते हैं वैसे ही वे लोग बहुतसे पदार्थोंको सर्वथा नित्य भी स्वीकार करते हैं, परन्तु वस्तुको नित्य-अनित्य मानना ही ठीक है । क्योंकि जो वस्तु एक क्षणसे दूसरे क्षणमें रहनेवाली है, वह नित्यानित्य ही होती है । इसी तरह ऐसा कोई भी क्षण नहीं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न होते हों ।। यह श्लोकका अर्थ है ।।५।।

भावार्थ—जैनदर्शनमें प्रत्येक पदार्थ कथंचित्-नित्य और कथंचित्-अनित्य माना गया है । साधारणतः दीपक अनित्य और आकाश नित्य माना जाता है । परन्तु जैनदर्शनके अनुसार दीपकसे लेकर आकाश तक, अर्थात् छोटेसे लेकर बड़े तक सब पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप हैं, और इसीलिए नित्य अनित्य हैं । जिस समय दीपकके तेज परमाणु तमरूप पर्यायमें परिवर्तित होते हैं, उस समय तेज परमाणुओंका व्यय होता है, तमरूप पर्यायका उत्पाद होता है, तथा दोनों अवस्थाओंमें द्रव्यरूप दीपक मौजूद रहता है । इसलिए द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । इसी प्रकार आकाश भी नित्य-अनित्य है । क्योंकि जिस समय आकाशमें रहनेवाले जीव-पुद्गल आकाशके एकप्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संयुक्त होते हैं, उस समय आकाशके पूर्व प्रदेशोंसे जीव-पुद्गलोंके विभाग होनेकी अपेक्षासे आकाशमें व्यय,

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह—

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

जगतः—प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य, कश्चिद्—अनिर्वचनीयस्वरूपः, पुरुषविशेषः, कर्ता—स्रष्टा, अस्ति—विद्यते । ते हि इत्थं प्रमाणयन्ति । उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं, बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्, यद् यत् कार्यं तत् तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं, यथा घटः, तथा चेदं, तस्मात् तथा । व्यतिरेके व्योमादि । यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति ॥

उत्तर प्रदेशोंके साथ संयोग होनेमें उत्पाद, तथा पूर्वोत्तर दोनों पर्यायोंमें आकाश द्रव्यके मौजूद रहनेसे ध्रौव्य अवस्थाएँ पायी जाती हैं । इसलिए द्रव्यकी अपेक्षा आकाश नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । दूसरे शब्दोंमें, जैनसिद्धान्तके अनुसार, द्रव्य और पर्याय कथंचित्-भिन्न है और कथंचित्-अभिन्न । जिस प्रकार विना द्रव्यके पर्याय नहीं रह सकती, उसी तरह विना पर्यायके द्रव्य नहीं रह सकते । परन्तु वैशेषिक लोग कुछ पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते हैं और कुछको सर्वथा अनित्य । इसीलिए वैशेषिकों द्वारा मान्य 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिररूप' नित्यका लक्षण न स्वीकार करके जैन लोग 'पदार्थके भावका नष्ट नहीं होना' ही नित्यत्वका लक्षण मानते हैं ।

इस श्लोककी व्याख्यामें टीकाकार मल्लिषेणने निम्न विषयोंपर भी विचार किया है ।

(१) अन्धकार तेजकी ही एक पर्यायविशेष है, सर्वथा अभावरूप नहीं है । जैनदर्शनके अनुसार प्रकाशकी तरह तम भी चक्षुका विषय है । इसलिए जैनशास्त्रोंमें अन्धकारको पौद्गलिक—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त—स्वीकार किया गया है । जैन लोगोंका कहना है कि यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अन्धकारको पुद्गलकी पर्याय माननेमें क्या आपत्ति है ?

(२) पदार्थको एकान्त नित्य अथवा एकान्त-अनित्य स्वीकार करनेसे उसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं होता । इस विषयको नाना ऊहापोहात्मक विकल्पोंके साथ टीकाकारने विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है ।

(३) नित्यानित्यके सिद्धान्तको दूसरे वादी भी रूपान्तरसे स्वीकार करते हैं । उदाहरणके लिए, वैशेषिक लोग पृथ्वीको नित्य और अनित्य दोनों मानते हैं, तथा एक ही अवयवीके चित्ररूपकी कल्पना करते हैं । बौद्ध लोग भी एक ही चित्रपटमें नील-अनील धर्मोंको मानते हैं । इसी तरह पातञ्जलमतके अनुयायी धर्म, लक्षण और अवस्थाको धर्मीसे भिन्न और अभिन्न मानते हैं ।

अब, वैशेषिकों द्वारा मान्य ईश्वरके जगत्कर्तृत्वमें दूषण देते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—हे नाथ, जो अप्रामाणिक लोग 'जगत्का कोई कर्ता है (१) वह एक है, (२) सर्वव्यापी है, (३) स्वतन्त्र है और (४) नित्य है' आदि दुराग्रहसे परिपूर्ण सिद्धान्तोंको स्वीकार करते हैं, उनका तू अनुशास्ता नहीं हो सकता ।

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष—'जगतः कश्चित् कर्ता अस्ति'–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाने हुए स्थावर और जंगमरूप तीनों विश्वका अनिर्वचनीय स्वरूप कोई पुरुषविशेष सृष्टिकर्ता है । इसमें निम्नलिखित प्रमाण दिया गया है—'पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो जो कार्य होते हैं वे सब किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए होते हैं, जैसे घट पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इसलिए ये भी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए होने चाहिए' । व्यतिरेक रूपमें—'आकाश आदि कार्य नहीं हैं, इसलिए किसी बुद्धिमान् कर्ताका बनाया हुआ भी नहीं है ।' जो कोई इन पदार्थोंका बुद्धिमान् कर्ता है वह भगवान् ईश्वर ही है ।

न चायमसिद्धो[1] हेतुः । यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव । नाप्यनैकान्तिको[2] विरुद्धो[3] वा । विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः[4] । प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात् । नापि प्रकरणसमः[5] तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात् ॥

न च वाच्यम् ईश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति, अशरीरत्वात्, निर्वृत्तात्मवत्, इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति । यतोऽत्रेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः ? न तावदप्रतीतः, हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । प्रतीतश्चेत्, येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते । इत्यतः कथमशरीरत्वम् । तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति ॥

उक्त हेतु असिद्ध नही हैं । क्योंकि अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेके और अवयवी होनेके कारण पृथिवी, पर्वत आदिका कार्यत्व सभी वादियोंने स्वीकार किया है। यह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि इसकी विपक्षमे अत्यन्त व्यावृत्ति है । (जिस हेतुकी विपक्षमे भी अविरुद्ध वृत्ति हो, अर्थात् जो हेतु विपक्षमे भी चला जाय उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हे । जैसे घडा ठण्डा है, क्योंकि मूर्तिक है । यहाँ मूर्तित्वकी व्याप्ति ठण्डा और गरम दोनोंके साथ है, अर्थात् मूर्तित्व हेतु विपक्ष (गरम) मे भी चला जाता है, इसलिए दूषित है । यहाँ कार्यत्व हेतुकी विपक्ष अर्थात् आकाश आदिसे व्यावृत्ति है, इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक नही है । इसीलिए कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहो है । जिस हेतुका अविनाभावसम्बन्ध साध्यसे विरुद्धके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते है । जैसे शब्द परिवर्तनशील है, क्योंकि उत्पत्तिवाला है । यहाँ उत्पत्तिकी व्याप्ति परिवर्तनशीलताके साथ है, जो साध्यसे विरुद्ध है । प्रस्तुत कार्यत्व हेतु अपने साध्य बुद्धिमत्कर्तृत्वके साथ अविनाभावसम्बन्धसे रहता है, इसलिए विरुद्ध नहीं है ।) कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नही है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे अबाधित, धर्म और धर्मीके सिद्ध हो जानेपर प्रतिपादन किया गया है—अर्थात् पहले प्रमाणसिद्ध धर्म-धर्मीका कथन करके बादमे हेतुका कथन किया गया हे । यह हेतु प्रकरणसम भी नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई बाधक प्रत्यनुमान नही है । (जहाँ साध्यके अभावका साधक कोई दूसरा अनुमान मौजूद हो उसे प्रकरणसम कहते है । यहाँ कार्यत्व हेतुके प्रतिकूल बुद्धिमत्अकर्तृकत्व धर्मको सिद्ध करनेवाला कोई प्रत्यनुमान नहीं है ।)

प्रतिवादी—'ईश्वर पृथिवी, पर्वत आदिका कर्ता नही है, क्योंकि वह अशरीरी है, मुक्तात्माकी तरह' —यह प्रत्यनुमान उक्त कार्यत्व हेतुका बाधक है, इसलिए कार्यत्वहेतु प्रकरणसम हेत्वाभाससे दूषित है । **वैशेषिक**—यह शका ठीक नहीं । क्योंकि 'ईश्वर पृथिवी, पर्वत आदिका कर्ता नही है' —इस वाक्यमे ईश्वररूप धर्मी प्रतीत है, अथवा अप्रतीत ? यदि धर्मी अप्रतीत हो, तो हेतु आश्रयासिद्ध होगा, अर्थात् जब धर्मी ही अप्रतीत है तब अशरीरत्व हेतु कहाँ रहेगा ? यदि कहो कि उक्त अनुमानमे ईश्वर प्रतीत है तो जिस प्रमाणसे ईश्वर प्रतीत है, उसी प्रमाणसे यह क्यों नहीं मानते कि ईश्वर स्वय उत्पन्न किये हुए शरीरको ही धारण करता हे । अर्थात् ईश्वरको प्रतीत (जाना हुआ) माननेसे क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ईश्वरने अपना शरीर स्वय बनाया है, और वह जगत्को बनानेमे समर्थ है । इसलिए ईश्वरको शरीररहित नहीं कह सकते । अतएव ईश्वरके कर्तृत्वमे हमारा दिया हुआ कार्यत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष है ।

---

१. अयं साध्यसमशब्देनाभिधीयते । 'साध्याविशिष्ट साध्यत्वात्साध्यसमः' । गौतमसूत्रे १-२-८ । २. 'अनैकान्तिक· सव्यभिचार ' । गौतमसूत्रे १–२–५ । ३. 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' । गौतमसूत्रे १-२-६ । ४ 'कालात्ययापदिष्ट कालातीत ' । गौतमसूत्रे १–२–९ । ५. 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट प्रकरणसम·' । गौतमसूत्रे १–२–७ ।

स चैक इति । चः पुनरर्थे । स पुनः–पुरुषविशेषः, एकः–अद्वितीयः । बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसम्भावनाया अनिवार्यत्वाद् एकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येत इति ॥

तथा स सर्वग इति । सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः–सर्वव्यापी । तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां विश्वत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः । कुम्भकारादिषु तथा दर्शनाद् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः–सर्वज्ञः "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः[१]" इति वचनात् । सर्वज्ञत्वाभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वाद् अनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात् ॥

तथा स स्ववशः—स्वतन्त्रः, सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात् । तथा चोक्तम्—

"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥"

पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघाताद् अनीश्वरत्वापत्तिः ॥

तथा स नित्य इति । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः । तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते । यश्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यते, स नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? नित्यश्चेत् अधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्, तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम् । तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायाम् अनवस्थादौःस्थ्यमिति ॥

---

(१) वह पुरुषविशेष एक अर्थात् अद्वितीय ('एक') है । क्योंकि यदि बहुतसे ईश्वरोंको संसारका कर्ता स्वीकार किया जाय, तो एक दूसरेकी इच्छामें विरोध उत्पन्न होनेके कारण एक वस्तुके अन्य रूपमें निर्माण होनेसे संसारमें असमञ्जस उत्पन्न हो जायेगा ।

(२) ईश्वर सर्वव्यापी ('सर्वग') है । यदि ईश्वरको नियत प्रदेशमें ही व्याप्त माना जाय, तो अनियत स्थानोंके तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंकी यथारीति उत्पत्ति सम्भव न होगी । जैसे कुम्भकार एक प्रदेशमें रहकर नियत प्रदेशके घटादिक पदार्थको ही बना सकता है, वैसे ही ईश्वर भी नियत प्रदेशमें रहकर अनियत प्रदेशके पदार्थोंकी रचना नहीं कर सकता । अथवा, ईश्वर सब पदार्थोंको जाननेवाला ('सर्वज्ञ') है । क्योंकि कहा है "गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं" । यदि ईश्वरको सर्वज्ञ न मानें, तो यथायोग्य उपादान कारणोंके न जाननेके कारण वह ईश्वर अनुरूप कार्योंकी उत्पत्ति न कर सकेगा ।

(३) ईश्वर स्वतन्त्र ('स्ववश') है, क्योंकि वह अपनी इच्छासे ही सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख-दुखका अनुभव करानेमें समर्थ है । कहा भी है—

"ईश्वर द्वारा प्रेरित किया हुआ जीव स्वर्ग और नरकमें जाता है । ईश्वरकी सहायताके बिना कोई अपने सुख दुख उत्पन्न करनेमें स्वतन्त्र नहीं है ।"

ईश्वरको परतन्त्र स्वीकार करनेमें उसके परमुखापेक्षी होनेसे, मुख्य कर्तृत्वको बाधा पहुँचेगी जिससे कि उसका ईश्वरत्व ही नष्ट हो जायेगा ।

(४) ईश्वर अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिररूप 'नित्य' है । ईश्वरको अनित्य माननेमें एक ईश्वर दूसरे ईश्वरसे उत्पन्न होगा, इसलिए वह कृतक—अपने स्वरूपकी सिद्धिमें दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाला—हो जायगा । तथा ईश्वरका जो कोई दूसरा कर्ता मानोगे, वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो एक ही ईश्वरको नित्य क्यों नहीं मान लेते । यदि ईश्वरका कर्ता अनित्य है, तो उस अनित्य कर्ताका कोई दूसरा उत्पादक होना चाहिए । फिर वह कर्ता नित्य होगा या अनित्य ? इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा ।

---

१ 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः' हेमहंसगणिसमुच्चितहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्याय' ४४ इति ।

तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्य उत्तरार्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे । इमाः—एताः, अनन्तरोक्ताः, कुहेवाकविडम्बनाः—कुत्सिता हेवाकाः—आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः । त एव विडम्बनाः विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद् विगोपकप्रकाराः । स्युः—भवेयुः । तेषां प्रामाणिकापसदानाम् । येषां हे स्वामिन् त्वं नानुशासकः—न शिक्षादाता ॥

तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयाञ्चकार स्तुतिकारः । तथा चैवमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति । स मूर्खः स पापीयान् स दरिद्र इत्यादि । त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितुः परमकारुणिकतयानपेक्षितस्वपरपक्षविभागमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते ॥

अतोऽत्रायमाशयः । यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे, तथापि सैव केषाञ्चिद् निचितनिकाचित[1]पापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते । अपुनर्बन्धका[2]दिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात् । तथा च [3]कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण—"अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः । गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य" इति । अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति ॥

उत्तरपक्ष— 'इमा कुहेवाकविडम्बना '—इस प्रकारकी कुत्सित आग्रहरूप विडम्बनाएँ विचाररहित होनेके कारण तिरस्कारके योग्य है । अप्रामाणिक लोगोंकी ये विडम्बनाएँ अपने दोषोंको छिपानेके लिए ही है । ऐसे लोगोके उपदेष्टा हे स्वामिन्, आप नहीं हो सकते ।

न्याय वैशेषिकोंकी मान्यताको विडम्बना सिद्ध करनेके लिए ही श्लोकमे न्याय-वैशेषिकों द्वारा अभीष्ट ईश्वरके प्रत्येक विशेषणोंके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग किया गया है । जिस प्रकार वक्ता लोग किसी निन्दनीय पुरुषको कहते है कि वह मूर्ख है, वह पापी है, वह दरिद्र है, आदि, उसी प्रकार यहाँ भी ईश्वरके लिए कहा गया है, कि वह जगतका कर्ता है, वह एक है, वह नित्य है, आदि । श्लोकमे युष्मत् (त्व) शब्दके प्रयोगसे परमदयालु होनेके कारण पक्षपातकी भावनारहित जिनेन्द्र भगवान्‌का अद्वितीय हितोपदेशकत्व ध्वनित होता है ।

भाव यह है कि यद्यपि भगवान् सामान्यरूपसे सपूर्ण प्राणियोंको हितोपदेश करते है, परतु वह उपदेश पूर्व जन्ममे उपार्जन किये हुए निकाचित (जिस कर्मकी उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षणरूप अवस्थाएँ न हो सके उसे निकाचित कर्म कहते हे) पापकर्मोसे मलिन आत्मावाले प्राणियोंको सुखकर नही लगता । कारण कि इस प्रकारके पापी जीव अपुनर्बन्धक [जो जीव तीव्र भावोंसे पाप नही करता है तथा जिसकी मुक्ति पुद्गलपरावर्तनमे हो जाती है, उसे अपुनर्बन्धक कहते हे । देखिए परिशिष्ट (क)], आदि जीवोंसे भिन्न है, इसलिये उपदेशके पात्र नहीं हे । बाणने भी कादम्बरीमे कहा हे—"जिस प्रकार निर्मल स्फटिक मणिमें चन्द्रमाकी किरणोंका प्रवेश होता है, उसी तरह निर्मल चित्तमे उपदेश प्रवेश

१ उदये सकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं । उवसतच णिधत्ति णिकाचिद होदि ज कम्मं ।
छाया–उदये सक्रमोदययो चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यम् । उपशान्त च निधत्ति निकाचित यत् कर्म ॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ४४०)

२ 'पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण वहुमन्नई भव घोरम् ।
उच्चिअठिइ च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबन्धोत्ति' ॥
छाया–पाप न तीव्रभावात् करोति न वहुमन्यते भव घोरम् ।
उचितार्थ च सेवते सर्वत्रापि अपुनर्बन्धक इति ॥ इति धर्मसग्रहे तृतीयाधिकारणे ।

३. वाणभट्टकृतकादम्बरी पूर्वार्ध, पृ० १०३, प० १० ।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना । न हि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टका विषभिषगुपालम्भनीयः, अतिप्रसङ्गात् । स हि तेषामेव दोषः । न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया भानवः[1] कौशिकलोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसम्भावनास्पदम् । तथा च श्रीसिद्धसेनः—

"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥[4]"

अथ कथमिव तत्कुहेवाकाना विडम्बनारूपत्वम् इति । ब्रूमः । यत्तावदुक्तं परैः 'क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः, कार्यत्वाद् घटवदिति' । तदयुक्तम् । व्याप्तेरग्रहणात् । "साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत्" इति सर्ववादिसम्वादः । स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् ? सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्टः, उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः, तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः ॥

करता है । तथा जैसे कानोंमें भरा हुआ निर्मल जल भी महान् पीडाको उत्पन्न करनेवाला होता है, वैसे ही गुरुओंके वचन भी अभव्य जीवको क्लेश उत्पन्न करनेवाले होते हे ।" इसलिये वास्तवमें भगवान् दुराग्रही पुरुषोंके उपदेष्टा हो नहीं सकते ।

इस कथनसे तीन लोकके गुरु भगवान्की असमर्थता प्रगट नहीं होती, क्योंकि सामान्य सर्पोंसे डसे हुए प्राणियोंको जिलानेवाला विषवैद्य यदि कालसर्पसे डसे हुए प्राणीको न जिला सके, तो यह वैद्यका दोष नहीं है । यह दोष कालसर्पसे डसे हुए मनुष्यका ही हे, क्योंकि कालसर्पके विषपर यन्त्र-मन्त्र आदि भी प्रभाव नही डाल सकते । इसी तरह यदि भगवान् अभव्योंको उपदेश न दे सकें, तो यह दोष भगवान्का नहीं है । यह दोष अभव्योंका ही है, क्योंकि तीव्र कषायसे मलिन अभव्योंकी आत्माओंपर उपदेशका कुछ असर नहीं होता । सम्पूर्ण विश्वमण्डलको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणे यदि उल्लूओंके प्रकाशका कारण नहीं हो सकें, तो यह सूर्यकी किरणोंका दोष नहीं है । सिद्धसेन आचार्यने भी कहा हैं—

"हे लोकबान्धव, उत्तम धर्मके बीज बोनेमें आप अत्यन्त कुशल हैं, फिर भी आपका उपदेश बहुतसे लोगोंको नहीं लगता, इसमें कोई आश्चर्य नहीं । क्योंकि अन्धकारमे फिरनेवाले उल्लू आदि पक्षियोंको सूर्यकी किरणे भौरोंके चरणोंके समान कृष्ण वर्णकी ही दिखाई पडती हे ।"

जैन—न्याय-वैशेषिकोंकी विडम्बनाओंको दुराग्रहरूप बताते हुए ग्रथकार न्याय वैशेषिकोंके कार्यत्व हेतुका विस्तारसे खण्डन करते है । वैशेषिकोने जो कहा है, 'पृथिवी आदि किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए है, कार्य होनेसे, घटकी तरह' यह अनुमान ठीक नही है । क्योंकि इस अनुमानमे व्याप्तिका ग्रहण नहीं होता । 'प्रमाण द्वारा व्याप्तिके सिद्ध होनेपर ही साधनसे साध्यका ज्ञान होता है' यह सर्ववादियों द्वारा सम्मत है । प्रश्न होता है, कि ईश्वरने शरीर धारण करके जगत्को बनाया है, अथवा शरीर रहित होकर ? यदि ईश्वरने शरीर धारण करके जगत्को बनाया हे, तो वह शरीर हम लोगोंकी तरह दृश्य था अथवा पिशाच आदिकी तरह अदृश्य ? यदि वह शरीर हमारी तरह दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती हे । हमे ऐसा कोई दृश्य शरीरवाला ईश्वर दिखाई नहीं देता जो घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष, बादल आदिकी सृष्टि करता हो । इसलिये 'जहा-जहा कार्यत्व है वहा-वहा सशरीरकर्तृत्व हे' यह व्याप्ति नही बनती । कार्यत्व हेतु यहाँ साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है । (जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहता है उसे साधारण अनैकान्तिक कहते हैं । जैसे 'पर्वत अग्निवाला हें, प्रमेय होनेसे' । यहाँ प्रमेयत्व हेतु अग्निरूप साध्यके धारक पर्वत पक्षमें रहता है, महानसरूप सपक्षमें रहता है, और पर्वतसे भिन्न साध्यके अभावरूप जलाशय आदि विपक्षमें भी रहता है । इसलिये प्रमेयत्व हेतु

---

१ भानव किरणा । २ घूकसमुदायस्य । ३ अनुप्त क्षेत्र खिलशब्देनाभिधीयते ।
४ द्वितीयद्वात्रिंशिका श्लोक १३ ।

द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्, आहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्? प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः,[1] तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात्। इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति। द्वैतीयिकस्तु प्रकारो न संचरत्येव विचारगोचरे, संशयानिवृत्तेः। किं तस्यासत्त्वाद् अदृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत् किं वास्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात् पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात्।

अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः। अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यम्? आकाशादिवत्। तस्मात् सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः।

किञ्च, त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽयं हेतुः। धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात्। तदेवं न कश्चिद् जगतः कर्ता। एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव। तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किञ्चिदुच्यते।

अनैकांतिक हेत्वाभास है। इसी प्रकार यहाँ भी कार्यत्वहेतु पृथ्वी आदि पक्षमे घट आदि सपक्षमें तथा ईश्वरके शरीरद्वारा नहीं बनाये हुए घास, वृक्ष आदि विपक्षमे भी कार्यत्वहेतु चला गया, इसलिये यह हेतु साधारण अनैकांतिक हेत्वाभास होनेसे दोषपूर्ण है।)

यदि कहो कि ईश्वर पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरसे जगत्की सृष्टि करता है तो इस शरीरके अदृश्य होनेमे ईश्वरका माहात्म्यविशेष कारण है, अथवा हम लोगोंका दुर्भाग्य? प्रथम पक्ष विश्वासके योग्य नही है। क्योंकि ईश्वरके अदृश्य शरीर सिद्ध करनेमे कोई प्रमाण नहीं है। तथा ईश्वरके माहात्म्यविशेष सिद्ध होनेपर उसके अदृश्य शरीर सिद्ध हो, और अदृश्य शरीर सिद्ध होनेपर माहात्म्यविशेष सिद्ध हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष भी आता है। यदि कहो कि हम लोगोंके दुर्भाग्यसे ईश्वरका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता तो यह भी ठीक नहीं जँचता। क्योंकि वंध्यापुत्रकी तरह ईश्वरका अभाव होनेसे उसका शरीर दिखाई नहीं देता, अथवा जिस प्रकार हमारे दुर्भाग्यवश पिशाच आदिका शरीर दिखाई नहीं देता, वैसे ही ईश्वरका शरीर भी अदृश्य है? इस तरह कुछ भी निश्चय नही होता।

तथा ईश्वरको अशरीरस्रष्टा माननेमें दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक विषम हो जाते हैं। क्योंकि घटादिक कार्य शरीर सहित कर्ताके बनाये हुए ही देखे जाते है। फिर आकाशकी तरह अशरीर ईश्वर किस प्रकार कार्य करनेमे समर्थ हो सकता है? (तात्पर्य यह कि 'जगत् अशरीर ईश्वरका बनाया हुआ है, कार्य होनेसे घटकी तरह' इस अनुमानमे घट दृष्टान्त और जगत् दार्ष्टान्तिकमे समता नहीं है, क्योंकि घट सशरीरीका बनाया हुआ माना जाता है। तथा जिस तरह अशरीरी आकाश कोई कार्य आदि नही कर सकता, उसी तरह अशरीरी ईश्वर भी कार्य करनेमें असमर्थ है।) इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षोंमे कार्यत्व हेतुकी सकर्तृकत्व साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

तथा, तुम्हारे मतसे कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है। क्योंकि जगतरूप धर्मी (साध्य) के एक देश, इस कालमे उत्पन्न वृक्ष, विद्युत्, मेघ आदि किसी कर्ताके बनाये हुए नही देखे जाते है, इसलिए यहाँ प्रत्यक्षसे बाधित धर्मीके अनन्तर हेतुका कथन किया गया है, अतएव यह हेतु दोषपूर्ण है। अतएव कोई जगत्का कर्ता नही है। तथा ईश्वरके जगत्कर्तृत्व साधनमे जो एकत्व आदि विशेषण दिये गये है वे सब नपुसकके प्रति स्त्रियोके रूप-लावण्य आदिका कथन करनेके समान हैं। फिर भी इन विशेषणोंपर कुछ विचार किया जाता है।

---

१ शपथेन विभावनीय।

तत्रैकत्वचर्चस्तावत् । बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावना इति नायमेकान्तः । अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीना चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात् । अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे । एवं चेद् भवता भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना, तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एक किं न कल्प्यते । अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतु शक्यम् । तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत् तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते तस्माद् वैमत्यभयाद् महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिवाभासते ।

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात् ? प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता । अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्— "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्"[1] इत्यादिश्रुतेः ॥

यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते । स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण

(१) एकत्व—'बहुत-से ईश्वरोंद्वारा जगत्‌रूप एक कार्यके किये जानेपर ईश्वरोंमें मतिका भेद उत्पन्न होगा' यह कथन एकान्त-सत्य नही है। क्योंकि सैकडों कीडिया एक ही वमीको बनाती है, बहुत से शिल्पी एक ही महलको बनाते है, बहुत सी मधुमक्खी एक ही शहदके छत्तेका निर्माण करती है, फिर भी वस्तुओंकी एकरूपतामे कोई विरोध नही आता। यदि वादी कहे कि वमी, प्रासाद आदिका कर्ता भी ईश्वर ही हैं, तो इससे ईश्वरके प्रति आप लोगोंकी निरुपम श्रद्धा ही प्रगट होती है, और इस तरह तो जुलाहे और कुम्भकार आदिको पट और घट आदिका कर्ता न मानकर ईश्वरको ही इनका भी कर्ता मानना चाहिये। यदि आप कहें कि पट घट आदिके कर्ता जुलाहा और कुभकार प्रत्यक्ष–सिद्ध कर्तृत्वका अपलाप कैसे किया जा सकता हैं ? तो फिर कीटिका आदिको वमी आदिका कर्ता माननेमें क्या दोष है ? कीटिका आदिने आप लोगोंका क्या अपराध किया हैं जो आप उनके असाधारण परिश्रमसे साध्य कर्तृत्वको एक चुटकीमे ही उडा देना चाहते है ? इसलिए परस्पर मतिभेद होनेके भयसे जो एक ईश्वरकी कल्पना है, वह भोजन आदिके व्ययके डरसे कृपण पुरुषके अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र और स्त्री आदिको छोडकर शून्य जगलमे वास करनेके समान हैं। (जैसे कोई कृपण पुरुष खर्चके भयसे अपने स्त्री-पुत्रादिको छोडकर वनमें चला जाय, उसी तरह मतिभेदके भयसे आप लोग भी एक ईश्वरकी कल्पना करते है।)

(२) सर्वगतत्व—तथा ईश्वर सर्वगत भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ईश्वरका सर्वगतत्व शरीरकी अपेक्षासे है, अथवा ज्ञानकी ? प्रथम पक्षमें ईश्वरका अपना शरीर ही तीनों लोकोंमें व्याप्त हो जायेगा, फिर दूसरे बनाने योग्य (निर्मेय) पदार्थोके लिए कोई स्थान ही न रहेगा। यदि आपलोग ज्ञानकी अपेक्षा ईश्वरको सर्वव्यापी माने, तो इसमें हमारे साध्यकी सिद्धि है, क्योंकि हम लोग (जैन) भी परमात्माको निरतिशय ज्ञानकी अपेक्षा तीनों लोकोंमे व्यापी मानते है। परन्तु ईश्वरको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत माननेसे आपके वेदसे विरोध आता हैं। वेदमें ईश्वरको शरीरकी अपेक्षासे सर्वव्यापी कहा है। श्रुति भी हैं—"ईश्वर सर्वत्र नेत्रोंका, मुखका, हाथोंका और पैरोंका धारक हैं।"

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापक माननेमें वादीने हेतु दिया हैं कि यदि ईश्वरको नियत स्थानवर्ती माना जाय, तो तीनों लोकोंमें अनियत स्थानोंके पदार्थोकी यथावत् उत्पत्ति नही हो सकेगी, तो

१. शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिताया सप्तदशेऽध्याये १९ मन्त्रे ।

निर्मिमीते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ? आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधानेऽक्षोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद् बंहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः। द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः। नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्तेः ॥

किञ्च, तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते। तथा चानिष्टापत्तिः। अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वं जगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाशुचिरसास्वादादीनामप्युपालम्भसंभावनात् नरकादिदुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्च अनिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्, तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम्। यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा। तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः। नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिः। तद्भावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति ॥

यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम् तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति। अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि, तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावात्। बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः। न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्याद् निष्क्रम्य भुवनं भासयन्ति, एवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद् बहिर्निर्गत्य

यहाँ प्रश्न होता है कि त्रैलोक्यकी सृष्टि करनेवाला ईश्वर बढ़ईकी तरह साक्षात् शरीरकी मददसे जगत्को बनाता है, अथवा सङ्कल्पमात्रसे ? पहला पक्ष स्वीकार करनेमें पृथिवी, पर्वत आदिके निर्माण करनेमें अत्यन्त कालक्षेपकी सम्भावना होनेसे बहुत समय लगेगा, इसलिये बहुत समय तक भी तीनों लोकोंकी रचना न हो सकेगी। यदि कहो कि ईश्वर सङ्कल्पमात्रसे ही सृष्टिको ही बनाता है, तो यदि एक स्थानमें रहकर भी ईश्वर जगत्को बनाये, तो उसमें भी कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि नियत देशमें रहनेवाले सामान्य देव भी सङ्कल्पमात्रसे ही उन-उन कार्योंका सम्पादन करते हैं।

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापी माननेसे वह ईश्वर अशुचि पदार्थोंमें और निरन्तर महा अन्धकारसे व्याप्त नरक आदिमें भी रहा करेगा और यह मानना आप लोगोंको इष्ट नहीं है। ईश्वरवादी—ज्ञानकी अपेक्षा जिनभगवान्को जगत्त्रयमें व्यापी माननेसे आप लोगोंके भगवान्को भी अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका ज्ञान होता है तथा नरक आदि दुःखोंके स्वरूपका ज्ञान होनेसे दुःखका भी अनुभव होता है, इसलिए अनिष्टापत्ति दोनोंको समान है। जैन—यह कहना युक्तियों द्वारा प्रतिकार करनेमें असमर्थ होकर धूल फेंकनेके समान है। क्योंकि अप्राप्यकारी ज्ञान अपने स्थानमें स्थित होकर ही ज्ञेयको जानता है, ज्ञेयके स्थानको प्राप्त होकर नहीं, इसलिये वादीका दिया हुआ दूषण ठीक नहीं है। तथा दूसरी बात यह भी है कि केवल अशुचि पदार्थके ज्ञानसे ही आपको भी रसास्वादनकी अनुभूति नहीं होती है। यदि ऐसा होने लगे, तो माला, चन्दन, स्त्री और मनोज्ञ पदार्थोंके चिन्तन मात्रसे ही तृप्ति हो जानी चाहिये, और इसलिये माला, चन्दन आदिके लिए प्रयत्न करना भी निष्फल हुआ करेगा।

तथा हमने जो ज्ञानकी अपेक्षा ईश्वरके सर्वव्यापी होनेके आपके पक्षमें सिद्धसाधन दोष प्रदर्शित किया था, वह परम पुरुष जिनेन्द्र भगवान्की ज्ञानकी शक्तिकी अपेक्षा प्रदर्शित किया था। (तात्पर्य यह कि जैसा न्याय-वैशेषिक ईश्वरका सर्वगतत्व ज्ञानकी अपेक्षा स्वीकार करते हैं, वैसे ही जैन लोग भी परम पुरुष जिनेन्द्रका सर्वगतत्व ज्ञानकी अपेक्षा स्वीकार करते हैं। अतएव जैन लोगोंने कहा था कि इससे तो हमारे साध्यकी ही सिद्धि होती है।) जैसे किसी मनुष्यकी बुद्धिकी शक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि इसकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें

प्रमेय परिच्छिनत्तीति । तत्रेदमुत्तरम् । किरणानां गुणत्वमसिद्धम्, तेषां तैजसपुद्गलमयत्वे द्रव्यत्वात् । यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति । तथा च धर्मसङ्ग्रहिण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः—

"किरणा गुणा न दव्वा तेसि पयासो गुणो न वा दव्वा ।
जं नाणं आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ ॥ १ ॥
गन्तूण न परिछिन्दइ नाणं णेयं तयम्मि देसम्मि ।
आयत्थं चिय नवरं अचितसत्तीउ विण्णेयं ॥ २ ॥
लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसंपि ।
लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपचक्खा ॥ ३ ॥
एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हंदि लोगंतं ।
जइ परिछिदइ सम्मं को णु विरोहो भवे तत्थ"[1] ॥ ४ ॥
इत्यादि ॥

चलती है, उसी तरह यहाँ भी हमने जिनेन्द्रके ज्ञानकी शक्तिको देखकर जिनेन्द्रको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक कहा है। तथा ज्ञान प्राप्यकारी नहीं है, क्योंकि वह आत्माका धर्म है, इसलिए ज्ञान आत्मासे बाहर निकल कर नहीं जा सकता। यदि ज्ञान आत्माके बाहर निकल कर जाने लगे तो आत्माके अचेतनत्वकी आपत्ति खडी हो जानेसे उसके अजीवत्वका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। लेकिन यह संभव नहीं, क्योंकि धर्मीको छोडकर केवल धर्म कहीं भी नहीं रहता। तथा वैशेषिक लोगोंने जो सूर्यका दृष्टांत दिया है कि जैसे सूर्यकी किरणे गुणरूप होकर भी सूर्यसे बहार जाकर संसारको प्रकाशित करती हैं, उसी तरह ज्ञान आत्माका गुण होकर भी आत्मासे बाहर जाकर प्रमेय पदार्थको जानता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि किरणोंका गुणत्व ही असिद्ध है, कारण कि किरणें तैजस पुद्गलरूप हैं, इसलिये वे द्रव्य है। तथा किरणोंका प्रकाशात्मक गुण कभी किरणोंसे अलग नहीं होता। हरिभद्राचार्यने धर्मसंग्रहिणीमे भी कहा है—

"किरणें द्रव्य हैं, गुण नहीं हैं। किरणोंका प्रकाश गुण हैं। यह प्रकाशरूप गुण द्रव्यको छोडकर अन्यत्र नहीं रहता। इसी तरह ज्ञान आत्माका गुण है, वह आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता ॥१॥

जिस देशमें ज्ञेय पदार्थ स्थित है उस प्रदेशमे ज्ञान जाकर ज्ञेयको नहीं जानता, किन्तु आत्मामे रहते हुए ही दूर देशमे स्थित ज्ञेयको जानता हैं, आत्माके ज्ञानमे अचित्य शक्ति है ॥२॥

जिस प्रकार चुम्बक पत्थरकी शक्ति चुम्बकमे ही रहकर दूर रक्खे हुए लोहेको अपनी ओर खींचती है, ॥ ३ ॥

इसी प्रकार ज्ञान शक्ति आत्मामें ही रहकर लोकके अंत तक रहेनेवाले पदार्थोंको भलीभांति जानती है, इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ ४ ॥" इत्यादि ।

---

१. किरणा गुणा न द्रव्य तेषां प्रकाशो गुणो न वा द्रव्य ।
यज्ज्ञानमात्मगुण. कथमद्रव्य. स अन्यत्र ॥
गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञान ज्ञेय तस्मिन्देशे ।
आत्मस्थमेव नवर अचिन्त्यशक्त्या तु विज्ञेयम् ॥
लोहोपलस्य शक्ति. आत्मस्थैव भिन्नदेशमपि ॥
लोहमाकर्षती दृश्यत इह कार्यप्रत्यक्षा ॥
एवमिह ज्ञानशक्ति. आत्मस्थैव हन्त लोकान्तम् ।
यदि परिच्छिनत्ति सर्व को नु विरोधो भवेत्तत्र ॥

अथ सर्वगः सर्वज्ञ इति व्याख्यातम् । तत्रापि प्रतिविधीयते । ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतम् । प्रत्यक्षेण, परोक्षेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयातीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात् । नापि परोक्षेण । तद्धि अनुमानं, शाब्दं वा स्यात् । न तावदनुमानम्, तस्य लिङ्गिलिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात् । न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेये किञ्चिदव्यभिचारी लिङ्गं पश्यामः । तस्यात्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसम्बन्धग्रहणाभावात् ॥

अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेत् । न । अविनाभावाभावात् । न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनान्यथा नोपपन्ना । द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात् । तत्र जङ्गमाना वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाशुभकर्मपरिपाकवशेनैव । स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः । अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति ॥

नाप्यागमस्तत्साधकः । स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् ? तत्कृत एव चेत तस्य सर्वज्ञतां साधयति तदा तस्य महत्त्वक्षतिः । स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात् । अन्यच्च, तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते । शास्त्रं हि वर्णात्मकम् । ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः ।

---

(३) सर्वज्ञत्व—वैशेषिकोंके ईश्वरका सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही होता। प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरका सर्वज्ञत्व इसलिये सिद्ध नहीं हो सकता कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनके संयोगसे उत्पन्न होता है। इसलिये वह अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं जान सकता। परोक्ष ज्ञानसे भी ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि नही होती। क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान अनुमानसे सर्वज्ञत्वको जानता है, अथवा शब्दसे ? अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिंगी और लिंग (साध्य और हेतु) दोनोंके संबंधके स्मरणपूर्वक ही अनुमान होता है। (जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, धूमवान् होनेसे—' यहाँ पहले धूमरूप लिंग का ग्रहण होता है और फिर अग्निरूप लिंगीके साथ लिंगके संबंधका स्मरण होता है। इसी तरह 'ईश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह अपनी इच्छासे ही संपूर्ण प्राणियोंको सुख-दुखका अनुभव करानेमें समर्थ है—' इस अनुमानमे लिंगका ग्रहण और इस लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका स्मरण होना चाहिये। परन्तु ऐसा नही होता, इसलिये अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता।) तथा ईश्वरके सर्वज्ञत्वरूप अनुमेयमें हम कोई भी अव्यभिचारी लिंग नहीं देखते, क्योंकि वह ईश्वर अत्यन्त दूर है, इसलिये ईश्वरसे संबद्ध लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका ग्रहण नही हो सकता।

यदि वादी लोग कहे कि ईश्वरके सर्वज्ञत्वके विना जगत्की विचित्रता नही बन सकती, इस कारण अर्थापत्तिसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, तो यह कथन भी ठीक नही। क्योंकि जगत्की विचित्रता और सर्वज्ञताकी व्याप्तिका अभाव है। जगत्की विचित्रता ईश्वरकी सर्वज्ञताके विना अन्य प्रकारसे घटित नहीं होती, ऐसी बात नही है। जंगम (त्रस) और स्थावरके भेदसे संसार दो प्रकारका है। जंगम जीवोंकी विचित्रता स्वयं उपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोके उदयसे ही होती है और स्थावर जीवोंकी यही दशा होती है। अचेतन पदार्थोंका वैचित्र्य स्थावर और जंगमके उपभोगकी योग्यताके साधन रूपमे अनादि कालसे सिद्ध ही है।

आगमसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला हुआ है, या किसी दूसरेका ? यदि वह आगम ईश्वरप्रणीत होकर ही ईश्वरकी महान क्षति होगी। क्योंकि महात्मा लोग स्वयं ही अपने गुणोंकी प्रशंसा नहीं कर्तृत्व ही सिद्ध नहीं होता। क्योंकि शास्त्र वर्णात्मक होता है। ये वर्ण

स च शरीरे एव सम्भवी। शरीराभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः । अन्यकृतश्चेत् सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा ? सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्तदेकत्वाभ्युपगमबाधः तत्साधकप्रमाणचर्यायामनवस्थापातश्च । असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः ।

अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति । पूर्वापरविरुद्धार्थवचनोपेतत्वात् । तथाहि "न हिंस्यात् सर्वभूतानि[1]" इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम्—

"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः" ॥

तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत[2]", "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत[3]" इत्यादि वचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते । तथा "नानृतं ब्रूयात्" इत्यादिना अनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य, पश्चात् "ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात्[4]" इत्यादि । तथा—

"न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि[5]" ॥

तथा "परद्रव्याणि लोष्ठवत्" इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य, पश्चादुक्तम् "यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा तथापि तस्य नादत्तादानम् । यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद् वृषलाः परिभुञ्जते । तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति[6]" इति । तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति[7]" इति लपित्वा,

है। यह तालु आदिकी क्रिया शरीर होनेपर ही सभव है । यदि ईश्वरको शरीरी मानोगे तो ईश्वरमे पूर्वोक्त दोष मानने पडगे। यदि आप कहे कि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम दूसरेका बनाया हुआ है, तो वह दूसरा पुरुष सर्वज्ञ है, या असर्वज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो ईश्वरके द्वैतका प्रसग होनेसे आपने जो पहले ईश्वरको एक माना हैं, उसमे बाधा उपस्थित होगी । तथा अन्य पुरुषको सर्वज्ञ माननेपर बहुत-से पुरुषोंके सर्वज्ञ स्वीकार करनेमे अनवस्था दोष आयेगा । तथा यदि आगमका प्रणेता अन्य पुरुष असर्वज्ञ है, तो उसके वचनोंमें विश्वास कौन करेगा ?

इसके अतिरिक्त, आप लोगोंका आगम अपने प्रणेताको असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है । क्योंकि वह आगम पूर्वापरविरुद्ध है । जैसे "किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिए"—यह कहकर तत्पश्चात्

"अश्वमेध यज्ञके मध्यम दिनमे ५९७ पशुओंका वध किया जाता है,"

तथा "अग्नि और सोम सम्बन्धी पशुका वध करना चाहिये", "प्रजापति सम्बन्धी सत्रह पशुओंको मारना चाहिए" आदि वचनोंका कथन करना शास्त्रोंके पूर्वापरविरोधको सिद्ध करता हैं। तथा "असत्य नहीं बोलना चाहिए" आदि वचनोंसे असत्यका निषेध करके, तत्पश्चात् "ब्राह्मणके लिए असत्य बोलनेमें दोष नहीं है," तथा—

"हास्यमें, स्त्रियोंके साथ सभोगके समय, विवाहके अवसरपर, प्राणोंका नाश होनेपर और सर्वधनके हरण होनेके समय असत्य बोलना पाप नहीं है ।"

आदि वचनोंका कथन पूर्वापर विरुद्ध है । इसी प्रकार पहले "दूसरेकी सम्पत्ति मिट्टीके ढेलेके

१ छान्दोग्य उ ८ अ. । २. ऐतरेय ६–३ । ३. तैत्तरीयसहिता १–४ ।
४. आपस्तम्भसूत्रे ।
५ "उद्वाहकाले रतिसम्प्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे ।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयु पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ वसिष्ठधर्मसूत्रे १६–३६ ।
६. मनुस्मृतौ १–१०१ इत्यत्राल्पाशेनैतत्समम् । ७. देवीभागवते ।

"अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्"[1] ॥

इत्यादि । कियन्तो वा दधिमाषभोजनान् कृपणा विवेच्यन्ते । तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति । किञ्च, सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद् विरचयति, तदा जगदुपप्लवकरणवैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिणः एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति इति, तन्नायं सर्वज्ञः ।

तथा स्ववशत्वं—स्वातन्त्र्यं । तदपि तस्य न क्षोदक्षमम् । स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते । अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति, दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः[2] ॥

कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्ट[3]हेतुकविष्टप[4]सृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वात् अस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता । तथा चायातोऽयं "घट्टकुट्यां प्रभातम्[5]" इति न्यायः । किञ्च, प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति, प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति ।

समान है" आदि वचनोंसे चोरीका निषेध करके, "यदि कोई ब्राह्मण हठसे या छलसे दूसरेके द्रव्यको हरण करता है, तो भी उसे चोरीका दोष नहीं लगता, क्योंकि जगत्की सर्वसंपत्ति ब्राह्मणोंको ही दी गयी है, ब्राह्मणोंकी दुर्बलतासे शूद्र लोग उस संपत्तिका उपभोग करते हैं । इसलिये यदि ब्राह्मण दूसरेके धनको छीनता है, तो भी वह अपने ही धनको लेता है, अपने ही का उपभोग करता है, अपना ही पहनता है और अपना ही देता है" आदि वाक्योंका उल्लेख पूर्वापरविरोधको सूचित करता है । इसीप्रकार "पुत्रहीनकी गति नहीं होती" कहकर,

"हजारों कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मण अपने कुलकी सन्ततिको उत्पन्न न करके स्वर्ग गये हैं ।"

आदि वाक्योंका कथन आगमके पूर्वापरविरोधको स्पष्टरूपसे प्रगट करता है । दही और उड़दके भोजनसे कितने कृपणोंको सन्तुष्ट किया जाये ? इसलिये आगमसे भी ईश्वरकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती । और यदि कहा जाये, यदि सर्वज्ञ ईश्वर इस स्थावर-जंगमरूप जगत्को बनाता है, तो वह जगत्में उपद्रव करनेवाले, जिनका निग्रह करना आवश्यक है ऐसे दानवों को, तथा ईश्वरपर आक्षेप करनेवाले हम जैसे लोगोंको क्यों बनाता है ? इससे मालूम होता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है ।

न हि कुलालो दण्डादि करोति। एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति ॥

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम्। स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा? प्रथमविधायां जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः। घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यक्षणं यावद् निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेश-मासादयति। जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् ॥

अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत तत्स्वभावायोगाद् गगनवत्। अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् संहारोऽपि न घटते। नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः। स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि संहरेत, स्वभावान्तरेण वा? तेनैव चेत् सृष्टि-संहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात्। एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात्। स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानिः। स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः। यथा पार्थिव-शरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम्। इष्टश्च भवतां

आप लोगोंने ईश्वरको जगत्का नियन्ता सिद्ध करनेमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर आखिरमें हमारा ही मत स्वीकार करना पड़ा।) तथा, ईश्वर जीवोंके पुण्य-पापकी अपेक्षा रखता हुआ जगत्को बनाता है तो वह जिसकी अपेक्षा रखता है उसको नहीं बनाता। जैसे कुम्हार घटके बनानेमें दण्डकी सहायता लेता है, इसलिये वह दण्डको नहीं बनाता, उस तरह यदि ईश्वर जगत्के बनानेमें जीवोंके पुण्य-पापकी अपेक्षा रखता है, तो वह पुण्य-पापकी सृष्टि नहीं करता है, इसलिये यदि ईश्वर जगत्के बनानेमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है, तो वह कर्मोंके बनानेवाला नहीं कहा जा सकता। अतएव ईश्वर अनीश्वर (असमर्थ) है, स्वतन्त्र नहीं।

(५) नित्यत्व—तथा ईश्वर नित्य भी नहीं है। क्योंकि नित्य होनेसे एकरूपके धारक उस ईश्वरके त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, या बिना स्वभावके भी वह त्रिभुवनकी रचना करता है? यदि ईश्वरका त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, तो वह रचनासे कभी विश्राम ही न लेगा। यदि विश्राम लेगा तो ईश्वरके स्वभावकी हानि होगी। इस प्रकार जगत्की रचनाका कभी अन्त न होगा, और फिर एक भी कार्यकी रचना न हो सकेगी। क्योंकि वास्तवमें घटकी रचनाके आरभ होनेके प्रथम क्षणसे लगाकर घटकी रचनाकी समाप्तिके अंतिम क्षण तक निश्चयकी दृष्टिसे घट व्यवहार नहीं होता। कारण कि उत्पद्यमान घट जल लाना आदि प्रयोजनभूत क्रियाका साधकतम नहीं होता—जबतक घट बन कर तैयार न हो जाय, उस समय तक घटमें जल लाने आदिकी क्रिया नहीं हो सकती। (भाव यह है कि यदि ईश्वर नित्य है, तो उसका जगत् बनानेका स्वभाव भी नित्य होना चाहिये। इसलिये उसे सदा जगत्को बनाते ही रहना चाहिये। जगत्के इस अविराम निर्माणसे एक भी कार्यकी रचना समाप्त न हो सकेगी। तथा, जब तक किसी कार्यकी रचना समाप्त न हो, उस समय तक हम ईश्वरको स्रष्टा नहीं कह सकते)।

यदि ईश्वरका जगत्के रचनेका स्वभाव नहीं है, तो ईश्वर कभी भी जगत्को नहीं बना सकता। जैसे आकाशका स्वभाव जगत्को बनानेका नहीं है, वैसे ही ईश्वरका स्वभाव भी जगत्के बनानेका न रहेगा। तथा, ईश्वरको एकान्त-नित्य माननेपर सृष्टिकी तरह संहार भी न बन सकेगा। क्योंकि यदि ईश्वर सृष्टि और संहार आदि अनेक कार्योंको करेगा, तो वह अनित्य हो जायेगा। तथा जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिकी रचना करता है, उसी स्वभावसे वह सृष्टिका संहार करता है, अथवा दूसरे स्वभावसे? यदि ईश्वर उसी स्वभावसे संहार करता है, तो सृष्टि और संहार एककालीन हो जायेंगे, क्योंकि ईश्वरके स्वभावमें भेद नहीं है। एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभावरुप कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो कि जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिको बनाता है, उस स्वभावके अतिरिक्त दूसरे स्वभावसे वह संहार करता है,

सृष्टिसंहारयोः शम्भौ स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थाभेदः, तद्भेदे, चावस्थावतोऽपि भेदाद् नित्यत्वक्षतिः ॥

अथास्तु नित्यः, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणा[१]धिकरणत्वे, कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानिः केन वार्यते ॥

किञ्च, प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकरुणाभ्यां व्याप्ता । ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा ? न तावत् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्, परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम्, कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम् । इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति ॥

तो यह माननेमे ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता । क्योंकि स्वभावका भेद होना ही अनित्यताका लक्षण है । जिस प्रकार आहारके परमाणुओंसे युक्त पार्थिव शरीरमे प्रतिदिन नवीन-नवीन उत्पत्ति होनेके कारण स्वभावभेद होता है, इसलिए पार्थिव शरीर अनित्य है,' उसी तरह ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य होगा। परन्तु आप लोग जगत्की सृष्टि और सहारमे ईश्वरके स्वभाव-भेदको स्वीकार करते है । क्योंकि आपके अनुसार ईश्वर सृष्टिमे रजोगुणरूप, सहारमे तमोगुणरूप और स्थितिमे सत्त्वगुणरूप प्रवृत्ति करता है । इस प्रकार अनेक अवस्थाओंके भेद होनेसे ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता ।

यदि ईश्वरको नित्य मान भी लिया जाय, तो वह जगतके बनानेमे सदा ही प्रयत्नवान् क्यों नहीं रहता ? यदि कहो कि अपनी इच्छाके कारण ईश्वर जगत्को बनानेमे सदा ही प्रयत्नवान् नहीं होता तो अपनी सत्तामात्रसे उत्पन्न हुई इच्छाऍ भी ईश्वरको सदा काल प्रवृत्त क्यों नहीं करती ? इस प्रकार पूर्वोक्त दोष ही आता है । तथा आप लोग ईश्वरमे बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग और विभाग-नामके आठ गुणोंको स्वीकार करते है । परन्तु कार्य-भेदसे अनुमेय ईश्वरकी इच्छाओंके विषमरूप होनेसे ईश्वरके नित्यत्वकी हानिको कौन दूर कर सकता है ? (अर्थात् यदि ईश्वर नित्य है, तो उसकी इच्छाऍ भी सदा समान ही रहनी चाहिए । परन्तु ससारके नाना कार्योंको देखकर अनुमान होता है कि ईश्वरकी इच्छाऍ भी नाना प्रकारकी (विषम) हैं, और ईश्वरकी इच्छाओंके विषम होनेसे ईश्वरको भी अनित्य मानना चाहिए ।)

तथा, बुद्धिमान् पुरुषोंकी प्रवृत्ति स्वार्थ (किसी प्रयोजनसे) अथवा करुणाबुद्धिपूर्वक ही होती है । यहॉ प्रश्न होता है कि जगत्की सृष्टिमे ईश्वर स्वार्थसे प्रवृत्त होता है अथवा करुणासे ? स्वार्थसे ईश्वरकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह कृतकृत्य है । यह प्रवृत्ति करुणासे भी सम्भव नहीं, क्योंकि दूसरेके दुःखोंको दूर करनेकी इच्छाको करुणा कहते हैं । परन्तु ईश्वरके सृष्टि रचनेसे पहले जीवोंके इन्द्रिय, शरीर और विषयोंका अभाव था, इसलिये जीवोंके दुःख भी नहीं था, फिर किस दुःखको दूर करनेकी इच्छासे ईश्वरके करुणाका भाव उत्पन्न हुआ ? यदि कहो कि सृष्टिके बाद दुःखी जीवोंको देखकर ईश्वरके करुणाका भाव उत्पन्न होता हैं, तो इतरेतराश्रय नामका दोष आता है । क्योंकि करुणासे जगतकी रचना हुई, और जगत्की रचनासे करुणा हुई । इस प्रकार ईश्वरके किसी भी तरह जगत्का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता ।

१. बुद्धीच्छाप्रयत्नसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागाख्या अष्टौ गुणा ।

तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य "घण्टालालान्यायेन[1]" योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति यथा इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषा त्वमनुशासकः इति तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः, अन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ६॥

इस प्रकार अनेक दोषोंसे दूषित पुरुषविशेष ईश्वर को जगत्के कर्ता माननेका आग्रह केवल बलवान् मोहकी विडम्बनाका ही फल है। 'इमा कुहेवाकविडम्बना स्युस्तेषा न येषामनुशासकस्त्वम्', यहाँ मध्यवर्ती नकारका 'घण्टालालान्याय' से (मध्यमणिन्याय अथवा देहलीदीपकन्याय या घण्टालालान्याय एक ही अर्थको सूचित करते है। जैसे एक ही मणि, अथवा दीपक घरकी देहलीपर रखनेसे दोनों ओरकी वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं, अथवा एक ही घण्टा अपनी दोनों तरफ बजता है, उसी तरह यहाँ भी एक ही 'नकार' का दो तरहसे अन्वय होता है) श्लोकका दूसरा अर्थ भी निकलता है कि जिनके आप अनुशासक हैं, उनके कदाग्रहरूप विडम्बनायें नहीं है। परन्तु यह अर्थ विद्वानोंको नहीं लेना चाहिये। क्योंकि यहाँ स्तुतिकारने अन्ययोगव्यवच्छेदका अवलम्बन लिया है॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥६॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके ईश्वरके स्वरूपका खण्डन किया गया है। वैशेषिकोंके अनुसार ईश्वर (१) जगतका कर्ता है, (२) एक है, (३) सर्वव्यापी है, (४) स्वतन्त्र है, और (५) नित्य है।

(१) वैशेषिक—'पृथिवी, पर्वत आदि किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो-जो कार्य होता है, वह किसी बुद्धिमान् कर्ताका बनाया हुआ देखा जाता है, जैसे घर। पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हे, इसलिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए हैं, जो किसी कर्ताका बनाया हुआ नहीं होता, वह कार्य भी नहीं होता, जैसे आकाश'। जैन—(क) उक्त अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित है क्योंकि हम पृथिवी, पर्वत आदिका कोई कर्ता दृष्टिगोचर नहीं होता। (ख) घटका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि घटादि कार्य सशरीर कर्ताके ही बनाये हुए देखे जाते हैं, तथा ईश्वरको अशरीर कर्ता माना गया है। तथा ईश्वरको सशरीर माननेमें इतरेतराश्रय आदि अनेक दोष आते हैं।

(२) वैशेषिक—ईश्वर एक है, क्योंकि अनेक ईश्वर होनेसे जगत्में एकरूपता और क्रम नहीं रह सकता। जैन—उक्त मान्यता एकान्तरूपसे सत्य नहीं है। क्योंकि शहदके छत्ते आदि पदार्थोंको अनेक मधुमक्खियाँ तैयार करती हैं, फिर भी छत्तेमें क्रम और एकरूपता देखी जाती है।

(३) वैशेषिक—ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। जैन—ईश्वर सर्वव्यापी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सर्वव्यापी होनेसे प्रमेय पदार्थोंके लिये कोई स्थान न रहेगा। ईश्वरका सर्वज्ञत्व भी किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि स्वय सर्वज्ञत्व प्राप्त किये विना हम प्रत्यक्षसे ईश्वरका साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकते। अनुमानसे भी हम ईश्वरको नहीं जान सकते, क्योंकि वह बहुत दूर है, इसलिए सर्वज्ञत्वसे सम्बद्ध किसी हेतुसे उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'सर्वज्ञत्वके विना जगत्की विचित्र रचना नहीं हो सकती'—इस अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जगत्की विचित्रताकी व्याप्ति सर्वज्ञत्वके साथ नहीं है। आगम प्रमाणसे भी हम सर्वज्ञको नहीं जान सकते, क्योंकि वेद आदि आगम पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे युक्त है, इसलिए आगम विश्वनीय नहीं है।

(४) वैशेषिक—ईश्वर स्वतन्त्र है। जैन—यदि ईश्वर स्वतन्त्र है तो वह दुःखोंसे परिपूर्ण विश्वकी क्यों रचना करता है? अन्यथा ईश्वरको क्रूर और निर्दय मानना चाहिये। यदि कहा जाय कि

---

१. मध्यमणिन्याय, देहलीदीपकन्यायस्तद्वदेवाय घण्टालालान्याय उपयुज्यते।

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्मा आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता[1] अपि समवायसम्बन्धेन[2] संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेशमश्नुवते तन्मतं दूषयन्नाह—

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

धर्मधर्मिणोरतीवभेदे (अतीवेत्यत्र इवशब्दो वाक्यालंकारे तं च प्रायोऽतिशब्दात् किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः, यथा–"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्[3]", "उद्वृत्तः क इह सुखावहः परेषाम्[4]" इत्यादि) ततश्च धर्मधर्मिणोः अतीवभेदे–एकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, स्वभावहानेर्धर्मधर्मित्वं न स्यात् । अस्य धर्मिण इमे धर्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्मी इत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति । तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वापत्तेः ।

प्राणियोंके अदृष्टबलसे ही ईश्वर जीवोंको सुख-दुःख देता है, तो फिर कर्म-प्रधान ही सृष्टि माननी चाहिए, ईश्वरको कर्ता माननेकी आवश्यकता नहीं ।

(५) वैशेषिक—ईश्वर नित्य है । जैन—सर्वथा नित्य ईश्वर सतत क्रियाशील है, अथवा अक्रियाशील? ईश्वरको सतत क्रियाशील माननेपर कोई कार्य कभी समाप्त ही नहीं हो सकेगा । तथा अक्रियाशील माननेपर ईश्वर जगत्का निर्माण नहीं कर सकता ।

'चैतन्य तथा रूप आदि धर्म, आत्मा तथा घट आदि धर्मियोंसे सर्वथा भिन्न है, तथा धर्म-धर्मीका सम्बन्ध समवाय सम्बन्धसे होता है'–वैशेषिकोंकी इस मान्यताको सदोष सिद्ध करते हैं —

श्लोकार्थ—धर्म और धर्मीके सर्वथा भिन्न माननेपर 'यह धर्मी है', 'ये इस धर्मीके धर्म हैं' और 'यह धर्म-धर्मीमें सम्बन्ध करानेवाला समवाय है'— इस प्रकार तीन बातोंका अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता । यदि कहो कि समवाय सम्बन्धसे परस्पर भिन्न धर्म और धर्मीका सम्बन्ध होता है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस तरह हमें धर्म और धर्मीका ज्ञान होता है, वैसे समवायका ज्ञान नहीं होता । यदि कहो कि एक समवायको मुख्य मानकर समवायमें समवायत्वको गौणरूपसे स्वीकार करेंगे, तो यह कल्पना मात्र है । तथा इसे माननेमें लोकविरोध आता है ।

व्याख्यार्थ—'धर्मधर्मिणोरतीवभेदे' (यहाँ अतीवमें 'इव' शब्द वाक्यके अलंकारमें प्रयुक्त हुआ है, इसका कोई अर्थ नहीं है । शाब्दिक लोग 'इव' शब्दका 'अति' और 'किम्' शब्दके साथ प्रयोग करते हैं, जैसे—"आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्या", "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्") धर्म और धर्मीका एकान्त भेद माननेपर, स्वभावका अभाव हो जाने से धर्मत्व और धर्मित्व नहीं बनता, इसलिए इस धर्मीके ये धर्म हैं, और इन धर्मोंका आश्रय यह धर्मी है, इस प्रकारका व्यवहार नहीं हो सकता । धर्म-धर्मीको सर्वथा भिन्न मानकर भी यदि धर्म-धर्मी भावकी कल्पना की जायगी, तो एक पदार्थके धर्म दूसरे पदार्थके धर्म हो जाया करेंगे । (वैशेषिक लोग द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) को सर्वथा भिन्न मानते हैं । उनके अनुसार उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणमें द्रव्य गुणोंसे रहित होता है । जैनदर्शनके अनुसार, धर्म और धर्मीका एकान्त-भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि एकान्त-भेद माननेमें एक पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थका धर्म हो जाना चाहिये । जैसे अग्निका उष्णत्व धर्म अग्निसे और जलका शीतत्व धर्म जलसे सर्वथा भिन्न हो तो अग्निके उष्णत्व धर्मका जलके साथ और जलके शीतत्व धर्मका अग्निके साथ सम्बन्ध हो जाना चाहिये, क्योंकि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न हैं ।)

१ उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठतीति समयात् गुणानां गुणिनो व्यतिरिक्तत्वम् ।
२. 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः' इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायप्रकरणे । ३. कुमारसम्भवमहाकाव्ये ३–५४ । ४. शिशुपालवधमहाकाव्ये ।

एवमुक्त सति परः प्रत्यवतिष्ठते । वृत्त्यास्तीति–अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिह-प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः । स च समवयनात् समवाय इति द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चाख्यायते । तया वृत्त्या समवायसम्बन्धेन, तयोर्धर्मधर्मिणोः इतरेतरविनिर्लुण्ठितत्त्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते । इति नानन्तरोक्तो दोष इति ॥

अत्राचार्य समाधत्ते । चेदिति । यद्येवं तव मतिः सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता । यतो न त्रितयं चकास्ति । अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतत् त्रितय-वस्तुत्रयं, न चकास्ति–ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते । यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनु-सन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात् पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभासनम्, किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः ॥

किञ्च, अयं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽमूर्तश्च परिकल्प्यते । ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्माः समवायसम्बन्धेन घटे समवेतास्तथा किं न पटेऽपि । तस्यै-कत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात् ॥

यथाकाश एको नित्यो व्यापकोऽमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण सम्बध्यते, तथा किं नायमपीति । विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते । तत्तदवच्छेदकभेदाद् नायं दोष इति चेत्, एवमनित्यत्वापत्तिः । प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति ।

वैशेषिक—हम वृत्ति (समवाय) से धर्म और धर्मीमें सम्बन्ध मानते हैं । अयुतसिद्ध (एक दूसरेके बिना न रहनेवाले) आधार्य (पट) और आधार (तन्तु) पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु (इन तन्तुओंमें पट हैं) सम्बन्ध 'समवाय' है । समवायसे पदार्थोंमें सम्बन्ध होता है, इसलिये इसे समवाय कहते हैं । यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थोंमें रहता है, इसलिये इसे वृत्ति भी कहते हैं । समवाय सम्बन्धसे सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मीमें धर्म-धर्मीका व्यवहार होता है । (यह समवाय अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया क्रियावान्, जाति-व्यक्ति नित्यद्रव्य और विशेषमें रहता है ।)

जैन—उक्त मान्यता प्रत्यक्षसे बाधित है । क्योंकि हमें 'यह धर्मी है', 'ये इस धर्मीके धर्म' और 'यह धर्म-धर्मीमें सम्बन्ध करानेवाला समवाय है'—इस प्रकार तीन पदार्थोंका अलग-अलग ज्ञान नहीं होता । जिस प्रकार एक पत्थरके दो टुकड़ोंको परस्पर जोड़नेवाले राल आदि पदार्थ पत्थर के दो टुकड़ोंसे अलग दिखाई देते हैं, उस तरह धर्म और धर्मीका सम्बन्ध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर नहीं होता । हमें केवल धर्म और धर्मीका ही प्रतिभास होता है । इसलिये धर्म-धर्मी सम्बन्ध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ नहीं है ।

तथा, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य, सर्वव्यापक और अमूर्त स्वीकार करते हैं । इसलिये घटके अग्निमें पकानेसे उत्पन्न होनेवाले रूप आदि धर्म यदि समवाय सम्बन्धसे घटमें रहते हैं, तो ये रूप आदि पटमें भी क्यों नहीं रहते ? क्योंकि समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सर्वत्र विद्यमान है । अतएव समवाय सम्बन्धसे घटमें रहनेवाले धर्म पटमें भी रहने चाहिए, क्योंकि घटधर्म समवाय और पटधर्म समवाय दोनों ही एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त हैं ।

जैसे एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त आकाश एक ही साथ सब सम्बन्धियोंसे समानरूपसे सम्बद्ध होता है, उसी तरह समवाय भी सब सम्बन्धियोंसे समानरूपसे ही क्यों सम्बद्ध नहीं होता ? तथा, घटके नष्ट होनेपर घटके समवायका अभाव हो जाता है, इसलिए समवायका ही सर्वथा अभाव मानना चाहिए । क्योंकि समवाय एक है, इसलिए घटके नष्ट होनेसे नष्ट होनेवाले घट-समवायका फिर कभी सद्भाव ही नहीं होगा । यदि वैशेषिक लोग कहें कि समवाय वास्तवमें एक ही है, लेकिन वह घटत्वावच्छेदक-समवाय, पटत्वावच्छेदक-समवाय आदि भिन्न-भिन्न अवच्छेदकोंके भेदसे घट, पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थोंमें रहता है, इसलिए घट-

अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनम् यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इह प्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहात्मनि ज्ञानम्, इह घटे रूपादय इति प्रतीतेरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुरिति पराशङ्कामभिसन्धाय पुनराह। इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति। इहेदमिति–इहेदमिति आश्रयाश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति–समवायसंबन्धेऽपि विद्यते। चशब्दोऽपिशब्दार्थः। तस्य च व्यवहितः सम्बन्धस्तथैव च व्याख्यातम्॥

इदमत्र हृदयम्। यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसंबन्धात् पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं नापरं वस्त्वन्तरम्। तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते। "प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः" इति वचनात्। एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात् समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते। यतस्तस्यापि यत् समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्धं सम्बन्धोऽस्त्येव। अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत्। ततश्च इह समवाये समवायत्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव। ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतं, एवं समवायेऽपि समवायत्वं समवायान्तरेण सम्बन्धनीयम्, तदप्यपरेण, इत्येवं दुस्तरानवस्थामहानदी॥

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति। ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यः।

त्वावच्छेदक समवायके नाश होनेसे पटत्वावच्छेदक समवायका नाश नहीं होता, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस तरह प्रत्येक वस्तुके साथ समवायके स्वभावका भेद होनेसे समवाय अनित्य ठहरेगा।

वैशेषिक—आप कैसे कह सकते हैं कि समवायका ज्ञान नहीं होता? 'इहप्रत्यय' (इन तन्तुओंमें पट है) समवायके ज्ञान करानेमें प्रबल साधन है 'इन तन्तुओंमें पट है', 'इस आत्मामें ज्ञान है' 'इस घटमें रूप आदि है'—यह 'इहप्रत्यय' अनुभवसे सिद्ध है। यह 'इहप्रत्यय' केवल धर्म और धर्मीके आधारसे नहीं होता, इस कारण धर्म धर्मीसे भिन्न 'इहप्रत्यय'का हेतु समवाय अवश्य मानना चाहिए। इस प्रकार दूसरोंकी शंकाको लक्ष्य करके यहाँ फिरसे कहा गया है—'यहाँ यह है, इस प्रकारकी बुद्धि समवायमें होती है।' 'यहाँ यह है'—इस प्रकारके आश्रयाश्रयभावके कारण व्यक्त होनेवाला इहप्रत्यय समवायमें भी होता है। 'च' शब्दका अर्थ 'अपि' है। इसका सम्बन्ध व्यवहित है।

जैन—धर्म (आश्रयी) और धर्मी (आश्रय) में 'इहप्रत्यय' हेतु समवाय सम्बन्ध ठीक नहीं बनता। क्योंकि धर्म और धर्मीका हेतु 'इहप्रत्यय' समवाय सम्बन्धमें भी रहता है। वैशेषिकोंके मतमें पृथिवीत्वके सम्बन्धसे पृथिवीका ज्ञान होता है, तथा पृथिवीत्व ही पृथिवीका अस्तित्व नामक स्वभाव है। इसी पृथिवीत्वके साथ पृथिवीके सम्बन्धको समवाय कहते हैं। कहा भी है—"प्राप्त पदार्थोंकी प्राप्ति ही समवाय है।" इसी तरह वैशेषिक लोग समवायत्वके सम्बन्धसे ही समवाय क्यों नहीं मानते? क्योंकि समवायत्व समवायका स्वभाव है, और समवायका समवायत्वके साथ सम्बन्ध है। अन्यथा यदि समवायत्वको समवायका स्वभाव नहीं मानोगे, तो समवायको स्वभावरहित मानना होगा, और स्वभावरहित होनेसे खरगोशके सींगकी तरह समवाय अवस्तु ठहरेगा। इसलिए 'समवायमें समवायत्व है'—यह 'इहप्रत्यय' समवायमें भी युक्तिसे सिद्ध होता है। अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व समवाय सम्बन्धसे है, वैसे ही समवायमें समवायत्व दूसरे समवायसे, दूसरेमें तीसरेसे—इस प्रकार एक समवायकी सिद्धिमें अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आता है।

इस प्रकार समवायका भी समवायत्वके साथ होने वाले सम्बन्धकी युक्तिसे सिद्धि की जानेपर साहसका अवलम्बन करके पूर्वपक्षवादी (वैशेषिक) पुनः कहता है समवाय मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है। पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवाय सम्बन्धसे रहता है। इस मुख्य-समवायका ज्ञान 'त्व', 'तल'

तत्र त्वतलादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाभावे जातेरनुद्भूतत्वाद् गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धः तत्साध्यश्च समवाय इति ॥

तदेतद् न विपश्चिच्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्यते। व्यक्तेरभेदेनेति[1] चेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात् तत्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो घटसमवायोऽन्यश्च पट समवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति, तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः। तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवायः इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्॥

तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह। न गौणभेद इति। गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति। गौणलक्षणाभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते—

"अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च।
विपरीतो गौणोऽर्थः सति मुख्ये धीः कथं गौणे" ॥

तस्माद् धर्मधर्मिणोः सम्बन्धेन मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं नास्तीति भावार्थः ॥

किञ्च, योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात् समवायसाधनमनोरथः स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्। इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्यालौकिकत्वात्। पाशुपाल-

आदि प्रत्ययोंसे होता है, और यह समवाय पृथिवी आदिकी सम्पूर्ण अवान्तर जातिरूप व्यक्तिभेदको सामान्यसे ग्रहण करता है। परन्तु समवायत्वमें समवाय एक है, इसलिए उसमें व्यक्तियोंके भेदका अभाव है, अतएव वह सामान्यका उत्पादक नहीं। अतएव आप लोगोंने जो कहा था कि 'इन समवायियोंमें समवाय रहते है, क्योंकि इन समवायियोंमें समवाय ह ऐसा ज्ञान होता है'— सो यह गौण समवाय है।

जैन—यह मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार आप लोग पृथिवीमें मुख्य समवायसे रहनेवाले पृथिवीत्वको सामान्य (जाति) का ग्राहक मानते हैं, उसी प्रकार समवायमें रहनेवाले समवायत्वको भी सामान्यका ग्राहक क्यों नहीं मानते ? यदि आप लोग कहे कि यहाँ व्यक्तिका भेद नहीं है—अर्थात् समवाय एक ही है, इस कारण समवायमे जातिका अभाव है—तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ भी अमुक अवच्छेदकोंसे यह घट-समवाय है, यह पट-समवाय है, इस प्रकार समवायके भी व्यक्तिभेद सिद्ध हैं। क्योंकि घटत्वावच्छेदकसे होनेवाला घटसमवाय पटत्वावच्छेदकसे होनेवाले पटसमवायसे भिन्न हैं। इसलिए समवायमें भी व्यक्तिका भेद सिद्ध होता है। अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवाय सम्बन्धसे रहता है, उसी तरह समवायमें समवायत्व भी मुख्य-समवाय सम्बन्धसे मानना चाहिए, क्योंकि इहप्रत्ययकी दोनों जगह समानता है।

तथा, वैशेषिकों द्वारा समवायमे गौणरूपसे स्वीकृत समवायत्व भी नहीं बन सकता। क्योंकि यहाँ गौणका लक्षण ही ठीक नही बैठता, कारण कि,

"व्यभिचारी, विकल, साधारण और बहिरग अर्थको गौण कहते हैं। मुख्य अर्थके रहनेपर गौण बुद्धि नही हो सकती।"

समवायमे समवायत्व माननेमे मुख्य अर्थ मौजूद है, इसलिए समवायका गौणरूप नहीं बन सकता। अतएव धर्म और धर्मीका सम्बन्ध मुख्य-समवायसे होता है, तथा समवाय और समवायत्वका सम्बन्ध गौण-समवाय है—समवायका यह मुख्य और गौण भेद मानना ठीक नहीं है।

तथा 'इन तन्तुओंमे पट है'—इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि करना नपुसकसे पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छाके समान है। क्योंकि 'इन तन्तुओंमें पट है' यह व्यवहार लोकसे बाधित है, कारण कि साधारणसे साधारण

१. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सकरोऽथानवस्थिति। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसग्रह ॥—
इति किरणावल्यामुदयनाचार्यकृतायाम्।

नामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाह 'अपि च लोकबाध' इति। अपि चेति—दूषणाभ्युच्चये, लोकः—प्रामाणिकलोकः, सामान्यलोकश्च, तेन बाधो—विरोधः, लोकबाधः। तदप्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य "ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः[1]" इति पुंस्त्रीलिङ्गता। तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायादिः॥ इति काव्यार्थः॥७॥

अथ सत्ताभिधानं पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणम्, आत्मविशेष-गुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह—

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः॥ ८॥

पुरुषको भी 'इन तन्तुओंमे पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमे तन्तु है' ऐसी प्रतीति होती है। अन्यथा इस भूतलमे घटका अभाव है, यहाँ भी समवाय मानना चाहिए क्योंकि यहाँ भी इहप्रत्यय होता है। इसलिए ग्रन्थकारने कहा है 'अपि च लोकबाध'—यह अप्रतीत व्यवहार साधारण लोगोंके भी अनुभवके विरुद्ध है [बाध शब्द 'ईहाद्या प्रत्ययभेदत' इस सूत्रसे पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनोंमे प्रयुक्त होता है।] इसलिए धर्म और धर्मिमे तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार करना चाहिए, समवाय सम्बन्ध नही॥ यह श्लोकका अर्थ है॥७॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके समवाय पदार्थका खण्डन किया गया है। वैशेषिकोंकी मान्यता है कि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न है। इन दोनों भिन्न पदार्थोंका सम्बन्ध समवायसे होता है। जैनोंका कथन हैं कि जिस प्रकार दो पत्थरके टुकडोंको जोडनेवाले लाख आदि पदार्थका हमे प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, वैसे धर्म धर्मीका सम्बन्ध करानेवाले समवाय सम्बन्धको हम प्रत्यक्षसे नहीं जानते, इसलिए समवायको धर्म-धर्मीसे पृथक् तीसरा पदार्थ मानना प्रत्यक्षसे बाधित है। इसके अतिरिक्त, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य और सर्वव्यापक मानते है, अतएव एक पदार्थमें समवायके नष्ट हो जानेपर ससारके समस्त पदार्थोंमे रहनेवाला समवाय नष्ट हो जाना चाहिए। क्योंकि समवाय एक और सर्वव्यापक है। तथा, वैशेषिक लोग इहप्रत्यय (इन तन्तुओंमे पट है) से समवाय सम्बन्धका ज्ञान करते हैं, परन्तु जैसे पटमे पटत्व समवाय सम्बन्धसे स्वीकार करते है, वैसे ही वे लोग समवायमें भी समवायत्व दूसरे समवायसे और दूसरेमे तीसरे समवायसे, क्यों नही मानते? तथा समवायमे समवायान्तर माननेसे अनवस्था दोष आता है।

यदि वैशेषिक लोग पृथिवी आदिके अनेक होनेसे पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवायसे, तथा समवायके एक होनेसे समवायमे समवायत्व गौण समवायसे मानकर मुख्य और गौणके भेदसे समवाय सम्बन्ध स्वीकार करते है, तो यह भी कल्पना मात्र है। क्योंकि समवाय-बहुत्व भी अनुभवसे सिद्ध है। कारण कि घट और घटरूपका समवाय पट और पटरूपके समवायसे भिन्न है। तथा इहप्रत्यय हेतु समवाय माननेसे लोकबाधा भी आती है। क्योंकि जनसाधारण को 'इन तन्तुओंमे पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमे तन्तु है'-यही ज्ञान होता है। अतएव धर्म-धर्मीमे समवाय सम्बन्ध मानना ठीक नहीं, इसलिए धर्म और धर्मीमे अत्यन्त भेद मानना भी युक्तियुक्त नहीं है।

---

(१) सत्ता भिन्न पदार्थ है, (२) आत्मासे ज्ञान भिन्न है, (३) आत्माके विशेष गुणोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है—इन मान्यताओंको अज्ञानसे स्वीकार करनेवाले वादियोंका उपहास करते हुए कहते है—

श्लोकार्थ—सत् पदार्थोंमे भी सब पदार्थोंमे सत्ता नहीं रहती, ज्ञान उपाधिजन्य है, इसलिए ज्ञान आत्मासे भिन्न है, मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप नही है—इस प्रकारकी मान्यताओंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र,

---

१. हैमलिंगानुशासने पुस्त्रीलिंगप्रकरणे श्लोक ५

वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट्पदार्थास्तत्त्वतयाभिप्रेताः। तत्र "पृथीव्यापस्तेजो वायुराकाशः कालो दिगात्मा मन"[1] इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिः। तद्यथा "रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च"[2] इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त[3]—द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्च इत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदाद् त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वात्, शौर्यौदार्यादिना चात्रैवान्तर्भावाद् नाधिक्यम्। कर्माणि पञ्च। तद्यथा—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति[4]। गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यविरोधः ॥

अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डाना यतः कारणाद् अन्योऽन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते, तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। तच्च द्विविधं परमपरं च। तत्र परं सत्ता[5] भावो महासामान्यमिति चोच्यते। द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात। अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि। द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः। एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं, तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तनात् कर्मत्वं सामान्यम्, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम् ॥

हे भगवान्, आपकी आज्ञासे बाह्य वैशेषिक लोगोंके रचे हुए हैं।

व्याख्यार्थ—वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छह पदार्थोंको तत्त्वरूपसे स्वीकार किया है। "पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन"—ये नौ द्रव्य हैं। "रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न," तथा (च शब्दसे) द्रव्यत्व, गुरुत्व, संस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म और शब्द—ये चौबीस गुण हैं। इन गुणोंमे वेग, भावना और स्थितिस्थापकसे भेदसे संस्कार तीन प्रकारका है, परन्तु वह संस्कारत्व जातिकी अपेक्षासे एक ही है, शौर्य, औदार्य आदिका इसीमे अन्तर्भाव हो जाता है। कर्म उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण और गमनके भेदसे पाँच प्रकारका है। गमनके साथ भ्रमण, रेचन, स्यन्दन आदिका विरोध नहीं है।

जिस कारण एक-दूसरेसे अत्यन्त व्यावृत्त पदार्थोंमे से अन्य पदार्थके स्वरूपका उससे भिन्न पदार्थमे अन्वय प्रतीत होता है, उस कारण जो अनुवृत्तिके अन्वयके ज्ञानका कारण होता है, वह सामान्य है। यह सामान्य दो प्रकारका है—पर सामान्य और अपर सामान्य। पर सामान्यको सत्ता, भाव अथवा महासामान्य भी कहते है, क्योंकि यह पर सामान्य द्रव्यत्व आदि अपर सामान्यकी अपेक्षा महद् विषयवाला है, परन्तु पर सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंमे रहता है। द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य है, इसे सामान्य विशेष भी कहते हैं। जैसे, द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमे रहनेसे सामान्य, तथा गुण और कर्ममें न रहनेसे विशेष कहा जाता है। इससे 'सामान्य च तद्विशेषश्च' इस प्रकार कर्मधारय समासमे 'जो सामान्य होता है वही विशेष होता है' ऐसा 'सामान्य विशेष' इस सामासिक पदका अर्थ है। इस प्रकार द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षा घटत्व आदि जो अपर सामान्य हैं, वह सामान्य विशेष रूप हैं।

---

१ वैशेषिकदर्शने १–१–५। २ वैशेषिकदर्शने १–१–६। ३ प्रशस्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे। ९-१०। ४ ऊर्ध्वदेशसयोगकारण कर्मोत्क्षेपणम्। अधोदेशसयोगकारण कर्मापक्षेपणम्। वक्रत्वापादक कर्माकुञ्चनम्। ऋजुत्वापादक कर्म प्रसारणम्। अनियतदेशसयोगकारण कर्म गमनम्। प्रशस्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे। ५ 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते'। कारिकावली प्रत्यक्षखण्डे का ८।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्या इति चेद् । उच्यते । न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थः । एकद्रव्यवत्त्वाद् । एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः, द्रव्यत्ववत् । यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति, किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव एवं सत्तापि । वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम्[1] । तत्राद्रव्यं आकाशः कालो दिग् आत्मा मनः परमाणवः । अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः । एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती च सत्ता । इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वाद् न द्रव्यम् । एवं न गुणः सत्ता, गुणेषु भावाद्, गुणत्ववत् । यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्तेत, निर्गुणत्वाद् गुणानाम् । वर्तते च गुणेषु सत्ता । सन् गुण इति प्रतीतेः । तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात्,

इसी तरह गुणत्व चौबीस गुणोंमे रहनेसे सामान्य रूप, तथा द्रव्य और कर्ममे न रहनेसे विशेष रूप है । अतएव गुणत्वकी अपेक्षा रूपत्व आदि, और रूपत्व आदिकी अपेक्षा नीलत्व आदि अपर सामान्य है। इसी प्रकार कर्मत्व पॉच कर्मो मे रहता है. इसलिए सामान्य, तथा द्रव्य और गुणोंमे नहीं रहता, इसलिए विशेष है, तथा कर्मत्वकी अपेक्षा उत्क्षेपण आदि अपर सामान्य है। [वैशेषिक लोग सामान्यको पर सामान्य और अपर सामान्यके भेदसे दो प्रकारका मानते हें । इनके मतानुसार पर सामान्य केवल द्रव्य, गुण और कर्म तीन पदार्थो में ही रहता है, अन्यत्र नहीं । पर सामान्यको महासामान्य भी कहते है । पर सामान्यका विषय अपर सामान्यसे अधिक है । द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्यके विषय हे, 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि पदार्थो में रहनेवाला) पर सामान्यका विषय कहा जा सकता है । अपर सामान्यको सामान्य-विशेष भी कहते है। क्योंकि यह अपर सामान्य अपने विशेषोंको सामान्यरूपसे ग्रहण करनेके साथ उनकी अन्य पदार्थो से व्यावृत्ति भी करता है । द्रव्यत्व द्रव्योंमें रहता है, इसलिए सामान्य, तथा गुण और कर्मसे व्यावृत्त होता है, इसलिए विशेष कहा जाता है । इसीलिए अपर सामान्यको सामान्य-विशेष भी कहा है ।]

पूर्वपक्ष—(१) सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है (द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तर सत्ता—वैशेषिकसूत्र १–२–४)—सत्ता द्रव्यत्वकी तरह द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्यमे रहती है। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमे प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इसलिए द्रव्य नहीं कहा जाता, किन्तु सामान्य-विशेषरूप द्रव्यत्व कहा जाता है, इसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्यमे रहनेके कारण द्रव्य नहीं कही जाती। वैशेषिकोंके मतमे अद्रव्यत्व अथवा अनेकद्रव्यत्व ही द्रव्यका लक्षण है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अद्रव्यत्व (जो द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो) के उदाहरण हें, क्योंकि न तो आकाश आदि किसी द्रव्यसे बनाये गये है, और न किसी द्रव्यके उत्पादक है। तथा द्व्यणुकादिस्कध अनेकद्रव्यत्व (जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुए हों, अथवा अनेक द्रव्यों के उत्पादक हों) के उदाहरण है । एक द्रव्यमे रहनेवाला द्रव्य नहीं होता। सत्ता एक द्रव्यमे रहती है, इसलिए सत्तामे द्रव्यका लक्षण नहीं घटता, अतएव वह द्रव्य नहीं है । इसी प्रकार सत्ता गुण भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्वकी तरह गुणोंमें रहती हे । यदि सत्ता गुण होती, तो वह गुणोंमे न रहती, क्योंकि गुणोंमें गुण नहीं रहते । सत्ता गुणोंमे रहती है, और गुण सत् हें—ऐसी प्रतीति होती है, इसलिए सत्ता गुणोंमें विद्यमान है। इसी तरह सत्ता कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है। यदि सत्ता कर्म हो, तो कर्ममें न रहे, क्योंकि कर्ममे कर्म नहीं रहते । सत्ता कर्ममें रहती है । अतएव सत्ताको पदार्थान्तर ही मानना चाहिए। (भाव यह हें कि वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न पदार्थ हैं । सत्ताको द्रव्यसे पृथक् बतानेके लिए वैशेषिक लोग 'एकद्रव्यवत्त्व' हेतु देते हैं । उनके मतानुसार द्रव्य 'अद्रव्य' और 'अनेकद्रव्य' के भेदसे दो प्रकारका माना गया हें । आकाश, काल आदि द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होते, और न द्रव्योंको उत्पन्न करते हें, अतएव वे अद्रव्य-द्रव्य है । तथा द्व्यणुकादि अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न

१ द्रव्य द्विधा । अद्रव्यमनेकद्रव्य च । न विद्यते द्रव्य जन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्य द्रव्यम् । यथाकाशकालादि । अनेक द्रव्य जन्यतया च जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्य द्रव्यम् ।

कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्याद् न तर्हि कर्मसु वर्तेत, निष्कर्मत्वात् कर्मणाम्। वर्तते च कर्मसु भाव, सत् कर्मेति प्रतीतेः। तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता॥

तथा विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयः अन्त्याः[1]—अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः, ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम्। तथा च प्रशस्तकारः—"अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः। यथास्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवोपचयावयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा। गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनः ककुद्मान् महाघण्ट इति, तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु, मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः"[2] इति। अमी च विशेषरूपा एव न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपाः, व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात्॥

तथा अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति। अयुतसिद्धयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभावः इह तन्तुषु पटः इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः। यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते, यथा छिदिक्रिया छेद्येनेति सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात् पदार्थान्तरम्। इति षट् पदार्थाः॥

होते हैं, और अनेक द्रव्योंको उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए वे अनेकद्रव्य-द्रव्य है। सत्ता न 'अद्रव्य' है और न 'अनेकद्रव्य', वह द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक पदार्थमें रहनेवाली है, इसलिए सत्ताका द्रव्यमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार सत्ता गुण और कर्म भी नहीं हैं, क्योंकि वह गुणत्व और कर्मत्वकी तरह क्रमसे प्रत्येक गुण और कर्ममें रहती है। अतएव सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंसे भिन्न है।)

तथा, नित्य द्रव्योंमें रहनेवाले अत्यन्त व्यावृत्ति रूप 'विशेष' भी द्रव्यादिसे विलक्षण होनेके कारण पदार्थान्तर हैं। प्रशस्तकारने कहा है "अन्तमें होनेके कारण ये अन्त्य हैं, और अपने आश्रयके नियामक हैं, इसलिये विशेष हैं। ये विशेष आदि और अन्त रहित अणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—इन नित्य द्रव्योंमें रहते हैं, और अत्यन्त व्यावृत्ति रूप ज्ञानके कारण हैं। जैसे गौ और घोड़े आदिमें तुल्य आकृति, गुण, क्रिया, अवयवोंकी वृद्धि, अवयवोंका संयोग देखकर यह गौ सफेद है, शीघ्र चलनेवाली है, मोटी है, कुब्बेवाली है, महान् घण्टेवाली है आदि रूपसे व्यावृत्तिप्रत्यय (विशेषज्ञान) होता है, वैसे ही हमसे विशिष्ट योगी लोगोंको नित्य, तुल्य आकृति, गुण और क्रियायुक्त परमाणुओंमें, तथा मुक्त आत्मा और मनमें जिन निमित्तोंके कारण पदार्थोंकी विलक्षणताका ज्ञान होता है, तथा देश और कालकी दूरी होनेपर भी यह वही परमाणु है, यह प्रत्यभिज्ञान होता है, वे विशेष हैं।" ये विशेष विशेष रूप ही हैं, द्रव्यत्व आदिकी तरह सामान्य-विशेष रूप नहीं हैं, क्योंकि ये केवल व्यावृत्तिप्रत्ययके ही हेतु हैं। (भाव यह है कि विशेष सजातीय और विजातीय पदार्थोंके व्यवच्छेद करनेवाले अत्यन्त व्यावृत्ति रूप होते हैं। दो पदार्थोंमें तुल्य आकृति, गुण क्रिया आदि देखकर उनमें से अन्य पदार्थोंको अलग करके एक पदार्थको जानना विशेष है। ये विशेष विशेष रूप होते हैं, सामान्य-विशेष रूप नहीं।)

अयुतसिद्ध आधार्य, और आधार पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु समवाय सम्बन्ध है। एक दूसरेको छोड़कर भिन्न आश्रयोंमें न रहनेवाले गुण, गुणी आदि अयुतसिद्धोंके 'इन तन्तुओंमें पट है' इत्यादि ज्ञानका असाधारण कारण समवाय है। जैसे छेदन क्रियाका छेद्य (छेदने योग्य) के साथ सम्बन्ध है, वैसे ही जिसके

१ अन्तेऽवसाने वर्तन्त इत्यन्त्या यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तय इति भावः।

२ विशेषप्रकरणे प्रशस्तपादभाष्ये पृ० १६८।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते । सतामपीत्यादि । सतामपि—सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि, षण्णा पदार्थानां मध्ये क्वचिदेव केषुचिदेव पदार्थेषु सत्ता—सामान्ययोगः, स्याद्—भवेन, न सर्वेषु । तेषामेषा वाचोयुक्तिः सदिति । यतो "द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति वचनाद् यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता । सत्प्रत्ययश्च द्रव्यगुणकर्मस्वेव, अतस्तेष्वेव, सत्तायोगः । सामान्यादिपदार्थत्रये तु न, तदभावात् । इदमुक्तं भवति । यद्यपि वस्तुस्वरूपं अस्तित्वं सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति । य एव चानुवृत्तिप्रत्ययः स एव सदितिप्रत्यय इति, तदभावाद् न सत्तायोगस्तत्र । द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपम् अस्तित्वमपि विद्यते । अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति । निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात् ॥

सामन्यादित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्ययः इति चेद्, बाधकसद्भावादिति ब्रूमः । तथाहि । सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारे अनवस्था । विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः । समवाये तु तत्कल्पनायां सम्बन्धाभावः । केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बध्यते, समवायान्तराभावात् । तथा च प्रामाणिकप्रकाण्डमुदयनः—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं　सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो　जातिबाधकसङ्ग्रहः"[1] ॥

द्वारा अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ पदादि आधार्य तन्तु आदिके आधार मे रहता है, वह समवाय सम्बन्ध है । अतएव समवाय भी द्रव्य आदिसे विलक्षण होनेके कारण भिन्न पदार्थ है ।

'सतामपि क्वचिदेव सत्ता स्यात्'—सत बुद्धिस जानने योग्य छह पदार्थोंमें-से कुछ पदार्थोंमे ही सत्तासामान्य रहता है, सब पदार्थोंमे नहीं । कहा भी है, "द्रव्य, गुण और कर्ममें सत् प्रत्यय होता है", इसलिए द्रव्य, गुण और कर्ममे ही सत्ता रहती है, सामान्य, विशेष और समवायमे सत्ता नही रहती, इसलिए उनमे सत् प्रत्ययका भी अभाव है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि वस्तुका स्वरूप अस्तित्व सामान्य, विशेष और समवायमे रहता है, तथापि वह सामान्य, विशेष और समवायके अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है । तथा अनुवृत्तिप्रत्ययको ही सत्प्रत्यय कहते हैं । सामान्य आदिमे सत्प्रत्यय नहीं है, इसलिए इनमे सत्ता नहीं रहती । द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमे समान रूपसे रहनेवाला वस्तुका स्वरूप अस्तित्व विद्यमान है, तथा अनुवृत्तिप्रत्ययका हेतु सत्तासम्बन्ध भी है, क्योंकि अस्तित्व स्वरूपसे रहित पदार्थोंमे शशविषाणकी तरह सत्ताका समवाय नही बन सकता, इसलिए द्रव्य, गुण और कर्ममे अस्तित्व और सत्तासम्बन्ध दोनों रहते हैं ।

प्रतिवादी—सामान्य, विशेष और समवायमे अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्य ज्ञान) क्यों नहीं होता है ?

वैशेषिक—सामान्य आदिमे सामान्यज्ञान माननेमे बाधक प्रमाण है । क्योकि 'सामान्य' मे सत्ता स्वीकार करनेसे अनवस्था दोष आता है, अर्थात् एक सामान्यमे दूसरा और दूसरेमे तीसरा, इस तरह अनेक सामान्य मानने पड़ते है । तथा यदि 'विशेष' पदार्थमें सत्ता माने, तो विशेषको व्यावृत्तिका कारण नहीं कह सकते । इसी तरह समवायमे सत्ता माननेमे सम्बन्धका अभाव होता है । क्योंकि समवायमे सत्ता कौनसे सम्बन्धसे रहेगी, दूसरा कोई समवाय हम मानते नहीं । प्रकाण्ड नैयायिक उदयनाचार्यने भी कहा है—

"व्यक्तिका अभेद तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध—ये छह जाति (सामान्य) के बाधक है ।"

(भाव यह है कि (१) सामान्य एक व्यक्तिमे नहीं रहता । जैसे आकाशमें आकाशत्व-सामान्य नही

---

१. उदयनाचार्यविरचितकिरणावल्या द्रव्यप्रकरणे पृष्ठ १६१ । अस्य व्याख्या—(१) आकाशत्वं न जातिः । व्यक्त्यैक्यात् । (२) घटत्वकलशत्वे न जाति । व्यक्तितुल्यत्वात् । (३) भूतत्वमूर्तत्वे न जाति ।

इति। ततः स्थितमेतत्सत्तामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति ॥

तथा, चैतन्यमित्यादि। चैतन्यं–ज्ञानम्, आत्मनः–क्षेत्रज्ञाद्, अन्यद्–अत्यन्तव्यतिरिक्तम्, असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते। अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः, इति पराशङ्कापरिहारार्थं आपाधिकमिति विशेपणद्वारेण हेत्वभिधानम्। उपाधेरागतमौपाधिकम्–समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतम्, आत्मनः स्वयं जडरूपत्वात् समवाय-सम्बन्धोपढौकितमिति यावत्। यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये[1] तदनन्तराभावाद् बुद्ध्यादीना नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसर आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात्। अतो भिन्नमेवात्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति ॥

तथा न संविदित्यादि। मुक्तिः–मोक्षः, न संविदानन्दमयी–न ज्ञानसुखस्वरूपा। संविद्–ज्ञानं, आनन्दः–सौख्यम्, ततो द्वन्द्वः, संविदानन्दौ प्रकृतौ यस्यां सा संविदानन्दमयी। एतादृशी न भवति बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेपप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणा नवानामात्मनो वैशेपिकगुणानामत्यन्तो-

---

रहता, क्योंकि आकाश एक व्यक्ति रूप है। (२) घटत्व और कलशत्व मे भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि घटत्व और कलशत्व दोनों एक ही पदार्थमें रहते हैं (तुल्यत्व)। (३) भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि इसमें सकर दोप आता है। अर्थात् भूतत्व केवल आकाशमें और मूर्तत्व केवल मनमें रहता है, लेकिन पृथिवी, अप, तेज और वायुमें भूतत्व और मूर्तत्व दोनों रहते हैं, इसलिए सकर दोष आनेसे भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता। (४) अनवस्था दोष आनेसे सामान्य में भी सामान्य नहीं रहता। (५) विशेप में भी सामान्य नहीं है, क्योंकि विशेषमें सामान्य माननेसे विशेषके स्वरूपकी हानि होती है। (६) समवायमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि समवाय एक है, समवायमें समवायत्वका सम्बन्ध करनेवाला दूसरा समवाय नहीं है।)

अतएव सिद्ध है कि सत् पदार्थों मे भी सबमें सत्ता नहीं रहती।

(२) ज्ञान आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। समास न करनेसे 'अत्यन्त' अर्थ प्राप्त होता है। 'ज्ञान के आत्मासे सर्वथा भिन्न होनेपर, ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध कैसे रहता है?' जैनों की इस शकाका परिहार करनेके लिए 'औपधिक' विशेषण-द्वारा हेतुका प्रतिपादन किया गया है। जो उपधिसे प्राप्त होता है, वह औपधिक है। समवाय सम्बन्ध रूप उपधि के कारण आत्मामे जो सम्बन्धको प्राप्त होता है वह औपधिक है, अर्थात् ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न होनेपर भी समवाय सम्बन्धसे आत्मासे सम्बद्ध है। ज्ञान आत्माका गुण नहीं है, वह उससे सर्वथा भिन्न है। आत्मा स्वय जड है, इसलिए ज्ञान आत्मामे समवाय सम्बन्धसे रहता है। यदि आत्मा और ज्ञानको एक ही माना जाय, तो दु ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानके नाश होनेपर आत्मा के विशेषगुण बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार का उच्छेद होनेसे आत्माका भी अभाव हो जाना चाहिए, क्योंकि जैनमतमे आत्मा इन गुणोंसे भिन्न नहीं है। अतएव आत्मा और ज्ञानका भिन्न मानना ही युक्तियुक्त है।

(३) मोक्ष ज्ञान और आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार—आत्माके इन नौ विशेष गुणोंका अत्यत उच्छेद हो जाना ही मुक्ति है ऐसा

आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टय उभयो सद्भावात् सकरप्रसग। (४) जातेरपि जात्यन्तरागीकारेऽनवस्थाप्रसगः। (५) अन्त्यविशेषता न जाति। तदगीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानि स्यात्। (६) समवायत्व न जाति। सम्बन्धाभावात्। इत्येते जातिबाधका ॥

१ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये रागद्वेषमोहाख्या दोषा अपयान्ति, दोषापाये वाङ्मन'कायव्यापाररूपाया शुभाशुभफलाया प्रवृत्तेरपाय। प्रवृत्त्यपाये जन्मापाय। जन्मापाये एकविंशतिभेदस्य दु खस्यापायः।

च्छेदो मोक्ष इति वचनात्। चशब्दः पूर्वोक्ताभ्युपगमद्वयसमुच्चये। ज्ञानं हि क्षणिकत्वादनित्यं, सुखं च सप्रक्षयतया सातिशयतया च न विशिष्यते संसारावस्थातः। इति तदुच्छेदे आत्मस्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति। प्रयोगश्चात्र—नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानः अत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, यथा प्रदीपसन्तानः। तथा चायम्, तस्मात्तदत्यन्तमुच्छिद्यते इति। तदुच्छेद एव महोदयः, न कृत्स्नकर्मक्षयलक्षण इति। "न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"[१]। इत्यादयोऽपि वेदान्तास्तादृशीमेव मुक्तिमादिशन्ति। अत्र हि प्रियाप्रिये सुखदुःखे, ते चाशरीरं मुक्तं न स्पृशतः। अपि च—

"यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते ॥१॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः।
मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः ॥२॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात्।
नात्मनः सुखदुःखे स्त इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥३॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम्।
उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते ॥४॥
तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥५॥
ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मवशिष्यते।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥६॥

कहा है। ज्ञान क्षणिक है, इसलिये वह अनित्य है, और सुखमे हानि, वृद्धि होती रहती है, इसलिये सुख ससारकी अवस्थासे भिन्न नहीं है। अतएव जिस समय अनित्य ज्ञान और अनित्य सुखका उच्छेद हो जाता है, उस समय आत्मा अपने स्वरूपमे स्थित होता है, वही मोक्ष है। अनुमान प्रयोगसे यह सिद्ध है—'मोक्षमे बुद्धि आदि आत्माके नौ विशेष गुणोंका सर्वथा नाश हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सन्तान है। (अर्थात् आत्माके नित्य स्वभाव नहीं हैं)। जो जो सन्तान होते है, उनका सर्वथा नाश होता हैं, जैसे प्रदीपकी सन्तान। बुद्धि आदि विशेष गुण भी सन्तान हैं, इसलिए उनका भी नाश होता है। बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त नाश ही मोक्ष है, सम्पूर्ण कर्मो का क्षय होना नहीं।' वेदान्तियोंने भी इसी प्रकारका मोक्ष माना है। उनका कथन है—"शरीरधारियोंके सुख-दु खका नाश नही होता, तथा अशरीरीको सुख-दु ख स्पर्श नहीं करते।" तथा—

"जब तक वासना आदि आत्माके सम्पूर्ण गुण नष्ट नहीं होते तब तक दु खकी अत्यन्त व्यावृत्ति नहीं होती ॥ १ ॥

सुख-दु.ख धर्म और अधर्मसे ही सम्भव है, इसलिये धर्म-अधर्म ही ससारके मूलभूत स्तम्भ है ॥२॥

धर्म और अधर्मके नाश हो जानेपर धर्म-अधर्मके कार्य शरीर आदिका नाश हो जाता है। उस समय सुख-दु.ख भी नष्ट हो जाते है। यही मुक्तावस्था है ॥ ३ ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि शरीरके कारण है, अतएव शरीरके उच्छेद होनेपर आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदिसे भी सम्बद्ध नहीं होती ॥ ४ ॥

इसलिये बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार—आत्माके इन नौ गुणोंका जडमूलसे नष्ट हो जाना ही मोक्ष हैं ॥ ५ ॥

---

१. न हि वै सशरीरस्य सत' प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीर वा वसन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत ॥ इति छान्दोग्य उ० ८-१२।

ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः
संसारबन्धनाधीनदुःखशोकाद्यदूषितम्[1] ॥७॥
कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः ऊर्मिषट्कमिति ।"

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थं समर्थयद्भिः अत्वदीयैः—त्वदाज्ञाबहिर्भूतैः कणादमतानुगामिभिः, सुसूत्रमासूत्रितम्—सम्यगागमः प्रपञ्चितः । अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणम् । शोभनं सूत्रं वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं—तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृतः, इति हृदयम् । "सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः[2]" । इत्यनेकार्थवचनात् । अत्र च सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम् । यथा—"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम्[3] ।" इत्यादि । उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात् तदङ्गीकरणम् । तथाहि । अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये इति महतीयं पश्यतोहरता[4] । यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दार्थः । अस्तीति सन् सतो भावः सत्ता अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं । तच्च निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाप्युक्तम्[5] । तत्किमिदमर्द्धजरतीयं[6] यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो, नेतरत्र त्रये इति ॥

अनुवृत्तिप्रत्ययाभावाद् न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत्, न । तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति, विशेषेष्वपि बहुत्वाद् अयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति, समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदाद् एकाकारप्रतीतेरनुभवात् ॥

मोक्षावस्थामे आत्मा सम्पूर्ण गुणोंसे रहित होकर अपने ही स्वरूपमे अवस्थित रहता है ॥ ६ ॥

मुक्त जीव ससारके बन्धन, दु ख, शोक आदिसे मुक्त होता हुआ काम, क्रोध, लोभ, गर्व, दम्भ और हर्ष (अथवा क्षुधा, पिपासा, शोक, मूढता, जरा और मृत्यु) इन छह ऊर्मियोंसे निर्लिप्त रहता है ॥७॥"

उत्तरपक्ष—(१) इस प्रकार आपकी आज्ञासे वाह्य कणाद मतानुयायी वैशेषिक लोग उपर्युक्त सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते है ('सुसूत्र' शब्द यहाँ पर कटाक्षसूचक है, जैसे "उपकृत वहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम् । विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत शरदा शतम् ॥" इस श्लोकमें कटाक्ष किया गया है) । सब पदार्थोके सत् बुद्धिसे ज्ञेय होने पर भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही सत्ता-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, सामान्य विशेष और समवायमे नहीं-यह उनका महान् साहस है । क्योंकि सत्(अस्तित्व)के भावको सत्ता कहते हैं, यह अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है । अस्तित्वको आप लोगोंने भी सम्पूर्ण पदार्थों में स्वीकृत किया है, फिर आप लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही सत्ता मानते है, और सामान्य विशेष और समवायमे नहीं, इसका क्या कारण है? यह ऐसी ही वात है जैसे कोई स्त्री आधी वृद्धा हो और आधी युवती ।

शंका—सामान्य आदिमे अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्य ज्ञान) नहीं होता, इसलिए इनमे सत्ता सम्बन्ध नहीं है । समाधान—सामान्य विशेष और समवायमे अनुवृत्तिप्रत्यय अवश्य होता है । क्योंकि पृथिवीत्व, गोत्व घटत्व आदि सामान्योंमे 'यह सामान्य है,' विशेषोंमे 'यह विशेष है,' 'वह विशेष है,' और समवायमें

१ जयन्तविरचितन्यायमञ्जर्या पृ० ५०८ । ऊर्मिषट्क तत्र—
प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे लोभमोहौ च चेतस ।
शीतातपौ शरीरस्य षडूर्मिरहित शिव ॥

२ हेमचन्द्रकृतेऽनेकार्थसग्रहे २–४५८ ।

३. "विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत शरदा शतम्" इत्युत्तरार्धम् ।

४ पश्यतोहरता चौर्यम् ।

५. "षण्णा पदार्थाना साधर्म्यमस्तित्व ज्ञेयत्वमभिधेयत्व च' इति प्रशस्तकारवचनात् ।

६ अर्धा जरती अर्धा युवतिरितिवत् ।

स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात् सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्, तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेद् द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः । नैवं । असति मुख्येऽध्यारोपस्यासम्भवाद् द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न । विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् ॥

सामान्यादिषु बाधकसम्भवाद् न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययः, द्रव्यादिषु तु तदभावाद् मुख्य इति चेद्, ननु किमिदं बाधकम् । अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे अनवस्था, विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः, समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत्, न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु । तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युपमेगऽपि न रूपहानिः, स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् । निःसामान्यस्य[1] विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपाभावप्रसङ्गः । इति बाधकाभावात् तेष्वपि द्रव्यादिवद् मुख्य एव सत्तासम्बन्ध इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् ॥

'यह घट समवाय है,' 'यह पट समवाय है' यह सामान्य ज्ञान होता ही है ।

शंका—जिस प्रकार द्रव्य आदिमे स्वरूप सत्ताके साधर्म्यसे सत्ता रहती है, उसी प्रकार सामान्य आदिमे भी उपचारसे सत्ता विद्यमान है, इसलिये सामान्य आदिमे 'यह सत् है' ऐसा ज्ञान होता है । समाधान—यदि सामान्य आदिमे सत्ताको उपचारसे स्वीकार करोगे, तो सामान्य आदिमे सत्का ज्ञान भी मिथ्या मानना चाहिये । यदि कहो कि भिन्न स्वभाववाले पदार्थोंमे एकताकी प्रतीति मिथ्या ही है, तो इस तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी सत्ताके उपचारसे मानकर सत्का ज्ञान मिथ्या मानना चाहिए । यदि कहो कि मुख्यका अभाव होने पर उपचारका सम्भव होनेसे 'यह सत् है,' इस प्रकारका अनुवृत्तिज्ञान द्रव्य, गुण और कर्मम मुख्य रूपसे तथा सामान्य, विशेष और समवायमे गौण रूपसे होता है, अर्थात् द्रव्यादिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करके ही सामान्य आदिमे उपचार सत्ता मानी जा सकती है, क्योंकि मुख्य अर्थके न होनेपर ही उपचार होता है तो हमारा (जैनोंका) उत्तर है कि मुख्य और गौण सत्ताकी इससे उल्टी कल्पना भी की जा सकती है, अर्थात् सामान्य आदिमे मुख्य और द्रव्यादिमे गौण सत्ता भी मान सकते है ।

शंका—द्रव्य आदिमें मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नही आती, लेकिन सामान्य आदिमे मुख्य सत्ता स्वीकार करनेसे बाधा आती है । ऊपर कहा भी है कि सामान्यमे सामान्य माननेसे अनवस्था, विशेषमे सामान्य माननेसे रूपहानि, और समवायमे सामान्य माननेसे समवायान्तरका असम्बन्ध—दोष आते हैं । समाधान—यह कथन ठीक नही है । क्योंकि सामान्यमें सत्ता माननेसे अनवस्था दोष आता है, तो द्रव्य, गुण, कर्ममे सत्ता माननेसे भी अनवस्था दोष क्यों नही आना चाहिए? क्योंकि सामान्यमे स्वरूप सत्ताकी तरह द्रव्य, गुण और कर्ममे भी पहलेसे ही स्वरूपसत्ता विद्यमान है । तथा, विशेषोंमे सत्ता अगीकार करनेपर स्वरूपकी हानि नहीं होती, बल्कि विशेषोमें सामान्य माननेपर उल्टी विशेषोंकी सिद्धि होती है, क्योंकि सामान्य-रहित विशेष कही भी नही पाये जाते । इसी तरह समवायमें भी समवायरूप सत्ता स्वीकार करनेपर तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि यदि समवाय समवायत्वरूप स्वरूप सत्ता न माने, तो समवायके स्वरूप का ही अभाव होगा । इसलिये सामान्य आदिमे भी द्रव्यादिकी तरह मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, अतएव इनमे भी मुख्य सत्ता ही माननी चाहिए । अतएव द्रव्य, गुण, कर्ममे ही सत्ता है और सामान्य, विशेष और समवायमे नहीं, यह कल्पना व्यर्थ है ।

---

१ "निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि" ॥

किञ्च, तैर्वादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्येत । तथाहि । यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाणि स्युः। सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत, असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम् । सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्, तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन । सत्तायोगात् प्राग् भावो न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात तु सन्निति चेद्, वाङ्मात्रमेतत । सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात । तस्मात 'सतामपि स्यात क्वचिदेव सत्ते'ति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहास्याय जायते ॥

ज्ञानमपि यद्येकान्तेनात्मनः सकाशाद् भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः । अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत्, न । समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयाववोधप्रसङ्गः । यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः, एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः ॥

अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः । किन्तु स एव समवायः केन तयोः सम्बध्यते ? समवायान्तरेण चेद् अनवस्था । स्वेनैव चेत् किं न ज्ञानात्मनोरपि तथा । अथ यथा

तथा, वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्ममें जो मुख्य सत्ता स्वीकार की है, वह भी विचार करनेसे युक्तियुक्त नहीं ठहरती । क्योंकि यदि सत्ता द्रव्य आदिसे अत्यन्त भिन्न है, तो द्रव्यादिको असत् मानना चाहिए । यदि द्रव्यादिको सत्ताके सम्बन्धसे सत् मानो तो स्वय असत् द्रव्यादि सत्ताके सम्बन्धसे भी सत् कैसे हो सकते है ? और यदि द्रव्यादि स्वय सत् हैं, तो फिर उनमें सत्ताका सम्बन्ध मानना ही निष्प्रयोजन है । अर्थात् यदि पदार्थोमे स्वरूपसत्त्व स्वीकार करनेपर भी सत्ता मानी जाये तो ऐसी अकार्यकारी सत्ताका सम्बन्ध माननेसे ही क्या प्रयोजन ? यदि कहो कि सत्ताके सम्बन्धसे पहले द्रव्यादि पदार्थ न सत् थे, न असत्, किन्तु सत्ताके सम्बन्धसे सत्रूप होते है तो यह भी कथनमात्र है । क्योंकि सत् और असत्से विलक्षण कोई प्रकारान्तर आपके मतमें सम्भव नहीं जिससे आप लोग सत्ता सम्बन्धके पहले द्रव्यको 'न सत्' और 'न असत्' रूप मान सकें । अतएव 'सत् पदार्थोमें भी सब पदार्थोमें सत्ता नहीं रहती'—वैशेषिकोंका, यह वचन उपहासके ही योग्य है ।

(२) यदि ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न मानो तो मैत्रसे भिन्न चैत्रके ज्ञानसे जिस प्रकार मैत्रको विषयोंका ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार आत्मासे सर्वथा भिन्न ज्ञानसे आत्माको (ज्ञेय) विषयोंका ज्ञान नहीं होगा । (अर्थात् जैसे मैत्रसे चैत्रका ज्ञान भिन्न है, इसलिए चैत्रके ज्ञानसे मैत्रकी आत्माको पदार्थका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है, इस कारण चैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका ज्ञान न होना चाहिए) । यदि कहो कि जिस आत्मामें ज्ञान समवाय सम्बन्धसे विद्यमान है, उसी आत्मामें ज्ञान पदार्थोको जानता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि समवाय एक, नित्य और व्यापक है, इसलिए वह सब पदार्थोमें समान रूपसे रहता है । तथा समवायकी तरह आत्मा भी व्यापक है, इसलिए एक आत्मामे ज्ञान होनेसे सब आत्माओंको पदार्थोका ज्ञान होना चाहिए । तथा जिस प्रकार रूपादि घटमे समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, उसी तरह ज्ञान भी आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहता है । और जैसे रूपादिका नाश होनेपर रूपादिके आश्रय घटादिका भी नाश होता है, वैसे ही क्षणिक ज्ञानके नाश होनेपर आत्माका भी नाश हो जाना चाहिए । इस तरह आत्मा अनित्य ठहरती है ।

यदि समवायसे ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध मान भी लिया जाय, तो वह समवाय आत्मा और ज्ञानमें कौनसे सम्बन्धसे रहता है ? यदि ज्ञान और आत्मामें रहनेवाला समवाय दूसरे समवायसे रहता है तो इस प्रकार अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आता है । यदि कहो कि समवायमें समवायान्तर मानने की

प्रदीपस्तत्स्वाभाव्याद् आत्मनं, परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मानं, ज्ञानात्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत्, ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवैतौ सम्बध्येते। किञ्च, प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति। यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यं, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता? तदभावे च स्वपरप्रकाशस्वभावता भणितिर्निर्मूलैव॥

यदि च प्रदीपात् प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटादीनामपि तदनुपज्यते, भेदाविशेषात्। अपि च तौ स्वपरसम्बन्धस्वभावौ समवायाद् भिन्नौ स्याताम्, अभिन्नौ वा? यदि भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव। न तौ। तद्व्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवदिति। किञ्च, यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना, तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते, तथा को दोषः॥

अथात्मा कर्ता, ज्ञानं च करणं, कर्तृकरणयोश्च वर्धकिवासीव[1] भेद एव प्रतीतः, तत्कथं ज्ञानात्मनोरभेदः इति चेत्, न। दृष्टान्तस्य वैषम्यात्। वासी हि बाह्यं करणं, ज्ञानं चान्तरं,

आवश्यकता नहीं, समवाय अपने आप ही रहता है तो ज्ञान और आत्मामें भी वह अपने आप ही क्यों नहीं रहता? यदि आप लोग कहें कि जैसे दीपक स्वप्रकाशन स्वभाववाला होनेसे अपने आपको और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही समवायका इसी प्रकारका स्वभाव है कि जब वह ज्ञान और आत्माके साथ अपना सम्बन्ध कराता है तथा ज्ञान और आत्माका भी सम्बन्ध कराता है, तो फिर ज्ञान और आत्माका उस प्रकारका स्वभाव क्यों नहीं मान लेते, जिसके कारण ये दोनों अपने-आप ही अन्योन्य सम्बन्ध को प्राप्त होते है? तथा, इस कथनकी पुष्टिमे दीपकका दृष्टात ही नहीं घटना, क्योंकि दीपक द्रव्य हैं, और प्रकाश उसका धर्म है। तथा, आप लोग धर्म और धर्मीका अत्यन्त भेद मानते है, अतएव दीपक प्रकाश रूप कैसे हो सकता हैं? दीपकके प्रकाश रूप न रहनेसे आपने जो दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहा, वह निराधार ही सिद्ध होगा।

यदि दीपकसे प्रकाशके अत्यन्त भिन्न होनेपर भी दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहो, तो घट आदिको भी स्वपर-प्रकाशक कहनेमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दीपककी तरह घट आदि भी प्रकाशसे अत्यन्त भिन्न है, तथा, समवायियोंके साथ अपना सम्बन्ध करानेका स्वभाव तथा समवायियोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध करानेका स्वभाव—समवायके ये दोनों स्वभाव समवायसे भिन्न है या अभिन्न? यदि ये दोनों स्वभाव समवायसे भिन्न हों तो समवायियोंके साथ अपना सम्बन्ध करानेका तथा समवायियोंका एक दूसरेके साथ सम्बन्ध करानेमें कारणभूत अन्य समवायको अनवस्थाके भयमे स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर, ये दोनों स्वभाव समवायके है, इस प्रकार समवाय और उसके दोनों स्वभावोंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यदि समवायके ये दोनों स्वभाव समवायसे अभिन्न है तो फिर उसे समवायमात्र ही कहना चाहिये। समवायका स्वरूप समवायत्व समवायसे भिन्न न होनेसे जिस प्रकार स्वतन्त्र नहीं होता, उसी प्रकार ये दोनों स्वभाव समवायसे भिन्न न होनेसे स्वतन्त्र नहीं हो सकते। तथा, जैसे 'इन समवायियोंमें समवाय है' यह बुद्धि प्रत्येक समवाय और समवायान्तरके विना माने भी हो सकती है, इसी तरह 'इस आत्मामें ज्ञान है' यह ज्ञान भी समवायको भिन्न पदार्थ माने विना ही क्यों नहीं होता?

शंका—आत्मा कर्ता है, और ज्ञान करण है। जैसे, बढ़ई कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न कुठार रूप करणसे कार्यको करता है, वैसे ही आत्मा कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न ज्ञान रूप करणसे पदार्थको जानता है, अतएव ज्ञान और आत्मा भिन्न हैं। समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर बढ़ई और

१. वर्धकिस्त्वष्टा, वासी तच्छस्त्रम्।

तत्कथमनयोः साधर्म्यम् । न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिकाः—

"करणं द्विविधं ज्ञेय बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः ।
यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा" ॥

यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्येत, ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति । न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते, अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपाद्विवत् चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात् । तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति ॥

अपि च, साध्यविकलोऽपि वासीवर्धकिदृष्टान्तः । तथाहि । नायं वर्धकिः 'काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्ये' इत्येवं वासीग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन तामगृहीत्वा घटयति, किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा । तथा परिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते पुरुषोऽपि । इत्येवं लक्षणैकार्यसाधकत्वात् वासीवर्धकयोरभेदोऽप्युपपद्यते । तत्कथमनयोर्भेद एव इत्युच्यते । एवमात्मापि 'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि' इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति । ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षण कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं, आहोस्विद् विषये इति वाच्यम् । आत्मनि चेत्, सिद्धं नः समीहितम् । विषये चेत्, कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते ।

कुठारका दृष्टात विषम है। कारण कि कुठार बाह्य और ज्ञान आभ्यन्तर करण है, इसलिये दोनोंमें साधर्म्य नहीं हो सकता। इन बाह्य और अन्तरग करणोंको वैयाकरणोंने भी स्वीकार किया है—

"बाह्य और अन्तरगके भेदसे करण दो प्रकारका है। जैसे, वह कुठारसे काटता है, यहाँ कुठार बाह्य करण है, और वह मनसे मेरु पर्वतपर पहुँचता है, यहाँ मन अन्तरग करण है।"

अतएव जैसे कुठाररूप बाह्य करण बढईरूप कर्तासे भिन्न है, वैसे ही यदि ज्ञानरूप अन्तरग करण आत्मारूप कर्तासे भिन्न होता, तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें साधर्म्य हो सकता था, लेकिन आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं है। तथा बाह्य करणका धर्म अन्तरग करणसे सम्बद्ध नहीं हो सकता, अन्यथा देवदत्त दीपक और नेत्रसे देखता है, यहाँ दीपककी तरह नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न होना चाहिए। परन्तु ऐसा माननेसे लोकविरोध आता है।

तथा, बढई और कुठारका दृष्टान्त साध्यविकल भी है। क्योंकि 'मै इस कुठारसे इस लकडीको बनाऊँगा' इस प्रकार कुठार ग्रहण करनेके मनोगत परिणामसे अपरिणत हुआ बढई, कुठारको ग्रहण न कर लकडीको नहीं बनाता, किन्तु मनोगत परिणामसे परिणत हुआ बढई लकडीको बनाता है। बढईका उस प्रकारका मनोगत परिणाम उत्पन्न होनेपर लकडीको बनानेकी क्रियामें कुठार भी सलग्न हो जाता है, और बढई भी। इस प्रकार लकडीको बनानेकी क्रिया रूप एक कार्यके साधक होनेसे कुठार और बढईमे भेद नही रहता। ऐसी दशामें बढई और कुठारमे, अर्थात् कर्ता और करणमे भेद ही होता है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार आत्मा भी 'विवक्षित अर्थको मै इस ज्ञानके द्वारा जान लूँगा', इस प्रकार अपने ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण करनेके परिणामसे परिणत हुई आत्मा ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण कर अर्थको जानती है। अतएव ज्ञान और आत्मा दोनोंमे ज्ञानलक्षण रूप एक ही कार्यके साधक होनेके कारण, भेद नहीं रहता। (इसलिए बढई और कुठारका दृष्टान्त आत्मा और ज्ञानमें 'भेद' सिद्ध नहीं करता, अतएव साध्यविकल है। भाव यह है, कि जैसे काष्ठ कुठारसे बनाया जाता है, वैसे ही काष्ठ बढईसे भी बनाया जाता है, इसलिये बढई और कुठार दोनों एक ही क्रिया करते है, अतएव अभिन्न हैं। उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान दोनों पदार्थके जानने रूप एक ही अर्थके साधक है, अतएव परस्पर अभिन्न है।) इस प्रकार कर्ता और करणमें अभेदकी सिद्धि होनेपर प्रश्न होता है कि सवित्ति (ज्ञान) रूप कार्य आत्मामें (आत्माश्रित) होता है, या पदार्थमें (ज्ञेयाश्रित)? यदि ज्ञान आत्मामे ही उत्पन्न होता है, तो यह सिद्धान्त हमारे अनुकूल ही है। क्योंकि

अथ विपर्यस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवः, तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि, तद्भेदाविशेषात् ॥

अथ ज्ञानात्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभावः इति चेत्, ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्र अभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथात्रापि । अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्, वेष्टनावस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथं परिकल्पितत्वम् । न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम् । तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव । किञ्च, चैतन्यमिति शब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः । चेतनस्य भावश्चैतन्यम् । चेतनश्चात्मा त्वयापि कीर्त्यते । तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम् । यच्च यस्य स्वरूपं, न तत् ततो भिन्नं भवितुमर्हति, यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम् ॥

अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसम्बन्धात्, न स्वतः, तथाप्रतीतेः इति चेत् । तदयुक्तम् । यतः प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्ध्यति । न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगात् चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति । ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत्, न । कथंचित् तादात्म्याभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु बीजं पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चात्मनि ज्ञाताहमिति प्रतीतिः कथञ्चित् चेतनात्मता गमयति तामन्तरेण

हमलोग (जैन) भी ज्ञानको आत्मामे ही मानते हे । यदि कहो कि सविकल्पलक्षण कार्य ज्ञेय पदार्थमे उत्पन्न होता है, तो अन्य पुरुषको—जिसने अपने ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण नही किया, उस पुरुषको—भी ज्ञेयका ज्ञान क्यों नहीं होता? अपने ज्ञानको करण रूपसे ग्रहण करनेवाले पुरुषसे जिस प्रकार ज्ञेय भिन्न होता है, उसी प्रकार अन्य पुरुष से भी वह भिन्न होता है।

शंका—ज्ञान और आत्मामे अभेद माननेपर कर्ता और करण सम्बन्ध नही बन सकता । समाधान—जैसे, 'सर्प अपने आपको अपनेसे वेष्टित करता है'—यहाँ कर्ता और करणके अभेद होनेपर भी कर्ता और करण भाव बनता है, वैसे ही आत्मा और ज्ञानके अभिन्न होनेपर भी कर्ता और करण भावमे कोई बाधा नहीं आती । यदि कहो कि यह कर्ता और करण भाव कल्पना मात्र हे, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्पकी वेष्टन अवस्थामे प्राक् अवस्थासे विलक्षण गतिनिरोध लक्षण रूप अर्थ क्रिया देखी जाती है । तथा, सैकडों कल्पनायें करनेसे भी पाषाणका स्तभ अपने आपको अपनेसे वेष्टित नहीं कर सकता । इसलिए कर्ता और करण भावको कल्पित कहना ठीक नहीं है । अतएव ज्ञान और आत्मा मे अभेद मानने पर भी कर्ता और करण भाव सिद्ध होता है । तथा, चेतनके भावको चैतन्य कहते है । आत्माको आप लोगोंने भी चेतन स्वीकार किया है । चैतन्य आत्माका स्वरूप हे । जो जिसका स्वरूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता, जैसे, वृक्षका स्वरूप वृक्षसे भिन्न नही हैं । इसलिए ज्ञान और आत्माको भिन्न मानना ठीक नही है ।

यदि कहो कि आत्मा समवाय सम्बन्धसे चेतन है, स्वय चेतन नहीं, क्योंकि इसी प्रकारका ज्ञान होता है, तो यह भी ठीक नही । कारण कि यदि आप लोग ज्ञान (प्रतीति) को ही प्रमाण मानते हैं, तो आत्माको निश्चयसे उपयोग रूप ही मानना चाहिये । क्योंकि कभी भी ऐसा ज्ञान नही होता कि मै स्वय अचेतन होकर चेतनाके सम्बन्धसे चेतन हूँ, अथवा मेरी अचेतन आत्मामे चेतनका समवाय होता है । इसके विपरीत, आत्मा और ज्ञानके एक-अधिकरणमें रहनेका ही ज्ञान होता हे कि मै ज्ञाता हूँ । यदि आप कहे कि आत्मा और ज्ञानका भेद माननेपर भी आत्मा और ज्ञानका एक-अधिकरण बन सकता हे, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि कथचित् तादात्म्य (अभिन्न) सम्बन्धके बिना एक-अधिकरणकी प्रतीति नहीं हो सकती । 'पुरुष यष्टि हैं' यह ज्ञान पुरुष और यष्टिके वास्तविक भेद होनेपर भी वास्तविक नहीं है, यह केवल उपचारसे होता हैं । 'पुरुष यष्टि है' इस उपचारका कारण यष्टिके स्तब्धता आदि गुणोका पुरुषके

ज्ञाताहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात् घटादिवत्। न हि घटादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति। चैतन्ययोगाभावान् असौ न तथा प्रत्येतीति चेत्, न। अचेतनस्यापि चैतन्ययोगात चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात्। इत्यचेतनत्वं सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति। तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपतास्य स्वीकरणीया॥

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गः। तदसत्। ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति, जडैकान्तरूपत्वात्, घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा, ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्च स्याद् अस्य विरोधाभावात् इति मा निर्णैषीः। तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात्। ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे, विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्। "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति वचनात्॥

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः। न तावत् स्वतः, स्वसंवेदनानभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा, सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम्। गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात् तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः। तदेवं नात्मनो

स्तब्धता आदि गुणों के साथ अभेद है, क्योंकि उपचार मुख्य अर्थको स्पर्श करनेवाला होता है (यहाँ यष्टिका स्तब्धता आदि गुण मुख्यार्थ हैं)। इसी तरह आत्मामें 'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति आत्माके कथंचित् चैतन्य स्वभावको ही द्योतित करती है, क्योंकि बिना चैतन्य स्वभावके 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती, जैसे, घटमें चैतन्य रूप नहीं है, इसलिए उसमें 'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति भी नहीं होती। यदि कहो कि घटमें चैतन्यका सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिए उसमें 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अचेतनमें चैतन्यके सम्बन्धसे ही 'मैं चेतन हूँ' यह प्रतीति होती है, इस मतका खण्डन हमने अभी किया है अतएव यदि आत्माको अचेतन माना जाय, तो उससे पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए आत्मासे पदार्थोंका ज्ञान करनेके लिये आत्माको चैतन्य स्वीकार करना चाहिए।

शंका—'मैं ज्ञानवान हूँ' इस ज्ञानसे ही आत्मा और ज्ञानमें भेद सिद्ध होता है, अन्यथा 'मैं धनवान हूँ' इस ज्ञानसे भी धन और धनवानमें भेद न होना चाहिये। समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि वैशेषिकोंके मतमें घटकी तरह आत्मा सर्वथा जड है, इसलिये उसमें 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह ज्ञान ही नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहें कि आत्माके सर्वथा जड होते हुए भी 'मैं ज्ञानवान हूँ' ऐसा प्रत्यय होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह प्रतीति ही आत्मामें नहीं हो सकती। कारण कि 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह प्रत्यय ज्ञानरूप विशेषण और आत्मारूप विशेष्य ज्ञानके बिना कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐसा माननेसे आपके मतसे विरोध आयेगा, क्योंकि कहा है "बिना विशेषणको ग्रहण किये हुए विशेष्यका ज्ञान नहीं होता।"

शंका—जब आत्मा विशेषण (ज्ञान) और विशेष्य (आत्मा) को ग्रहण करता है, उस समय 'मैं ज्ञानवान हूँ' यह प्रतीति होती है। समाधान—यहाँ प्रश्न होता है कि यह प्रतीति स्वतः होती है, या परतः? यह प्रतीति स्वयं नहीं हो सकती, क्योंकि आप लोग आत्मामें स्वसंवेदन ज्ञान नहीं मानते हैं। तथा, दूसरी सन्तानोंकी तरह आत्मा और ज्ञानके स्वसंविदित होनेपर यह प्रतीति स्वयं हो सकती है, अन्यथा नहीं। (अर्थात् जैसे घट पटादि दूसरी सन्तानोंसे स्वसंविदित नहीं है, इसलिये उनमें 'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही आत्मामें भी यह प्रतीति नहीं होनी चाहिये।) यदि कहो कि आत्मा दूसरे ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानरूप विशेषणको ग्रहण करती है तो वह दूसरा ज्ञानरूप विशेष्य भी अपने ज्ञानत्व विशेषणको ग्रहण किये बिना आत्माके ज्ञानरूप विशेषणको ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थात् जैसे घटत्वके ज्ञानके द्वारा घटत्वका ज्ञान होनेपर जो घटका ज्ञान होता है, उस ज्ञानका ज्ञान भी उस ज्ञानके ज्ञानत्वका ज्ञान होनेपर

जडस्वरूपता संगच्छते। तदसङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम् ॥

तथा यदपि न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनाय अनुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते। ननु किमिदं सन्तानत्वं स्वतन्त्रमपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ? तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः। अपरापरेषामुत्पादकानां घटपटकटादीना सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात्। अथ द्वितीयः पक्षः, तर्हि तादृश सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः। तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति। विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्। इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम्। किञ्च, स्याद्वाद-

---

ज्ञानत्वके ज्ञानसे होना चाहिये। ज्ञानत्वका ज्ञान उस ज्ञानत्व के अन्य ज्ञानसे होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आनेसे प्रकृत ज्ञानका ज्ञान कैसे हो सकता है? इसलिये 'मै ज्ञानवान हूँ' ऐसी प्रतीति किसी भी तरह आत्मामे न हो सकेगी। अतएव आत्माको जड स्वीकार करना ठीक नहीं है। तथा आत्माके जड न सिद्ध होनेपर आत्माके ज्ञानको उपाधिजन्य मानना भी केवल कथन मात्र है।

(३) मुक्ति ज्ञानमय और आनन्दमय नहीं हैं, यह सिद्ध करनेके लिये आप लोगोंने जो सन्तानत्व हेतु दिया है, वह भी ठीक नही है। क्योंकि यह सन्तानत्व क्या है? क्या वह भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र पदार्थोंकी उत्पत्ति मात्र है, अथवा एक पदार्थरूप आश्रयमे भिन्न भिन्न परिणामोंकी उत्पत्ति मात्र (एकाश्रयापरापरोत्पत्ति) है? पहला पक्ष सदोष है कारण कि भिन्न-भिन्न उत्पादक घट, पट, कट आदि पदार्थोंका सन्तानत्व विद्यमान होनेपर भी उनका आत्यन्तिक उच्छेद (नाश) नहीं देखा जाता (वैशेषिक मतमें जो जो सन्तान होता है उसका आत्यन्तिक रूपमे विनाश होता है)। यदि दूसरा पक्ष—अर्थात् एक पदार्थ रूप आश्रयमें भिन्न-भिन्न परिणामोंकी उत्पत्ति सन्तान है—स्वीकार किया जाये तो एकाश्रयापरापरोत्पत्ति रूप सन्तानत्व प्रदीप दृष्टांतमें घटित न होनेसे प्रदीपका दृष्टांत साधनविकल है। (प्रदीपकी सन्तानका एक आश्रय नहीं है, क्योंकि पूर्व अग्निकी ज्वाला रूप दीपक पूर्व अग्निकी ज्वालाके नष्ट होनेके क्षणमे नष्ट हो जाता है, इसलिये दीपकका दृष्टांत साधनसे शून्य है।) तथा, एकाश्रयापरापरोत्पत्ति लक्षण सन्तानत्वका परमाणुपाकजरूप (अग्निके द्वारा परमाणुमे उत्पन्न किया हुआ रूप) आदिमे सद्भाव होनेपर भी परमाणुओंके पाकजरूप आदिका आत्यन्तिक नाश न होनेसे परमाणुओंके साथ सन्तानत्व हेतु व्यभिचारी है (परमाणुपाकजरूपादिका आत्यन्तिक नाश न होनेसे वह विपक्ष है, अतः उसमे उक्त हेतुका सद्भाव होनेसे वह हेतु व्यभिचारी है। वैशेषिक लोग 'पीलुपाक' सिद्धांतको मानते हैं। उनके मतमे जिस समय कच्चा घडा अग्निमे पकानेके लिये रक्खा जाता है, उस समय यह कच्चा घडा नष्ट होकर परमाणु रूप हो जाता है। उसके बाद अग्निके सयोगसे परमाणुओंमे लाल रग उत्पन्न होता है। ये परमाणु एकत्र होकर पक्के घडेके रूपमे बदलते है। यह परमाणुपाकज प्रक्रिया अत्यन्त शीघ्रतासे होती है, और नौ क्षणों मे समाप्त हो जाती है। जैन लोगोंका कहना है, कि अग्निके द्वारा उत्पन्न किये हुए परमाणुमे रूप-सन्तान होनेपर भी उसका अत्यन्त उच्छेद नही होता, इसलिये उक्त हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि कच्चे घडेके अग्निमे रखनेसे जब उस घटका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, तब उन परमाणुओंमें पूर्व घटकी रूपसन्तान बदलकर दूसरे रूपमे उत्पन्न होती हैं, इसलिये यद्यपि पूर्व और अपर सन्तान परमाणुरूप एक आश्रयमें रहती है तो भी सन्तानका अत्यन्त नाश नहीं होता।) तथा, सन्तानत्वके रहनेपर भी आत्यन्तिक नाश रह सकता है, इसमे किसी बाधक प्रमाणका अभाव है। इस प्रकार विपक्षव्यावृत्ति सन्दिग्ध होनेसे यह हेतु अनैकान्तिक भी है। (अतएव 'मुक्तिमे बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सन्तान है' इस अनुमानमें सन्तानत्व हेतु विपक्ष घटादिमें उच्छेद्यत्व साध्यके अभाव अनुच्छेद्यत्वके साथ रहता है, इसलिये सन्दिग्ध विपक्षव्यावृत्ति होनेसे अनैकान्तिक हेत्वाभास है।) तथा, स्याद्वादियोंके किसी भी पदार्थका अत्यन्त उच्छेद नही होता, क्योंकि द्रव्य

वादिनां नास्ति क्वचिदत्यन्तमुच्छेदः,द्रव्यरूपतया स्थास्नूनामेव सतां भावानामुत्पादव्ययुक्तत्वात् इति विरुद्धश्च । इति नाधिकृतानुमानाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिद्ध्यति ॥

नापि "न हि वै सशरीरस्य" इत्यादेरागमात्। स हि शुभाशुभादृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिकप्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थितः । मुक्तिदशायां तु सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव, तत्कथं प्रतिषिध्यते । आगमस्य चायमर्थः 'सशरीरस्य'—गतिचतुष्टयान्यतमस्थानवर्तिन आत्मनः, 'प्रियाप्रिययोः'— परस्परानुषक्तयोः सुखदुःखयोः, 'अपहतिः' —अभावो, 'नास्ती'ति । अवश्यं हि तत्र सुखदुःखाभ्यां भाव्यम्। परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणादभ्यूह्यते । 'अशरीरं'—मुक्तात्मानं, 'वा'शब्दस्यैवकारार्थत्वात अशरीरमेव, 'वसन्तं'—सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनं, 'प्रियाप्रिये'—परस्परानुषक्ते सुखदुःखे, 'न स्पृशतः' ॥

इदमत्र हृदयम् । यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुषक्ते स्यातां, न तथा मुक्तात्मनः किन्तु केवलं सुखमेव । दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाभावात्। सुखं त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव । स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः । अत एव चाशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः । यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते—

"सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥"

रूपसे ध्रुव रहेनेवाले पदार्थोके ही उत्पाद और व्यय होते है । आत्यन्तिक नाशका अभाव होनेपर भी एक ही पदार्थमें क्रमभावी परिणामोंकी उत्पत्ति होनेसे सन्तानत्व हेतु जैनों द्वारा स्वीकृत पदार्थके साथ अविनाभावी होनेसे विरुद्ध है । इस प्रकार सन्तानत्व हेतुसे बुद्धि आदिके उच्छेदरूप मोक्षकी सिद्धि नहीं होती ।

तथा, मोक्ष अवस्थामें सुखका अभाव सिद्ध करनेके लिए आप लोगोंने "न हि वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" जो आगमका प्रमाण दिया है, वह भी साध्यकी सिद्धि नहीं करता । क्योंकि यहाँ जो मोक्षमें प्रिय-अप्रिय (सुख-दु ख) का प्रतिषेध किया गया है, वह केवल शुभ-अशुभ अदृष्टके परिणामसे उत्पन्न, एक दूसरेसे सम्बद्ध, सासारिक सुख-दु ख की अपेक्षासे ही किया गया है । मुक्तावस्थाका सुख समस्त पुण्य-पापके क्षयसे उत्पन्न होता है, इसलिए यह सुख ऐकान्तिक (एकरूप) और आत्यन्तिक (नाश न होनेवाला) होता है, इस नित्य सुखका प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है ? अतएव उक्त आगममे प्रिय-अप्रिय शब्दोंसे पुण्य पापसे उत्पन्न होनेवाले सासारिक सुख-दु खका ही प्रतिषेध किया गया है, मुक्तावस्थाके अनन्त और अव्याबाध सुखका नहीं । इसलिये आगमका निम्नप्रकारसे अर्थ करना चाहिये —'सशरीरस्य प्रियाप्रिययो अपहति नास्ति'—ससारी आत्माके परस्पर अपेक्षित सुख-दु खका अभाव नहीं होता । (यहाँ 'प्रियाप्रिय' मे द्वद्व समास करनेसे सुख-दु खको परस्पर अपेक्षित समझना चाहिये) । 'अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत'—मुक्तावस्थामें रहनेवाले मुक्तात्माको परस्पर अपेक्षित सुख-दु खका स्पर्श नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि जैसे ससारी जीवके सुख-दु ख परस्पर अपेक्षित होते है, वैसे मुक्त जीवके नही होते । मुक्त जीवोंके केवल सुख ही होता है, क्योंकि उनके दु खके कारण शरीरका अभाव है । तथा मुक्त जीव अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हे, इसलिये उनके सुख ही होता है । कारण कि अपने स्वरूपमें अवस्थित होना ही मोक्ष हैं । इसलिये मुक्त जीव शरीर रहित हे । आगमसे इसका समर्थन होता है । स्मृतिने इसका समर्थन किया हैं—

"जिस अवस्थामें इन्द्रियोंसे बाह्य केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य आत्यन्तिक सुख विद्यमान है, वही मोक्ष हैं । पापी आत्माओंके लिये वह दुष्प्राप्य है ।"

यहाँपर सुखका अर्थ केवल दु खका अभाव ही नहीं हे । यदि सुखका अर्थ केवल दु.खका अभाव ही

न चायं सुखशब्दो दुःखाभावमात्रे वर्तते । मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाभावात् । अयं रोगाद् विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च । दुःखाभावमात्रस्य रोगाद् विप्रमुक्त इतीयतैव गतत्वात् ॥

न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः । को हि नाम शिलाकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत । दुःखसंवेदनरूपत्वादस्य सुखदुःखयोरेकस्याभावेऽपरस्यावश्यम्भावात् । अत एव त्वदुपहासः श्रूयते—

"वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम् ।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥"

सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात् स्वर्गादप्यधिकं तद्विपरीतानन्दमम्लानज्ञानं च मोक्षमाचक्षते विचक्षणाः । यदि तु जडः पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत्, तदलमपवर्गेण । संसार एव वरमस्तु । यत्र तावदन्तरान्तरापि दुःखकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभुज्यते । चिन्त्यतां तावत् किमल्पसुखानुभवो भव्य उत सर्वसुखोच्छेद एव ॥

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम् । ते ह्येवं विवेचयन्ति । संसारे तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति, दुःखं चावश्यं हेयम्, विवेकहानं चानयोरेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःशक्यम्, अत एव द्वे अपि त्यज्येते । ततश्च संसाराद् मोक्षः श्रेयान् । यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्यात् । वरमियती कादाचित्कसुखमात्रापि त्यक्ता, न तु तस्याः दुःखभार इयान् व्यूढ इति ॥

किया जाय, तो 'यह रोगी रोगरहित होकर सुखी हुआ है' आदि वाक्योंमे पुनरुक्ति दोष आना चाहिये। क्योंकि उक्त सम्पूर्ण वाक्य न कहकर 'यह रोगी रोगरहित हुआ है' इतना कहनेसे ही काम चल जाता है।

तथा, शिलाके समान सम्पूर्ण सुखोंके संवेदनसे रहित वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित मुक्तिको प्राप्त करनेका कौन प्रयत्न करेगा? क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार पाषाणकी तरह मुक्त जीव भी सुखके अनुभवसे रहित होते है, अतएव सुखका इच्छुक कोई भी प्राणी वैशेषिकोंकी मुक्तिकी इच्छा न करेगा। तथा, यदि मोक्षमे सुखका अभाव हो, तो मोक्ष दुःख रूप होना चाहिये, क्योंकि सुख और दुःखमें एकका अभाव होनेपर दूसरेका सद्भाव अवश्य रहता है। वैशेषिकोंकी मुक्तिका उपहास करते हुए कहा गया है—

''गौतम ऋषि वैशेषिकोंकी मुक्ति प्राप्त करनेकी अपेक्षा रमणीय वृन्दावनमे शृगाल होकर रहना अच्छा समझते हैं।''

सोपाधिक और सावधिक परिमित आनन्दसे परिपूर्ण होनेके कारण स्वर्गसे भी अधिक अपरिमित आनन्द और निर्मल ज्ञानके प्राप्त करनेको विद्वान लोग मोक्ष कहते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि आत्मा मोक्षमे पाषाणके समान जडरूप ही रह जाती है, तो फिर ऐसे मोक्षकी ही क्या आवश्यकता है? इससे अच्छा संसार ही है, जहाँ बीच बीचमे दुःखसे परिपूर्ण कमसे कम थोडा बहुत सुख तो मिलता रहता है। अतएव यह विचारणीय है कि सम्पूर्ण सुखोंका उच्छेद करनेवाले मोक्षको प्राप्त करना श्रेष्ठ है, अथवा संसारमे रहकर थोडे बहुत सुखका उपभोग करना अच्छा है।

शंका—मोक्षमे संसारकी अपेक्षा अधिक सुख है, इसलिये मोक्ष ही ग्राह्य है, क्योंकि संसारमे दुःख रहित सुख सम्भव नहीं है। जैसे, एक ही पात्रमे रक्खे हुए शहद और विषका अलग करना बहुत कठिन है, उसी तरह सांसारिक सुख-दुःखमें विवेकपूर्वक दुःखका त्याग करना कष्टसाध्य है। अतएव सुख-दुःख दोनोंको ही छोड देना श्रेयस्कर है। इसलिये संसारसे मोक्ष अच्छा है, क्योंकि मोक्षमे दुःखका सर्वथा अभाव है। कारण कि क्षणिक सुखसे उत्पन्न होनेवाले महान दुःखको भोगनेकी अपेक्षा उस क्षणिक सुखका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

तदेतत्सत्यम् । सांसारिकसुखस्य मधुदिग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद् दुःखरूपत्वादेव युक्तेव मुमुक्षूणा तज्जिहासा, किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेपलिप्सूनामेव । इहापि विपयनिवृत्तिज सुखमनुभवसिद्धमेव, तद् यदि मोक्षे विशिष्टं नास्ति, ततो मोक्षो दुःखरुप एवापद्यत इत्यर्थः । ये अपि विपमधुनी एकत्र सम्पृक्ते त्यज्येते, ते अपि सुखविशेपलिप्सयैव । किञ्च, यथा प्राणिना संसारावस्थायां सुखमिष्टं दुःखं चानिष्टम्, तथा मोक्षावस्थाया दुःखनिवृत्तिरिष्टा, सुखनिवृत्तिस्त्वनिष्टैव । ततः यदि त्वदभिमतो मोक्षः स्यात्, तदा न प्रेक्षावतामत्र प्रवृत्तिः स्यात् । भवति चेयम् । ततः सिद्धो मोक्षः सुखसंवेदनस्वभावः प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरन्यथानुपपत्तेः ॥

अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात् तदा तद्रागेण प्रवर्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत् । न हि रागिणां मोक्षोऽस्ति रागस्य बन्धनात्मकत्वात् । नैवम् । सांसारिकसुखमेव रागो बन्धनात्मकः विपयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात् । मोक्षसुखे तु रागः तन्निवृत्तिहेतुत्वाद् न बन्धनात्मकः । परां कोटिमारुढस्य च स्पृहामात्ररूपोऽप्यसौ निवर्तते "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात् । अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकृतौ दुःखविपये कपायकालुष्यं केन निपिध्येत । इति सिद्धं कृत्स्नकर्मक्षयात् परमसुखसंवेदनात्मको मोक्षो, न बुद्ध्यादिविशेपगुणोच्छेदरुप इति ॥

अपि च भोस्तपस्विन्, कथञ्चिदेपामुच्छेदोऽस्माकमप्यभिमत एवेति मा विरूपं मनः कृथाः । तथाहि । बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते । तच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात् पञ्चधा । तत्राद्यं ज्ञानचतुष्टयं क्षायोपशमिकत्वात केवलज्ञानाविर्भावकाल एव प्रलीनम् । "नट्ठम्मि य

समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि सासारिक सुख शहदसे लिपटी हुई तीक्ष्ण धारवाली तलवारकी नोकको चाटनेके समान है, इसलिये सासारिक सुख दु खरूप हैं, अतएव मुमुक्षु लोगोंको उसे त्यागना ही ठीक है । अविनाशी सुख चाहनेवालोंको सासारिक दु ख छोडना ही चाहिये । तथा, ससारमें भी विषयोंकी निवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनुभवसे सिद्ध है । वह यदि विशिष्टरूपसे मोक्षमें नहीं है, तो मोक्षके दु खरूप होनेसे मोक्ष त्याज्य है । तथा, एक साथ सम्मिलित विष और शहदका त्याग भी विशेष सुखकी इच्छासे ही किया जाता है । तथा, जैसे प्राणियोंको सासारिक अवस्थामें सुख इष्ट और दु ख अनिष्ट है, वैसे ही मोक्षावस्थामे दु खकी निवृत्ति इष्ट और सुखकी निवृत्ति अनिष्ट है । अतएव यदि मोक्षमें ज्ञान और आनन्दका अभाव है, तो मोक्षमे किसी भी बुद्धिमानकी प्रवृत्ति न होनी चाहिये । अतएव मोक्ष सुख और ज्ञान रूप है ।

शंका—यदि मोक्षको सुख और ज्ञानरूप माना जाय, तो मोक्षमें राग भावसे प्रवृत्ति करनेवाले मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति न होनी चाहिये । क्योंकि राग वन्ध करनेवाला है, इसलिये रागी पुरुषोंको मोक्ष नही मिलता । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि सासारिक सुख ही रागबन्धका हेतु है, क्योंकि यह सासारिक सुखरूप राग ही विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण है । किन्तु मोक्षसुखका अनुराग विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण नही है, इसलिये वह वन्धनका कारण नहीं । तथा, उत्कृष्ट दशाको प्राप्त हुए आत्माके इच्छामात्र भी यह राग नहीं रहता । कहा भी है—"उत्तम मुनि मोक्ष और ससार दोनोंमें निस्पृह रहते हैं ।" अन्यथा रागका सद्भाव होनेपर दु खकी अत्यन्त निवृत्ति रूपवैशेषिकोंके मोक्षमें भी दु खरूप कषायका उत्पन्न होना सम्भव हैं । अतएव सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला परम सुख और आनन्द स्वरूप ही मोक्ष मानना युक्तियुक्त हैं, बुद्धि आदि आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद होना नहीं ।

तथा, हम लोग भी बुद्धि आदिका कथचित् उच्छेद ही मानते है, अतएव हे तपस्वी, आप निराश न हों । बुद्धिका अर्थ ज्ञान होता है । यह ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका हैं । इनमे आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक (ज्ञानावरणीय कर्मके एकदेश क्षय और उपशमसे उत्पन्न होनेवाले) है, इसलिये केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके समय नष्ट हो जाते है । आगममें कहा है—

छाउमत्थिए नाणे[1]" इत्यागमात्। केवलं तु सर्वद्रव्यपर्यायगतं क्षायिकत्वेन निष्कलङ्कात्मस्वरूपत्वाद् अस्त्येव मोक्षावस्थायाम्। सुखं तु वैशेषिकं तत्र नास्ति, तद्धेतोर्वेदनीयकर्मणोऽभावात्। यत्तु निरतिशयक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद् बाढं विद्यते। दुःखस्य चाधर्ममूलत्वात् तदुच्छेदादुच्छेदः ॥

नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वाद् धर्मस्य चोच्छेदात् तदपि न युज्यते। "पुण्यपापक्षयो मोक्षः" इत्यागमवचनात्। नैवम्। वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद् भवतु तदुच्छेदः न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोभेदत्वात् तस्य च समूलकाषंकषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तरायक्षयोपनतस्त्वस्त्येव[2] प्रयत्नः, दानादिलब्धिवत्[3]। न च क्वचिदुपयुज्यते, कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापरपर्याय-

"छाद्मस्थिक (केवलज्ञानके अतिरिक्त सब ज्ञानोंको छद्मस्थ ज्ञान कहते है) ज्ञानके नष्ट होनेपर (केवलज्ञान उत्पन्न होता है)"। केवलज्ञान सब द्रव्य और सब पर्यायोंको जानता है, और वह ज्ञानावरणीय कर्मके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता हैं, इसलिये मोक्षावस्थामे निर्दोष केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। वैषयिक सुख मोक्षमें नहीं है, क्योंकि वहाँ वैषयिक सुखके कारण वेदनीय कर्मका अभाव है। निरतिशय, अक्षय और अनन्त सुख मोक्षमें विद्यमान हैं। तथा दु खके कारण अधर्मका नाश हो जानेसे मोक्षमे दुःखका भी अभाव हो जाता है।

शंका—सुखका कारण भी धर्म ही हैं, अतएव धर्मके उच्छेद हो जानेसे मुक्तात्माके सुख भी नहीं मानना चाहिये। आगममें कहा है—"पुण्य और पापके क्षय होनेपर मोक्ष होता है।" समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि वैषयिक सुखका कारण धर्म है, इसलिए मुक्त जीवके वैषयिक सुखका नाश हो जाता है, परन्तु उसके निरपेक्ष सुखका नाश नहीं होता। क्योंकि इच्छा और द्वेष मोहके भेद है, और मुक्त जीवके मोहका समूल नाश हो जाता है। तथा मुक्त जीवके कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य है। अथवा मुक्त जीवके दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन पॉच लब्धियों की तरह वीर्यान्तराय कर्म (जिस कर्मके उदयसे नीरोग बलवान युवक एक तृणके टुकडेको भी हिलानेमें असमर्थ होता है, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते है) के क्षयसे उत्पन्न वीर्यलब्धि रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है। किन्तु मुक्त जीव कृतकृत्य रहते है, अतएव वे प्रयत्नका कभी उपयोग नहीं करते। तथा मुक्त जीवके धर्म-अधर्म अथवा पुण्य-पापका उच्छेद भी रहता ही है, क्योंकि धर्म-अधर्मके रहनेपर मोक्ष नहीं मिल सकता। सस्कार मतिज्ञानका ही भेद है, अतएव मतिज्ञानके क्षय होनेके बाद ही सस्कारका भी नाश हो जाता है। इसलिये मुक्त आत्माके सस्कार भी नहीं होता। अतएव मुक्त अवस्थामे ज्ञान और सुखका अभाव ह, यह कहना युक्तियुक्त नहीं हे यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिक लोगोंके तीन सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है—(१) सत्ता द्रव्य, गुण आदिसे भिन्न है, (२) आत्मा ज्ञानसे भिन्न है, (३) मुक्त अवस्थामें ज्ञान और सुखका अभाव हो जाता है।

वैशेषिक—(१) क—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है (द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता)—सत्ता (पर सामान्य अथवा महासामान्य) द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं। वैशेषिकोंके अनुसार द्रव्य आदि तीन पदार्थोंमे ही सत्ता रहती ह, क्योंकि इन तीनमें ही सत् प्रत्यय

१ उप्पण्णमि अणते नठमि य छाउमत्थिए नाणे। राईए सपत्तो महसेणवणमि उज्जाणे ॥

छाया—उत्पन्नेऽनन्ते नष्टे च छाद्मस्थिके ज्ञाने। रात्र्या सप्राप्तो महसेनवन उद्यान ॥५३९॥ आवश्यकपूर्वविभागः। २ बलवता यूना रोगरहितेनापि पुसा यस्य कर्मण उदयात्तृणमपि न तिर्यक्कर्तु पार्यते तत्कर्म वीर्यान्तरायाख्यम्। ३ लब्धय. पञ्च। तथाहि—दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा। सूत्रकृताङ्ग १-१२, तत्त्वार्थसूत्र २-५।

योरुच्छेदोऽस्त्येव । तदभावे मोक्षस्यैवायोगात् । संस्कारश्च मतिज्ञानविशेप एव । तस्य च मोहक्षयानन्तरं क्षीणत्वादभाव इति । तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः । इति काव्यार्थः ॥ ८ ॥

होता है । यद्यपि द्रव्य आदि छहों पदार्थोमें 'अस्तित्व' रहता है, तथापि वह सामान्य आदि तीनमें अनुवृत्ति प्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है, और द्रव्यादि तीन पदार्थोमे है, इसलिये द्रव्यादि तीन पदार्थोमें ही सत्ता रहती है । यदि सामान्य, विशेष और समवायमे सत्तासम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो क्रमसे अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध दोष आते है, अतएव सत्ताको सामान्य आदि तीन में स्वीकार न करके द्रव्य, गुण और कर्ममे ही स्वीकार करना चाहिये ।

ख—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है (सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तर) । (अ) सत्ता द्रव्यसे भिन्न है । जो द्रव्योंसे उत्पन्न न हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो (अद्रव्यत्व), तथा जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुआ हो, अथवा अनेक द्रव्यों का उत्पादक हो (अनेकद्रव्यत्व), उसे द्रव्य कहते हैं । सत्तामे द्रव्यका उक्त लक्षण घटित नहीं होता । सत्ता द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है, इसलिये सत्ता द्रव्य नहीं है । (ब) सत्ता गुणसे भी भिन्न है । क्योंकि सत्ता गुणत्वकी तरह गुणोंमें रहती है । तथा गुण गुणोमे नहीं रहते (निर्गुणत्वाद् गुणानाम्) । (स) सत्ता कर्मसे भी भिन्न है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है । तथा कर्म कर्ममे नहीं रहते ।

'सत्ता' (सामान्य) पर सामान्य और अपर सामान्यके भेदसे दो प्रकारकी है । 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोमें रहनेवाले) को पर सामान्य अथवा महासामान्य कहते है । द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्य हैं । द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षासे पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षासे घटत्व आदि अपर सामान्य कहे जाते है । अपर सामान्य एक पदार्थको जानते समय उस पदार्थकी दूसरे पदार्थसे व्यावृत्ति करता है, इसलिये इसे सामान्य-विशेष भी कहते हैं । सत्ता अथवा सामान्यकी तरह 'विशेष' भी भिन्न पदार्थ हैं । 'विशेष' सजातीय और विजातीय पदार्थोसे अत्यन्त व्यावृत्ति कराते है, अतएव 'विशेष' विशेष रूप ही है, सामान्य-विशेष रूप ये नहीं हो सकते । आधार और आधार्य पदार्थोमें इहप्रत्ययका कारण 'समवाय' भी भिन्न पदार्थ है । 'इन तंतुओंमें पट है' यह इहप्रत्यय हेतु तंतु और पटमें समवाय सबन्ध स्थापित करता है ।

जैन—(१) क—सत्ता (अस्तित्व—वस्तुका स्वरूप) को सम्पूर्ण छहों पदार्थोमें स्वीकार करके भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही 'अस्तित्व' (सत्ता) स्वीकार करते है, यह युक्तियुक्त नहीं है । तथा द्रव्य, गुण, कर्मकी तरह 'सामान्यप्रत्यय' (सत्ता) सामान्य, विशेष और समवायमें भी होता है, फिर कुछ पदार्थोमें सामान्य (सत्ता) स्वीकार करना, और कुछमे नहीं, यह न्यायसगत नहीं कहा जा सकता । तथा सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता माननेसे अनवस्था, रूपहानि, और असबन्ध नामक दोष आते है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि सामान्यकी तरह द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता स्वीकार करनेसे भी अनवस्था दोष नहीं बच सकता । तथा विशेषमे सत्ता स्वीकार करनेपर उल्टी विशेषकी ही सिद्धि होती हैं, क्योंकि कहीं भी सामान्य रहित विशेषकी उपलब्धि नही होती । इसी प्रकार समवायमें भी सत्ता (स्वरूपसत्ता) माननी ही होगी ।

ख—यदि सत्ताको द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न माना जाय, तो द्रव्यादिको असत् मानना होगा । इसलिये सत्ता द्रव्य आदिसे भिन्न नहीं हो सकती ।

वैशेषिक—(२)—ज्ञान आत्मासे भिन्न है, अर्थात् ज्ञान समवाय सबन्धसे आत्माके साथ रहता है । आत्मा स्वय जड है । जिस समय हम किसी पदार्थका ज्ञान करते है, उस समय पहले पदार्थ और इन्द्रियका सयोग होता है, बादमे इन्द्रिय मनसे, और मन आत्मासे संबद्ध होता है । यदि आत्मा और ज्ञान

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमपलप्य, तादृशकुशास्त्रशस्त्रसंपर्क-विनष्टदृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्ते । अतस्तोपालम्भमाह—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद् निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

यत्रैव—देशे, यः पदार्थः, दृष्टगुणो, दृष्टाः—प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूताः, गुणा धर्मा यस्य स तथा, स पदार्थः, तत्रैव—विवक्षितदेश एव । उपपद्यते इति क्रियाध्याहारो गम्यः पूर्वस्यैव-कारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात् तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति । कुम्भादिवदिति—घटादिवत् । यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते, तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र । एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहिः, तस्मात् तत्प्रमाण एवायमिति । यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः । तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलाः तेषां च वैश्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति । अत एवाह । निष्प्रतिपक्षमेतदिति ।

एक हों, तो दुःख, जन्म आदि नाश होनेपर जिस समय मुक्तावस्थामे बुद्धि, सुख आदिका नाश हो जाता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये ।

जैन—(२) यदि आत्मा और ज्ञानको सर्वथा भिन्न माना जाय, तो हमे अपने ही ज्ञानसे अपनी ही आत्माका भी ज्ञान न हो सकेगा। तथा वैशिषिकोंके मतमें आत्मा व्यापक है, इसलिये एक आत्मामे ज्ञान होनेसे सब आत्माओंको पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये । तथा आत्मा और ज्ञानका समवाय सबन्ध भी नहीं बन सकता । आत्मा और ज्ञानमे कर्ता और करण सबन्ध मानकर भी दोनोंको भिन्न मानना युक्त नही है । क्योंकि करण हमेशा कर्तासे भिन्न नहीं होता । जैसे 'सर्प अपनेको अपने आपसे वेष्टित करता है'—यहाँ कर्ता और करण भिन्न नहीं हैं, इसी तरह आत्मा और ज्ञान अलग-अलग नहीं हो सकते । तथा, चैतन्यको वैशेषिकोंने भी आत्माका स्वरूप माना हैं, इसलिये जैसे वृक्षका स्वरूप वृक्षसे भिन्न नहीं हो सकता, वैसे ही चैतन्य आत्मासे भिन्न नहीं हो सकता। तथा, ज्ञान और आत्माको भिन्न माननेपर 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा । अतएव आत्मा और ज्ञान भिन्न नही हैं ।

वैशेषिक—(३) मोक्ष ज्ञान और आनन्द रूप नही हैं; क्योंकि दीपककी सन्तानकी तरह मोक्षमे बुद्धि, सुख, दुःख आदि गुणोंकी सन्तानका सर्वथा नाश हो जाता है । तथा, मुक्तावस्था मे जीव अपने ही स्वरूपमे स्थित रहता है ।

जैन—(३) यहाँ सतानत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभाससे दूषित है। ज्ञान और सुखके अनुभवसे सर्वथा शून्य वैशेषिकोंकी ऐसी मुक्तिके प्राप्त करनेके लिये कोई भी प्रयत्नवान न होगा। तथा, सासारिक सुख ही रागका कारण है, मोक्षका अक्षय और अनत सुख रागका कारण नहीं । अतएव मोक्षमें ज्ञान और सुखका आत्यन्तिक अभाव है, यह कहना ठीक नहीं है ।

अब आत्माको शरीरके प्रमाण न मानकर उसे सर्वव्यापक माननेवाले उस प्रकारके कुशास्त्ररूपी शास्त्रके सपर्कसे विनष्ट दृष्टि हुए वैशेषिकोंकी मान्यता का खडन करते हैं—

श्लोकार्थ—यह निर्विवाद है कि जिस पदार्थके गुण जिस स्थानमें देखे जाते है, वह पदार्थ उसी स्थानमे रहता हैं, जैसे जहाँ घटके रूप आदि गुण रहते है, वही घट भी रहता है । तथापि कुवादी लोग देहके बाह्य आत्माको कुत्सित तत्त्ववादसे व्यामोहित होकर (सर्वव्यापक रूपसे) स्वीकार करते है ।

व्याख्यार्थ—'यत्रैव यः दृष्टगुणो तत्रैव'—जिस स्थानमे घट आदिके रूप आदि गुण पाये जाते है,

एतद् निष्प्रतिपक्षं—बाधकरहितम् । "नहि दृष्टेऽनुपपन्नं[1] नाम" इति न्यायात् ॥

ननु मन्त्रादीना भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादेः परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत् । मैवं वोचः । स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः, किन्तु तदधिष्ठातृदेवतानाम् । तासा चाकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतस्कुतोऽयमुपालम्भः । न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति । अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते । तथापीत्यादि । तथापि— एवं निःसपत्नं[2] व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे । अतत्त्ववादोपहताः । अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात् । कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुपविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहताः— व्यामोहिताः । देहाद् बहिःशरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे, आत्मतत्त्वम्—आत्मरूपम्, पठन्ति शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते । इत्यक्षरार्थः ॥

भावार्थस्त्वयम् । आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः । यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति, यथा घटः । तथा चायम् । तस्मात् तथा । व्यतिरेके व्योमादि । न चायमसिद्धो हेतुः, कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वानभ्युपगमात् । तथा च भट्टः श्रीधरः[3]—"सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम् । नान्यत्र । शरीरस्योपभोगायतनत्वात् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति" ॥

उसी स्थानपर घटकी उपलब्धि होती है, अन्यत्र नहीं । इसी प्रकार आत्माके चैतन्य आदि गुण देहमें ही देखे जाते है, देहके बाहर नहीं, अतएव आत्मा शरीरके ही परिमाण है । यद्यपि पुष्प आदिके एक स्थानमे रहते हुए भी उसके दूसरे स्थानमें गन्ध आदि गुण उपलब्ध होते हैं, परन्तु इससे हेतुमे व्यभिचार नहीं आता । क्योंकि पुष्प आदिमे रहनेवाले गन्ध आदि पुद्गल ही अपने स्वभाव अथवा वायुके प्रयोगसे गमन करते हैं, इसलिये पुष्प आदिमें रहनेवाले गन्ध-पुद्गल नासिका इन्द्रिय तक जाते है । अतएव उक्त कथन बाधा रहित हैं, क्योंकि "प्रत्यक्षसे देखे हुए पदार्थमे असिद्धकी सम्भावना नहीं होती ।"

शंका—मन्त्र आदिके भिन्न देशमे रहते हुए भी सैकड़ों योजनकी दूरीपर उनके आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण देखे जाते हैं, अतएव उक्त कथन बाधायुक्त है । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योकि आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण मन्त्रके नहीं है, किन्तु ये गुण मन्त्र आदिके अधिष्ठाता देवताओंके हैं । मन्त्रके अधिष्ठाता देव ही आकर्षण उच्चाटन आदिसे प्रभावित स्थानमे स्वय जाते है, इसलिये उक्त दोष ठीक नहीं है । क्योंकि कभी भी गुण गुणीको छोड़कर नहीं रहते । इस प्रकार हमारे सिद्धान्तके निर्विवाद सिद्ध होनेपर भी कुत्सित तत्त्ववाद (जैसे अनाचार शब्दमें कुत्सित अर्थमे नञ् समास किया गया है, उसी तरह 'अतत्त्ववाद' मे भी नञ् समास कुत्सित अर्थमें है ।) से व्यामोहित वैशेषिक लोग आत्माको शरीरके बाहर भी स्वीकार करते है ।

भाव यह है कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि सब जगह आत्माके गुण उपलब्ध नहीं होते । जिस वस्तुके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह सर्वव्यापक नहीं होती । जैसे घड़ेके रूप आदि गुण सर्वत्र नहीं दिखाई देते, इसलिये घड़ा सर्वव्यापक नहीं है । इसी तरह आत्माके गुण भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं है, इसलिये आत्मा भी सर्वव्यापक नहीं है । व्यतिरेक दृष्टान्तमे—जो सर्वव्यापी होता है, उसके गुण सब जगह उपलब्ध होते हैं, जैसे आकाश । उक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि वादी अथवा प्रतिवादीने बुद्धि आदि आत्माके गुणोंको शरीरको छोड़कर अन्यत्र स्वीकार नहीं किया है । श्रीधर भट्टने कहा भी है "आत्माके सर्वव्यापक होनेपर भी शरीरमे रहकर ही आत्मा पदार्थोंको जानता है, दूसरी जगह नहीं । क्योंकि शरीर भी उपभोगका स्थान है, यदि शरीरको उपभोगका स्थान न माना जाय तो शरीर व्यर्थ हो जाये ।" (इस प्रकार भट्टके कथनके अनुसार आत्माके बुद्धि आदि गुण शरीरसे बाहर नहीं रहते ।)

---

१. दृष्टे वस्तुनि उपपत्तेरनपेक्षेत्यर्थः । २ निर्विवादमित्यर्थ । ३ न्यायकन्दल्या ।

अथास्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणः। तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापकं च। कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्तिपुरुषोपभोग्यानि कनकरत्नचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते। गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते। अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति। नैवम्। अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाभावात्। अथास्त्येव प्रमाणं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत्। न। तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः, दहनस्य दहनशक्तिवत्। साप्यदृष्टकारिता चेत्, तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां, किमीश्वरकल्पनया। तन्नायमसिद्धो हेतुः। न चानैकान्तिकः। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराभावात्। नापि विरुद्धः। अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्। आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीर एवोपलभ्यन्ते, ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्। इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा॥

अन्यच्च, त्वयात्मनां बहुत्वमिष्यते "नानात्मानो व्यवस्थातः[१]" इति वचनात्। ते च व्यापकाः। ततस्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाशुभकर्मणामपि परस्परं सङ्करः स्यात्। तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्यः सुखी भवेद्, इतरस्याशुभकर्मणा चान्यो दुःखीत्यसमञ्जसमापद्येत। अन्यच्च, एकस्यैवात्मनः स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं, परोपार्जिताशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दुःखित्वमिति युगपत्सुखदुःखसंवेदनप्रसङ्गः। अथ स्वावष्टब्धं भोगायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोगः, तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथं भोगायतनाद् बहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनादिकं करोति इति चिन्त्यमेतत्॥

शंका—आत्माका अदृष्ट नामका एक विशेष गुण है। यह अदृष्ट उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थोंमे निमित्त कारण है, और यह सर्वव्यापक है, अन्यथा इससे दूसरे द्वीपोंमे भी निश्चित स्थानमे रहनेवाले पुरुषोंके भोगने योग्य, सुवर्ण, रत्न, चन्दन तथा स्त्री आदि कैसे प्राप्त हो सकते है? यदि आत्मा सर्वव्यापक नही होता, तो आत्माका अदृष्ट गुण अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं कर सकता था। गुण गुणीको छोडकर नहीं रहते, अतएव आत्मा सर्वव्यापक ही है। इस प्रकार आत्माके अदृष्ट गुणको सर्वत्र देखनेसे आत्माकी सर्वव्यापकता सिद्ध होती है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि अदृष्टके सर्वव्यापी होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि अग्निकी शिखाका ऊँचा जाना, हवाका तिरछे बहना, यह सब अदृष्टसे ही होता है, अतएव अदृष्टका साधक प्रमाण अवश्य है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अग्निका ऊँचे जाना और वायुका तिरछे बहना अदृष्टके बलसे ही सिद्ध नहीं होता। कारण कि जैसे अग्निमें दहनशक्ति स्वभावसे ही है, उसी तरह अग्निका ऊँचा जाना भी स्वभावसे ही मानना चाहिए, अदृष्टके बलसे नहीं। यदि कहो कि अग्निमें दहनशक्ति भी अदृष्टके बलसे ही है, तो फिर तीनों लोकोंकी सृष्टिमे भी अदृष्टको कारण मानना चाहिए, फिर ईश्वरकी कल्पना करनेसे कोई लाभ नहीं। अतएव 'आत्मा सर्वगत नही है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते,' यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं उपलब्ध होते। तथा, यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि यहाँ 'असर्वगत' साध्यकी, 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' साधनके साथ व्याप्ति ठीक बैठती है। यह हेतु विरुद्ध भी नही है, क्योंकि 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' हेतु 'सर्वगतत्व' विपक्षसे अत्यत व्यावृत्त है। तथा, आत्माके गुण बुद्धि आदि शरीरमें ही उपलब्ध होते हैं, अतएव गुणी (आत्मा) को भी उसी स्थानमे रहना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा शरीरके प्रमाण है।

तथा, वैशेषिकोंने आत्माका बहुत्व स्वीकार किया है। कहा भी है—"प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा होनेसे आत्मा नाना है।" अतएव यदि ये नाना आत्मा व्यापक है, तो दीपकोंकी प्रभाओंके परस्पर सम्मिश्रणकी तरह आत्माके शुभ-अशुभ कर्मोंका भी परस्पर सम्मिश्रण हो जाना चाहिए। इसलिए आत्माको नाना और व्यापक माननेसे आत्माके भिन्न-भिन्न शुभ-अशुभ कर्मोके एक दूसरेमे सम्मिलित हो जानेपर एकके

१. नानाभेदभिन्नात्मा सुखादुःखादीना प्रत्यात्मप्रतिसधान व्यवस्था।

आत्मना च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरानुप्रवेशस्य-सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरानुप्रवेशे तस्याप्यकर्तृत्वापत्तिः। न हि क्षीरनीरयोरन्योन्यसम्बन्धे, एकतरस्य पानादिक्रियान्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्च, आत्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमाद् नायं दोष इति चेत्, ननु स भोगायतनं सर्वात्मना अवष्टभ्नीयाद्, एकदेशेन वा? सर्वात्मना चेद्, अस्मदभिमताङ्गीकारः। एकदेशेन चेत्, सावयवत्वप्रसङ्गः। परिपूर्णभोगाभावश्च॥

अथात्मनो व्यापकत्वाभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावाद् आद्यकर्माभावः, तदभावाद् अन्त्यसंयोगस्य, तन्निर्मितशरीरस्य, तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावाद् अनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। नैवम्। यद् येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमासम्भवात्। अयस्कान्तं प्रति अयसस्तेनासंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः। अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गाद् न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्याद् इति चेत्, संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूनां तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद् विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति। तदितरत्रापि तुल्यम्।

शुभ कर्मसे दूसरा सुखी, और दूसरेके अशुभ कर्मसे दूसरा मनुष्य दु खी हुआ करेगा। तथा, एक ही आत्माके स्वय उपार्जित शुभ कर्मो से सुखी, और दूसरेसे उपार्जित अशुभ कर्मो से दु खी होनेके कारण एक समयमें एक साथ सुख दु खका सवेदन होना चाहिए। यदि कहो कि आत्मा अपने शरीरके आश्रित रहकर ही अपने शुभ-अशुभ कर्मका फल भोगता है, तो स्वय उपार्जन किया हुआ अदृष्ट शरीरके बाहर निकल कर अग्निके ऊँचे ले जाने आदि कार्यों को कैसे कर सकता है? यह विचारणीय है। (इसलिए आत्माको अपने शरीरके आश्रित रहकर ही सुख-दुःखका भोक्ता माननेसे आत्माका अदृष्ट, शरीरके बाहर निकलकर अग्निको ऊँचे ले जाने आदि कार्यको नहीं कर सकता। क्योंकि सुखदु.खकी तरह अदृष्ट भी आत्माका ही गुण है।)

तथा, आत्माको सर्वव्यापक माननेपर प्रत्येक आत्मको सृष्टिका कर्ता मानना चाहिए। फिर, ईश्वरके सर्वव्यापक होनेसे नाना आत्माओंमें भी ईश्वर व्यापक होकर रहेगा। अथवा, नाना आत्माएँ सर्वव्यापक है, इसलिए वे ईश्वरमे भी व्यापक होकर रहेगी, इसलिए ईश्वरके कर्तृत्वका अभाव हो जानेका प्रसंग खडा हो जायेगा। जैसे दूध और पानीके मिल जानेपर उनमेसे एकका पान किया जा सकता है, दूसरेका पान नही किया जा सकता—ऐसा कहना युक्त नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मा दोनोंको सर्वव्यापक माननेसे दोनोंका परस्पर सम्मिश्रण होनेके कारण, या तो आत्मा स्वय सृष्टिका कर्ता होना चाहिए, अथवा ईश्वर भी सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता। तथा, आत्माको सर्वव्यापक माननेपर मनुष्य, नरक आदि पर्यायोंका एक ही साथ अनुभव होना चाहिए। यदि कहो कि आत्मा शरीरमें रहकर ही उपभोग करता है, इसलिये उक्त दोष ठीक नहीं है, तो प्रश्न होता है कि आत्मा सम्पूर्ण रूपसे शरीरमे व्याप्त हैं, अथवा एक देशसे? प्रथम पक्ष स्वीकार करनेसे हमारे ही मतकी स्वीकृति होगी, क्योंकि हम भी आत्माको शरीरके परिमाण ही मानते है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करो तो सम्पूर्ण शरीरमें न रहनेसे आत्माको अवयव सहित मानना चाहिए, और आत्माके सावयव होनेसे वह पूर्ण रूपसे शरीरका भोग भी न कर सकेगी।

शंका—आत्मा यदि व्यापक न हो, तो अन्य स्थानोंमें रहनेवाले परमाणुओंके साथ एक समयमें उसका सयोग न हो सकेगा, अतएव आद्य-कर्मका अभाव होगा। आद्यकर्मके अभावसे अन्त्य-सयोगका भी अभाव होगा, अन्त्य-सयोगके अभावसे अन्त्य-सयोगके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शरीरका अभाव होगा, तथा शरीरका अभाव होनेसे शरीरका आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता, अतएव सब जीवोंको बिना प्रयत्नके मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। [भाव यह है कि वैशेषिक लोग अदृष्टसे युक्त आत्माके सयोगसे परमाणुओंमें क्रिया मानते है। परमाणुओंमें क्रिया होनेसे परमाणु आकाशके एक प्रदेशको छोड़ कर

अथास्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिः, तथापि सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात् । तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः । कार्यत्वे चासौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत । न तावद्विजातीयैः तेषामनारम्भकत्वात् । न हि तन्तवो घटमारभन्ते । न च सजातीयैः । यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम् । पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात् । तथा चात्मभिरात्मा आरभ्यत इत्यायातम् । तच्चायुक्तम् । एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसम्भवात् । सम्भवे वा प्रतिसन्धानानुपपत्तिः । न हि अन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसन्धातुमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशाद् विनाशः स्यात् । तस्माद् व्यापक एवात्मा युज्यते । कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत् । न । सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात् । तत्र सावयवत्वं तावद् असंख्येयप्रदेशात्मकत्वात् । तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ—"आकाशोऽपि सदेशः, सकृत्सर्वमूर्ताभिसम्बन्धार्हत्वात्" इति । यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या । प्रदेशेष्ववयवव्यवहारात् । कार्यत्वं तु वक्ष्यामः ॥

(विभाग) दूसरे प्रदेशसे सयुक्त (सयोग) होते है । इस तरह आकाशके प्रदेशमे परमाणुओंके इकट्ठे होनेसे द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि कार्य होते है । यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो उसका परमाणुओंके साथ सम्बन्ध न हो सकेगा, इसलिए वह परमाणुओंमें कोई क्रिया नहीं कर सकती, अतः क्रियाका अभाव होगा। क्रियाका अभाव होनेसे परमाणुका आकाशके प्रदेशोंसे विभाग और सयोग नहीं बन सकता, इसलिये जिन द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अवयवोंका सयोग होनेसे शरीर बनता है, उस अन्त्य-सयोगका भी अभाव होगा । अतएव अन्त्य-सयोगसे होनेवाले शरीरका भी अभाव हो जाना चाहिए । तथा शरीरका अभाव ही मोक्ष है, अतएव आत्माको सर्वव्यापक न माननेसे सब जीवोंको अनायास ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायेगी ।] **समाधान—** यह ठीक नहीं । क्योंकि यह नियम नहीं कि जो जिसके साथ संयुक्त हो, वह उसके प्रति आकर्षित होता ही हो । चुम्बकका और लोहेके परस्पर सयुक्त न होनेपर भी उनमे आकर्षण देखा जाता है । इसलिए जैसे लोहे और चुम्बकका संयोग नहीं है, फिर भी उनमे आकर्षण होता हैं, वैसे ही आत्मा और परमाणुओंका सयोग न होनेपर भी आत्मा परमाणुओंको आकर्षित कर सकता है, उसे सर्वव्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं । **शंका—**यदि विना सयोगके भी आत्माका परमाणुओंके प्रति आकर्षण हो, तो आत्माको बनानेवाले प्रत्येक मुखीभूत त्रिभुवनके उदरवर्ती परमाणुओंके प्रति आत्माका आकर्षण होनेसे न जाने आत्माको कितने महत् परिमाणवाला मानना होगा । **समाधान—**वैशेषिक लोगोंके मतमे आत्माके साथ सयुक्त पदार्थोंका आकर्षण माननेपर भी उक्त दोष वैसा ही रहता है । क्योंकि आत्माके व्यापक होनेसे उसका सम्पूर्ण परमाणुओंके साथ सम्बन्ध रहता ही है । **शंका—**अदृष्टके बलसे शरीरके उत्पन्न करने के अनुकूल नियत परमाणु ही आत्माके प्रति आकर्षित होते है । **समाधान—**लेकिन यही बात असयुक्त परमाणुओंके साथ आत्माका सम्बन्ध माननेमे भी कही जा सकती है ।

शंका—शरीरकी उत्पत्ति चाहे सयुक्त परमाणुओंसे हो, अथवा असयुक्त परमाणुओंसे, परन्तु शरीर अवयव सहित है । अतएव शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करनेसे आत्माको भी सावयव मानना चाहिए । जैसे पट आदि सावयव होनेसे कार्य है, वैसे ही आत्माको भी सावयव होनेसे कार्य मानना चाहिये । तथा, यदि आत्मा कार्य है, तो वह सजातीय कारणोंसे बनती है, अथवा विजातीय कारणोंसे ? आत्मा विजातीय कारणोसे नहीं बन सकती, क्योंकि विजातीय कारणोंमे कोई भी कार्य नहीं होता है, उदाहरणके लिये, तन्तुओंसे घडा नहीं बन सकता । आत्मा सजातीय कारणोंसे भी उत्पन्न नहीं हो सकती । क्योंकि पार्थिव आदि परमाणु विजातीय है, इसलिये सजातीय कारण आत्माके सम्बन्धसे ही सजातीय कहे जा सकते है । अर्थात् जिन कारणोंसे आत्माका सम्बन्ध हो, वे ही कारण आत्माके सजातीय हो सकते है । अतएव यह अर्थ निकला कि आत्माओंसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है । परन्तु जैन लोगोंको यह मान्य नहीं है । क्योंकि एक ही

नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः । अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते, यथा तन्तवः पटमिति चेत् । न वाच्यम् । न खलु घटादावपि कार्यं प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम् । कुम्भकारादिव्यापारान्वितात् मृत्पिण्डात् प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः । द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वम् । तच्च वहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव ततश्चात्मापि स्यात् कार्यः । न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः । काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात् । प्रमाणबाधनमुभयत्रापि तुल्यम् । न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात् प्रतिसन्धानाभावोऽनुपज्यते । कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात् । प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम् । तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते । अवस्थाभेदात् । अन्या ह्यनुभवावस्था, अन्या च स्मरणावस्था । अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यायातं केन वार्यताम् ॥

शरीरमें अनेक आत्माये एक आत्माको उत्पन्न नहीं कर सकतीं । यदि अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न करने लगे तो किसी पदार्थकी स्मृति न हो सकेगी । क्योंकि एक आत्मासे देखे हुए पदार्थको दूसरा आत्मा स्मरण नहीं कर सकता । तथा, आत्मा रूप सजातीय कारणोंसे आत्माके उत्पन्न होनेपर घटकी तरह आत्माका अवयव क्रियासे विभाग होगा, और इस प्रकार सयोगके नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जाना चाहिए । अर्थात् जैसे घट रूप कार्यका अवयव-क्रियासे विभाग होनेके कारण पूर्वसयोगका नाश होता है, उसी तरह आत्मा रूप कार्यका भी अवयव-क्रियासे विभाग होनेपर सयोगका नाश हो जाना चाहिए । अतएव आत्माको शरीरमे परिमाण माननेमें अनेक दोष आते है । **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि हम लोग सावयवत्व और कार्यत्वको कथचित् रूपसे आत्मामें स्वीकार करते ही हैं । हम लोग आत्माको असख्य प्रदेशी मानते है । इसलिये आत्मावा सावयव है । द्रव्यालंकारके कर्ता कहते है—"आकाश भी प्रदेश सहित है, क्योंकि आकाशमें एक ही समयमें सम्पूर्ण मूर्त पदार्थ रहते हैं ।' यद्यपि गन्धहस्ति आदि ग्रन्थोंमे अवयव और प्रदेशमें भेद बताया गया है, परन्तु यहाँ हम इस सूक्ष्म चर्चामें नहीं उतरते क्योंकि प्रदेशमें भी अवयवका व्यवहार होता है । आत्माके कार्यत्वका आगे प्ररूपण करेंगे ।

शंका—आत्माको कार्य माननेपर घटादिकी तरह आत्माकी उत्पत्ति भी सजातीय अवयवोंसे माननी चाहिये । क्योंकि अवयव ही अवयवीको उत्पन्न करते हैं, जैसे तन्तु पटको उत्पन्न करते हैं, वैसे ही आत्माकी भी अपने सजातीय अवयवोंसे उत्पत्ति माननी चाहिए । **समाधान**—यह ठीक नहीं । क्योंकि सजातीय दो कपालोंके सयोगसे घट आदि कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, कारणकि कुम्हारके व्यापारसे युक्त मिट्टीके पिण्डसे दोनों कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले ही मोटे, गोल और उदर आकारवाले घटका ज्ञान होता है । जिस समय कुम्हार मिट्टीके पिण्डसे घडा बनानेको बैठता है, उस समय मिट्टीके पिण्डसे दो कपालोंकी उत्पत्ति हुए विना ही मोटे गोल आदि आकारवाले घटकी उत्पत्ति होती है । तथा, द्रव्यके पहले आकारको छोड़कर दूसरा आकार धारण करनेको कार्यत्व कहते है । यह कार्यत्व जैसे घट आदिमे बाह्य रूपमे देखा जाता है वैसे ही आत्मामें अन्तरग रूपमें देखा जाता है, अतएव आत्मा भी कथचित् कार्य है । यदि कहो कि जैसे पटमें तन्तु रूप अवयवोंके सयोगसे पट आदि कार्य होते है, वैसे ही सब पदार्थोंमें अवयवोंके सयोगसे ही कार्य होते हैं, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि सब जगह एकसे नियम नहीं होते । उदाहरणके लिये, लकड़ी लोहेसे खोदी जाती है, परन्तु वज्र लोहेसे नहीं खोदा जा सकता । यदि कहो कि वज्रका लोहेसे खोदा जाना प्रत्यक्षसे बाधित है, तो इसी तरह कपालके सयोगसे घटका उत्पन्न होना भी प्रत्यक्षसे बाधित है । तथा पूर्व आकार छोड कर उत्तर आकारको ग्रहण करने रूप कार्यत्वके माननेपर आत्माके अनित्य होनेसे स्मरणका अभाव नहीं हो सकता । क्योंकि आत्माके कथचित् अनित्य माननेपर भी स्मरणकी सिद्धि होती है । 'जो मैने देखा, उसे स्मरण

अथात्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गात् शरीरेऽनुप्रवेशो न स्याद्, मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्। ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत्, किमिदं मूर्तत्वं नाम। असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा? तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय, संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः, व्याप्त्यभावात्। नहि यदसर्वगतं तद् नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति। मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसम्भवात्। आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्व[1] परममहत्त्वं[2] सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं[3] चेत्युक्तत्वाद् मनसो वैधर्म्यात्, सर्वगतत्वेन प्रतिषेधनात्। अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिः, येन निरात्मकं तत् स्यात्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत् प्रवेशाप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्॥

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात्। किं तत्परिमाणत्यागात्, तदपरित्यागाद् वा? परित्यागात् चेत्, तदा शरीरवत् तस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् परलोकाद्यभावानुषङ्गः। अथापरित्यागात्, तन्न। पूर्वपरिमाणापरित्यागे शरीरवत् तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तदयुक्तम्। युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशासम्भवात्, विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्। इति कथं परलोकाभावोऽनुपज्यते। पर्यायतस्तस्यानित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्॥

करता हूं', यह स्मरण आत्माको एकान्त नित्य माननेपर नहीं बन सकता, क्योंकि अनुभवकी अवस्था स्मरणकी अवस्थासे भिन्न है। तथा अवस्थाके भिन्न होनेसे अवस्थावाले आत्मामें भी भेद मानना चाहिये। अतएव आत्माको एकान्त नित्य नहीं कहा जा सकता। उसे कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है।

शंका—आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर आत्माको मूर्त मानना चाहिये अतएव आत्मा मूर्त शरीरमें प्रवेश न कर सकेगी, क्योंकि मूर्त मूर्तमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतएव समस्त शरीर आत्मासे रहित हो जायेगा। समाधान—आप शरीर–परिमाण को (असर्वगत) मूर्त कहते हैं, अथवा रूपादि धारण करनेको मूर्त कहते है? प्रथम पक्ष हम स्वयं स्वीकार करते है। तथा रूपादि धारण करनेकी शरीर–परिमाण के साथ व्याप्ति नही है इसलिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि जो असर्वगत है, अर्थात् शरीरके परिमाण है, वह रूपादिसे युक्त नहीं होता, क्योंकि मनके शरीर–परिमाण होनेपर भी वह आपके मतमें रूपादिसे युक्त नहीं है। आप लोगोंने आकाश, काल, दिक् और आत्माको सर्वगत, परम महान् और सब मूर्त द्रव्योंके संयोगका धारक कह कर मनको अव्यापक सिद्ध किया है। अतएव आत्माका शरीरमें प्रवेश करना असिद्ध नहीं है, जिससे शरीरको आत्मासे रहित कहा जा सके। क्योंकि असर्वगत मनकी तरह शरीर–परिमाण मूर्त आत्मा भी शरीरमें प्रवेश कर सकता है। अतएव जैसे वैशेषिकोंके अनुसार मूर्त मन मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकता है, वैसे ही हमारे मतमें मूर्त आत्मा भी मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकती है। तथा रूपादिसे युक्त जल आदि मूर्त पदार्थ मूर्त वालुका आदिमें प्रवेश करते देखे ही जाते हैं, फिर रूपादिसे रहित आत्मा मूर्त शरीरमें न प्रवेश कर सके, यह एक महान् आश्चर्य ही होगा।

शंका—आत्माको शरीरके परिमाण स्वीकार करनेमें बालकका शरीर युवाके शरीरमें कैसे बदल सकता है? हम पूछते है कि बालकके शरीरके परिमाणको छोडकर युवाका शरीर बनता हे, अथवा पूर्व परिमाणको

१ सर्वमूर्तसंयोगित्वम्। २ इयत्तारहितत्वम्। ३ सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां आत्मना समानो देश एक आधार इत्यर्थः। एवं दिगादिष्वपि व्याख्येयं। यद्यपि आकाशादिकं सर्वसंयोगिनामाधारो न भवति, इहप्रत्ययविषयत्वेनाव्यवस्थानात्। तथापि सर्वसंयोगिसंयोगाधारभूतत्वादुपचारेण सर्वसंयोगिनामप्याधार उच्यते॥

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्गः, इति चेत्, कः किमाह शरीरस्य खण्डने कथंचित् तत्खण्डनस्येष्टत्वात्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनम्। तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः, तत्रैवानुप्रवेशात्। न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः। अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्। शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत्॥

कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चाद् इति चेत्, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवत् छेदस्यापि स्वीकारात्। तथाभूतादृष्टवशात् तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्तव्यः, न व्यापकः। तथा च आत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु व्यापकं न तत् चेतनम्, यथा व्योम, चेतनश्चात्मा, तस्माद् न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपल-

बिना छोडे ही उत्तर शरीरका परिमाण बन जाता है? प्रथम पक्षमें, शरीरकी तरह आत्माको भी अनित्य होना चाहिये, तथा आत्माके अनित्य होनेपर परलोक आदि भी नहीं बन सकता। द्वितीय पक्षमें, शरीरके पहले परिमाणको छोड़े बिना उत्तर परिमाणकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? समाधान—यह ठीक नहीं क्योंकि बालकका शरीर छोड़ कर युवा शरीर प्राप्त करते समय आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता। जैसे फण सहित अवस्थाको छोड़कर फण रहित अवस्थाको प्राप्त करते समय सर्पकी आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता, उसी तरह बाल शरीरसे युवा शरीरकी अवस्था प्राप्त करते समय आत्माका नाश नहीं होता। अतएव आत्माको शरीर-परिमाण माननेपर परलोक आदिका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य होने पर भी द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा नित्य है।

शंका—आत्माको शरीर-परिमाण माननेपर शरीरके नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये। समाधान—आप यह क्या कहते हैं, शरीरके नाश होनेपर आत्माका कथंचित् नाश हमने स्वयं स्वीकार किया है। क्योंकि शरीरसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोंमें कुछ आत्मप्रदेशोंके खण्डित शरीरमें रहनेकी अपेक्षासे आत्माका नाश होता ही है। यदि इस अपेक्षासे आत्माका नाश न माना जाय, तो शरीरके तलवार आदिसे काटे जानेपर शरीरसे भिन्न अवयवोंमें कम्पन की उपलब्धि नहीं होनी चाहिये। परन्तु जिस समय पूर्ण शरीरसे कुछ अवयव कट कर अलग हो जाते हैं, उस समय उन अवयवोंमें कम्पन आदि क्रिया होती है (जैन मान्यताके अनुसार, इन कटे हुए अवयवोंमें आत्माके कुछ प्रदेश रहते हैं, इसीलिये यह क्रिया होती है) अतएव आत्मा नाशमान भी है। शंका—शरीरके खण्डित अवयवोंमें आत्माके प्रदेशोंको स्वीकार करनेसे खण्डित अवयवोंमें भिन्न मानना चाहिये। समाधान—यह बात नहीं है। क्योंकि खण्डित अवयवोंमें रहनेवाले आत्माके प्रदेश फिरसे पहले शरीरमें ही लौट आते हैं। तथा, एक स्थानमें अनेक आत्मा नहीं बन सकते, अन्यथा अनेक पदार्थोंका निश्चय करानेवाली नेत्र आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको एक ज्ञाता रूप आत्माके आधारसे पदार्थोंका निश्चय न हो सकेगा। इसलिए एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर जिस रूपको शरीरके नेत्र रूप अवयवमें स्थित आत्मा देखता है, उसका निश्चय नेत्रस्थ आत्माका ही होना चाहिये, कानकी आत्माको नहीं। फिर, एक ज्ञाताके आधारसे प्रत्येक आत्मामें 'मैं देखता हूँ मैं सूँघता हूँ', इस प्रकारका निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता।

शंका—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर वे बादमें एक कैसे हो जाते हैं? समाधान—हम लोग आत्माके प्रदेशोंका सर्वथा उच्छेद नहीं मानते। हमारे मतमें कमलकी डण्डीके तन्तुओंकी तरह आत्माका उच्छेद स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार कमलकी नालके टुकडे करनेपर टूटे हुए तन्तु फिरसे आकर मिल जाते हैं, वैसे ही शरीरके खण्डित होनेपर खण्डित आत्माके प्रदेश फिरसे पहले आत्माके प्रदेशोंसे आकर मिल जाते हैं इन आत्माके प्रदेशोंका मिल जाना अदृष्टके बलसे सम्भव है, इसलिए आत्माको व्यापक न मानकर शरीर-परिमाण ही मानना चाहिये। तथा, चेतन होनेसे आत्मा व्यापक नहीं है। जो व्यापक है वह चेतन नहीं है, जैसे आकाश। आत्मा चेतन है, इसलिए वह व्यापक नहीं है। आत्माके अव्यापक होनेपर 'जहाँ

भ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता । यत्पुनरष्टमसमयसाध्यकेवलिसमुद्‌घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्, तत् कादाचित्कम्, इति न तेन व्यभिचारः। स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशबिभीषिकाभ्यो भयम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ९ ॥

जिसके गुण पाये जाते हैं' हेतुसे आत्मा शरीर-परिमाण ही सिद्ध होती है । तथा केवलीके समुद्‌घात दशामे आठ समयमे चौदह राजू परिमाण तीन लोकमे व्याप्त होनेकी अपेक्षा जो आत्माको व्यापक कहा है, वह कभी-कभी होता है, नियमित रूपसे नही, इसलिये यहाँ पर समुद्‌घात दशामें आत्माके व्यापक होनेसे व्यभिचार नही आता । [मूल शरीरको न छोड कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्‌घात कहते हे । यह समुद्‌घात वेदना, कषाय, मारणातिक, तैजस, विक्रिया, आहारक और केवलीके भेदसे सात प्रकारका है । (१) तीव्र वेदना होनेके समय मूल शरीरको न छोड कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको वेदनासमुद्‌घात कहते हैं । (२) तीव्र कषायके उदयसे दूसरेका नाश करनेके लिये मूल शरीरको बिना छोडे आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको कषायसमुद्‌घात कहते है । (३) जिस स्थानमे आयुका बन्ध किया हो, मरनेके अन्तिम समय उस स्थानके प्रदेशोंको स्पर्श करनेके लिये मूल शरीरको न छोड कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको मारणातिकसमुद्‌घात कहते है । (४) तैजससमुद्‌घात शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका होता है । जीवोंको किसी व्याधि अथवा दुर्भिक्षसे पीडित देखकर मूल शरीरको न छोड मुनियोंके शरीरसे बारह योजन लम्बे, मूलभागमे सूच्यगुलके असख्येयभाग, अग्रभागमे नौ योजन, शुभ आकृति वाले पुतलेके बाहर निकल कर जानेको शुभ-तैजससमुद्‌घात कहते है । यह पुतला, व्याधि, दुर्भिक्ष आदिको नष्ट करके वापिस लौट आता है । किसी प्रकारके अपने अनिष्टको देखकर क्रोधके कारण मूल शरीरके बिना छोडे ही मुनियोंके शरीरसे उक्त परिमाणवाले अशुभ पुतलेके बाहर निकल कर जानेको अशुभ-तैजससमुद्‌घात कहते हं । यह अशुभ पुतला अपनी अनिष्ट वस्तुको नष्ट करके मुनिके साथ स्वय भी भस्म हो जाता है । द्वीपायन मुनिने अशुभ-तैजससमुद्‌घात किया था । (५) मूल शरीरको न छोड कर किसी प्रकारकी विक्रिया करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको विक्रियासमुद्‌घात कहते है । (६) ऋद्धिधारी मुनियोंको किसी प्रकारकी तत्त्वसम्बन्धी शका होनेपर उनके मूल शरीरको बिना छोडे शुद्ध स्फटिकके आकार, एक हाथके बराबर पुतलेका मस्तकके बीचसे निकलकर शकाकी निवृत्तिके लिये केवली भगवान्‌के पास जाना, आहारकसमुद्‌घात है । यह पुतला अन्तर्मुहूर्तमे केवलीके पास पहुँच जाता है, और शकाकी निवृत्ति होनेपर अपने स्थानको लौट आता है । (७) वेदनीय कर्मके अधिक रहनेपर और आयु कर्मके कम रह जानेपर आयु कर्मको बिना भोगे ही आयु और वेदनीय कर्मके बराबर करनेके लिये आत्मप्रदेशोंका समस्त लोकमे व्याप्त हो जाना केवलीसमुद्‌घात है । वेदना, कषाय, मारणातिक, तैजस, वैक्रियक और आहारक समुद्‌घातमे छह समय (लोकप्रकाश आदि श्वेताम्बर शास्त्रोंमे इनका समय अन्तर्मुहूर्त

---

१ हतेर्गमिक्रियात्वात्सभूयात्मप्रदेशाना च बहिरुद्गमन समुद्घातः । स सप्तविध । वेदनाकषायमारणातिकतेजोविक्रियाऽहारककेवलिविपयभेदात् । वेदनीयस्य वहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगवुद्‌वुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशाना बहि समुद्‌घातन केवलिसमुद्‌घात । केवलिसमुद्‌घात अष्टसमयिक । दडकपाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु, पुन· प्रतरकपाटदण्डस्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति । राजवार्तिके पृ० ५३

२. उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसचयसण्णिहो हवे लोगो ।
अद्धुदयो मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥
छाया–उद्भूतदलैकमुरजध्वजसचयसन्निभो भवेत् लोक ।
अर्धोदय मुरजसम· चतुर्दशरज्जूदय सर्व ॥
त्रिलोकसारे १–६

बताया गया है) और केवलीसमुद्घातमें आठ समय लगते हैं। केवलीसमुद्घातमें पहले चार समयोंमें आत्माके प्रदेश क्रमसे दण्ड, कपाट, प्रतर (मन्थान—लोकप्रकाश) और लोकपूर्ण होते हैं तथा बादमें प्रतर (मन्थान) कपाट और दण्ड-परिमाण होकर अपने स्थानको लौट जाते हैं। यहां केवलीसमुद्घात अवस्थामें ही आत्माको सर्वव्यापक कहा है] स्याद्वाद रूपी मंत्रके कवचसे अवगुण्ठित हम लोगों को इस प्रकार की विभीषिकाओंका भय नहीं है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आत्माके सर्वव्यापकत्वका खंडन किया गया है। अनुमान—'जहाँ जिस वस्तुके गुण पाये जाते हैं, वह वस्तु उसी जगह उपलब्ध होती है, जैसे जहाँ घटके रूपादि गुण पाये जाते हैं, वहीं पर घट उपलब्ध होता है।'

शंका—पुष्पके एक स्थानमें रहनेपर भी उसकी गंध दूसरे स्थानमें भी देखी जाती है। समाधान—दूर देशमें पाये जानेवाली गंध पुष्पका गुण नहीं है, पुष्पमें रहनेवाले गंध पुद्गल ही उड़कर हमारी नाक तक आते हैं।

शंका—मंत्र आदि दूर स्थानसे भी मारण, उच्चाटन आदि किया करते हैं। समाधान—मारण, उच्चाटन मंत्रका गुण नहीं है, परन्तु मंत्रके अधिष्ठाता देव ही मारण आदि क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं। इसलिए 'आत्मा व्यापक नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते। जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह व्यापक नहीं होता, जैसे घटके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, इसलिए घट व्यापक नहीं है। आत्माके गुण भी सर्वत्र नहीं पाये जाते, इसलिए आत्मा भी व्यापक नहीं है। आकाश व्यापक है, इसलिये आकाशके गुण सर्वत्र पाये जाते हैं।

शंका—अदृष्ट आत्माका गुण है। यह अदृष्ट दूर स्थानमें भी क्रिया करता है। यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो अदृष्ट दूर देशमें क्रिया नहीं कर सकता। समाधान—अदृष्टके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृष्टकी सिद्धिमें हमें कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। अग्निकी शिखाका ऊँचा जाना आदि कार्य वस्तुओंके स्वभावसे ही होते हैं। यदि अदृष्टसे सब कार्य होने लगें, तो फिर ईश्वरकी भी कोई आवश्यकता न रहे। तथा, आत्माको सर्वव्यापक मानकर उसे नाना स्वीकार करनेमें आत्माओंमें परस्पर भिडन्त हो जानी चाहिये, और एक आत्माका सुख दूसरी आत्माको उपभोग करना चाहिये। तथा, सर्वव्यापक आत्माको ईश्वरकी आत्मामें प्रवेश करना चाहिए, इसलिए या तो ईश्वर भी सृष्टिकर्ता न रहेगा, अथवा आत्मा भी सृष्टिकर्ता हो जायेगा।

शंका—यदि आत्माको व्यापक न मानें तो आत्मा अपने दूसरे जन्मके शरीरके योग्य परमाणुओंको अपनी ओर कैसे आकर्षित कर सकता है? यदि किसी तरह वह अपने शरीरके योग्य परमाणुओंको आकर्षित कर भी ले, तो भी आत्मा शरीर-परिमाण ही ठहरेगा, इसलिए आत्माको सावयव होनेसे कार्य (अनित्य) मानना चाहिये। समाधान—जैन लोग आत्माको सावयव मानते हैं, इसलिए आत्मामें परिणाम भी होता है। हम लोग किसी भी पदार्थको एकान्त नित्य नहीं मानते।

शंका—यदि आत्मा शरीर-परिमाण है, तो वह शरीरमें प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि एक मूर्त पदार्थका दूसरे मूर्त पदार्थमें प्रवेश नहीं हो सकता। समाधान—मूर्तत्वसे यदि आप लोगोंका अभिप्राय रूपादिको धारण करनेवालेसे है, तो हम लोग आत्माको रूप आदिसे युक्त नहीं मानते। हाँ, यदि अव्यापकत्वको आप लोग मूर्त कहते हैं, तो हम आत्माको अवश्य शरीर-परिमाण मानते हैं। अतएव जैनसिद्धान्त के अनुसार आत्मा द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य।

वैशेषिकनैयायिकयोः प्रायः समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम् । पदार्थेषु च तयोरपि न तुल्या प्रतिपत्तिरिति सांप्रतमक्षपादप्रतिपादितपदार्थानां सर्वेषां चतुर्थपुरुषार्थं प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि, तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिरासमात्रफलतया अत्यन्तमनुपादेयत्वात् तदुपदेशदातुर्वैराग्यमुपहसन्नाह—

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन्नहो विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥

अन्ये—अविज्ञातत्वदाज्ञासारतयाऽनुपादेयनामानः परे, तेषामयं शास्तृत्वेन सम्बन्धी अन्यदीयो मुनिः अक्षपादऋषिः, अहो विरक्तः—अहो वैराग्यवान् । अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति । अन्यदीय इत्यत्र "ईयकारके"[1] इति दोऽन्तः । किं कुर्वन्नित्याह । परमर्म भिन्दन्—जातावेकवचनप्रयोगात् परमर्माणि व्यथयन् । "बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवा मर्माणि" इति पारिभाषिकी संज्ञा । तत उपचारात् साध्यस्वतत्त्वसाधनाव्यभिचरितया प्राणभूतः साधनोपन्यासोऽपि मर्मेव मर्म । कस्मात् तद्भिन्दन्, मायोपदेशाद्धेतोः, माया—परवञ्चनम्, तस्या उपदेशः छलजातिनिग्रहस्थानलक्षणपदार्थत्रयप्ररूपणद्वारेण शिष्येभ्यः प्रतिपादनं, तस्मात् "गुणादस्त्रियां न वा"[2] इत्यनेन हेतौ तृतीयाप्रसङ्गे पञ्चमी । कस्मिन् विषये मायामयमुपदिष्टवान् इत्याह । अस्मिन् प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणे, जने—तत्त्वातत्त्वविमर्शबहिर्मुखतया प्राकृतप्राये लोके । कथम्भूते, स्वयम्—आत्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव, विवादग्रहिले—विरुद्धः—परस्परलक्ष्यीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः, वादो—वचनोपन्यासो विवादः । तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—

"लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना ।
छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः"[3] ॥

तेन ग्रहिल इव—ग्रहगृहीत इव । तत्र यथा ग्रहाद्यपस्मारपरवशः पुरुषो यत्किञ्चनप्रलापी स्याद् एवमयमपि जन इति भावः । तथा, वितण्डा—प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम् । वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः । "अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक

वैशेषिक और नैयायिकोंके सिद्धान्त प्रायः एकसे ही हैं, इसलिये वैशेषिकोंके सिद्धान्तोका खण्डन होनेसे नैयायिकोंके सिद्धान्तोंका भी खण्डन हो गया समझना चाहिये। वैशेषिक और नैयायिक लोग पदार्थोंको भिन्न प्रकारसे स्वीकार करते है। अतएव यद्यपि अक्षपादद्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण पदार्थ मोक्षके कारण नहीं है, फिर भी उन पदार्थोंमे गर्भित, केवल दूसरेके कथनका तिरस्कार करनेवाले छल, जाति और निग्रहस्थान नामक पदार्थ सर्वथा त्याज्य है, इसलिए छल, जाति और निग्रहस्थानके उपदेष्टाके वैराग्यका उपहास करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—आश्चर्य है कि स्वय ही विवाद रूपी पिशाचसे जकडे हुए, वितण्डा रूप पाण्डित्यसे मुँहको खुजलाते हुए, तथा छल, जाति और निग्रहस्थानके उपदेशसे दूसरोंके निर्दोष हेतुओंका खण्डन करनेवाले मुनि, वीतराग समझे जाते है ।

व्याख्यार्थ—'अस्मिन् स्वय विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जने मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन् अन्यदीयः मुनि अहो विरक्तः'—भूत पिशाच आदिके वशीभूत हुए पुरुषकी तरह स्वय दूसरोंके उपदेशके विना ही विवाद [दूसरेके मतको खण्डन करनेवाला वचन। हरिभद्रसूरिने कहा है—"लाभ और ख्यातिके चाहनेवाले कलुषित और नीच लोग छल और जातिसे युक्त जो कुछ कथन करते है, वह विवाद है।"] से ग्रसित, तथा वितण्डा [जिससे प्रतिपक्ष, अर्थात् अपने पक्षमे प्रतिवादीद्वारा दिये हुए

१ हैमसू ३-२-१२१ । २. हैमसू २-२२-७७ । ३. हरिभद्रसूरिकृते अष्टके १२-४ ।

इत्युच्यते"[1] इति न्यायवार्तिकम्। वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा। तत्र यत्पाण्डित्यम्—अविकलं कौशलं, तेन कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन्। कण्डूः—खर्जूः, कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलम्, सिध्मादित्वाद् मत्वर्थीयो लप्रत्ययः। यथा किलान्तरुत्पन्नक्रिमिकुलजनितां कण्डूतिं निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलतां कलयति, एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासंबद्धप्रलापचापलमाकलयत् कण्डूलमित्युपचर्यते॥

एवं च स्वरसत एव स्वस्वाभिमतव्यवस्थापनाविसंस्थुलो वैतण्डिकलोकः तत्र च तत्परमाप्तभूतपुरुषविशेषपरिकल्पितपरवञ्चनप्रचुरवचनरचनोपदेशश्चेत् सहायः समजनि, तदा स्वत एव ज्वालाकलापजटिले प्रज्वलिति हुताशन इव कृतो घृताहुतिप्रक्षेप इति। तैश्च भवाभिनन्दिभिर्वादिभिरेतादृशोपदेशदानमपि तस्य मुनेः कारुणिकत्वकोटावारोपितम्। तथा चाहुः—

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः॥१॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः" ॥२॥

कारुणिकत्वं च वैराग्याद् न भिद्यते। ततो युक्तमुक्तम् अहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम्॥

अथ मार्गोपदेशादिति सूचनासूत्रं वितन्यते। अक्षपादमते किल षोडशपदार्थाः। "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः"[3] इति वचनात्। न चैतेषां व्यस्तानां समस्तानां वा अधिगमो

दोषोंका खण्डन कर अपने पक्षका स्थापन न किया जा सके। न्यायवार्तिकमें कहा है—"अपने पक्षको स्वीकार करके जो स्वपक्षको स्थापित नहीं कर सकता, उसे वैतण्डिक कहते है।" वास्तवमे तत्त्व-अतत्त्वका विचार न कर मौखर्यको ही वितण्डा कहा है] रूप पाण्डित्यसे असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे बहिर्मुख, छल, जाति और निग्रहस्थानका उपदेश देकर दूसरोंके निर्दोष हेतुओंका खण्डन करनेवाले, आपकी आज्ञासे बाह्य, ऐसे अक्षपाद ऋषि, आश्चर्य है कि वीतराग कहे जाते है।

यदि अपने मतको स्थापित करनेके लिये आतुर वैतण्डिक लोगोंको परम आप्त कहे जानेवाले पुरुषोंके द्वारा दूसरोंकी वचना करनेवाले वचनोंका उपदेश दिया जाय, तो वह जलती हुई अग्निमें घीकी आहुतिका काम देता है। ससारमें आनन्द माननेवाले वादियोंने इस प्रकारका उपदेश करनेवाले मुनिको भी कारुणिक बताया है। उन लोगोंने कहा है—

"कुतर्कसे वाचालित वितण्डावादी छल आदिके विना नहीं जीते जा सकते ॥१॥

"लोग एक दूसरेके पीछे चलनेवाले होते है। इसलिये कुतार्किकोंसे ठगाये जाकर लोग उनका अनुकरण न करने लग जाय, अतएव कारुणिक मुनि ने छल आदि का उपदेश किया है।" ॥२॥

करुणा और वैराग्य अलग अलग नहीं है। अतएव स्तुतिकारने 'अहो विरक्त.' ऐसा कह कर जो उपहासवचन का प्रयोग किया है, वह ठीक है।

---

१ उद्योतकरविरचितन्यायवार्त्तिके १-१-१।

२ भवाभिनन्दी—
असारोऽप्येष ससार सारवानिव लक्ष्यते।
दधिदुग्धाम्बुताम्बूलपुण्यपण्याङ्गनादिभि ॥
इत्यादिवचनै. ससाराभिनन्दनशील।

३ गौतमसूत्रे १-१-१

निःश्रेयसावाप्तिहेतुः। न ह्येकेनैव क्रियाविरहितेन ज्ञानमात्रेण मुक्तिर्युक्तिमती। असमग्रसामग्रीकत्वात्। विघटितैकचक्ररथेन मनीषितनगरप्राप्तिवत्॥

न च वाच्यं न खलु वयं क्रियां प्रतिक्षिपामः, किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विकाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञानार्थं तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगम इति ब्रूम इति। न ह्यमीषां संहते अपि ज्ञानक्रिये मुक्तिप्राप्तिहेतुभूते। वितथत्वात् तज्ज्ञानक्रिययोः। न च वितथत्वमसिद्धम्। विचार्यमाणानां षोडशानामपि तत्त्वभासत्वात्। तथाहि तैः प्रमाणस्य तावद् लक्षणमित्थं सूत्रितम्—"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्"[1]इति। एतच्च न विचारसहम्। यतोऽर्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रं, तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं, तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं, न चेन्द्रियसन्निकर्षादि। यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति, स तत्करणम्। न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः। साधकतमं हि करणम्। अव्यवहितफलं च तदिष्यते। व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्धभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः। तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्। अन्यत्रोपचारात्। यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तम्—"सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्"[2] इति, तत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति। तथाऽप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव इति न तत सम्यग्लक्षणम्। "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्"[3] इति तु तात्त्विकं लक्षणम्॥

अक्षपादके (नैयायिकोंके) मतमे सोलह पदार्थ माने गये है। कहा भी है—"प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थानके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।" किन्तु इन सोलह पदार्थोमे एक-एकका अथवा समस्त पदार्थोंका ज्ञान लेना मोक्षकी प्राप्तिमे कारण नहीं है। क्योंकि क्रियाके विना केवल ज्ञानमात्रसे ही मुक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार रथके दो पहियोंके बिना केवल एक पहियेसे नगरमे नहीं घूमा जा सकता, उसी तरह ज्ञान और क्रिया दोनोंके बिना केवल ज्ञान-मात्रसे मोक्ष नही मिलता।

शंका—हम लोग क्रियाका निषेध नहीं करते, किन्तु सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे होनेवाली क्रिया ही मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है, यह बतानेके लिये हमने कहा है "तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।" समाधान—आप लोगोंके द्वारा माने हुए ज्ञान और क्रिया दोनों मिल कर भी मोक्षके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि वे ज्ञान और क्रिया दोनों मिथ्या है। ज्ञान और क्रियाका मिथ्या होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचार करनेपर ये सोलह पदार्थ तत्त्वाभास सिद्ध होते हैं। आप लोगोंने जो "अर्थोपलब्धिमे हेतुको प्रमाण" स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि यदि निमित्त मात्रको ही अर्थोपलब्धिमें हेतु कहा जाय तो कर्ता, कर्म आदि कारकोंको भी प्रमाण मानना चाहिये। कर्ता, कर्म आदि भी पदार्थोंके ज्ञानमे निमित्त कारण हैं। यदि आप कर्ता, कर्म आदि कारकोसे विलक्षण करण कारकको ही हेतु कहें, तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धको पदार्थके ज्ञानमे करण न कह कर केवल ज्ञानको ही पदार्थोके करण मानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। जिसके होनेपर पदार्थका ज्ञान होता है, वह पदार्थके ज्ञानका करण है, परन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामग्रीके रहते हुए भी ज्ञानके अभावमें पदार्थोका ज्ञान नहीं होता। तथा, साधकतमको ही करण मानना चाहिये। इसी साधकतम ज्ञान रूप करणके होनेसे ही पदार्थोके जानने रूप कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि करणको परम्परासे फल देनेवाला माना जाय, तो दुग्ध, भोजन आदि भी पदार्थके ज्ञानमें करण हो सकते हैं। अतएव ज्ञानको छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं मानना चाहिये। क्योकि ज्ञान ही पदार्थोके जाननेमें करण है, ज्ञानको छोड़कर

१. वात्स्यायनभाष्ये। २. न्यायसारे भासर्वज्ञप्रणीते १-१। ३. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे १-२।

प्रमेयमपि तैरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद् द्वादशविधमुक्तम्। तच्च न सम्यग्। यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानाम् आत्मन्येवान्तर्भावो युक्तः। संसारिण आत्मनः कथञ्चित् तदविष्वग्भूतत्वात्। आत्मा च प्रमेय एव न भवति। तस्य प्रमातृत्वात्। इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वात् प्रमेयत्वाभावः। दोषास्तु रागद्वेषमोहाः, ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति। वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात्। रागादिदोषाणां च मनोव्यापारात्मकत्वात्। दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भावः "प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं, तत्साधनं तु गौणम्[1]" इति जयन्तवचनात्। प्रेत्यभावापवर्गयोः पुनरात्मन एव परिणामान्तरापत्तिरूपत्वाद्, न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम्। तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम्। "द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्"[2] इति तु समीचीनं लक्षणम्। सर्वसंग्राहकत्वात्। एवं संशयादीनामपि तत्त्वाभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुपेक्षणीयम्। अत्र तु प्रतीतत्वाद्, ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम्। न्यक्षेण ह्यत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम्, तच्चावतार्यमाणं पृथग्ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम्॥

तदेवं प्रमाणादिषोडशपदार्थानामविशिष्टेऽपि तत्त्वाभासत्वे प्रकटकपटनाटकसूत्रधाराणां त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां मायोपदेशादिति पदेनोपक्षेपः कृतः। तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्। तत् त्रिधा—वाक्छलं, सामान्यछलम्, उपचारछलम्

अन्यत्र (सन्निकर्ष आदिमें) उपचारके विना अर्थात् अनुपचरित रूपसे प्रमाणत्व नहीं है। तथा न्यायभूषणकारने जो "सम्यक् प्रकारसे अनुभवका साधन करनेवाले" को प्रमाण कहा है, वहाँ भी साधनका ग्रहण किया जाने से कर्ता और कर्मका निरसन हो जानेसे करणका ही प्रमाणत्व सिद्ध होता है। तथा, अव्यवहित फलदायी होने से ज्ञान के साधकतम होनेके कारण प्रमाणका उक्त लक्षण समीचीन नहीं हैं, अतएव अपने और परको निश्चय करनेवाले ज्ञानको ही वास्तविक प्रमाण मानना चाहिये। (स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्)।

नैयायिकोंने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, और अपवर्गके भेदसे जो बारह प्रकारका प्रमेय (मुमुक्षुद्वारा जानने योग्य विषय) स्वीकार किया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, फल और दुखका आत्मामें ही अन्तर्भाव हो जाता है। कारण कि शरीर, इन्द्रिय, आदिसे संसारी पुरुषकी आत्मा किसी अपेक्षासे अभिन्न ही है। तथा आत्मा प्रमाता है, वह प्रमेय नहीं हो सकता। इन्द्रिय, बुद्धि और मन करण हैं, अर्थात् इनके द्वारा प्रमाता प्रमिति क्रियाका कर्ता है, इसलिये ये भी प्रमेय नहीं कहे जा सकते। राग, द्वेष और मोह प्रवृत्तिसे भिन्न नहीं हैं क्योंकि नैयायिकोंके मतमें प्रवृत्ति शब्दसे शुभ अशुभ रूप बीस प्रकारका मन, वचन और कायका व्यापार लिया गया है। राग आदि दोष मनका व्यापार है। दुख और इन्द्रियोंके विषय शब्द आदि फलमें गर्भित हो जाते हैं। जयन्तने कहा भी है—"प्रवृत्ति और दोषसे उत्पन्न सुख-दुःख मुख्य फल है, तथा सुख-दुःख रूप फलका साधन गौण है।" प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्माके ही परिणाम हैं, अतएव इन्हें आत्मासे भिन्न नहीं मानना चाहिये। अतएव नैयायिकों द्वारा मान्य बारह प्रकारका प्रमेय केवल वचनोंका आडम्बर मात्र है। अतएव "द्रव्य और पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है" (द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु प्रमेय), यही प्रमेयका लक्षण सर्वसंग्राहक होनेसे समीचीन है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेयकी तरह संशय आदि चौदह पदार्थोंको भी तत्त्वाभास ही समझना चाहिये। ग्रंथके गौरवके भयसे यहाँ विस्तारसे नहीं लिखा। किसी अन्य ग्रंथकी सहायतासे उसे समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके सामान्य रूपसे तत्त्वाभास सिद्ध हो जानेपर भी, यहाँ प्रकट कपट नाटकके सूत्रधार छल, जाति और निग्रहस्थानका ही खंडन किया जाता है। बोलनेवाले वादीके अर्थको

१. जयन्तन्यायमञ्जर्यां। २. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे।

चेति । तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम् । यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते, परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बलाः इति । संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे, कश्चिद् वदति सम्भवति ब्राह्मणे, विद्याचरणसम्पदिति, तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद् भवति, [1]व्रात्येऽपि सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारछलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते, परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति ॥

तथा सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते, झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः दूषणाभास इत्यर्थः । सा च चतुर्विंशतिभेदा । साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन यथा "साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः" ॥[2]

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् नित्य शब्दो, निरवयत्वात्, आकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनराकाशसाधर्म्याद् निरवयवत्वाद्

बदल कर वादीके वचनोंके निषेध करनेको छल कहते है । यह छल वाक्, सामान्य और उपचारके भेदसे तीन प्रकारका है । (१) वक्ताके किसी साधारण शब्दके प्रयोग करनेपर उसके विवक्षित अर्थकी जान बूझकर उपेक्षा कर अर्थान्तरकी कल्पना करके वक्ताके वचनके निषेध करनेको वाक्छल कहते है । जैसे वक्ताने कहा कि 'नव कम्बलोऽय माणवकः'—यहाँ हम जानते हैं, कि 'नव' कहनेसे वक्ताका अभिप्राय 'नूतनसे' है फिर भी दुर्भावनासे उसके वचनोंका निषेध करनेके लिये हम 'नव' शब्दका अर्थ 'नौ' करके वक्तासे पूछते है कि इस माणवकके पास नौ कम्बल कहाँ है ? (२) सम्भावना मात्रसे व्यापक सामान्य का कथन करने पर सामान्यके ऊपर हेतुका आरोप करके सामान्यका निषेध करना सामान्यछल हैं । जैसे 'आश्चर्य हैं कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे युक्त है,' यह कह कर कोई पुरुष ब्राह्मणकी स्तुति करता है । इस पर कोई दूसरा पुरुष कहता है कि विद्या और आचरणका तो ब्राह्मणमें होना स्वाभाविक है । यहाँ यद्यपि ब्राह्मणत्वका सम्भावना मात्रसे कथन किया गया है, फिर भी छलवादी ब्राह्मणमे विद्या और आचरणके होनेके सामान्य नियम बना कर कहता है कि यदि ब्राह्मणमें विद्या और आचरण का होना स्वाभाविक है, तो विद्या और आचरण व्रात्य (पतित) ब्राह्मणमें भी होना चाहिये, क्योंकि व्रात्य ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही हैं । (३) उपचार अर्थमें मुख्य अर्थका निषेध करके वक्ताके वचनोंका निषेध करना, उपचारछल है । जैसे कोई कहे कि मच रोते है, तो छलवादी उत्तर देता है कि कहाँ मच जैसे अचेतन पदार्थ भी रो सकते है, अतएव कहना चाहिये कि मचपर बैठे हुए आदमी रोते हैं ।

वादी के द्वारा सम्यक् हेतु अथवा हेत्वाभासके प्रयोग करनेपर, वादीके हेतुकी सदोषताकी बिना परीक्षा किये हुए, हेतुके सामान मालूम होनेवाला शीघ्रतासे कुछ भी कह देना जाति हैं । अर्थात् दूषणाभास यह जाति "साधर्म्य, वैधर्म्य, उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य विकल्प, साध्य, प्राप्ति, अप्राप्ति, प्रसग, प्रतिदृष्टात, अनुत्पत्ति, सशय, प्रकरण, हेतु, अर्थापत्ति, अविशेष, उपपत्ति, उपलब्धि, अनुपलब्धि, नित्य, अनित्य और कार्यसम" के भेदसे चौबीस प्रकारकी है ।

(१) साधर्म्यसे उपसहार करने पर दृष्टात की समानता दिखला कर साध्यसे विपरीत कथन करनेको साधर्म्यसमा जाति कहते है । जैसे, वादीने कहा, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो कृतक होता है, वह

१ सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिता. । २ गौतमसूत्रे ५ १ १ ।

नित्यः इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति । अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद् घटवदित्यत्रैव प्रयोगे, स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात । अनित्यं हि सावयवं दृष्टम् घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनस्तद्वैधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानम् उत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे, दृष्टान्तधर्मं कञ्चित साध्यधर्मिण्यापादयन् उत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दः घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु, न चेद् मूर्तः, घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन अश्रावणो दृष्टः, एवं शब्दोऽप्यस्तु, नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः । एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः । अत्र त्वनुपयोगित्वाद् न लिखिताः ॥

अनित्य है, जैसे घडा' । इसमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, 'यदि कृतक रूप धर्मसे शब्द और घडेमें समानता है, तो निरवयव रूप धर्मसे शब्द और आकाशमे भी समानता है, अतएव शब्द आकाशके समान नित्य होना चाहिये' । यहाँ वादीद्वारा शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमे कृतकत्व हेतुका प्रतिवादीने बिलकुल खण्डन नहीं किया । और केवल दृष्टान्तकी समानता दिखानेसे साध्यका खण्डन नहीं होता । उसके लिए हेतु देना चाहिए, या वादीके हेतुका खण्डन करना चाहिये। (२) वैधर्म्य के उपसंहार करनेपर वैधर्म्य दिखला कर खण्डन करना, वैधर्म्यसमा जाति है । 'जैसे, 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घटकी तरह' । इसके खण्डनमें प्रतिवादीका कथन है, शब्द नित्य है, निरवयव होनेसे, आकाशकी तरह । यहाँ प्रतिवादीका कहना है कि यदि नित्य आकाशके वैधर्म्यसे शब्द अनित्य है, तो अनित्य घटके वैधर्म्यसे शब्दको अनित्य मानना चाहिये । परन्तु यहाँ कोई ऐसा नियामक नहीं है कि घटके रूप साधर्म्यसे कृतक होनेके कारण शब्द नित्य नहीं हो । अतएव इससे वादीके हेतुका कोई खण्डन नहीं होता। (३) दृष्टांतके धर्मको साध्यमें मिला कर वादीके खण्डन करनेको उत्कर्षसमा जाति कहते है । जैसे, वादी ने कहा, 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह' । इस अनुमानमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, 'जैसे घटकी तरह शब्द अनित्य है, वैसे ही उसे घटकी तरह मूर्त भी मानना चाहिये । यदि शब्द मूर्त नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं है ।' यहाँ वादी घटका दृष्टान्त देकर शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध करना चाहता है, परन्तु प्रतिवादी घटके दूसरे धर्म मूर्तत्वको शब्दमें सिद्ध करके वादीका खण्डन करता है । (४) उत्कर्षसमाकी उल्टी अपकर्षसमा जाति कही जाती है । साध्यधर्मीमे से दृष्टान्तमें नहीं रहनेवाले धर्मको निकाल कर वादीके प्रति विरुद्ध भाषण करनेको अपकर्षसमा जाति कहते है । जैसे, 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह' । इस पर प्रतिवादीका कथन है, 'जैसे घट कृतक होनेसे श्रवणका विषय नहीं है, इसी तरह शब्दको भी श्रवणका विषय नहीं होना चाहिए । यदि शब्द अश्रावण नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं हो सकता । यहाँ केवल चार ही जातियोंका दिग्दर्शन कराया गया है ।

[(५ ६) "जिसका कथन किया जाता है, उसे वर्ण्य और जिसका कथन नही किया जाता, उसे अवर्ण्य कहते हैं । वर्ण्य या अवर्ण्यकी समानतासे जो असदुत्तर दिया जाता है, उसे वर्ण्यसमा या अवर्ण्यसमा कहते है । जैसे, यदि साध्यमे सिद्धिका अभाव है, तो दृष्टातमें भी होना चाहिये (वर्ण्यसमा), और यदि दृष्टान्तमें सिद्धिका अभाव नहीं है, तो साध्यमे भी न होना चाहिये (अवर्ण्यसमा)। (७) दूसरे धर्मो के विकल्प उठा कर मिथ्या उत्तर देना, विकल्पसमा जाति हैं । जैसे, कृत्रिमता और गुरुत्वका सम्बन्ध ठीक ठीक नहीं मिलता, गुरुत्व और अनित्यत्वका नहीं मिलता, अनित्यत्व और मूर्तत्वका नहीं मिलता, अतएव अनित्यत्व और कृत्रिमताका भी सम्बन्ध न मानना चाहिये, जिससे कृत्रिमतासे शब्द अनित्य सिद्ध किया जा सके । (८) वादीने जो साध्य बनाया है, उसीके समान दृष्टान्त आदिको प्रतिपादन कर मिथ्या उत्तर देना साध्यसमा जाति है । जैसे, यदि मिट्टीके ढेलेके समान आत्मा है, तो आत्माके समान मिट्टीके ढेलेको भी मानना चाहिये । आत्मामें 'क्रिया' साध्य (सिध्ध करने योग्य, न कि सिध्ध) है, तो मिट्टीके ढेलेमे भी साध्य मानो। यदि ऐसा नहीं मानते हो तो आत्मा और

मिट्टीके ढेलेको समान मत मानो। ये सब मिथ्या उत्तर है, क्योंकि दृष्टान्तमे सब धर्मोंकी समानता नहीं देखी जाती, उसमें सिर्फ साध्य और साधनकी समानता देखी जाती है। विकल्पसमामे जो अनेक धर्मोंका व्यभिचार बतलाया है, उससे वादीका अनुमान खण्डित नहीं होता, क्योंकि साध्य धर्मके सिवाय अन्य धर्मोंके साथ यदि साधनकी व्याप्ति न मिले, तो इससे साधनको व्यभिचारी नही कह सकते। हाँ, यदि साध्य-धर्मके साथ व्याप्ति न मिले, तो व्यभिचारी हो सकता है। दूसरे धर्मोंके साथ व्यभिचार आनेसे साध्यके साथ भी व्यभिचारकी कल्पना व्यर्थ हें। धूमकी यदि पत्थरके साथ व्याप्ति नही मिलती, तो यह नहीं कहा जा सकता कि धूमकी व्याप्ति, अग्निके साथ भी नहीं है। (९-१०) प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठाकर सच्चे हेतुको खण्डित प्रतिपादन करना, प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जाति है। जैसे, हेतु साध्यके पास रहकर साध्यको सिद्ध करता है, या दूर रहकर? यदि पास रहकर तो कैसे ज्ञात होगा कि यह साध्य है और यह हेतु है (प्राप्तिसमा)। यदि दूर रह कर तो यह साधन अमुक धर्मकी ही सिद्धि करता हें, दूसरेकी नहीं यह कैसे ज्ञात हो (अप्राप्तिसमा)। ये असदुत्तर है, क्योंकि धूँआ आदि पास रह कर अग्निकी सिद्धि करते हे तथा दूर रह कर भी पूर्वचर आदि साधन, साध्यकी सिद्धि करते हैं। जिनमे अविनाभाव सम्बन्ध है, उन्हीं मे साध्य-साधकता हो सकती हें, न कि सबमे। (११) जैसे साध्यके लिये साधनकी जरूरत है, उसी प्रकार दृष्टान्त के लिए भी साधनकी जरूरत है, यह कथन प्रसगसमा जाति हे। दृष्टान्तमे वादी और प्रतिवादीको विवाद नहीं होता, अतएव उसके लिए साधनकी आवश्यकता प्रतिपादन करना व्यर्थ है, अन्यथा वह दृष्टान्त ही न कहलायगा। (१२) विना व्याप्तिके केवल दूसरा दृष्टान्त देकर दोष लगाना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है। जैसे घड़ेके दृष्टान्तसे यदि शब्द अनित्य हें, तो आकाशके दृष्टातसे वह नित्य कहलाये। प्रतिदृष्टान्त देनेवाले ने कोई हेतु नहीं दिया है जिससे यह कहा जाय कि दृष्टान्त साधक नहीं है-प्रतिदृष्टान्त साधक हें। किन्तु विना हेतु के खण्डन-मण्डन कैसे हो सकता है? (१३) उत्पत्तिके पहले, कारणका अभाव दिखला कर मिथ्या खण्डन करना अनुत्पत्तिसमा हैं। जैसे उत्पत्तिके पहले शब्द कृत्रिम है, या नहीं? यदि हे, तो उत्पत्तिके पहले मौजूद होनेसे शब्द नित्य हो गया, यदि नही है तो हेतु आश्रयासिद्ध हो गया। यह उत्तर ठीक नही है, क्योंकि उत्पत्तिके पहले शब्द ही नहीं था, फिर कृत्रिम-अकृत्रिमका प्रश्न ही क्या? (१४) व्याप्तिमें मिथ्या सन्देह प्रतिपादन कर वादीके पक्षका खण्डन करना, सशयसमा जाति है। जैसे, कार्य होनेसे शब्द नित्य हे—यहाँ यह कहना कि इन्द्रियका विषय होनेसे शब्दकी अनित्यतामे सन्देह हें, क्योंकि इन्द्रियोंके विषय नित्य भी होते है (जैसे गोत्व घटत्व आदि सामान्य) और अनित्य भी (जैसे घट, पट आदि)। यह सशय ठीक नहीं, क्योंकि जब तक कार्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति खण्डित न की जाय, तब तक वहाँ सशयका प्रवेश नहीं हो सकता। कार्यत्वकी व्याप्ति यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ हो तो सशय हो सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन कार्यत्वकी व्याप्ति दोनोंके साथ नहीं हो सकती। (१५) मिथ्या व्याप्तिके ऊपर अवलम्बित दूसरे अनुमानसे दोष देना, प्रकरणसमा जाति हैं। जैसे, यदि अनित्य (घट) साधर्म्यसे कार्यत्व हेतु शब्दकी अनित्यता सिद्ध करता है, तो गोत्व आदि सामान्यके साधर्म्यसे ऐन्द्रियकत्व (इन्द्रियका विषय होना) हेतु नित्यताको सिद्ध करे। अतएव दोनों पक्ष समान कहलाये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि अनित्य और कार्यत्वकी व्याप्ति है, लेकिन ऐन्द्रियकत्व और नित्यत्वकी व्याप्ति नहीं। (१६) भूत आदि कालकी असिद्धि प्रतिपादन कर हेतु मात्रको हेतु कहना, अहेतुसमा जाति हें। जैसे हेतु साध्यके पहले होता है, या पीछे होता है, या साथ होता है? पहले तो हो नही सकता, क्योंकि जब साध्य ही नहीं, तब साधक किस का? न पीछे हो सकता हें, क्योकि जब साध्य ही नहीं रहा, तब वह सिद्ध किसे करेगा? अथवा जिस समय साध्य था, उस समय यदि साधन नही था, तो वह साध्य कैसे कहलायेगा? दोनों एक साथ भी नहीं बन सकते, क्योंकि उस समय यह सन्देह हो सकता है कि कौन साध्य है, कौन साधक है? जैसे, विंध्याचल से हिमालयकी और हिमालयसे विंध्याचलकी सिद्धि करना अनुचित है, उसी तरह एक कालमे होनेवाली वस्तुओंको साध्य-साधक ठहराना अनुचित है। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि इस प्रकार त्रिकालकी असिद्धि प्रतिपादन करनेसे जिस हेतुके द्वारा जातिवादीने हेतुको अहेतु ठहराया है, वह हेतु (जातिवादीका त्रिकालसिद्धि हेतु) भी अहेतु ठहर

गया, जिससे जातिवादीका वक्तव्य स्वय खण्डित हो गया। दूसरी बात यह है कि कालभेद होनेसे या अभेद होनेसे अविनाभाव सम्बन्ध बिगड़ता नहीं है, यह बात पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, कार्य, कारण, आदि हेतुओंके स्वरूपसे स्पष्ट विदित हो जाती है। जब अविनाभाव सम्बन्ध नहीं बिगड़ता, तब हेतु, अहेतु कैसे कहा जा सकता है ? कालकी एकतासे साध्य साधनमें सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि दो वस्तुओंके अविनाभावमें ही साध्य-साधनका निर्णय होता है। अथवा दोमेंसे जो असिद्ध हो वह साध्य, और जो सिद्ध हो, उसे हेतु मान लेनेसे संदेह मिट जाता है। (१७) अर्थापत्ति दिखलाकर, मिथ्या दूषण देना, अर्थापत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि अनित्यके साधर्म्य (कृत्रिमता) से शब्द अनित्य है, तो इसका मतलब हुआ कि नित्य (आकाश) के साधर्म्य (स्पर्श रहितता) से नित्य है। यह उत्तर असत्य है, क्योंकि स्पर्श रहित होनेसे ही कोई नित्य कहलाने लगे, तो सुख वगैरह भी नित्य कहलायेंगे। (१८) पक्ष और दृष्टान्तमें अविशेषता देख कर किसी अन्य धर्मसे सब जगह (विपक्षमें भी) अविशेषता दिखला कर साध्यका आरोप करना, अविशेषसमा जाति है। जैसे, शब्द और घटमें कृत्रिमतासे अविशेषता होनेसे अनित्यता है, वैसे ही सब पदार्थोंमें सत्त्व धर्मसे अविशेषता है, अतएव सभी (आकाशादि-विपक्ष भी) को अनित्य होना चाहिये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि कृत्रिमताका अनित्यताके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, लेकिन सत्त्वका अनित्यताके साथ नहीं। (१९) साध्य और साध्यविरुद्ध, इन दोनोंके कारण दिखला कर मिथ्या दोष देना, उपपत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि शब्दके अनित्यत्वमें कृत्रिमता कारण है तो उसके नित्यत्वमें स्पर्शरहितता कारण है। यहाँ जातिवादी अपने ही शब्दोंसे अपने कथनका विरोध करता है। जब उसने शब्दके अनित्यत्वका कारण मान लिया तो नित्यत्वका कारण कैसे मिल सकता है ? फिर स्पर्शरहितताकी नित्यत्वके साथ व्याप्ति नहीं है। (२०) निर्दिष्ट कारण (साध्यकी सिद्धिका कारण-साधन) के अभावमें साध्यकी उपलब्धि बताकर दोष देना, उपलब्धिसमा जाति है। जैसे, प्रयत्नके बाद पैदा होनेसे शब्दका अनित्यत्व प्रतिपादन करना। लेकिन ऐसे बहुतसे शब्द हैं जो प्रयत्नके बाद न होने पर भी अनित्य है, उदाहरणके लिए, मेघ गर्जना आदिमें प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। यह दूषण मिथ्या है, क्योंकि साध्यके अभावमें साधनके अभावका नियम है, न कि साधनके अभावमें साध्यके अभावका। अग्निके अभावमें नियमसे धुँआ नहीं रहता, लेकिन धुँएके अभावमें नियमसे अग्निका अभाव नहीं कहा जा सकता। (२१) उपलब्धिके अभावमें अनुपलब्धिका अभाव कथन कर दूषण देना, अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे, किसीने कहा कि उच्चारणके पहले शब्द नहीं था, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता था। यदि कहा जाय कि उस समय शब्दपर आवरण था, इसलिए अनुपलब्ध था, तो उसका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये था। जैसे कपड़ेसे ढकी हुई कोई वस्तु भले ही दिखाई न दे लेकिन कपड़ा तो दिखाई देता है, उसी तरह शब्दका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये। इसके उत्तरमें जातिवादी कहता है, जैसे आवरण उपलब्ध नहीं होता, उसी तरह आवरणकी अनुपलब्धि (अभाव) भी तो उपलब्ध नहीं होती। यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि आवरणकी अनुपलब्धि नहीं होनेसे ही आवरणकी अनुपलब्धि उपलब्ध हो जाती है। (२२) एककी अनित्यतासे सबको अनित्य प्रतिपादन कर दूषण देना, अनित्यसमा जाती है। जैसे, यदि किसी धर्मकी समानतासे शब्दको अनित्य सिद्ध किया जाये, तो सत्त्वकी समानतासे सब वस्तुएँ अनित्य सिद्ध हो जायेंगी। यह उत्तर ठीक नहीं। क्योंकि वादी और प्रतिवादीके शब्दोंमें भी प्रतिज्ञा आदिकी समानता तो है ही, इसलिए जिस प्रकार प्रतिवादी (जातिका प्रयोग करनेवाला) के शब्दोंसे वादीका खण्डन होगा, उसी प्रकार प्रतिवादीका भी खण्डन हो जायगा। अतएव जहाँ जहाँ अविनाभाव हो, वहीं वहीं साध्यकी सिद्धि मानना चाहिए, न कि सब जगह। (२३) अनित्यत्वमें नित्यत्वका आरोप करके खण्डन करना, नित्यसमा जाति है। जैसे शब्दको अनित्य सिद्ध करते हो, तो शब्दमें अनित्यत्व नित्य है, या अनित्य ? यदि अनित्यत्व नित्य है, तो शब्द भी नित्य कहलाया (धर्मके नित्य होनेपर धर्मीको नित्य मानना पड़ेगा)। यदि अनित्यत्व अनित्य है, तो शब्द नित्य कहलाया। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध है, तो उसीका अभाव कैसे कहा जा सकता है। दूसरे, इस तरह कोई भी वस्तु अनित्य सिद्ध नहीं हो सकेगी। तीसरे अनित्यत्व एक धर्म है, यदि धर्ममें भी धर्मकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था हो जायगी। (२४) कार्यको

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः, दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम् । तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम् । तद्यथा—प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः हेत्वन्तरम् अर्थान्तरम् निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अपार्थकम् अप्राप्तकालम् न्यूनम् अधिकम् पुनरुक्तम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणम् निरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्च ।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम् । यथा अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियकत्वाद्, घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन्, परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते, यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति, स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते, तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते, यदि ब्रूयाद् युक्तं यत् सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्, तद्धि सर्वगतम्, असर्वगतस्तु शब्द इति । तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम् । अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि । इह तु न लिखितानि, पूर्वहेतोरेव । इत्येवं मायाशब्देनात्र छलादित्रयं सूचितम् । तदेवं परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतो अक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकत्वप्रख्यापनमिव कथमिव नोपहसनीयम् ।। इति काव्यार्थः ।। १० ।।

अभिव्यक्तिके समान मानना (क्योंकि दोनोंमें प्रयत्नकी आवश्यकता होती है), और केवल इतनेसे ही सत्य हेतुका खण्डन करना, कार्यसमा जाति है । जैसे, प्रयत्नके बाद शब्दकी उत्पत्ति भी होती है, और अभिव्यक्ति (प्रगट होना) भी, फिर शब्द को अनित्य कैसे कहा जा सकता है ? यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि प्रयत्नके अनन्तर होनेका मतलब है, स्वरूप लाभ करना । और अभिव्यक्तिको स्वरूप लाभ नहीं कह सकते । प्रयत्नके पहले यदि शब्द उपलब्ध होता, या उसका आवरण उपलब्ध होता, तो अभिव्यक्ति कही जा सकती थी[1] ।"]

विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान कहते हैं । साधनाभासमे साधनकी बुद्धि और दूषणाभासमे दूषणकी बुद्धिको विप्रतिपत्ति, अर्थात् विरूद्धप्रतिपत्ति कहते है । तथा प्रतिवादीके साधनको दोष रहित मान लेना, अथवा प्रतिवादीके दूषणको दूर न करना, अप्रतिपत्ति है । निग्रहस्थान बाईस प्रकार है—१ प्रतिज्ञाहानि २ प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासंन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अपार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९, पर्यनुयोज्योपेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयोग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास । (इनमे अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण छह अप्रतिपत्तिसे, और शेष सोलह विप्रतिपत्तिसे होते हैं ।)

(१) प्रतिवादीद्वारा हेतुके अनैकातिक सिद्ध किये जानेपर वादीद्वारा विरोधीके दृष्टातका धर्म अपने दृष्टातमे स्वीकार किये जानेको प्रतिज्ञाहानि कहते है । जैसे, वादीने कहा, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह' । इसपर प्रतिवादीका कथन है कि यह अनुमान अनैकातिक हेत्वाभास है, क्योंकि सामान्य (जाति) भी इन्द्रियोंका विषय है, लेकिन वह नित्य है । इससे वादीके पक्षकी पराजय होती है, लेकिन वादी पराजय न मान कर उत्तर देता है कि 'सामान्यकी तरह घट भी नित्य रहे' । यहाँ वादी अपनी अनित्यत्वकी प्रतिज्ञाको छोड़ देता है । (२) प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर धर्मीमें दूसरे धर्मको स्वीकार करनेको,

---

१ दरबारीलाल न्यायतीर्थ, न्यायप्रदीप. पृ. ८०–८७

प्रतिज्ञान्तर कहते है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, 'क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह,' इस अनुमानमे प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर यह कथन करना कि सामान्य जो इन्द्रियोंका विषय होकर नित्य है, वह सर्वव्यापक है, परन्तु शब्द तो घटके समान असर्वगत है, इसलिये उसीके समान अनित्य भी हैं। यहाँ शब्दको असर्वगत कह कर दूसरी प्रतिज्ञा की गई, लेकिन इससे पूर्वोक्त व्यभिचार दोषका परिहार नहीं होता।

["(३) प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध होना, प्रतिज्ञाविरोध है। जैसे, 'गुण, द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि द्रव्यसे पृथक् नहीं होता'। किन्तु पृथक् प्रतीत न होनेसे अभिन्नता सिद्ध होती है, न कि भिन्नता। इसे विरुद्ध हेत्वाभासमें भी सम्मिलित किया जा सकता है। (४) अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कर देना, प्रतिज्ञासन्यास है। जैसे 'मैंने ऐसा कब कहा!' इत्यादि। (५) हेतुके खण्डित हो जानेपर उसम कुछ जोड़ देना, हेत्वन्तर है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रियका विषय है'। यहाँ घटत्वमें दोष उपस्थित होने पर हेतुको बढा दिया कि सामान्यवाला हो कर जो इन्द्रियका विषय है। किन्तु घटत्व स्वय सामान्य तो है, परन्तु सामान्यवाला नहीं हैं। यदि इस तरह हेतुमें मनमानी वृद्धि होती रहे, तो व्यभिचारी हेतुमें व्यभिचार दोष न दिखलाया जा सकेगा। क्योंकि ज्योंही व्यभिचार दिखलाया गया कि एक विशेषण जोड दिया। (६) प्रकृत विषय (जिस विषयपर शास्त्रार्थ हो रहा है) से सम्बन्ध न रखनेवाला कथन अर्थान्तर है। जैसे वादीने कोई हेतु दिया और उसका खण्डन न हो सका, तो कहने लगे 'हेतु किस भाषाका शब्द है, किस धातुसे निकला है?' इत्यादि। (७) अर्थ रहित शब्दोंका उच्चारण करने लगना, निरर्थक है। जैसे, 'शब्द अनित्य हैं क्योंकि क ख ग घ ङ हैं, जैसे, च छ ज झ ञ आदि'। (८) ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना कि तीन तीन बार कहनेपर भी जिनका अर्थ न प्रतिवादी समझे, न कोई सभासद् समझे, अविज्ञातार्थ हैं। जैसे, 'जगलके राजाके आकारवाले के खाद्यके शत्रुका शत्रु यहाँ है।' जगलका राजा शेर, उसके आकारवाला बिलाव, उसका खाद्य मूषक, उसका शत्रु सर्प, उसका शत्रु मोर। (९) पूर्वापर सम्बन्धको छोड़ कर अडबड बकना, अपार्थक है। जैसे, 'कलकत्तेमें पानी बरसा, कौओंके दाँत नहीं होते, बम्बई बडा शहर हैं, यहाँ दश वृक्ष लगे है, मेरा कोट बिगड़ गया' इत्यादि। इसे निरर्थक बकवास ही समझना चाहिये। (१०) प्रतिज्ञा आदिका बेसिलसिले प्रयोग करना, अप्राप्त-काल हैं। (११) बिना अनुवादके शब्द और अर्थको फिरसे कहना पुनरुक्त है। (१२) वादीने तीन बार कहा, परिषदने भी समझ लिया, लेकिन प्रतिवादी उसका अनुवाद न कर पाया, इसे अननुभाषण कहते है। (१३) वादीके वक्तव्यको सभा समझ गई, किन्तु प्रतिवादी न समझा, यह अज्ञान है। (१४) उत्तर न सूझना, अप्रतिभा है। (१५) विपक्षी निग्रहस्थानमें पड गया हो, फिर भी यह न कहना कि तुम्हारा निग्रह हो गया है, पर्यनुयोज्योपेक्षण है। (१६) निग्रहस्थानमे न पडा हो फिर भी उसका निग्रह बतलाना, निरनुयोज्यानुयोग है। (१७) स्व पक्षको कमजोर देखकर बात उडा देना, विक्षेप है। जैसे 'अभी मुझे यह काम करना है, फिर देखा जायगा' आदि। (१८) स्व पक्षमें दोष स्वीकार करके, पर पक्षमें भी वही दोष प्रतिपादन करना मतानुज्ञा है। जैसे, 'यदि हमारे पक्षमे भी यह दोष है तो आपके पक्षमें भी है'। (१९-२०) पाँच अगों (प्रतिज्ञा आदि) से कमका प्रयोग करना न्यून है, और दो-दो तीन-तीन हेतु दृष्टात आदि देना, अधिक है। (२१) स्वीकृत सिद्धातके विरुद्ध कथन करना, अपसिद्धात है। जैसे, सत्का उत्पाद नहीं, असत्का विनाश नहीं, यह मान करके भी आत्माका नाश प्रतिपादन करना[१]।]" (२२) असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसमके भेदसे हेत्वाभास पॉच प्रकारका है।

यहाँ माया शब्दसे छल, जाति और निग्रहस्थानका सूचन किया गया है। ये छल, जाति और निग्रह स्थान केवल दूसरोंका वचन करनेके लिये है, फिर भी इनका तत्त्व रूपसे उपदेश किया गया है। इस प्रकारके उपदेश देनेवाले अक्षपाद ऋषिको वीतराग कहना अधकारको प्रकाश कहनेके समान होनेसे हास्यास्पद हैं॥ यह श्लोकका अर्थ है॥१०॥

भावार्थ—इस श्लोकमें यौग नामसे कहे जानेवाले नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थोंका खण्डन

१-प० दरबारीलाल न्यायतीर्थ-न्यायप्रदीप, पृ० ८९-९३

अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरःसरं निरस्यन्नाह—

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥११॥

इह खल्वर्चिमार्ग[1]प्रतिपक्षधूममार्गा[2]श्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते। या हिंसा गार्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहेतुः, प्रमादसंपादितत्वात् शौनिकलुब्धकादीनामिव। वेदविहितां तु हिंसा प्रत्युत धर्महेतुः, देवतातिथिपितॄणां प्रीतिसंपादकत्वात्, तथाविधपूजो-

किया गया है। ग्रन्थकारका कहना है कि नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंमे गिने जानेवाले, छल, जाति और निग्रहस्थान सर्वथा अनुपादेय है, इनके ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। तथा मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ज्ञान और क्रिया दोनोंकी आवश्यकता होती है, केवल सोलह पदार्थोंके ज्ञान मात्रसे मुक्ति सम्भव नहीं।

(१) क—जो पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु हो, उसे प्रमाण कहते है (अर्थोपलब्धिहेतु प्रमाणम्—वात्स्यायनभाष्य)। ख—सम्यक् अनुभवको प्रमाण कहते है (सम्यगनुभवसाधन प्रमाणम्—भासर्वज्ञकृत-न्यायसार)। नैयायिकोंके ये दोनों प्रमाणके लक्षण दोषपूर्ण है, क्योंकि नैयायिक लोग इन्द्रिय और पदार्थोंके सन्निकर्षको ही प्रमाण मानते है, इन्द्रिय और पदार्थोके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षके करण ज्ञानको प्रमाण नहीं मानते। परन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। तथा 'पदार्थोंके ज्ञानमे हेतु' को प्रमाण माननेपर, यदि निमित्त मात्रको ही हेतु कहा जाय तो कर्ता, कर्म आदिको भी प्रमाण मानना चाहिये। यदि 'हेतु'का अर्थ करण हो, तो फिर ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें साधकतम है। इसलिये 'स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाण' ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण है।

(२) नैयायिकोंके आत्मा, शरीर आदिके भेदसे बारह प्रकारके प्रमेयकी मान्यता भी ठीक नहीं है। क्योंकि शरीर आदिका आत्मामें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) और अपवर्ग (मोक्ष) भी आत्माकी ही अवस्था हैं। तथा आत्मा प्रमेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रमाता है। दोष मनकी क्रिया है, उसका प्रवृत्तिमें अन्तर्भाव हो जाता है। दुःख और इन्द्रियार्थ फलमें गर्भित हो जाते है, इसे जयन्तने भी स्वीकार किया है। अतएव 'द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु प्रमेय' यही प्रमेयका निर्दोष लक्षण है।

(३) छल, जाति और निग्रहस्थान दूसरोंको केवल वचन करनेके साधन है, इसलिये इन्हें तत्त्व नहीं कहा जा सकता। अतएव इनके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

अब मीमासकसम्मतवेदमें कही हुई हिंसा धर्मका कारण नही होती, इसका युक्तिपूर्वक खण्डन करते है—

श्लोकार्थ—वेद विहित होने पर भी हिंसा धर्मका कारण नहीं है। अन्य कार्यके लिये प्रयुक्त उत्सर्ग वाक्य उस कार्यसे भिन्न कार्यके लिये प्रयुक्त वाक्यके द्वारा अपवादका विषय नहीं बनाया जा सकता। दूसरों (अन्य मतानुयायी) का यह प्रयत्न अपने पुत्रको मार कर राजा बननेकी इच्छाके समान है।

व्याख्यार्थ—अर्चि मार्गके प्रतिपक्षी धूममार्गको स्वीकार करने वाले जैमिनीयों (पूर्वमीमासक) का कथन : हिंसाजीवी व्याध आदिकी हिंसाकी तरह लोभ अथवा किसी व्यसनसे की हुई हिंसा ही पाप का कारण होती है, क्योंकि वह हिंसा प्रमादसे उत्पन्न होती है। वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका ही कारण है, क्योंकि वेदमें अभिहित पूजा-उपचारकी तरह वेदोक्त हिसा भी देव, अतिथि

१. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ इत्यर्चिर्मार्गः। अयमेवोत्तरमार्ग इत्यभिधीयते। भगवद्गीता। ८-२४।

२ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ इति धूममार्गः। अयमेव दक्षिणमार्ग इत्यप्यभिधीयते। भगवद्गीता ८-२५।

पचारवत् । न च तत्प्रीतिसंपादकत्वमसिद्धम् । [१]कारीरीप्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले यः खल्वव्यभिचारः, स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुकः । एवं त्रिपुरार्णव[२]वर्णितच्छगलजाङ्गल होमात् परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसंपाद्या । अतिथिप्रीतिस्तु मधुपर्क[३]संस्कारादिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव । पितॄणामपि तत्तदुपयाचितश्राद्धादिविधानेन प्रीणितात्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् । स च [४]देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधादिविधानाभिधायकः प्रतीत एव । अतिथिविषयस्तु[५]—"महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रिया[६]योपकल्पयेत् ।" [७]इत्यादिः । पितृप्रीत्यर्थस्तु—

"द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु"[८] ॥ इत्यादिः ।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याचार्यः प्रतिविधत्ते न धर्मेत्यादि । विहितापि—वेदप्रतिपादितापि । आस्तां तावदविहिता हिंसा—प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा । न धर्महेतुः—न धर्मानुबन्धनिबन्धनम् । यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः । तथाहि । 'हिंसा चेद् धर्महेतुः कथम्', 'धर्महेतुश्चेद् हिंसा कथम् ।' "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्" [९]इत्यादिः । न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति । हिंसा कारणं, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः । न चायं निरपायः । यतो यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कार्यम्, यथा मृत्पिण्डादेर्घटादिः । न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम् तपोविधानदानध्यानादीनां तत्कारणत्वश्रवणात् ॥

और पितरोंको आनन्द देनेवाली होती है । वेदोक्त हिंसाका आनन्ददायकपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी (जिस यज्ञके करनेसे वृष्टि होती है) आदि यज्ञोंके करनेसे वृष्टिका होना देखा जाता है । वृष्टि होना यज्ञोंसे प्रसन्न हुए देवता लोगोंके अनुग्रहका ही फल है । अतएव जिस प्रकार कारीरी यज्ञसे देवता लोग प्रसन्न होकर वृष्टि करते हैं, उसी तरह वेदोक्त हिंसा भी देवताओंको आनन्द देनेवाली है । इसी प्रकार त्रिपुरार्णव नामक मन्त्रशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थमें कहे हुए बकरे और हरिणका मांस होम करनेसे आनन्दित देवताओंकी कृपासे ही दूसरे देश वशमें किये जाते हैं । तथा, मधुपर्क (दही, घी, जल, मधु और चीनीसे बना हुआ पदार्थ) से अतिथि लोग प्रसन्न होते हैं । इसी प्रकार पितर भी श्राद्धसे प्रसन्न होकर अपनी सन्तानकी वृद्धि करते हुए देखे जाते हैं । आगममें भी कहा है, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि यज्ञ करने चाहिये । "अतिथिको प्रसन्न करनेके लिए श्रोत्रिय (वेदपाठी) को बडा बैल अथवा घोडा मार कर देना चाहिये ।" तथा,

"मछलीके माससे दो, हरिणके माससे तीन, मेढेके माससे चार, और पक्षीके माससे पाँच मास तक पितरोंकी तृप्ति होती है ।'

जैन—वेदोंमें प्रतिपादित प्राणियों के प्राणों की संहारकारक हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि हिंसाको धर्म प्रतिपादन करना साक्षात् अपने वचनोंका विरोध करना है । क्योंकि 'जो हिंसा है, वह धर्मका कारण नहीं हो सकती,' और 'जो धर्मका कारण है, उसे हिंसा नहीं कह सकते' । कहा भी है—"धर्मका सार सुनकर उसे ग्रहण करना चाहिए । (अपने प्रतिकूल बातोंको कभी दूसरो के लिए न करना चाहिये) ।" जिस प्रकार कोई स्त्री एक ही समय माता और वन्ध्या दोनों नहीं हो सकती, उसी तरह हिंसाका हिंसारूप और धर्म रूप होना परस्पर विरुद्ध है । अतएव हिंसा और धर्मको कारण और कार्य रूपसे प्रतिपादन करनेवाले

१ क जलमृच्छतीति कारो जलदस्तमीरयति प्रेरयतीति कारीरी । २ मन्त्रशास्त्रविषयको निबन्ध । ३ दधि सर्पि जल क्षौद्र सितैताभिस्तु पञ्चभि प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सर्वदेवौघतुष्टये ॥ कालिकापुराणे ४. ऐतरेयब्राह्मणे ४, श्रौतसूत्रे । ५ मनुस्मृतौ पञ्चमाध्याये, आपस्तम्बगृह्यसूत्रे । ६. एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ ७ याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्यायः १०९ । ८. मनुस्मृति ३-२६८ । ९. 'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवोपधारयेत्' । चाणक्यराजनीतिशास्त्रे १-७ ।

अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः, किन्तु विशिष्टामेव । विशिष्टा च सैव या वेदविहिता इति चेत्, ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाभावेन, मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाभावात् सुगतिलाभेन वा ? नाद्यः पक्षः । प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात् । न द्वितीयः । परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयार्त्तध्यानाभावस्य वाङ्मात्रत्वात् । प्रत्युत हा कष्टमस्ति न कोऽपि कारुणिकः शरणम्, इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदनदैन्यनयनतरलतादीनां लिङ्गानां दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात् ॥

अथेत्थमाचक्षीथाः यथा अयःपिण्डो गुरुतया मज्जनात्मकोऽपि तनुतरपत्रादिकरणेन संस्कृतः सन् जलोपरि प्लवते, यथा च मारणात्मकमपि विषं मन्त्रादिसंस्कारविशिष्टं सद्गुणाय जायते, यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन् न हि प्रदहति । एवं मन्त्रादिविधिसंस्काराद् न खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय । न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम् । तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति । तदेतद् न दक्षाणां क्षमते क्षोदम् । वैधर्म्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात् । अयःपिण्डादयो हि पत्रादिभावान्तरापन्नाः सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः । न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनापि विशस्यमानानां पशूनां काचिद् वेदनानुत्पादादिरूपा

मीमासकोंका मत निर्दोष नहीं है। जो जिसके अन्वय और व्यतिरेक से संबद्ध होता है, वह उसका कार्य होता है, जैसे मिट्टीका पिंड और घडा दोनोंमें अन्वय-व्यतिरेक सबध है, इसलिये घडा मिट्टीके पिंडका कार्य है। परन्तु जिस प्रकार मिट्टीके पिंड होनेपर ही घट होता है, वैसे ही हिंसाके होनेपर धर्म होता है, ऐसा अनुभवमें नहीं आता। क्योंकि केवल हिंसाको धर्म माननेपर अहिंसारूप तप, ध्यान, दान आदि धर्मके कारण नहीं कहे जा सकते।

शंका—हम लोग सामान्य हिंसाको धर्म नहीं मानते, किंतु विशिष्ट हिंसाको ही धर्म कहते है। वेदमें प्रतिपादित हिंसा विशिष्ट हिंसा है। समाधान—आप लोग हिंसाको धर्म क्यों कहते है ? वध किये जाने वाले प्राणियोंका मरण नहीं होता, क्या इसलिये हिसा धर्म है ? अथवा प्राणियोंके मरणके समय उनके परिणामोमे आर्तध्यान न होनेसे उन्हे स्वर्ग प्राप्त होता है, इसलिये हिंसा धर्म है ? यदि कहो कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंको मारनेपर उनका मरण नहीं होता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्राणियोंका मरण प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। यदि कहो कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंके मारे जानेपर उनके आर्तध्यान नहीं होता, तो यह भी केवल कथनमात्र है। क्योंकि 'कोई भी करुणाशील व्यक्ति हमारा रक्षक नहीं', इस हृदयद्रावक भाषासे आक्रन्दन करते हुए प्राणियोंके मुखकी दीनता, नेत्रोंकी चचलता आदिसे उनके दुर्ध्यानका स्पष्टरूपसे पता लगता है।

शंका—जिस प्रकार भारी लोहपिंड पानीमें डूबनेवाला होनेपर भी हलके-हलके पत्तरोंके रूपमें परिणत होकर जहाजके रूपमें पानीके उपर तैरता है, अथवा जिस तरह मत्रके प्रभावसे, मारक विष भी शरीरको आरोग्य प्रदान करता है, अथवा जिस तरह दहनशील अग्नि सत्य आदिके प्रभावसे दहन स्वभावको छोड देती है, उसी तरह मत्रादि विधिसे वेदोक्त हिंसा भी पापबधका कारण नहीं होती। यह वेदोक्त हिंसा निन्दनीय भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस हिसाके कर्ता याज्ञिक लोग ससारमें पूज्य दृष्टिसे देखे जाते है। समाधान—यह कथन परीक्षणकी कसौटीपर ठीक नहीं उतरता। क्योंकि पूर्वपक्ष द्वारा दिये गये दृष्टान्त, वैधर्म्यके कारण साधकतम नियमसे साध्य की सिद्धि करनेवाले नहीं होते। यहाँ लोहपिंड आदिके दृष्टात विषम हैं, इसलिये इन दृष्टातोंसे साध्यकी सिद्धि नही होती। क्योंकि जिस प्रकार लोहपिंड पत्र आदिरूप अवस्थान्तरको प्राप्त होकर ही जहाजके रूपमे पानीपर तैरने आदिकी क्रिया करनेमें समर्थ होता है, उस तरह वैदिक विधिसे मत्रोंके सस्कार द्वारा मारे जाते हुए प्राणियोंकी वेदनाकी अनुत्पत्ति-रूप परिणति देखनेमें नहीं आती। यदि आप कहे कि वेदोक्त विधिसे वध किये जानेवाले प्राणियोंको स्वर्गकी प्राप्ति रूप परिणति देखनेमें

भावान्तरापत्तिः प्रतीयते। अथ तेषां वधानन्तरं देवत्वापत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेति चेत् किमत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षम्। तस्य सम्बद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्। "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना।"[1] इति वचनात्। नाप्यनुमानम्। तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धेः। नाप्यागमः। तस्याद्यापि विवादास्पदत्वात्। अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वम्॥

अथ भवतामपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि किं नेष्यते। वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात्। नैवम्। परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो, यत्रानन्योपायत्वेन यतनयाप्रकृष्ट प्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनापरिमि-सुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितरः। भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीकं कर्तनकदर्थनया कान्दिशीकान्कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभः शुभपरिणामविशेषः। एवं च यं कञ्चन पदार्थं किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्गः सङ्गच्छते॥

न च जिनायतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुणः। तथाहि तद्दर्शनाद् गुणानुरागितया [2]भव्यानांबोधिलाभः[3], पूजातिशयविलोकनादिना च मनःप्रसादः, ततः समाधिः,[4] ततश्च क्रमेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति। तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः—

आती है, तो इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है। कहा भी है "प्रत्यक्ष चक्षु आदिसे सबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है।" अनुमानसे भी प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि 'वधके अनतर देवत्वकी प्राप्ति' साध्यके साथ अविनाभावी हेतुकी उपलब्धि नहीं होती। आगमके विवादास्पद होनेसे आगमसे भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थापत्ति और उपमान अनुमानमें ही गर्भित हो जाते हैं (जैनोंकी दृष्टिमें) इसलिये अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे भी वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

शंका—जिस प्रकार जैनमतमें पृथिवी आदि जीवोंका घात होनेपर भी परिणाम विशेषके कारण जैन मन्दिरोंका निर्माण पुण्यरूप ही माना जाता है, उसी तरह वेदविहित हिंसामें वेदोंका विधि-विधानरूप विशिष्ट परिणामोंका सद्भाव होनेसे वह पुण्यका कारण होती है। **समाधान**—यह ठीक नहीं है। क्योंकि मदिरोंके निर्माण करनेमें उपायातर न होनेके कारण, सावधानीपूर्वक प्रवृत्त होते हुए भी अत्यत अल्प ज्ञानके धारक पृथिवी आदि जीवोंका वध अनिवार्य है, तथा पृथिवी आदिके वध करनेपर अल्प पुण्यके नाश होनेसे अपरिमित पुण्यकी प्राप्ति होती है। परन्तु आप लोगोंके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासमें यम, नियमादिसे स्वर्गकी प्राप्तिका प्रतिपादन किया गया है, तथा उन उन देवी-देवताओंके उद्देश्यसे प्रत्येक मूर्तिके समक्ष अपने शरीरके काटे जानेके भयसे विह्वल, निस्सहाय पचेन्द्रिय जीवोंको कसाईसे भी अधिक क्रूरतासे मारनेवाले पुरुषोंके समस्त पुण्यके नष्ट हो जानेके कारण दुर्गतिको ले जानेवाले परिणामोको शुभ परिणाम कहना दुर्लभ है। अतएव थोडा-बहुत सादृश्य देखकर दृष्टात बनानेसे आपके मतमे अतिप्रसग उपस्थित होता है।

तथा पृथिवी आदि जीवोंके वध होनेपर भी जिनमंदिरके निर्माणमें पुण्य ही होता है। क्योंकि मंदिरमें जिनप्रतिमाके दर्शनसे गुणानुरागी होनेके कारण भव्य पुरुषोंको सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती हैं, भगवान्के पूजातिशयके विलोकनसे मन प्रफुल्लित होता हैं, मनकी प्रफुल्लतासे समता भाव जाग्रत होता है, और समता भावसे क्रमशः मोक्षकी प्राप्ति होती हैं। पंचलिंगीकार भगवान् जिनेश्वरसूरिने कहा भी है—

१ मीमांसाश्लोकवार्तिक ४-८४। २. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्य।
३ बोधन बोधि, सम्यक्त्व प्रेत्यजिनधर्माव्याप्तिर्वा। ४ सम्यग्दर्शनादिका मोक्षपद्धति।

"पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिन्तो।
तव्विसया वि सुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥१॥
एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई।
इत्तो निव्वाणगया अबाहिया आभवमिमाणं ॥२॥
रोगिसिरावेहो इव सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ।
परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से बाहजोगे वि ॥३॥"[1]

इति। वैदिकवधविधाने तु न कञ्चित्पुण्यार्जनानुगुणं गुणं पश्यामः। अथ विप्रेभ्यः पुरोडाशा-[2] दिप्रदानेन पुण्यानुबन्धी गुणाऽस्त्येव इति चेत्। न। पवित्रसुवर्णादिप्रदानमात्रेणैव पुण्योपार्जन-सम्भवात्। कृपणपशुगणव्यपरोपणसमुत्थं मांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति। अथ न प्रदान-मात्रं पशुवधक्रियायाः फलं, किन्तु भूत्यादिकम्। यदाह श्रुतिः—"श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः"[3]इत्यादि। एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव। भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्य-त्वात्। अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनां प्रेत्यसद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत्। वाङ्मात्रमेतत् प्रमाणाभावात्। न हि ते निहताः पशवः सद्गतिलाभमुदितमनसः कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति। अथास्त्यागमाख्यं प्रमाणम्। यथा—

"यद्यपि जिनमदिरके निर्माणमे जमीन खोदने, इंट तैयार करने तथा जल सिंचन आदिके कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोंका घात होता है, तो भी सम्यग्दृष्टिके पृथिवी आदि जीवोके प्रति दयाका भाव रहता ही है ॥१॥

जिनप्रतिमा आदिके दर्शनसे तत्त्वज्ञानको प्राप्तकरनेवाले जीव पृथिवी आदि जीवोकी रक्षा करते है, मोक्षगमन करते है और यावज्जीवन अवाधित रहते है ॥ २ ॥

जिस प्रकार किसी रोगीको अच्छा करनेके लिए रोगीकी नसका छेदना, उसे लघन कराना, कटुक औषधि देना आदि प्रयोग शुभ परिणामोसे ही किये जाते है, उसी प्रकार पृथिवी आदिका वध करके भी जिन-मदिरके निर्माण करनेमे पुण्य ही होता है ॥ ३ ॥"

परन्तु वेदोक्त हिंसामे हम कोई पुण्योपार्जनका कारण नही देखते। यदि कहो कि वेदोक्त वधके अवसरपर ब्राह्मणोको पुरोडाश (होमके वाद बचा हुआ द्रव्य) आदि देनेसे पुण्य होता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योकि पवित्र सुवर्ण आदिके दान देनेसे ही पुण्य हो सकता है, मूक पशुओ के मासका दान करना, केवल निर्दयताका ही द्योतक है। यदि कहो कि वेदोक्त रीतिसे पशुवध करनेका फल केवल ब्राह्मणोंको पशुओंके मासका दान करना नहीं, किन्तु उससे विभूतिकी प्राप्ति होती है। क्योंकि श्रुतिमे भी कहा है, "ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको वायु–देवताके लिये श्वेत बकरेका यज्ञ करना चाहिए," आदि–यह भी व्यभिचार–पिशाचसे ग्रस्त होनेके कारण ठीक नहीं है। क्योकि ऐश्वर्यकी प्राप्ति अन्य उपायोंसे भी हो सकती है। यदि कहो कि यज्ञमें मारे जानेवाले बकरे आदि परलोकमें स्वर्ग प्राप्त करते है, इसलिये प्राणियोका उपकार होता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि बकरे आदि यज्ञमे वध किये जानेके वाद स्वर्गको प्राप्त करते है, इसमे कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि मरनेके वाद स्वर्गमे गये हुए पशु स्वर्गसे आकर प्रसन्न मनसे वहाँके समाचारो-को नही सुनाते। यदि आप कहे कि आगममे लिखा है—

१ छाया–पृथिव्यादीना यद्यपि भवत्येव विनाशो जिनालयादिभ्यः। तद्विषयापि सुदृष्टेर्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा ॥
एताभ्यो बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन्। अतो निर्वाणगता अवाधिता आभवमेषाम् ॥
रोगिशिरावेध इव सुवैद्यक्रिया इव सुप्रयुक्ता तु। परिणामसुन्दर इव चेष्टा सा वाधायोगेऽपि ॥
जिनेश्वरसूरिकृतपञ्चलिङ्गीग्रन्थे ५८–५९–६०।

२. पुरो दाश्यते इति पुरोडाशो हुतद्रव्यावशिष्टम्। यवचूर्णनिर्मितरोटिकाविशेषः। ३. शतपथब्राह्मणे।

"औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः" ॥[1]

इत्यादि । नैवम् । तस्य पौरुषेयापौरुषेयविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात् ॥

न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम् । यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्, तर्हि वाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः । शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात् । तथा च पठन्ति परमार्षाः[2]:—

"यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते" ॥

किञ्च, अपरिचितास्पष्टचैतन्यानुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते । अथ "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः" इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इति चेत् । न । इह लोके विवाहगर्भाधानजातकर्मादिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद् अदृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते । दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहादिभ्योऽनन्तरं वैधव्याल्पायुष्कतादारिद्र्याद्युपद्रवविधुराः परःशताः । अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीताः । अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत् । न । संशयानिवृत्तेः । किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसंवादः, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्याद्, इति न निश्चयः । तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः ॥

"औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यंच और पक्षी यज्ञमे निर्धनको प्राप्त होकर उच्चगतिको प्राप्त करते हैं । इत्यादि ।

अतएव, आगमसे इसकी प्रमाणता सिद्ध होती है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि 'आगम पौरुषेय है या अपौरुषेय' ? इन विकल्पोके द्वारा आपके द्वारा मान्य आगमका आगे निराकरण किया जायेगा । (देखिये इसी कारिकाकी व्याख्या) ।

वेदोक्त विधिसे पशुओंको मारनेसे स्वर्गकी प्राप्ति रूप उपकार होता है, यह कथन सत्य नही है । क्योंकि यदि हिंसासे स्वर्गकी प्राप्ति होने लगे तो नरकद्वारके मुख्य मार्गको बन्द ही कर देना होगा, और संसारके सभी कसाई स्वर्गमे पहुँच जायेगे । सांख्य लोगोंने कहा भी है—

"यदि यूप (यज्ञमें पशुओंको बांधनेकी लकडी) को काट करके, पशुओंका वध करके, और रक्तसे पृथ्वीका सिंचन करके स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिए कौन-सा मार्ग बचेगा ?

तथा, यदि अपरिचित और अस्पष्ट चेतनायुक्त तथा किसी प्रकारका उपकार न करनेवाले मूक प्राणियोंके वधसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होना सम्भव है," तो परिचित और स्पष्ट चेतनायुक्त तथा महान् उपकार करनेवाले अपने माता पिताके वध करनेसे याज्ञिक लोगोंको स्वर्गसे भी अधिक फल मिलना चाहिए । यदि आप कहे कि "मणि, मन्त्र, और औषधका प्रभाव अचिंत्य होता है," इसलिए वैदिक मन्त्रोंका भी अचिंत्य प्रभाव है, अतएव मन्त्रोंसे संस्कृत पशुओंका वध करनेसे पशुओंको स्वर्ग मिलता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि इस लोकमे विवाह, गर्भाधान और जातकर्म आदिमें उन मन्त्रोंका व्यभिचार पाया जाता है, तथा अदृष्ट स्वर्ग आदिमे उस व्यभिचारका अनुमान किया जाता है । देखा जाता है कि वैदिक विधिके अनुसार विवाह आदिके किये जानेपर भी स्त्रियाँ विधवा हो जाती है, तथा सैकडों मनुष्य अल्पायु, दरिद्रता आदि उपद्रवोंसे पीडित रहते है । तथा, विवाह आदिके वैदिक मन्त्र-विधिसे सम्पादित न होनेपर भी अनेक स्त्री-पुरुष आनन्दसे जीवन यापन करते है, इसलिए वैदिक मन्त्रोंसे संस्कृत वध किये जानेवाले पशुओंको स्वर्गकी प्राप्ति स्वीकार करना ठीक नहीं है । यदि आप कहे कि मन्त्र अपना पूरा असर दिखाते हैं, लेकिन यदि मन्त्रोंकी ठीक-ठीक विधि नहीं

१. मनुस्मृतौ ५-४०। २ सांख्या ।

अथ, यथा युष्मन्मते "आरोग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु"[1] इत्यादीनां वाक्यानां लोकान्तर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतवेदवाक्यानामपि नेह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यते। अतश्च विवाहादौ नोपलम्भावकाशः, इति चेत्। अहो वचनवैचित्री। यथा वर्तमानजन्मनि विवाहादिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एवं द्वितीयादिजन्मान्तरेष्वपि विवाहादीनामेव प्रवृत्तिधर्माणां पुण्यहेतुत्वाङ्गीकारेऽनन्तभवानुसन्धानं प्रसज्यते। एवं च न कदाचन संसारस्य परिसमाप्तिः। तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्तिः। इति प्राप्तं भवदभिमतवेदस्यापर्यवसितसंसारवल्लरीमूलकन्दत्वम्। आरोग्यादिप्रार्थना तु असत्याऽमृषा[2] भाषा परिणामविशुद्धिकारणत्वाद् न दोषाय। तत्र हि भावारोग्यादिकमेव विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकसंसारलक्षणभावरोगपरिक्षयस्वरूपत्वाद् उत्तमफलम्। तद्विषया च प्रार्थना कथमिव विवेकिनामनादरणीया। न च तज्जन्यपरिणामविशुद्धेस्तत्फलं न प्राप्यते। सर्ववादिनां भावशुद्धेरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति ॥

की जाय, तो मन्त्रोंका असर नहीं रहता, यह कथन भी ठीक नहीं। इससे संशयकी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि मन्त्रोंकी विधिमें वैगुण्य होनेसे मन्त्रोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है, अथवा स्वयं मन्त्रोंमें ही प्रभाव दिखानेकी असमर्थता है, यह कैसे निश्चय हो? मन्त्रोंके फलसे अविनाभावकी सिद्धि नहीं होती।

शंका—जिस प्रकार जैनमतमें "आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि को प्रदान करो" इत्यादि स्तुतियोंसे दूसरे लोकमें फल प्राप्ति कही जाती है, उसी तरह हमारे माने हुए वेद-वाक्योंका और विवाह आदि मन्त्रोंका भी परलोकमें ही फल मिलता है। समाधान—यदि आप लोग इस जन्ममें विवाह आदिमें प्रयुक्त मन्त्रोंका फल आगामी भवमें स्वीकार करते हैं, तो यह आपके वचनोंकी विचित्रता है, और इस तरह तो दूसरे, तीसरे आदि अनेक भवोंमें मन्त्रोंके संस्कारका फल मान लेनेसे अनन्त भवोंकी उत्पत्ति माननी होगी, और इस तरह कभी संसारका अन्त न होनेसे किसीको भी मोक्ष न मिलेगा। इस प्रकार आपके द्वारा मान्य वेदको अनन्त संसारवल्लरीका मूल मानना होगा। तथा, हम लोग जो आरोग्यलाभ आदिकी प्रार्थना करते हैं, वह असत्यअमृषा (व्यवहार) भाषा द्वारा परिणामोंकी विशुद्धि करनेके लिए हैं, दोषके लिए नहीं। [असत्यअमृषा भाषा आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिग्रहीता, अभिग्रहीता संदेहकारिणी, व्याकृता, अव्याकृताके भेदसे बारह प्रकारकी बताई गयी है। (१) 'हे, देव, यहाँ आओ', इस प्रकारके वचनोंको आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। (२) 'तुम यह करो' इस प्रकारके आज्ञासूचक वचन कहना, आज्ञापनी भाषा है। (३) 'यह दो' इस प्रकार याचनाके सूचक वचन बोलना, याचनी भाषा है। (४) अज्ञात अर्थको पूछना, प्रच्छनी भाषा है। (५) 'जीव हिंसासे निवृत्त होकर चिरायुका उपभोग करते हैं' इस प्रकार शिष्योंके उपदेशसूचक वचनोंका कहना, प्रज्ञापनी भाषा है। (६) माँगनेवालेको निषेध करनेवाले वचनोंको बोलना प्रत्याख्यानी भाषा है। (७) किसीके कार्यमें अपनी अनुमति देनेको इच्छानुकूलिका भाषा कहते हैं। (८) 'बहुतसे कार्योंमें जो तुम्हें अच्छा लगे वह करो' इस प्रकारके वचनोंको अनभिग्रहीता भाषा कहते हैं। (९) 'बहुतसे कार्योंमें अमुक कार्य करना चाहिए, और अमुक नहीं', इस प्रकार निश्चित वचनोंके बोलनेको अभिग्रहीता भाषा कहते हैं। (१०) संशय उत्पन्न करनेवाली भाषाको संदेहकारिणी भाषा कहते हैं, जैसे 'सैंधव' कहनेपर सिंधा नमक और घोड़ा दोनों पदार्थोंमें संशय उत्पन्न होता है। (११) जिससे स्पष्ट अर्थका ज्ञान हो, वह व्याकृता भाषा है। (१२) गम्भीर अथवा अस्पष्ट अर्थको बतानेवाले वचनोंको अव्याकृता भाषा कहते हैं। गोम्मटसार आदि दिगम्बर ग्रन्थोंमें असत्यअमृषा भाषाके नौ

१ छाया—आरोग्य बोधिलाभ सामाधिवरमुत्तम ददतु। आवश्यके २४-६।

२. आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिग्रहीता, अभिग्रहीता, संदेहकारिणी, व्याकृता, अव्याकृता इति द्वादशविधा असत्याऽमृषाभाषा लोकप्रकाशे तृतीयसर्गे योगाधिकारे।

न च वेदनिवेदिता हिंसा न कुत्सिता । सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नैरर्चिमार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात् । तथा च तत्त्वदर्शिनः पठन्ति—

"देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरा ते यान्ति दुर्गतिम्" ॥

वेदान्तिका अप्याहुः—

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति" ॥

तथा "अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु" छान्दसत्वाद् मोचयतु इत्यर्थः । इति । व्यासेनाप्युक्तम्—

"ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि ॥ १ ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥ २ ॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः ॥ ३ ॥
प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥ ४ ॥

भेद बताये गये है—देखिये, गोम्मटसार जीवकाण्ड, २२४-२२५]। आरोग्य आदिकी प्रार्थना करनेसे हमारा अभिप्राय केवल चतुर्गति रूप ससारके भाव-रोगोंको दूर करनेका है, वही उत्तम फल है। इस भाव-आरोग्यकी प्रार्थनासे परिमाणोंकी विशुद्धि होती है, अतएव विवेकीजन उसका अनादर नहीं कर सकते। ऐसी बात नहीं कि उससे उत्पन्न परिणामोंकी विशुद्धिसे उसका फल प्राप्त न हो। सभी वादी लोग भावोंकी शुद्धिसे ही मोक्ष फलकी प्राप्ति मानते है।

तथा, ऐसी बात नहीं है कि वेदोक्त हिंसा निदनीय नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न ज्ञानमार्गके अनुयायी वेदान्तियोंने भी हिंसाकी निंदा की है। तत्त्वदर्शी लोगोंने कहा है—

"जो निर्दय पुरुष देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अथवा यज्ञके बहाने पशुओंका वध करते हैं, वे लोग दुर्गतिमें पड़ते है।"

वेदान्तियोंने भी कहा है—

"यदि हम पशुओंसे यज्ञ करें तो घोर अधकारमें पड़े। अतएव हिंसा न कभी धर्म हुआ, न है, और न होगा।"

तथा—"अग्नि-देवता इस हिंसाजन्य पापसे मुझे मुक्त करो।" वैदिक प्रयोग होनेसे 'मुक्त करो' यह अर्थ किया गया है—

व्यासने कहा है—

"ज्ञानरूपी दीवारसे परिवेष्ठित ब्रह्मचर्य और दयारूपी-जलसे पूर्ण, पापरूपी-कीचड़को नष्ट करनेवाले, अत्यन्त निर्मल तीर्थमे स्नान करके ॥१॥

जीवरूपी-कुण्डमें दमरूपी-पवनसे उद्दीपित ध्यानरूपी-अग्निमे अशुभ कर्मरूपी काष्ठकी आहुति देकर उत्तम अग्निहोत्र यज्ञ करो ॥२॥

धर्म, काम और अर्थको नष्ट करनेवाले, दुष्ट, कषायरूपी-पशुओंका शम-मत्रोसे यज्ञ करो, ऐसा पण्डितोने कहा है ॥३॥

जो मूढ पुरुष प्राणियोंका वध करके धर्मकी कामना करते हैं, वे काले सर्पकी खोहसे अमृतकी वर्षा चाहते है ॥४॥"

इत्यादि[1] ॥

यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तम् । तदप्यसारम् । अबुधा एव पूजयन्ति तान् न तु विविक्तबुद्धयः । अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम् । तस्याः सारमेयादिष्वप्युपलम्भात् । यदप्यभिहितं देवतातिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषायेति । तदपि वितथम् । यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलरसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद्[2] । युष्मदावर्जितजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिप्रगृहीतौ, इच्छैव दुःसंभवा । औदारिकशरीरिणामेव[3] तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः । न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । "चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता" इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च मृगेन्द्रः—

"शब्देतरत्वे युगपद् भिन्नदेशेषु यष्टृषु ।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत्" ॥

सेति देवता । हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात्, तदुपभोगजनिता देवानां प्रीतिः प्रलापमात्रम् । अपि च, योऽयं त्रेताग्निः[4] स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम् । "अग्निमुखा वै देवाः[5]" इति श्रुतेः । ततश्चोत्तममध्यमाधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानाना-

इत्यादि ।

तथा, आपने जो याज्ञिक पुरुषोंको लोकमे पूज्य बताया, वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि मूर्ख ही याज्ञिकोंकी पूजा करते है, पण्डित नहीं । तथा, मूर्खोंके द्वारा याज्ञिकोंका पूजा जाना प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुत्ते आदि भी लोकमे पूजे जाते है । तथा, आपने जो कहा, कि वेदोक्त हिंसा, देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करती है, अतएव वह निर्दोष है, यह कथन भी निस्सार है । क्योंकि देव वैक्रियक शरीरके धारक होते है, अतएव वे अपने सकल्प मात्रसे किसी भी इष्ट पदार्थको उत्पन्न कर उसके पुद्गलोंका रसा-स्वादन कर सकते है । इसलिये ग्लानि युक्त आप लोगोंकी दी हुई पशुके मास आदिकी आहुति ग्रहण करनेकी इच्छा भी वे नहीं कर सकते । औदारिक (स्थूल) शरीरवाले प्राणी ही इस आहुतिको ग्रहण कर सकते हैं । यदि आप देवोंको यज्ञकी अग्निमें आहुतिमें प्रक्षिप्त आहारका भक्षक स्वीकार करेगे, तो देवोंको मत्रमय शरीरके धारक नहीं कह सकते । परन्तु आपने देवोंको मत्रमय शरीरके धारक स्वीकार किया है । जैमिनी ऋषिने कहा भी है—"देवताओंके लिए चतुर्थीका ही प्रयोग करना चाहिये ।" (पूर्व मीमासकोंने ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना है । उनके मतमें आहुति दिये जानेवाले देवताओंको छोड कर दूसरे देवोंका अस्तित्व नहीं है) । मृगेन्द्रने भी कहा है—

"यदि देवता मत्रमय शरीरके धारक न होकर हम लोगोंकी तरह मूर्त शरीरके धारक हों, तो जैसे हम एक साथ बहुत स्थानोंमें नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता भी एक साथ सब यज्ञोंमें उपस्थित नहीं हो सकेंगे ।"

उपर्युक्त श्लोकमें 'सा' का प्रयोग देवताके अर्थमे हुआ है । होम किये हुए पदार्थ भस्म हो जाते हैं, और उन पदार्थोंके उपभोगसे देव प्रसन्न होते है, यह कथन प्रलापमात्र है । तथा, आपने त्रेता अग्नि (दक्षिण अग्नि, आहवनीय अग्नि और गार्हपत्य अग्नि) को तैतीस करोड देवताओंका मुख स्वीकार किया है । श्रुतिमें

१ अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव । छान्दोग्य उ ८-५-१, मुण्डक उ. १-२-६, बृहदारण्यक उ० ३-१, भ० गीता ४-३३, महाभारते शांतिपर्वणि ।

२ अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरण विक्रिया सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियकं ।

३ उदार स्थूल, उदार प्रयोजन अस्येति औदारिक ।

४. दक्षिणाग्निः, आहवनीयः, गार्हपत्य इति त्रयोऽग्नयः । 'अग्नित्रयमिद त्रेता' इत्यमरः ।

५ आश्व. गृ. सू अ. ४

मन्योन्योच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः । तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते । तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे भुञ्जते, न पुनरेकेनैव वदनेन । किञ्च, एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रूयते, यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम् । सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते, यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दादिना विराद्धः, ततश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसङ्करः प्रसज्येत । अन्यच्च, मुखं देहस्य नवमो भागः, तदपि येषां दाहात्मकं, तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यत इत्यलमतिचर्चया ॥

यश्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलेऽव्यभिचारस्तत्प्रीणितदेवतानुग्रहहेतुक उक्तः सोऽप्यनैकान्तिकः । क्वचिद् व्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न त्वदाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः । किन्तु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते, तदा तत्कर्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्कार्याणीच्छावशात् साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन् न साधयति । द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसहकारिसाचिव्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलम्भात् । स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या ॥

यच्च छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम्, तत्र कः किमाह । कासाञ्चित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात् । केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादि-

भी कहा है—"अग्नि ही देवोंका मुख है।" परन्तु इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्य श्रेणीके अनेक देवता एक ही मुखसे होम किये हुए पदार्थोंका भक्षण करेंगे, अतएव उच्छिष्ट पदार्थोंके भक्षण करनेमें वे तुरुष्कोंसे भी बढ जायेंगे। और तुरुष्क तो एक ही साथ एक पात्रमें भोजन करते हैं, जब कि देवता लोग एक ही मुखसे भोजन किया करेंगे। तथा, एक शरीरमें अनेक मुख तो कहीं सुननेमें आते हैं, परन्तु अनेक शरीरोंमें एक मुखका होना अत्यन्त आश्चर्यकी बात है। तथा, सब देवताओंके एक मुख माननेपर यदि कोई एक देवकी स्तुति और दूसरे देवकी निंदा करे, तो एक ही मुखसे देवता लोगोंको एक साथ अनुग्रह और निग्रह रूप वाक्योंको बोलना होगा। तथा देहके नौवे हिस्सेको मुख कहा गया है, यदि यह नवमा हिस्सा भी अग्नि रूप हो, तो फिर तैंतीस करोड देवता ससारको भस्म कर डालेंगे। इस सबंधमें अधिक चर्चा करना व्यर्थ है।

आप जो कहते हैं कि कारीरी यज्ञ करनेसे देवतागण प्रसन्न होकर वृष्टि आदि फल प्रदान कर अनुग्रह करते हैं, यह भी अनैकातिक है। क्योंकि बहुतसी जगह यज्ञके करनेपर भी वृष्टि नहीं होती। तथा जहाँ यज्ञके करनेपर वृष्टि होती है वहाँ उस वृष्टिमें देवताओंको दी हुई आहुतिसे उत्पन्न अनुग्रहको कारण नहीं मान सकते। क्योंकि अतिशय ज्ञानी देवतागण अपने स्थानमें बैठे रह कर ही अपने पूजा सत्कार आदिको अवधिज्ञानसे जान, पूजा-सत्कार करनेवाले पुरुषसे प्रसन्न हो, उसकी इच्छानुसार फल देते है। यदि देवताका पूजा आदिकी ओर उपयोग न हो, अथवा उपयोग होनेपर भी पूजकोंका भाग्य प्रबल न हो, तो पूजा करनेवाले पुरुषकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। कारण कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि सहकारी कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा पशुओंका वध करनेकी अपेक्षा देवताओंको प्रसन्न करनेके अन्य बहुतसे उपाय है, फिर आप लोग हिंसक और निंद्य वृत्तिका ही क्यों प्रयोग करते हैं?

देवीके परितोषके लिये बकरे और हरिणके होम करनेसे दूसरे राष्ट्र वशमें हो जाते हैं, यह कथन भी असत्य है। क्योंकि पहले तो उत्तम देवी-देवता इस घृणित और हिंसात्मक कार्यसे प्रसन्न नहीं हो सकते। यदि कोई क्षुद्र देवता प्रसन्न भी हो, तो वह मासादिके दर्शन अथवा ज्ञान मात्रसे ही सतुष्ट हो जाता है, उसे मासादिके उपभोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तथा, यदि अग्निमें आहूत मासादि देवताओंके मुखमें पहुँच सकते है, तो होम किये हुए नीमके पत्ते, कडवा तेल, मॉड, धूमाश आदि क्यों नहीं पहुँच सकते?

नैव परितोषो, न पुनस्तद्भुक्त्या । निम्बपत्रकटुकतैलारनालधूमांशादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति । अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात् । अतिथीनां तु प्रीतिः संस्कारसम्पन्नपक्वान्नादिनापि साध्या । तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पनं निर्विवेकतामेव ख्यापयति ॥

पितॄणां पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी । श्राद्धादिविधानेनापि भूयसां सन्तानवृद्धेरनुपलब्धेः । तदविधानेऽपि च केषाञ्चिद् गर्दभशूकराजादीनामिव सुतरां तद्दर्शनात् । ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव । ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत् स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते ते कथमिव तनयादिभिरावर्जितं पिण्डमुपभोक्तुं स्पृहयालवोऽपि स्युः । तथा च युष्मद्यूथिनः पठन्ति—

"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।
तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्" ॥

इति । कथं च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्यं तेषां समीपमुपैतु । तस्य तदन्यकृतत्वात् जडत्वाद् निश्चरणत्वाच्च ॥

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत् । तन्न । तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात् । एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति विचाल एव विलीनं त्रिशङ्कुज्ञातेन । किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव । अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत्, क इवैतत्प्रत्येतु । विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात् । तद्वपुषि च तेषां संक्रमः

वास्तवमे सहकारी कारणोंसे युक्त आराधककी भक्ति ही वृष्टि, विजय आदि फल प्रदान करनेमें कारण होती है। जैसे चिन्तामणि रत्नके अचेतन होनेपर भी वह मनुष्यके पुण्योदयके कारण ही फलदायक होता है। तथा, हम सस्कारित और पके हुए अन्न आदिसे अतिथियोंका सत्कार कर उन्हे प्रसन्न कर सकते है, तो फिर बैल, बकरे आदिका मास भक्षण कराना अविवेकताको ही द्योतित करता है।

श्राद्ध करनेसे पितर लोग प्रसन्न होते है, यह कथन भी दोषपूर्ण है। क्योंकि श्राद्ध आदिके करनेपर भी कितने ही लोगोंके सतानवृद्धि नहीं होती, और श्राद्ध न करनेपर भी गधे, सूअर, बकरे आदिके अपने आप ही बहुत-सी सन्तान हो जाती है। अतएव श्राद्ध आदिका विधान केवल मूर्ख लोगोंके ठगनेके लिये ही किया गया है। जो पितृजन परलोक चले जाते है, वे इस भव में किये हुए अपने शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार, देव, नरक आदि गतियोंमें सुख, दुखका उपभोग करते बैठते है, इसलिये वे अपने पुत्र आदि द्वारा दिये हुए पिण्डका उपभोग करनेकी इच्छा भी कैसे कर सकते है? आपके मतानुयायियोंने कहा भी है—

"यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियोंको तृप्तिका कारण हो सकता है, तो दीपकका निर्वाण होनेपर भी तेलको दीपककी ज्योतिके सवर्धनमे कारण मानना चाहिये।"

तथा, इस लोकमें श्राद्ध आदिसे उत्पन्न पुण्य, परलोक सिधारे हुए पितरोंके पास कैसे पहुँच सकता है? क्योंकि यह पुण्य पितरोंसे भिन्न पुत्र आदिसे किया हुआ रहता है, तथा यह पुण्य जड और गतिहीन है।

यदि कहो कि पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध करनेपर दान देनेवाले पुत्र आदिको ही पुण्य होता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि श्राद्ध आदिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे पुत्रका कोई भी सम्बन्ध नहीं, वह तो निज अध्यवसायजन्य है। अतएव श्राद्धजन्य पुण्य न तो पितरोंका पुण्य कहा जा सकता है, और न पुत्रोंका, इस तरह यह पुण्य त्रिशंकुकी भाँति बीचमे ही लटका रह जाता है। (वसिष्ठ ऋषिके शापमे त्रिशंकु राजा चाडाल होकर, जब विश्वामित्रकी सहायतासे किये हुए यज्ञके माहात्म्यसे पृथ्वीको छोड स्वर्ग जाने लगा, और इन्द्रने कुपित होकर राजाको स्वर्गमे नहीं आने दिया, तब वह पृथिवी और स्वर्गके बीचमें लटका रह गया।

श्रद्धातुमपि न शक्यते । भोजनावसरे तत्सदृक्क्रमलिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात् विप्राणामेव च तृप्तेः साक्षात्करणात् । यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्द्ध्याद् भक्षयन्तः प्रेतप्रायाः, इति मुधैव श्राद्धादिविधानम् । यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभङ्गज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम् ॥

यदप्युदितम् आगमश्चात्र प्रमाणमिति । तदप्यप्रमाणम् । स हि पौरुषेयो वा स्यात्, अपौरुषेयो वा ? पौरुषेयश्चेत् सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा ? आद्यपक्षे युष्मन्मतव्याहतिः । तथा च भवत्सिद्धान्तः ।

"अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः" ॥१॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृत्वेनाश्वासप्रसङ्गः । अपौरुषेयश्चेत् न सम्भवत्येव । स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गशृङ्गवत् । तथाहि । उक्तिर्वचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य । एतत्क्रियाऽभावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते । उपलब्धावप्यदृश्यवक्ताशङ्कासम्भवात् । तस्मात् । यद् वचनं तत् पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसम्भवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथा चाहुः—

उसी प्रकार श्राद्धसे उत्पन्न पुण्यके पिता और पुत्र दोनों ही के अनुपभोगके कारण यह पुण्य बीचमें ही लटका रह जाता है) । वस्तुत यह पुण्य पापका कारण होनेसे पाप ही है । यदि कहें कि ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन पितरोंके पास पहुँच जाता है, तो इसका कौन विश्वास करेगा ? क्योंकि जो भोजन ब्राह्मणोंको खिलाया जाता है, उससे ब्राह्मणोंका ही पेट बढ़ा होता देखा जाता है । पितरोंका ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रविष्ट होना भी विश्वासके योग्य नहीं, क्योंकि ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय उनके शरीरमें पितरोंके प्रवेश होनेका कोई भी चिह्न दिखाई नहीं पड़ता, और भोजन पाकर ब्राह्मणोंकी ही तृप्ति देखी जाती है । ये ब्राह्मण बडे-बडे ग्रासों द्वारा अत्यन्त लोलुपतापूर्वक भोजन करते हुए साक्षात् प्रेतोंके समान मालूम होते हैं । अतएव श्राद्ध आदिमें विश्वास करना बिलकुल व्यर्थ है । तथा, गया आदि तीर्थ स्थानोंमे श्राद्ध करनेके लिए जो कहते हैं, वे कोई ठगनेवाले विभगज्ञानके धारक व्यन्तर आदि नीच जातिके देव ही होने चाहिए ।

इस सम्बन्धमें आप लोगोंने जो आगमको प्रमाण कहा, वह आगम ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता । वह आगम पौरुषेय है ? अथवा अपौरुषेय है ? यदि वह आगम पौरुषेय है तो वह सर्वज्ञकृत है ? या असर्वज्ञकृत ? यदि आगमका बनानेवाला पुरुष सर्वज्ञ है तो आप लोगोंके सिद्धान्तसे विरोध आता है । क्योंकि आपके सिद्धान्तमें कहा है—

"अतीन्द्रिय पदार्थोंका कोई साक्षात् द्रष्टा नहीं है, अतएव नित्य वेद वाक्योंसे ही अतीन्द्रिय पदार्थोंकी यथार्थताका निश्चय होता है ॥१॥"

यदि असर्वज्ञ पुरुषको आगम कर्ता मानो तो असर्वज्ञ पुरुषके सदोष होनेके कारण उस आगममें विश्वास नहीं किया जा सकता । यदि कहो कि आगम अपौरुषेय है तो यह सम्भव नहीं हैं । क्योंकि घोड़ेके सींगके समान उसके स्वरूपका ही निराकरण हो जाता है । कैसे ? उक्तिको वचन कहते है—इस कथनके अनुसार, आगमका स्वरूप पुरुषकी क्रियाके अनुसार होता है । पुरुषकी क्रियाके अभावमें आगम सद्रूप नहीं हो सकता । यह वचन कहीं पर भी केवल ध्वनिके रूपमें नहीं पाया जाता । यदि कहीं ध्वनिके रूपमें पाया भी जाये तो उस स्थानमें किसी अदृश्य वक्ताकी कल्पना करनी होगी । अतएव जो 'वचन' है वह पौरुषेय ही है, वर्णात्मक होनेसे, कुमारसम्भव आदिकी तरह । जैसे कुमारसम्भव आदि वर्णात्मक होनेसे पौरुषेय हैं, वैसे वेद भी वचन रूप होनेसे वर्णात्मक है, इसलिये वेद पौरुषेय है । कहा भी है—

१. तत्त्वार्थसूत्र १-३२ ।

"ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः" ॥

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"[1] इत्यस्य श्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थः । नियामकाभावात् । ततो वरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम् । अस्तु वा अपौरुषेयः, तथापि तस्य न प्रामाण्यम् । आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति । एवं च तस्याप्रामाण्ये, तदुक्तस्तदनुपातिस्मृतिप्रतिपादितश्च हिंसात्मको यागश्राद्धादिविधिः प्रामाण्यविधुर एवेति ॥

अथ योऽयं "न हिंस्यात् सर्वभूतानि"[2] इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः, सामान्यतो विधिरित्यर्थः । वेदविहिता तु हिंसा अपवादपदम्, विशेषतो विधिरित्यर्थः । ततश्चापवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वाद् न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषाय । "उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान्"[3] इति न्यायात् । भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः । तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञानात् । ग्लानाद्यसंस्तरे[4] आधाकर्मादि[5]ग्रहणभणनाच्च । अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा, देवतादिप्रीते, पुष्टालम्बनत्वात् ॥

"वर्णोंका समूह निश्चय ही तालु आदिसे उत्पन्न होता है, तथा वेद वर्णात्मक है । तालु आदि स्थान पुरुषके ही होते है, इसलिये वेद अपौरुषेय नहीं हो सकता ।"

तथा, श्रुतिको अपौरुषेय मान कर भी आप लोगोंने श्रुतिके व्याख्यानको पौरुषेय ही माना है । यदि श्रुतिके अर्थका व्याख्यान पौरुषेय न मानो तो "अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः" (स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला अग्निहोत्र यज्ञकी आहुति दे) इस श्रुतिका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि "स्वर्गके इच्छुकको कुत्तेके मासका भक्षण करना चाहिये" (अग्निहा श्वा तस्य उत्र मास जुहयात् भक्षयेत्) क्योकि यदि श्रुतिका व्याख्याता पुरुष नहीं है, तो अमुक श्रुतिका अमुक ही अर्थ होता है, अन्य नहीं, इसका कोई नियम न रह जायेगा । अतएव श्रुतिके अर्थकी तरह श्रुतिको भी पौरुषेय ही स्वीकार करना चाहिये । अथवा, वेदको यदि अपौरुषेय मान भी ले तो वह प्रमाण नहीं हो सकता । क्योंकि वेदका प्रामाण्य भी आप्त पुरुषोंके वचनोंके ऊपर ही अवलम्बित है । इस प्रकार वेदके अप्रामाण्य होनेपर वेद और स्मृति आदि द्वारा प्रतिपादित हिंसात्मक याग, श्राद्ध आदिका विधान भी अप्रामाण्य ही मानना होगा ।

शंका—(उत्सर्ग—सामान्य—और अपवादके भेदसे विधि दो प्रकारकी होती है) । प्रस्तुत प्रसगमें "किसी जीवकी हिंसा न करो (मा हिस्यात् सर्वभूतानि)" यह सामान्य विधि हैं, तथा "वेदविहित हिंसा पापके लिये नहीं होती" यह अपवाद विधि है । अतएव सामान्य और अपवाद विधिमे अपवाद विधिके बलवान होनेके कारण वेदोक्त हिसा दोषपूर्ण नहीं हें । कहा भी है—"उत्सर्ग और अपवाद विधिमें अपवाद विधि ही बलवान् होती है ।" तथा जैन भी हिंसाका सर्वथा निषेध नहीं करते, क्योकि अमुक कारणोंके उपस्थित होनेपर पृथिवी आदिके वध करनेकी आज्ञा जैन शास्त्रोंमे भी दी गई है । तथा, सामान्य रूपसे साधुओंको उद्दिष्ट भोजनके त्यागकी आज्ञा होनेपर भी, रोग आदिके कारण सयमका पालन करनेमे असमर्थ मुनियोंके लिए उद्दिष्ट भोजन (आधाकर्म) ग्रहण करनेकी आज्ञा जैन शास्त्रोंने दी है । अतएव सामान्यसे हिंसाका निषेध करके भी देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हमारे शास्त्रोंमें यज्ञ सम्बन्धी हिंसाका विधान अपवाद विधिसे ही किया गया समझना चाहिये ।

१ तैत्तरीयसहिता । २ छन्दोग्य उ. ८ । ३. हेमहसगणिसमुच्चितहेमव्याकरणस्थन्यायः । 'मा हिस्यात् सर्वभूतानि' इत्युत्सर्गस्य 'वायव्य श्वेतमालभेत' इति शास्त्रमपवादः । ४. सयमानिर्वाह । ५. आधाय साधूश्चेतसि प्रणिधाय यत्क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म । पृषोदरादित्वादिति यलोपः । आधान साधुनिमित्त चेतस प्रणिधान यथामुकस्य साधो कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति । आधया कर्म पाकादिक्रिया आधाकर्म । तद्योगाद् भक्ताद्यपि आधाकर्म ।

इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह। नोत्सृष्टमित्यादि। अन्यार्थमिति मध्यवर्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनो[1]भयत्रापि सम्बन्धनीयम्। अन्यार्थमुत्सृष्टम्—अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्—उत्सर्गवाक्यम्, अन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते—नापवादगोचरीक्रियते। यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्पर-सापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात्। यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः। तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पंचकादियतनया अनेषणीयादि-ग्रहणमपवादः। सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव। न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराभावोऽसिद्ध इति वाच्यम्।

"सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याऽविरई"[2] ॥

इत्यागमात् ॥

तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्याञ्चिदवस्थायां किञ्चिद्वस्त्वपथ्यं, तदेवावस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यम्—

"उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत् ॥"

समाधान—इस प्रकार अन्य वादियोंकी शका उपस्थित कर स्तुतिकारने 'नोत्सृष्टमित्यादि' कहा है। 'अन्यार्थम्' इस मध्यवर्ती पदको डमरुकमणि न्यायसे दोनो वाक्योंके साथ जोडना चाहिये। किसी एक कार्यके लिये प्रयुक्त किया गया उत्सर्ग वाक्य उससे भिन्न कार्यके लिये प्रयुक्त किये गये वाक्यके द्वारा अपवादका विषय नहीं बनाया जा सकता। जिस कार्यके लिये शास्त्रोंमें उत्सर्ग (वाक्य) प्रवृत्त होता हैं, उसी कार्यके लिये अपवाद (वाक्य) भी प्रवृत्त होता है। क्योंकि अच्छे और बुरे आदि व्यवहारके समान परस्पर सापेक्ष रूपसे एक ही अर्थकी सिद्धि करना उनका विषय है। जिस प्रकार जैन मुनियोके मन–वचन–काय और कृत–कारित-अनुमोदन रूप नव कोटिसे विशुद्ध आहारग्रहण रूप उत्सर्ग सयमकी रक्षाके लिये होता है, उसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव–जन्य आपदाओंसे ग्रस्त मुनिके यदि उसे अन्य कोई उपाय सूझ न पड़े, तो वह पच कोटिसे विशुद्ध अभक्ष्य, उद्दिष्ट आदि आहारका ग्रहण कर सकता हे, जो अपवाद है। वह भी केवल सयमकी रक्षाके लिये ही है। क्योंकि मरणासन्न मुनिके अपवाद मार्गका अवलम्बन करनेके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। यदि कहो, कि मरणासन्न मुनिके भी अन्य उपायका अभाव असिद्ध है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि—

"मुनिको सर्वत्र सयमकी रक्षा करना चाहिए। सयमकी अपेक्षा अपनी ही रक्षा करनी चाहिए। इस तरह मुनि सयमभ्रष्टतासे मुक्त हो जाता है। वह फिरसे विशुद्ध हो सकता है, और वह अविरतिका भागी नहीं होता।"

ऐसा आगमका वचन है।

आयुर्वेदमें भी जो वस्तु रोगकी एक अवस्थामें अपथ्य है, वही दूसरी अवस्थामें पथ्य कही गयी है। कहा भी है—

"देश और कालसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंमें न करने योग्य कार्योंको करना पड़ता है, और करने योग्य कार्योंको छोड़ना पड़ता है।"

१ डमरुमध्ये प्रतिबद्धो मणिरेक एव सन् डमरुविचाले तदुभयाङ्गसंबद्धो भवति तद्वदेकमेवान्यार्थमिति पदमुभयत्र सबध्यते। अयमेव न्यायो देहलीदीपन्याय इत्यप्यभिधीयते।

२. छाया—सर्वत्र सयम सयमादात्मानमेव रक्षेत्। मुच्यतेऽतिपातात्पुनर्विशुद्धिर्न चाविरतिः ॥
निशीथचूर्णीपीठिकाया ४५१ इत्यस्य चूर्णी।

इति वचनात् । यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं, क्षीणधातोस्तु तद्विपर्ययः । एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम् । तथा च वैद्याः—

"कालाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितम् ।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरान् ॥"

एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो, यत्र तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः । स खलूभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थः । इति सिद्धमेकविषयकत्वमुत्सर्गापवादयोरिति ॥

भवतां चोत्सर्गोऽन्यार्थः अपवादश्चान्यार्थः "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इत्युत्सर्गो हि दुर्गतिनिषेधार्थः । अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः । अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते । "तुल्यबलयोर्विरोध" इति न्यायात् । भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधने अतिप्रसङ्गात् । न च वाच्यं वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति । तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात् । तमन्तरेणापि च प्रकारान्तरैरपि तत्सिद्धिभावात् गत्यन्तराभावे ह्यपवादपक्षकक्षीकारः । न च वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे, किन्तु भवदाप्ता अपि । यदाह व्यासमहर्षिः—

"पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः ।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥"

जैसे बलवान ज्वरके रोगीको लघन स्वास्थ्यप्रद है, परन्तु क्षीणधातु ज्वरके रोगीको वही लघन घातक होता है, इसी तरह किसी देशमे ज्वरके रोगीको दही खिलाना पथ्य समझा जाता है, परन्तु वही दही दूसरे देशके ज्वरके रोगीके लिए अपथ्य है । वैद्योंने भी कहा है—

"वात, श्रम, क्रोध, शोक और कामजन्य ज्वरको छोडकर दूसरे ज्वरोंमें ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओंके अनुकूल लघन करना हितकारी कहा गया है ।"

अतएव एक रोगमें जिस अपथ्यका त्याग किया जाता है, वही अपथ्य उसी रोगकी दूसरी अवस्थामें उपादेय होता है। परन्तु एक रोगकी दोनों अवस्थाओंमें अपथ्यका त्याग और अपथ्यका ग्रहण दोनों ही रोगको शमन करनेके लिए होते हैं । इसलिए उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही विधि एक ही प्रयोजनको सिद्ध करती है, इसलिए अपवाद विधि उत्सर्ग विधिसे बलवान नहीं हो सकती ।

आप लोगोंके वक्तव्यमें उत्सर्ग विधि और अपवाद विधि दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंके साधक है। जैसे, "किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिए," यह उत्सर्ग विधि नरक आदि कुगतियोंका निषेध करनेके लिए बतायी गयी है । तथा, "वेदोक्त हिंसा हिंसा नहीं है," यह अपवाद विधि देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करनेके लिए कही गयी है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं, अतएव उत्सर्ग विधि अपवाद विधिसे बाधित नहीं हो सकती। "तुल्य बल होनेपर ही विरोध होता है," इस न्यायसे उत्सर्ग और अपवादके भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंके सिद्ध करनेपर भी उत्सर्ग और अपवादमें विरोध नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहे कि वैदिक हिंसा भी स्वर्गका कारण है, उससे भी दुर्गतिका निषेध होता है, अतएव उत्सर्ग और अपवाद एक ही प्रयोजनके साधक है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि वैदिक हिंसा स्वर्गका कारण नहीं हो सकती, इसका हम खण्डन कर आये हैं । वैदिक हिंसाके बिना अन्य साधनोंसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है । यदि स्वर्गकी प्राप्तिके लिए अन्य साधन न होते, तो आप वैदिक हिंसासे स्वर्ग पानेके लिए अपवाद विधि स्वीकार कर सकते थे । परन्तु आपने स्वयं यम, नियम आदिको स्वर्गका कारण माना है (देखिये गौतमधर्मसूत्र, पातंजल्योगसूत्र, मनुस्मृति आदि) । तथा, केवल हम जैन लोग ही वेदोक्त यज्ञ विधानका निषेध नहीं करते, आप लोगोंके पूज्य व्यास जैसे ऋषियोंने भी कहा है—

"पूजासे विपुल राज्य, अग्निकार्य (यज्ञ) आदिसे सम्पदा, तपसे पापोंकी शुद्धि तथा ज्ञान और ध्यानसे मोक्ष मिलता है ।"

अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागादिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्यानां संपदामेव हेतुत्वं वदन्नाचार्यः तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितवानेव । तथा च स एव भावाग्निहोत्रं ज्ञानपालीत्यादिश्लोकैः स्थापितवान् ॥

तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति स्वपुत्रेत्यादि । परेषां भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं—चेष्टितम्, स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारिनिजसुतनिपातेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम् । यथा किल कश्चिदविपश्चित् पुरुषः पुरुषाशयतया निजमङ्गजं व्यापाद्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते । न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति । एवं वेदविहितहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धावपि, हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्यते । अत्र च लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति यथा तस्य दुराशयस्यासदृशताहृग्दुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव, न पुनस्तत्सिद्धिः । एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवतादिपरितोषणे मनोराज्यमेव । न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्रादिदिवौकसां च तृप्तिः । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥११॥

यहाँ व्यास ऋषिने 'अग्निकार्य' शब्दसे याग आदिके विधानको केवल सम्पदाओंका ही कारण माना है, सुगतिका कारण नहीं बताया । तथा 'ज्ञानपालि' आदि श्लोकोंसे व्यास ऋषि भाव-अग्निहोत्र (भावयज्ञ) का प्रतिपादन कर चुके हैं ।

अतएव जैसे कोई मूर्ख पुरुष कठोर स्वभावके कारण अपने पुत्रका वध करके राज्यको प्राप्त करना चाहता है, और राज्य पानेपर वह पुत्रवधके पापसे मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार याज्ञिक लोग वेदोक्त हिंसाके द्वारा देवता आदिको प्रसन्न करके स्वर्गको प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु यदि हिंसाके द्वारा देवता आदि प्रसन्न होते भी हों, तो भी याज्ञिक लोग हिंसाजन्य पापसे मुक्त नहीं हो सकते । यहाँ 'लिप्सा' शब्दसे स्तुतिकार कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार अपने पुत्रका वध करनेवाले पापी पुरुषको राज्यकी प्राप्ति नहीं होती, वह केवल राज्यको पानेकी इच्छा मात्र ही करता रहता है, उसी तरह वेदोक्त हिंसाका अनुष्ठान करते हुए भी हिंसासे देवता आदिको प्रसन्न करना केवल इच्छा मात्र है । वास्तवमें न तो हिंसासे देव लोग प्रसन्न होते हैं, और न हिंसक पुरुषोंकी जनसमाजमें कोई प्रतिष्ठा ही बढ़ती है, इसका युक्तिपूर्वक खंडन किया जा चुका है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥ ११ ॥

भावार्थ—(१) इस श्लोकमें वैदिकों की हिंसाका खण्डन किया गया है । वैदिक—वेदमें प्रतिपादित हिंसा पुण्यका कारण है, क्योंकि उस हिंसासे प्रसन्न होकर देवता वृष्टि करते हैं, अतिथि दया दिखलाते हैं, और पितर संतानकी वृद्धि करते है । जैन—किसी भी प्रकारकी हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती । यदि हिंसा धर्मका कारण हो, तो वह हिंसा नहीं कही जा सकती। तथा हेतुसर प्रतिपादित हिंसा हिंसा नहीं है, यह कहनेमे भी प्रत्यक्ष विरोध आता है । मन्त्र आदिके बलसे वेदोक्त हिंसा पापका कारण नहीं होती, और इस प्रकारकी हिंसासे स्वर्ग मिलता है, यह कहना भी असत्य है । क्योंकि मन्त्रोंको पढ़-पढ़कर पशुओंके वध करनेमें भी मूक पशु अनन्त वेदनासे छटपटाते हुए देखे जाते हैं । वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए पशुओंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है, इसमें भी कोई प्रमाण न होनेसे यह बात विश्वसनीय नहीं हैं । तथा, जिस प्रकार विवाह, गर्भाधान आदि कार्योंमें वेदोक्त मन्त्रविधिके प्रयोग करनेपर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती, उसी तरह मन्त्र से संस्कृत हिंसासे भी स्वर्ग नहीं मिलता ।

शंका—जिस प्रकार जैन मन्दिरोंके निर्माण करनेमें त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा होनेपर भी जैन लोग मन्दिरोंके बनानेमें पुण्य समझते है, उसी तरह वेदोमे प्रतिपादित हिंसा भी पुण्यका ही कारण होती है । समाधान—जैन मन्दिरोंके निर्माणमें हिंसा अवश्य होती है, परन्तु मन्दिरमें जिनप्रतिमाके दर्शनसे उत्पन्न

सांप्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानाम् एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह—

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

बोधो—ज्ञानं, स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते । स्वस्य—आत्मस्वरूपस्य, अर्थस्य च पदार्थस्य योऽवबोधः—परिच्छेदस्तत्र, क्षम एव—समर्थ एव प्रतिभासते इत्ययोगव्यवच्छेदः । प्रकाशत इति क्रियया अवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः सर्वप्रकाशानां स्वार्थप्रकाशकत्वेन,

---

होनेवाले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जैसे महान् पुण्यके सामने वह नगण्य है । जिस प्रकार कोई वैद्य रोगीको अच्छा करनेके लिये नश्तर लगाना, लघन कराना आदि दु ख रूप क्रियाओंको करता हुआ भी अपने शुभ परिणामोंके कारण पुण्यका ही भागी होता है, उसी तरह जिन मन्दिरोंका निर्माण शुभ परिणामोंसे अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है । तथा, वेदोक्त हिसा स्वर्गकी प्राप्तिमें कारण नहीं होती । क्योंकि वध-स्थलपर ला कर इकट्ठे किये हुए पशुओंका करुणापूर्ण आक्रन्दन अशुभ गतिका ही कारण होता है । तथा, आप लोगोंने स्वय यम, नियमादिको स्वर्ग पानेमें कारण बताया है । तथा, यदि यज्ञमें वध किये हुए सब पशुओंको स्वर्ग मिलने लगे, तो ससारके सभी हिंसकोंको स्वर्ग मिल जाना चाहिए । अतएव साख्य मतके अनुयायियोंने कहा है-"यदि पशुओंको मारकर, उनके रक्तसे पृथ्वी मण्डलको सींचकर, स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिये और भी महा भयकर पाप करने चाहिये ।" तथा यदि छोटे-छोटे मूक-पशुओंके वधसे स्वर्ग मिल सकता है, तो अपने माता-पिताकी यज्ञमें आहुति देनेसे मोक्ष मिलना चाहिये ।

शंका—वाक्य सामान्य और अपवादके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । जैसे, 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि,' अर्थात् किसी प्राणीको मत मारो, यह सामान्य वाक्य है, और 'वेदोक्त हिंसा पुण्यका कारण होती है' यह अपवाद वाक्य है । सामान्य और अपवाद वाक्योंमें अपवाद वाक्य विशेष बलवान् होता हैं, इसलिये वेदोक्त हिंसामें पाप नहीं है । **समाधान**—सामान्य और अपवाद दोनों वाक्य एक ही भावके द्योतक होने चाहिये, परन्तु प्रस्तुत प्रसगमें अपवाद वाक्य देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करनेके लिये है, और सामान्य वाक्य पाप और उसके फलको दूर करनेके लिये बताया गया है । तथा, देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हिंसाके अतिरिक्त अन्य दूसरे उपाय आपके शास्त्रोंमें भी बतलाये हैं, फिर आप हिंसात्मक उपायोंका ही क्यों समर्थन करते हैं ।

(२) इस लोकमें ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन किसी भी तरह मृत प्राणियोंको तृप्त नहीं कर सकता । इसलिये श्राद्ध करना भी धर्म नहीं है (देखिये व्याख्या) ।

(३) वर्णात्मक वेद तालु आदिसे उत्पन्न होता है, और तालु आदि स्थान पुरुषके ही सभव हैं । तथा, श्रुतिके तात्पर्यको समझानेके लिये भी किसी वक्ताकी आवश्यकता है, अतएव वेदको पौरुषेय मानना ही युक्तियुक्त है ।

अब ज्ञानको प्रत्यक्ष न मान कर उसे नित्य परोक्ष माननेवाले भट्ट मीमासक, तथा एक ज्ञानको अन्य ज्ञानोंसे सवेद्य स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिक लोगोंके मतको दूषित सिद्ध करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—ज्ञान अपनेको और दूसरे पदार्थोंको जाननेमें समर्थ ही हैं । यदि वह स्वरूप-प्रकाशक न हो तो पदार्थ सम्बन्धी कथन प्रकट नहीं हो सकता । तथापि ज्ञानके स्वपर-प्रकाशक होने पर भी पूर्वपक्ष वादियोंके भयसे अन्य लोग ज्ञानको आत्मनिष्ठ स्वीकार नहीं करते ।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार दीपक अपने और दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान निज और पर पदार्थोंको जानता है । यदि ज्ञानको स्वसंविदित न माना जाय, तो पदार्थोंकी अस्ति-नास्ति रूप व्यवस्था नहीं बन सकती । क्योंकि यदि ज्ञान स्वसंवेदन रूप नहीं हो, तो एक ज्ञानके जाननेके लिये दूसरा

बोधस्यापि तत्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह । नार्थकथान्यथात्विति । अन्यथेति—अर्थप्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् ।। अर्थकथा—पदार्थसम्बन्धिनी वार्ता, सदसद्रूपात्मकं स्वरूपमिति यावत् । तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च स चार्थकथया सह योजित एव । यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनात्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयं तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था । ततो ज्ञानं तावत् स्वावबोधव्यग्रतामग्नम् । अर्थस्तु जडतया स्वरूपज्ञापनासमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत् । तथापि एवं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि, परे—तीर्थान्तरीयाः, ज्ञानं—कर्मतापन्नम्, अनात्मनिष्ठं—न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम्, अस्वसंविदितमित्यर्थः, प्रपेदिरे—प्रपन्नाः कुतः इत्याह । परेभ्यो भयतः, परे—पूर्वपक्षवादिनः, तेभ्यः सकाशात् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रिया विरोधादित्युपालम्भसम्भावनासम्भवं यद्भयं तस्मात तदाश्रित्येत्यर्थः ।।

इत्थमक्षरगमनिकां विधाय भावार्थः प्रपञ्च्यते । भट्टास्तावदिदं वदन्ति । यत् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमधिरोढुं पटुः, न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा । ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति । तदेतन्न सम्यक् । यतः किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते ज्ञप्तिर्वा ? यद्युत्पत्तिः सा विरुध्यताम् । नहि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे । अथ ज्ञप्तिः नेयमात्मनि विरुद्धा । तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात् । प्रकाशात्मनेव प्रदीपालोकस्य । अथ प्रकाशात्मैव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परप्रकाशोऽस्तु । आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्यायः इति चेत्, तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद् वास्य प्रकाशेन भवितव्यम् । प्रथमे प्रत्यक्षबाधः । द्वितीयेऽपि सैवानवस्थापत्तिश्च ।।

और दूसरेके लिये तीसरे ज्ञानकी आवश्यकता होनेसे अनवस्था दोष मानना पडेगा। इसलिये जब ज्ञान ही अपने आपको नहीं जान सकता, तो फिर जड़ रूप पदार्थोंके ज्ञान कैसे हो सकता हैं ? अतएव पदार्थके विषयमें कोई वात करना भी असभव हो जायगा। इस प्रकार युक्तिसे ज्ञानके स्वसवेदन रूप सिद्ध होनेपर भी 'आत्मामें क्रियाके विरोध होनेसे ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं हो सकता'-दूसरे वादियोंके इस उपालम्भके भयसे भट्टमतके अनुयायी ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानते ।

भट्ट मीमांसक—ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंको ही जानना है। प्रकाश हाना क्रिया है, इसलिये कोई भी क्रिया स्वय ही अपना विषय नहीं हो सकती। जैसे चतुरसे चतुर नट भी स्वय अपने कधेपर नहीं चढ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया होना सभव नहीं है, अतएव ज्ञान परोक्ष ही है। जैन—यह ठीक नहीं। हम पूछते हैं, ज्ञानमें ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे विरोध आता है ? अथवा ज्ञानमें जाननेकी क्रियाकी (ज्ञप्तिकी), उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है ? यदि ज्ञानमें ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है तो भले ही आ जाय। ज्ञान अपने आपको उत्पन्न करता है, ऐसा हम भी नहीं मानते। यदि ज्ञानमे जाननेकी क्रियाकी उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है तो यह जाननेकी क्रियाकी ज्ञानमें उत्पत्ति होना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार प्रकाशात्मक रूपसे ही प्रदीपका प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जाननेकी क्रिया रूपसे ही ज्ञान अपने हेतुओंसे उत्पन्न होता है। शंका—प्रकाशात्मक रूपसे उत्पन्न प्रदीपका आलोक दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करने वाला भले ही हो, लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आपको भी प्रकाशित करता है। समाधान—यदि ऐसी बात है तो उस विचारेको अप्रकाशित ही रहना चाहिये, अथवा किसी अन्य प्रकाशसे प्रकाशित होना चाहिये। प्रथम पक्षमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। द्वितीय पक्षमें वही अनवस्था दोष उपस्थित होता हैं।

अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः। प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति चेत्, चिरञ्जीव। न हि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः। ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य चकासनात्। यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयापि तद्भाति, तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव ॥

यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः सोऽयुक्तः। अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधा[1]सिद्धेः। घटमहं जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात्। न चाप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात्। उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था। अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः ॥

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत यदि ज्ञानं न स्यात्, इत्यर्थापत्त्या[2] तदुपलम्भ इति चेत्। न। तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात्। अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञानेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेः तदवस्थः परिभवः। तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयाऽपि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वसंविदितत्वम् ॥

शंका—अपनी अपेक्षा करके यह प्रदीप कर्म रूपसे प्रकाशमान नहीं होता, अत अस्वप्रकाशकरूपसे स्वीकृत होता है, अर्थात् वह अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता, प्रकाश रूपसे उत्पन्न होनेसे वह स्वय प्रकाशमान होता ही है। **समाधान**—यदि ऐसी बात है तो ज्ञान कर्म रूपसे ही प्रकाशमान होनेसे स्वसवेद्य होता है, ऐसा हम भी नहीं मानते। क्योंकि 'ज्ञान स्वय प्रकाशमान होता है' इस वाक्यमें भी कर्मरूप न होनेवाला ज्ञानका प्रकाश होता है। जिस प्रकार 'ज्ञान अपने आपको जानता है' इस प्रकार कर्मरूपसे वह भासित होता है, वैसे ही 'प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता है' इस प्रकार प्रदीप भी कर्मरूपसे प्रकट होता है।

ज्ञानमें स्वसवेदन क्रियाका सद्भाव होनेसे जो विरोध रूप दोष बताया गया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि अनुभवसे सिद्ध पदार्थोमें यह विरोध नहीं देखा जाता। जिस प्रकार 'मै घटको जानता हूँ' इत्यादि प्रयोगोंमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होता है, उसी तरह जाननेकी क्रियाका ज्ञान भी अवभासित होनेसे विरोध रहित है। जो ज्ञान स्वयको नहीं जानता उस ज्ञान द्वारा ज्ञेयार्थको जानना सिद्ध नहीं होता। किसी अन्य ज्ञान द्वारा उस अज्ञात ज्ञानको जाननेकी सभावना नहीं, क्योंकि अज्ञात रूप अन्य ज्ञान प्रस्तुत अज्ञात ज्ञानको प्रत्यक्ष रूपसे नहीं जान सकता। उस अज्ञात रूप अन्य ज्ञानको जानने वाले अन्य ज्ञानकी कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है। ज्ञेयार्थका ज्ञान होने पर ज्ञातृज्ञानका ज्ञान होता है, इस सिद्धातके माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि ज्ञेयार्थका ज्ञान होने पर ज्ञातृज्ञानका ज्ञान होगा और ज्ञातृज्ञान होने पर ज्ञेयार्थका ज्ञान हो सकेगा।

भट्टमीमांसक—यदि अर्थ (घट) का ज्ञान न हुआ तो उस अर्थज्ञान (घटज्ञान) के अभावमें अर्थ (घट) की प्रकटता नहीं होगी, अतएव अर्थापत्तिसे अर्थ (घट) ज्ञातृज्ञान जाना जाता है। **जैन**—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसे अपना ज्ञापकत्व स्वरूप अज्ञात होता है, ऐसी अर्थापत्तिका ज्ञापकत्व (अर्थज्ञातृज्ञापकत्व ज्ञान) घटित नहीं होता। अन्य अर्थापत्ति ज्ञानसे प्रकृत अर्थापत्तिके ज्ञापकत्व स्वरूपका ज्ञान होने पर अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष आ जानेसे दोषापत्ति जैसी की तैसी बनी रहती है। अतएव जिस प्रकार ज्ञान ज्ञेयार्थके उन्मुख होता है, उसी प्रकार स्वोन्मुख भी होनेसे उसका स्वसंविदितत्व सिद्ध होता है।

१. न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्।

२. 'पुष्टो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्ये पुष्टत्वान्यथानुपपत्त्या यथा रात्रिभोजनं कल्प्यते तथात्र घटज्ञानं विना घटप्राकट्यं नोपलभ्यत इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञानं कल्प्यते।

नन्वनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः। प्रयोगस्तु ज्ञानमनुभवरूपमप्यनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वाद्, घटवत्, अनुभाव्यं च भवद्भिरिष्यते ज्ञानं, स्वसंवेद्यत्वात। नैवम्। ज्ञातुर्ज्ञातृत्वेनेवानुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात। न चानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः। अर्थापेक्षयानुभूतित्वात्[1] स्वापेक्षया चानुभाव्यत्वात्। स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववद् विरोधाभावात्॥

अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः। तथाहि। ज्ञानं स्वयं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात, प्रदीपवत। संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत। न। अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः।

ननु नेत्रादयः प्रकाशका अपि स्वं न प्रकाशयन्तीति प्रकाशकत्वहेतोरनैकान्तिकतेति चेत, न नेत्रादिभिरनैकान्तिकता। तेषा लब्ध्युपयोग[2]लक्षणभावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणा च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः, यथा घटः॥

शंका—यदि अनुभूति (ज्ञान) को अनुभाव्य (ज्ञेय) स्वीकार किया जाय, तो ज्ञेय घट-पटके समान ज्ञानको भी अज्ञान रूप मानना चाहिये। अतएव 'ज्ञान अनुभव रुप होकर भी अनुभाव्य (ज्ञेय) होनेसे घटकी तरह अनुभूति (ज्ञान) नहीं हो सकती।' और आपने ज्ञानको अनुभाव्य माना है, स्वसंवेद्य होनेसे। समाधान—जैसे ज्ञाताका ज्ञातृत्व रुपसे अनुभव होता है, वैसे ही अनुभूति भी अनुभूति रुपसे ही अनुभवमें आती है। तथा, अनुभूतिको अनुभाव्य माननेमें दोष नहीं आता, क्योंकि अनुभूति पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा अनुभूति रूप है, परन्तु जब वही अनुभूति स्वसंवेदन करती है, तब वह अनुभाव्य कही जाती है। जिस प्रकार एक ही पुरुषको अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्रोंकी अपेक्षा पिता कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही अनुभूति भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे अनुभूति और अनुभाव्य कही जाती है। इसलिये कोई विरोध नहीं है।

तथा, 'ज्ञान स्वय प्रकाशित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंको जानता है, क्योंकि वह प्रकाशक है, दीपककी तरह' इस अनुमानसे ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि होती है। यदि कहो कि ज्ञान प्रकाश्य है, इसलिये प्रकाशक नहीं हो सकता तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान अज्ञानको नाश करता है, इसलिए वह प्रकाशक ही है।

शंका—नेत्र आदि प्रकाशक होनेपर भी अपने आपको प्रकाशित नहीं करते, इसलिए प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक है। समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र आदि लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रियद्वारा अपने आपको भी जानते हैं। (मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते है। लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय कही जाती है। स्पर्शन, रसना आदि पाच इन्द्रियोंके आवरणके क्षयोपशम होनेपर पदार्थोंके जाननेकी शक्तिविशेषको लब्धि, तथा अपनी अपनी लब्धिके अनुसार आत्माके पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेको उपयोग कहते हैं।) भावेन्द्रियाँ स्वसंवेदन रुप होती है, अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है। अतएव ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि वह पदार्थोंको जानता है, जो स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पदार्थोंको नहीं जानता, जैसे घट।

---

१. प्रदीपस्यार्थापेक्षया प्रकाशकत्वं स्वापेक्षया च प्रकाश्यप्रकाशकत्वम्।

२. जन्तोः श्रोत्रादिविषयस्तत्तदावरणस्य यः।
स्यात् क्षयोपशमो लब्धिरूपं भावेन्द्रियं हि तत्॥
स्वस्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु य आत्मनः।
व्यापार उपयोगाख्यं भवेद्भावेन्द्रियं च तत्॥ लोकप्रकाशे ३॥

तदेवं सिद्धेऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे "सत्संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं, तस्मादर्थापत्तिः, तथा प्रवर्तकज्ञानस्योपलम्भः"[1] इत्येवंरूपा त्रिपुटीप्रत्यक्षकल्पना भट्टानां प्रयासफलैव ॥

यौगास्त्वाहुः। ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम्, ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत्। समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतानन्तरोद्भविष्णुमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनः स्वेन। न चैवमनवस्था। अर्थावसायिज्ञानोत्पादमात्रेणैवार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात्। अर्थज्ञानजिज्ञासायां तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति। तदयुक्तम्। पक्षस्य प्रत्यनुमानबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तथाहि। विवादास्पदं ज्ञानं स्वसंविदितं, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत्। न चायं वाद्यप्रतीतो दृष्टान्तः, पुरुषविशेषस्येश्वरतया जैनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धेः ॥

व्यर्थविशेष्यश्चात्र तव हेतुः, समर्थविशेषणोपादानेनैव साध्यसिद्धेः। अग्निसिद्धौ धूमवत्त्वे सति द्रव्यत्वादितिवद्, ईश्वरज्ञानान्यत्वादित्येतावतैव गतत्वात्। न हीश्वरज्ञानादन्यत् स्वसंविदितमप्रमेयं वा ज्ञानमस्ति, यद्व्यवच्छेदाय प्रमेयत्वादिति क्रियेत। भवन्मते तदन्यज्ञानस्य सर्वस्य प्रमेयत्वात् ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानसे ज्ञानके स्वयं संवेदक सिद्ध हो जानेपर भाट्टोंकी त्रिपुटी प्रत्यक्षकी कल्पना करना भी बिलकुल व्यर्थ है। भाट्टोंके अनुसार, (१) विद्यमान पदार्थोंके साथ इन्द्रिय और बुद्धिका संयोग होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है, (२) इस ज्ञानसे अर्थप्राकट्य, अर्थात् पदार्थका ज्ञान होता है, (३) पदार्थके ज्ञानसे होनेवाली अर्थापत्तिसे प्रकाशक ज्ञानका संवेदन होता है। इसे भाट्ट मतमें त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहा है।

न्यायवैशेषिक—घटसे भिन्न ज्ञानके द्वारा जिस प्रकार घट प्रकाशित किया जाता है, उसी प्रकार ईश्वरज्ञानसे भिन्नता होने पर प्रमेय रूप होनेसे ज्ञान अपनेसे भिन्न ज्ञानके द्वारा प्रकाश्य है। अपनी उत्पत्ति होनेके बाद जिसका एक आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध होता है, ऐसे पदार्थका ज्ञान अपनी उत्पत्तिके बाद उत्पन्न होने वाले मानस प्रत्यक्षके द्वारा जाना जाता है, स्वयं अपने द्वारा नहीं जाना जाता। इस प्रकार ज्ञानको अन्य ज्ञान द्वारा प्रकाश्य मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता। क्योंकि अर्थको जाननेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति मात्रसे ज्ञातृज्ञानके प्रयोजनकी सिद्धि हो जाने पर ज्ञातृज्ञान कृतार्थ हो जाता है। जब प्रमाताको पदार्थोंको जाननेकी इच्छा होती है उस समय भी ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। जैन—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'ज्ञान अपने से भिन्न ज्ञानके द्वारा जाना जाता है'—इस अनुमानका पक्ष 'विवादास्पद ज्ञान स्वसंविदित है, ज्ञान होनेसे, ईश्वरज्ञानकी भाँति'—इस प्रति अनुमानसे बाधित होनेके कारण हेतु कालात्ययापदिष्ट (हेत्वाभास) हो गया है (जो हेतु पक्षके प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणोंके द्वारा बाधित किये जाने पर उपस्थित किया जाता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहते है)। यहाँ ईश्वरज्ञानका दृष्टांत अप्रतीत नहीं क्योंकि पुरुष विशेषको जैनोंने भी ईश्वररूपसे स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त, उक्त हेतु व्यर्थविशेष्यसे दूषित है, क्योंकि यहाँ समर्थ विशेषणसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। 'ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम् ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् घटवत्' (ज्ञान अपनेसे भिन्न ज्ञानके द्वारा प्रकाश्य है, ईश्वरज्ञानसे भिन्न होने पर, घटकी भाँति)—यहाँ 'ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति' विशेषणको ग्रहण करनेसे ही 'ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य'—साध्यकी सिद्धि हो जाती है, अतएव 'प्रमेयत्वात्' विशेष्य व्यर्थ है।

---

१. जैमिनिसूत्रे १-१-४५ सूत्रार्थानुगुणमेतत्। घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातत्वं प्रतिसंधीयते। तेन, ज्ञाते जाते सति 'ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जातः' इत्यनुमीयते। सा च (ज्ञातता) ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्वाच्च, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां 'ज्ञानेन जन्यते' इत्यवधार्यते (तर्कभाषा पृ. २२)। ज्ञानस्य मितिः माता मेयम् तद्विषयकत्वात् त्रिपुटी तत्प्रत्यक्षता।

अप्रयोजकश्चायं हेतुः। सोपाधित्वात्। साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिरभिधीयते। तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणामवत्। उपाधिश्चात्र जडत्वम्। तथाहि ईश्वरज्ञानान्यत्वे प्रमेयत्वे च सत्यपि यदेव जडं स्तम्भादि तदेव स्वस्मादन्येन प्रकाश्यते। स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणं। न च ज्ञानं जडस्वरूपम्। अतःसाधनाव्यापकत्वं जडत्वस्य। साध्येन समव्याप्तिकत्वं[1] चास्य स्पष्टमेव। जाड्यं विहाय स्वप्रकाशाभावस्य तं च त्यक्त्वा जाड्यस्य क्वचिदप्यदर्शनात् इति॥

यच्चोक्तं समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतम् इत्यादि। तदप्यसत्यम्। इत्थमर्थज्ञानतज्ज्ञानयोरुत्पद्यमानयोः क्रमानुपलक्षणत्वात्। आशूत्पादात्क्रमानुपलक्षणमुत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् इति चेत्, तन्न। जिज्ञासाव्यवहितस्यार्थज्ञानस्योत्पादप्रतिपादनात्। न च ज्ञानानां जिज्ञासास-

जैसे 'पर्वतोऽय अग्निमान्, धूमवत्वे सति द्रव्यत्वात्'—इस अनुमानमे 'धूमवत्वे सति' विशेषणसे ही 'पर्वतोऽय अग्निमान्' साध्यकी सिद्धि हो जाती है, अतएव यहाँ 'द्रव्यत्वात्' विशेष्य व्यर्थ है। तथा, उक्त अनुमानमें जिसकी व्यावृत्ति करनेके लिये 'प्रमेयत्वात्' विशेष्यका प्रयोग किया जाता है, उस ईश्वरज्ञानसे भिन्न स्वसंविदित अथवा अप्रमेय ज्ञानका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि आपके मतमें ईश्वरज्ञानसे भिन्न सभी ज्ञान प्रमेय है।

तथा, 'अप्रमेयत्व' हेतु सोपाधिक होनेसे अप्रयोजक भी है। साधनके साथ अव्याप्ति और साध्यके साथ समव्याप्ति होनेको उपाधि कहा जाता है। जैसे, 'जो स्त्री गर्भवती अवस्थामें शाक आदिका सेवन करती है, उसके श्याम वर्णका पुत्र होता है, और जो उसका सेवन नहीं करती, उसके श्याम वर्णका पुत्र नहीं होता'—यहाँ स्त्रीके पुत्रत्वरूप हेतुके द्वारा उस पुत्रका श्यामत्व साध्य होनेपर, शाक आदि आहारका परिणाम उसके पुत्रत्वरूप साधनके साथ व्याप्त नहीं हैं (उसके साथ उसका अविनाभाव संबंध नहीं है), तथा श्यामत्वरूप साध्यके साथ समव्याप्त है। अतएव सोपाधिक है। ('जो स्त्री गर्भवती अवस्थामे शाक आदिका आहार करती है, उसका पुत्र श्याम वर्णका होता है, और जिसका पुत्र श्याम वर्णका होता है, वह गर्भवती अवस्थामें शाक आदिका आहार करती है'—यहाँ शाक आदि आहार-परिणामकी गर्भवती स्त्रीरूप साधनके साथ व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक गर्भवती स्त्री, जिसका गर्भोत्पन्न पुत्र श्याम वर्णका हो, शाक आदिका आहार करती ही हो, ऐसा नियम नहीं है, पुत्रके श्यामत्व रूप साध्यके साथ ही उसकी व्याप्ति है। अतएव तत्पुत्रत्व रूप हेतुको यहाँ सोपाधिक होनेसे अप्रयोजक (साध्यकी सिद्धि न करनेवाला) कहा गया है। इसी प्रकार 'ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्' इस अनुमानमे 'जडत्व' उपाधि होनेसे अप्रयोजक होनेके कारण यह 'स्वान्यप्रकाश्य' साध्यकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। ज्ञानके ईश्वरज्ञानसे भिन्नत्व और प्रमेयत्व होने पर भी, जो जड (अचेतन) स्तंभ आदि है, वह अपनेसे भिन्न ज्ञानके द्वारा प्रकाशित किया जाता है। अपने प्रकाशमे दूसरेका अवलम्बन ग्रहण करना जडत्वका लक्षण है। ज्ञान जड़स्वरूप नहीं है। अतः जड़त्व ईश्वरज्ञानसे भिन्नरुप और प्रमेयरुप साधनमे व्याप्त नहीं है, स्वान्यप्रकाशरुप साध्यके साथ जड़त्वकी व्याप्ति स्पष्ट है। क्योंकि जड़त्वको छोड़कर स्वप्रकाशका अभाव (जडत्वके अभावमें स्वप्रकाशका अभाव) और स्वप्रकाशकको छोड़कर जडत्व नही रहता।

तथा आप लोगोंने जो कहा कि एक आत्माके साथ समवाय संबधको प्राप्त ज्ञेय पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्ति के बाद उत्पन्न होनेवाले मानस प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले पदार्थका ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें पदार्थका ज्ञान पहले होता है, और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान पीछे होता है, ऐसा कोई क्रम नहीं देखा जाता। यदि आप कहे कि पदार्थका ज्ञान और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान दोनों क्रमसे ही होते है, परन्तु यह क्रम इतनी शीघ्रतासे होता है, कि उसे हम नहीं देख सकते। जैसे कमलके

१ यत्र यत्र जाड्यं तत्र तत्र स्वप्रकाशाभाव। यत्र च स्वप्रकाशाभावस्तत्र तत्र जाड्यमिति सम्यग्हेतौ सैकविधैव व्याप्ति। न हि भवति यत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र धूम इति। अङ्गारावस्थाया धूमानुपलम्भनात्।

मुत्पाद्यत्वं घटते। अजिज्ञासितेष्वपि योग्यदेशेषु विपयेषु तदुत्पादप्रतीतेः । न चार्थज्ञानमयोग्यदेशम् । आत्मसमवेतस्यास्य समुत्पादात् । इति जिज्ञासामन्तरेणैवार्थज्ञाने ज्ञानोत्पादप्रसङ्गः । अथोत्पद्यतां नामेदं को दोषः इति चेत्, नन्वेवमेव तज्ज्ञानज्ञानेऽप्यपरज्ञानोत्पादप्रसङ्गः । तत्रापि चैवमेवायम् । इत्यपरापरज्ञानोत्पादपरम्परायामेवात्मनो व्यापारात् न विषयान्तरसंचारः स्यादिति । तस्माद्यज्ज्ञानं तदात्मबोधं प्रत्यनपेक्षितज्ञानान्तरव्यापारम्, यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात् प्राग्भावि गोचरान्तरग्राहिधारावाहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्[1] । ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानम्, इति न ज्ञानस्य ज्ञानान्तरज्ञेयता युक्तिं सहते ।। इति काव्यार्थः ।। १२ ।।

पत्तोंके ढेरको सूईसे बीधते समय हमे ऐसा प्रतीत होता है कि हमने सभी पत्तोंका एक ही साथ वेधन किया है, परन्तु वास्तवमें इनके बींधनेमें सूक्ष्म क्रम रहता है, उसी तरह पदार्थके ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमे भी सूक्ष्म क्रम रहता है । यह ठीक नहीं । क्योंकि पदार्थज्ञानके ज्ञानकी उत्पत्ति, पदार्थज्ञानकी उत्पत्तिके बाद उत्पन्न होनेवाली जिज्ञासासे होती है, अतएव पदार्थका ज्ञान और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान—इनमें जिज्ञासाका व्यवधान होनेपर ही पदार्थके ज्ञानका ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा आपने कहा है । अतः आप यह नहीं कह सकते कि एक ज्ञानके बाद ही दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा कोई क्रम उनमे नहीं है । तथा, जिज्ञासाओंसे ज्ञानोंका उत्पन्न होना घटित नहीं होता, क्योंकि योग्य देशोंमे, इन्द्रियोंके विषयोंकी जिज्ञासाका अभाव होनेपर भी, पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है । पदार्थोंका ज्ञान पदार्थोंके अयोग्य देशमे स्थित होनेपर नहीं होता, क्योंकि ज्ञेय पदार्थके ज्ञाताके आत्माके साथ समवेत होनेपर ही पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार (पदार्थके ज्ञानके ज्ञानको) जाननेकी इच्छाका अभाव होनेपर भी पदार्थके ज्ञानके ज्ञानकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग उपस्थित होता है । यदि कहो कि पदार्थके ज्ञानका ज्ञान उसकी जिज्ञासाका अभाव होनेपर भी उत्पन्न होता है तो भले ही हो जाये, उसमे कौन सा दोष आता है ? तो इसी प्रकार पदार्थके ज्ञानको जाननेके लिये अन्य ज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसग उपस्थित हो जायगा । फिर उस अन्य ज्ञानको जाननेके लिये भी अपर ज्ञानकी उत्पत्ति माननी पडेगी । इस प्रकार अपरापर ज्ञानकी उत्पत्तिकी परपराको जाननेमें लगे रहनेके कारण, आत्मा अन्य विषयभूत पदार्थके ज्ञानके ज्ञानको जाननेके लिये उपयुक्त न हो सकेगी । अतएव ज्ञानका विषय बनने वाले पदार्थज्ञानसे भिन्न विषयभूत घट आदिका निश्चय करने वाले ज्ञानसे (अनंतर पूर्व-) समय में उत्पन्न, (तथा) घट आदि रूप अन्य ज्ञेय पदार्थोंको जानने वाले 'यह घट आदि है', 'यह घटादि है'—इस प्रकारके धारावाहिक ज्ञानकी परपराके अत्य समयमें उत्पन्न होनेवाला अत्य ज्ञान, अपने को जानने के लिये अपनेसे भिन्न अन्य ज्ञानको जाननेकी क्रियाकी अपेक्षा नहीं रखता । इसी प्रकार पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह अपनेको जाननेके लिये अन्य ज्ञानके जाननेकी क्रियाकी अपेक्षा नहीं रखता । विवादास्पद रूपादिका ज्ञान ज्ञान रूप होता है, अतएव ज्ञानकी अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञेयता युक्तियुक्त नहीं है ।। यह श्लोकका अर्थ है ।।

भावार्थ—जैनसिद्धातके अनुसार ज्ञान अपने आपको जानता है (स्वावबोधक्षम), और दूसरे पदार्थोंको भी जानता है (अर्थावबोधक्षम) ।

कुमारिलभट्ट—ज्ञान अपने आपको नही जानता । अनुमान भी है—'ज्ञान स्वसंविदित नहीं है, क्योंकि ज्ञानमे क्रिया नहीं हो सकती । जैसे चतुरसे चतुर नट भी अपने कधेपर नहीं चढ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया नहीं हो सकती' (ज्ञान स्वसंविदित न भवति स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कधमधिरोढु क्षम । न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्व छेत्तुमाहितव्यापार) जैन—यह ठीक नहीं । जैसे दीपक अपने और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान भी निज और पर पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है । तथा एक ही पदार्थमें

१ एकस्मिन्नेव घटे 'घटोऽयम्' 'घटोऽयम्' इत्येवमुत्पद्यमानान्युत्तरोत्तरज्ञानानि धारावाहिकज्ञानानि ।

अथ ये ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्या अपरपर्यायमायावशात् प्रतिभासमानत्वेन विश्वत्रय-वर्तिवस्तुप्रपञ्चमपारमार्थिकं समर्थयन्ते, तन्मतमुपहसन्नाह—

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥ १३ ॥

तैर्वादिभिस्तात्त्विकात्मब्रह्मव्यतिरिक्ता या माया–अविद्या प्रपञ्चहेतुः परिकल्पिता, सा सद्रूपा असद्रूपा वा द्वयी गतिः । सती–सद्रूपा चेत् तदा द्वयतत्त्वसिद्धिः—द्वाववयवौ यस्य तद्

कर्ता और कर्मका ज्ञान होना अनुभवसे सिद्ध है,' इसलिये 'स्वय ज्ञानमें क्रिया नहीं होती' (स्वात्मनि क्रिया-विरोधात्), यह हेतु भी दूषित है ।

कुमारिलभट्ट—हम लोगोंके अनुसार (१) पदार्थों से इन्द्रिय और बुद्धिका सम्बन्ध होनेपर इन्द्रिय और बुद्धिसे ज्ञान पैदा होता हैं, इसके बाद (२) पदार्थोंका प्राकट्य होता है (अर्थप्राकट्य), फिर (३) यह ज्ञान होता हैं कि पदार्थोंका ज्ञान हुआ है, जैसे घटसे इन्द्रिय और बुद्धिका सबध होनेसे घटका ज्ञान होनेपर यह ज्ञान होता है कि मैंने घटको जाना है। बादमें घटका ज्ञान होनेपर घटका प्राकट्य (ज्ञातृत्व) होता है। यह घटप्राकट्य ज्ञानके पहले नहीं होता, ज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही होता है, अतएव यह ज्ञानसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यह अर्थका प्राकट्य ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतएव हम अर्थप्राकट्यकी अन्यथानुपपत्तिसे ज्ञानको जानते है (तस्माद्यार्थापत्तिस्तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलंभ.) । हम लोग इस त्रिपुटी प्रत्यक्षको मानते हैं, इसलिये ज्ञान स्वसवेदक नहीं हो सकता । जैन—आप लोग अर्थप्राकट्यको स्वतः सिद्ध नहीं कह सकते, जिससे अर्थप्राकट्यकी अर्थापत्तिसे ज्ञानकी उपलब्धि स्वीकार की जा सके। ज्ञातृत्व स्वत सिद्ध हैं, और ज्ञान स्वत. सिद्ध नहीं, इसमें कोई हेतु नहीं है। वास्तवमें ज्ञातृत्वकी अपेक्षा ज्ञानका स्वतः सिद्ध होना अधिक मान्य हो सकता है।

कुमारिलभट्ट—यदि आप लोग ज्ञानको स्वसवेद्य कहते हैं तो हम अनुमान बनाते हैं—'ज्ञान अनुभव रुप होकर भी अनुभूति (ज्ञान) नहीं है, ज्ञेय होनेसे, घटकी तरह (ज्ञान अनुभवरूपमपि अनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वात् घटवत्), इसलिये ज्ञान स्वसवेद्य नहीं हो सकता। जैन—पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा ज्ञान अनुभूति रुप तथा स्वयका सवेदन करनेकी अपेक्षा अनुभाव्य रुप है। अतएव ज्ञान अनुभूति और अनुभाव्य दोनों ही है।

न्यायवैशेषिक—ज्ञान स्वसविदित नही होता, क्योंकि वह अनुव्यवसायगम्य है । हमारे मतमें 'यह घट है' इस व्यवसाय रुप ज्ञानके पश्चात् यह मानस ज्ञान होता है कि 'मै इस घटको घटरूपसे जानता हूँ, इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञानसे ही पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव 'ज्ञान दूसरेसे प्रकाशित होता हैं, क्योंकि वह ईश्वरज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेय है, घटकी तरह' (ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत्) । तथा, ज्ञानको दूसरेसे प्रकाशित माननेमें अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि पदार्थको जानने मात्रसे ही प्रमाताका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। जैन—(१) उक्त अनुमान 'विवादाध्यासित ज्ञान स्वसविदितम्, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत्' इस प्रत्यनुमानसे बाधित है । इसलिये ज्ञानको स्वसवेदक ही मानना चाहिये। यह अनुमान व्यर्थविशेष्य भी है, क्योंकि यहाँ ईश्वरज्ञानान्यत्व हेतुके विशेष्य 'प्रमेयत्व' हेतुके कहनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। (३) उक्त हेतु अप्रयोजक होनेसे सोपाधिक भी है। क्योंकि 'स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति, प्रमेयत्वात्' यह तर्क ज्ञानके साथ व्याप्त न होकर जड़ पदार्थोंके साथ व्याप्त है, क्योंकि ईश्वरज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेय होनेपर भी स्तंभ वगैरह जड पदार्थ ही अपनेको छोड़कर दूसरेसे प्रकाशित होते है।

अब अविद्या अथवा मायाके कारण तीनों लोकोंके वस्तु–प्रपचको अपारमार्थिक स्वीकार करनेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंका उपहास करते हुए कहते हैं—

श्लोकार्थ—यदि माया सत् रूप है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंका सद्भाव होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नही हो सकती। यदि माया असत् है, तो तीनों लोकोंके पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कहो

द्वयं, तथाविधं यत् तत्त्वं परमार्थः, तस्य सिद्धिः । अयमर्थः । एकं तावत् त्वदभिमतं तात्त्विकमात्मब्रह्म, द्वितीया च माया तत्त्वरूपा सद्रूपतयाङ्गीक्रियमाणत्वात् । तथा चाद्वैतवादस्य मूले निहितः कुठारः । अथेति पक्षान्तरद्योतने । यदि असती–गगनाम्भोजवदवस्तुरूपा सा माया ततः । हन्त इत्युपदर्शने आश्चर्ये वा । कुतः प्रपञ्चः । अयं त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपदार्थसार्थरूपप्रपञ्चः कुतः । न कुतोऽपि संभवतीत्यर्थः । मायाया अवस्तुत्वेनाभ्युपगमात् अवस्तुनश्च तुरङ्गशृङ्गस्येव सर्वोपाख्याविरहितस्य साक्षात्क्रियमाणेदृशविवर्तजननेऽसमर्थत्वात् । किलेन्द्रजालादौ मृगतृष्णादौ वा मायोपदर्शितार्थानामर्थक्रियायामसामर्थ्यं दृष्टम् अत्र तु तदुपलम्भात् कथं मायाव्यपदेशः श्रद्धीयताम् । अथ मायापि भविष्यति, अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा च भविष्यति इति चेत्, तर्हि स्ववचनविरोधः । न हि भवति माता च वन्ध्या चेति । एनमेवार्थं हृदि निधायोत्तरार्धमाह । मायैव चेदित्यादि । अत्रैवकारोऽप्यर्थः । अपि च समुच्चयार्थः । अग्रेतनचकारश्च तथा । उभयोश्च समुच्चयार्थयोर्यौगपद्यद्योतकत्वं प्रतीतमेव । यथा रघुवंशे "ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः"[1] । इति । तदयं वाक्यार्थः माया च भविष्यति अर्थसहा च भविष्यति । अर्थसहा–अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा । चेच्छब्दोऽत्र योज्यते, इति चेत्, एवं परमाशङ्क्य तस्य स्ववचनविरोधमुद्भावयति । तत् किं भवत्परेषां माता च वन्ध्या च । किमिति–संभावने । संभाव्यत एतत् भवतो ये परे–प्रतिपक्षाः, तेषां भवत्परेषां भवद्व्यतिरिक्तानां, भवदाज्ञापृथग्भूतत्वेन तेषां वादिनां, यन्माता च भविष्यति, वन्ध्या च भविष्यतीत्युपहासः । माता हि प्रसवधर्मिणी वनितोच्यते । वन्ध्या च तद्विपरीता । ततश्च माता चेत्कथं वन्ध्या, वन्ध्या चेत्कथं माता तदेवं । मायाया अवास्तव्या अप्यर्थसहत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, प्रस्तुतवाक्यवत् स्पष्ट एव स्ववचनविरोधः । इति समासार्थः ॥

व्यासार्थस्त्वयम् । ते वादिन इदं प्रणिगदन्ति । तात्त्विकमात्मब्रह्मैवास्ति—

कि माया माया होकर भी अर्थक्रिया करती है, तो जैसे एक ही स्त्री माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही मायामें भी एक साथ दो विरोधी गुण नहीं रह सकते।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माद्वैतवादियोंने जो तत्त्वरूप ब्रह्मात्मसे भिन्न माया (अविद्या) को प्रपचका कारण स्वीकार किया है, वह माया सत् रूप है, या असत रूप ? यदि माया सत् है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंके अस्तित्व होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि अद्वैतवादियोंने एक आत्मा (ब्रह्म) को ही सत् पदार्थ स्वीकार किया है, इसलिये यदि माया भी सत् हो, तो अद्वैतके मूलमें ही कुठाराघात होता है। यदि मायाको आकाशके पुष्पकी तरह अवस्तु स्वीकार करो, तो ससारके किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि मायाके अवस्तु होनेसे घोडेके सींगकी तरह वह प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर होनेवाले प्रपचको उत्पन्न नहीं कर सकती। इन्द्रजाल तथा मृगतृष्णा आदिमें मायाद्वारा दिखाये जानेवाले पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करते। परन्तु समस्त पदार्थोंमे अर्थक्रिया देखनेमे आती है, अतएव इन पदार्थोंमें मायाका व्यवहार नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि माया माया भी है, और वह अर्थक्रिया भी करती है, यह ठीक नहीं। क्योंकि इसमें स्ववचन विरोध आता है। जिस प्रकार एक ही स्त्री माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही माया भी माया (अवस्तु) होकर अर्थक्रिया (वस्तु) नहीं कर सकती। यह सक्षिप्त अर्थ है।

यहाँ विस्तृत अर्थ दिया जाता है।

वेदान्ती—हमारे मतसे तत्त्व रूप एक ब्रह्म ही सत् है। शास्त्रोंमें कहा भी है—

१ अत्याक्षेपो भविष्यन्त्या कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् । इत्युत्तरार्धम् । रघुवशे १०–६ ।

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन"[१] ॥

इति समयात् । अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात् । यदेवं तदेवम् । यथा शुक्तिशकले कलधौतम् । तथा चायं, तस्मात् तथा ॥

तदेतद्वार्तम् । तथाहि । मिथ्यारुपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् । किमत्यन्तासत्त्वम्, उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम्? प्रथमपक्षे असत्ख्यातिप्रसङ्गः[२] । द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमिदमनिर्वाच्यत्वम्? निःस्वभावत्वं चेत्, निसः प्रतिषेधार्थत्वे, स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्तरार्थत्वे, असत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसंगः । भावप्रतिषेधे असत्ख्यातिः, अभावप्रतिषेधे सत्ख्यातिरिति । प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत् । अत्र विरोधः । स प्रपञ्चो हि न प्रतीयते चेत् कथं धर्मितयोपात्तः । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम् । तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते न तथेति चेत्, तर्हि विपरीतख्यातिरियमभ्युपगता स्यात् ॥

"यह सब ब्रह्मका ही स्वरुप है, इसमें नाना रुप नहीं है। ब्रह्मके प्रपचको सब लोग देखते है, परन्तु ब्रह्मको कोई नहीं देखता।"

तथा, 'यह प्रपच मिथ्या हैं, क्योंकि यह प्रतीतिका विषय है। जो प्रतीतिका विषय होता है, वह मिथ्या रुप होता है, जैसे सीपके टुकड़ेमे प्रतीत होनेवाली चॉदी मिथ्या रूप होती है, उसी तरह यह प्रपच प्रतीत होता है, इसलिये मिथ्यारूप है।'

जैन—यह ठीक नहीं है। आप लोगोंने जो दृश्यमान प्रपचको मिथ्या कहा है, सो आपका मिथ्यात्वसे क्या अभिप्राय है? (१) यदि वध्याके पुत्रकी तरह अत्यन असत्त्वको मिथ्यात्व कहते हो तो असत्ख्याति दोष आता है। (शून्यवादी बौद्धोंके अनुसार समस्त पदार्थोंका ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि समस्त पदार्थ असत् है। अतएव जब हमें सीपमें चाँदीका ज्ञान होता है, उस समय असत् रुप चॉदी सत् रुपमें प्रतिभासित होती है। अतएव विपरीत ज्ञानका विषय सर्वथा असत् है। क्योंकि असत् पदार्थोंको सत्रुप देखना ही विपरीत ज्ञान है। असत्ख्याति-वादियोंके मतमें पदार्थ और पदार्थका ज्ञान दोनों ही असत् है। परन्तु वेदान्ती शून्यवादियोंकी असत्ख्यातिको स्वीकार नहीं करते।) (२) यदि एक पदार्थके दूसरे रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहो तो विपरीतख्याति दोष आता है। (नैयायिक आदि मतके अनुसार जब सीपमें चाँदीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय सीप चॉदीके रुपमे प्रतिभासित होती हैं, इसलिए एक पदार्थको दूसरे पदार्थके रुपमें जानना ही मिथ्या है, वास्तवमें सीप अथवा चॉदीमें कोई मिथ्यापन नहीं। इस विपरीत अथवा अन्यथाख्यातिमें दो पदार्थो के सद्भाव (द्वैत) होनेके कारण वेदान्ती इसे भी स्वीकार नहीं करते)। (३) यदि अनिर्वचनीयत्व अथवा निस्स्वभावत्वको मिथ्यात्व कहो तो 'निस्स्वभावत्व' में स्वभाव शब्दका अर्थ (क) 'भाव' लिया जाय तो असत्ख्याति दोष आता है (परन्तु यह असत्ख्याति वेदान्तियों को मान्य नहीं है)। (ख) यदि स्वभावका अर्थ 'अभाव' किया जाय, तो सत्ख्याति दोष आता है। (रामानुजका सिद्धात है कि जब सीपमें चॉदीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय इस मिथ्या ज्ञानका विषय मिथ्या नहीं होता, क्योकि सीपमें चॉदीके परमाणु मिले रहते हें, इसीलिये सीपमें चॉदीका ज्ञान होता है। परन्तु यह सत्ख्याति भी वेदान्तियोंको मान्य नहीं है)। (ग) यदि दृश्यमान प्रपचके ज्ञानके विषय न होनेको निस्स्वभाव कहो तो 'अर्थप्रपच· मिथ्यारोप· प्रतीयमानत्वात्' इस अनुमानमें जब प्रपच प्रतीत ही नहीं होता तो 'प्रपच' को पक्ष नहीं बना सकते। तथा प्रपचके ज्ञानका विषय न होनेसे 'प्रतीयमानत्व' हेतु भी

१ छादोग्य उ ३-१४।
२ आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति' ख्यातिरन्यथा ।
तथानिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥ षड्विधा ख्यातिरित्यन्ये मन्यन्ते ।

किञ्च, इयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षबाधिता । घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति, घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात् । इतरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्दवाच्यत्वात् । अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात् कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम् । प्रत्यक्षं हि इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति ।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः ।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥"

इति वचनात् । इति चेत् । न । अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः । पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा । केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्, मुण्डभूतलग्रहणे घटाभावग्रहणवत् । तस्माद् यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं, तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम् । अपि च, विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते, यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्यापीति । तथा च द्वैतापत्तिः । ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात् प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः । इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति ॥

अनुमानबाधितश्च । प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते, न च मिथ्या । अप्रतीयमानत्वे त्वस्य

नही बन सकता। तथा प्रतीयमानत्व हेतुके होनेसे प्रपचको प्रतीयमान होना चाहिये। (घ) यदि कहो कि प्रपच जैसा है, वैसा प्रतीत नहीं होता—यही निस्स्वभावत्वका अर्थ है, तो इसे स्वीकार करनेमें विपरीत ख्याति ही माननी पडेगी, जिसे मायावादी स्वीकार नही करते।

तथा प्रपचकी यह अनिर्वाच्यता (निस्स्वभावता) प्रत्यक्षसे बाधित है। 'यह घट है' इत्यादि रुप प्रत्यक्ष, प्रपच की सत्यताका निश्चय करता है, क्योंकि घटादि रुप निश्चित पदार्थको जाननेवालेके रुपमे उसकी उत्पत्ति होती है। तथा, इतरेतर भिन्न पदार्थ ही प्रपच शब्दके वाच्य है। शंका—प्रत्यक्ष विधायक है, अतएव प्रतिषेध करनेकी सामर्थ्य उसमे कैसे हो सकती है? प्रत्यक्ष, 'यह है' इस प्रकार वस्तुके स्वरूप को जानता है, दूसरे स्वरुपका प्रतिषेध वह नहीं करता। कहा भी है—

"प्रत्यक्ष विधायक है, निषेधक नही, अतएव एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रत्यक्षसे बाधित नही हो सकता।"

समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य स्वरुपके निषेधके विना, वस्तु-स्वरुपका ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे, पीत आदि वर्णवाले पदार्थसे भिन्न नील वर्णवाला पदार्थ, 'यह नील वर्ण है' इस प्रकार जाना जाता है, अन्य प्रकारसे नही। शून्य भूतलका ज्ञान होने पर जिस प्रकार घटके अभावका ज्ञान होता है, उसी प्रकार केवल वस्तुस्वरूपका ग्रहण ही अन्यका प्रतिषेध रुप ग्रहण होता है। अतएव जिस प्रकार प्रत्यक्षको विधायक माना है, उसी प्रकार उसे निषेधक भी मानना चाहिए। तथा यदि प्रत्यक्षको केवल विधायक ही माना जाय तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा विद्याका विधान किया जाता हैं, वैसे ही उसीके द्वारा अविद्याका विधान भी क्यों नहीं माना जाता? यदि प्रत्यक्षको अविद्याका भी विधायक माना जाय, तो विद्या और अविद्या, ब्रह्म और जगत्—इन दो पदार्थोके होनेसे द्वैतका प्रसग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार प्रपच सुव्यवस्थित है। अतएव जब ब्रह्माद्वैतवादी, प्रत्यक्षसे अविद्याका निषेध करके प्रत्यक्षको सन्मात्रग्राही मानने पर भी, उसे निषेधक नही स्वीकार करते, तो उन्हे उन्मत्त क्यों न कहा जाये? इस प्रकार 'प्रपच मिथ्यारुप है'—यह पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित है, यह सिद्ध हो जाता है।

तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्च, इदमनुमानं प्रपञ्चाद् भिन्नम् अभिन्नं वा ? यदि भिन्नं, तर्हि सत्यमसत्यं वा ? यदि सत्यं, तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् । अद्वैतवादप्राकारे खण्डिपातात् । अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चित् तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात् । अभिन्नं चेत्, प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः । मिथ्यारूपं च तत् कथं स्वसाध्यसाधनायालम् । एवं प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वासिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात् यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति ॥

अथवा प्रकारान्तरेण सन्मात्रलक्षणस्य परमब्रह्मणः साधनं दूषणं चोपन्यस्यते । ननु परमब्रह्मण एवैकस्य परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात् प्रमाणविषयत्वम् । अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात् । तथाहि । प्रत्यक्षं तदावेदकमस्ति । प्रत्यक्षं द्विधा भिद्यते निर्विकल्पसविकल्पकभेदात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्मात्रविषयात् तस्यैकस्यैवसिद्धिः । तथा चोक्तम्—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्" ॥[१]

न च विधिवत् परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षत एव प्रतीयते इति द्वैतसिद्धिः । तस्य निषेधा-

---

तथा, 'प्रपञ्च मिथ्यारूप प्रतीयमानत्वात्', यह पक्ष 'प्रपञ्चो मिथ्या न भवति असद्विलक्षणत्वात् आत्मवत्' इस अनुमानसे बाधित है। (अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मरूप आत्मा असत्से भिन्न होनेसे मिथ्यारूप नहीं है, उसी प्रकार प्रपच भी असत्से भिन्न होने पर भी मिथ्यारुप नहीं)। यहाँ, प्रतीयमानत्व हेतु ब्रह्मात्मरूप विक्षेपमें रहता है, अतएव व्यभिचारी है। क्योंकि ब्रह्मात्मा प्रतीयमान है, परन्तु मिथ्या नहीं है। यदि ब्रह्मको अप्रतीयमान मानो तो ब्रह्मके विषयमें वचनोंकी प्रवृत्ति न होनेसे मौन रहना ही श्रेयस्कर होगा। तथा, 'सीपमें चाँदी' (शुक्तिशकले कलधौत) का जो दृष्टात दिया गया है, वह 'प्रपच मिथ्यारुप' साध्यमें नहीं रहता, इसलिये साध्यविकल है। क्योंकि सीप और चाँदी दोनों ही प्रपचके अन्तर्भूत हैं, इसलिये उनका अनिर्वचनीयत्व (मिथ्यारूपता) साध्यमान ही है—सिद्ध नहीं है (जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह सिद्ध होता है, असिद्ध नहीं। इसे अनुपसहारी हेत्वाभास भी कहते हैं।) तथा, आपका अनुमान 'यह प्रपच मिथ्यारूप है प्रतीयमान होनेसे' प्रपचसे भिन्न है, या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो सत्य है, या असत्य? यदि अनुमान प्रपचसे भिन्न होकर सत्य है, तो अनुमानके समान प्रपच भी सत्य होना चाहिये। तथा, प्रपचकी सत्यता स्वीकार करनेमें अद्वैतरूपी प्राकारपर कुठाराघात होता है। यदि अनुमान असत्य है, तो वह अवस्तु होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। यदि अनुमान प्रपचसे अभिन्न है, तो प्रपचरूप होनेसे अनुमान भी मिथ्यारुप होना चाहिए, और मिथ्यारुप अनुमान साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकार जब प्रपच मिथ्यारूप सिद्ध नहीं हो सकता, तो परब्रह्मकी तात्त्विकता भी सिद्ध नहीं हो सकती, जिससे बाह्य पदार्थोंका अभाव सिद्ध हो सके।

अथवा प्रकारान्तरसे सत्तामात्र रूप परब्रह्मके साधन और दूषणका उपन्यास किया जाता है। वेदान्ती—वास्तवमें एकमात्र परमार्थ सत् विधिरुप ब्रह्म विद्यमान होनेसे प्रमाणका विषय है, क्योंकि वह परमार्थ सत् विधिरुप किसी भी दूसरे पदार्थका अभाव है। तथाहि—प्रत्यक्ष एक परमार्थ सत् विधिरुप ब्रह्मको जानता है। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पकके भेदसे दो प्रकारका है। सन्मात्रको जाननेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे एकमात्र ब्रह्मकी सिद्धि होती है। कहा भी है—

"चक्षुके सन्निपातके अन्तरवर्ती और सविकल्पक ज्ञानके पूर्ववर्ती तथा शुद्ध वस्तु अर्थात् सामान्य-विशेष रहित वस्तुको जाननेवाला बालक और गूँगेके ज्ञानके समान, ऐसे इन्द्रियज्ञानका सद्भाव है।"

---

१. मीमांसाश्लोकवार्तिक ४ प्रत्यक्षसूत्रे ११२।

विषयत्वात् । "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ" इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घटपटादिभेदसाधकं, तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताऽद्वैतस्यैव साधकम् । सत्तायाश्च परब्रह्मरूपत्वात् । तदुक्तम्—"यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपम्" इति ॥

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव । तथाहि । विधिरेव तत्त्वं, प्रमेयत्वात् । यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः । प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकाना भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः । तथा चोक्तम्—

"प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद् भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते"[1] ॥

यच्चाभावाख्यं प्रमाणं तस्य प्रामाण्याभावाद् न तत् प्रमाणम् । तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात् । सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्, यत्तु न विधिरूपं, तद् न प्रमेयम्, यथा खरविषाणम् । प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम्, तस्माद् विधिरूपमेव । अतो वा तत्सिद्धिः । ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः ॥

आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं

विधिके समान घट, पट पदार्थोंकी परस्पर व्यावृत्तिका ज्ञान भी प्रत्यक्षसे ही होता है, अतएव द्वैतकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि "प्रत्यक्षको विधायक कहते हैं, निषेधक नहीं"—इस वचनके अनुसार, निषेध प्रत्यक्षका विषय नहीं होता, । तथा, घट, पट आदिके विकल्प (भेद) को ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्तारूपसे अन्वित घट, पट आदिको ही जानता है, इसलिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्ता अद्वैतका ही साधक है । क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है । कहा भी है—"जो अद्वैत है वही ब्रह्मका स्वरूप है"।

अनुमान प्रमाणसे भी ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध होता ही है। तथाहि—'विधि (अर्थात् परब्रह्म) ही तत्त्व (परमार्थभूत पदार्थ) है, प्रमेय होनेसे' । प्रमाणके विषयभूत अर्थको प्रमेय कहते हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति नामसे कहे जानेवाले प्रमाण पदार्थोंको अपना विषय बनाकर प्रवृत्त होते हैं । कहा भी है—

"जब वस्तुके भावांशको ग्रहण किया जाता है, तब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी उपस्थिति होती है, तथा वस्तुके अभाव अंशको जाननेकी इच्छा होनेपर प्रत्यक्ष आदिके अभावकी प्रवृत्ति होती है।" (मीमांसक वस्तुको सदसदात्मक मानते हैं अर्थात् उनके अनुसार, वस्तु भावांश और अभाव-अंशसे युक्त होती है) ।

तथा, अभाव नामक प्रमाणमें प्रामाण्यका अभाव होनेसे (प्रमितिका साधकतम साधन न होनेके कारण), वह प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसके विषयभूत किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं है, अर्थात् उसका कोई भी विषय नहीं है। प्रत्यक्ष आदि पाचों प्रमाणोंका जो विषय है वह विधिरूप ही है। प्रमेयत्व उस विधि से व्याप्त है। अतएव प्रमेयत्व होनेसे विधि ही तत्त्वरूपसे सिद्ध है। जो विधिरूप नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है, जैसे गधेके सींग। यह सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व प्रमेयरूप है, इसलिये वह विधिरूप ही है । अथवा, 'गांव, बगीचा आदि पदार्थ प्रतिभासमें गर्भित हो जाते हैं, प्रतिभासका विषय होनेसे । जो प्रतिभासका विषय है, वह प्रतिभासमें गर्भित हो जाता है, जैसे प्रतिभासका स्वरूप। गांव, बगीचे आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिये वे प्रतिभासके ही भीतर आ जाते हैं',—इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है।

आगम भी ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। जैसे, "जो हुआ है, जो होगा, जो अमृतका अधिष्ठाता है, आहारसे वृद्धिको प्राप्त होता है।" जो गतिमान है, स्थिर है, दूर है, पास है, चेतन और अचेतन सबमें

१. मीमांसाश्लोकवार्तिक ५ अभावपरिच्छेदे १७ ।

यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।"[1] "यदेजति, यन्नैजति, यद् दूरे, यदन्तिके । यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः"[2] इत्यादिः । "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अनुमन्तव्यः"[3] इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः । कृत्रिमेणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात् । उक्तं च—

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म[4] नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।[5]
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन"[6] ॥

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः । परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात् । तथाहि । सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात् । यद् यद्रूपेणान्वितं तत् तदात्मकमेव । यथा घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः । सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु । इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति ॥

तदेतत् सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदोद्गदितमिवाभासते, विचारासहत्वात् । सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं, न तु वाङ्मात्रेण । अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात् । अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात् । अथ मतम् लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते । तदसत् । तन्मते लोकस्यैवासम्भवात्, एकस्यैव नित्यनिरंशस्यपरब्रह्मण एव सत्त्वात् ॥

अथास्तु यथाकथञ्चित् प्रमाणमपि तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते । न तावत् प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात् ।

व्याप्त है और सबके बाह्य है, वह सब ब्रह्म ही है" आदि । तथा, "अतएव ऐसे ब्रह्मको सुनना, मनन करना, निरन्तर स्मरण करना, और पुन पुन मनन करना चाहिये," आदि वेदके वाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। स्मृति आदि पौरुषेय आगम भी ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं । कहा भी है—

यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, ब्रह्मको छोड कर नाना रुप कुछ नहीं है। ब्रह्मकी पर्यायोंको सब देखते हैं, परन्तु ब्रह्म किसीको दिखाई नहीं देता ।

इस प्रकार परब्रह्मके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे सिद्ध होनेपर परब्रह्म ही एक तत्त्व सिद्ध होता है, दृश्यमान सम्पूर्ण भेद इस ब्रह्मकी ही पर्याय हैं । अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ ब्रह्मकी पर्याय हैं, क्योंकि सपूर्ण पदार्थ सत्तात्मक एक रुपसे अन्वित है। जो जिस रुपसे अन्वित होता है, वह उसी रुप होता है, जैसे घट, घटी, शराव आदि मिट्टीके एक स्वरुपसे अन्वित हैं, इसलिये सब मिट्टीकी पर्याय हे । सम्पूर्ण पदार्थ एक सत्ता स्वरूपसे अन्वित है, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ एक ब्रह्मकी ही पर्याय है' ।

जैन—यह कथन मद्यपायीके प्रलापके समान प्रतीत होता है, क्योंकि यह कथन विचारको सह्य नहीं है। सभी वस्तुओंकी सिद्धि प्रमाणसे होती हे, केवल कथनमात्रसे नहीं । तथा, अद्वैतवादियोंके मतमे कोई प्रमाण ही नहीं बन सकता, क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न किसी प्रमाणके माननेपर द्वैत मानना पड़ता हैं। अद्वैतका साधक कोई अन्य प्रमाण नहीं है । यदि आप कहें कि लोगोंको समझानेके लिये उनकी अपेक्षासे प्रमाण स्वीकार किया जाता है, वास्तवमें एक ब्रह्म ही सत्य है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अद्वैतवादियोंके मतमें एक नित्य निरंश परब्रह्म ही सत्य हैं, इसलिये उनके मतमें लोक ही संभव नहीं ।

यदि अद्वैत मत में किसी प्रकार प्रमाणका सद्भाव मान भी लिया जाय, तो अद्वैतके साधक जिस प्रमाणको स्वीकार किया जाता है, वह प्रमाण प्रत्यक्ष रुप है या अनुमान रुप है अथवा आगम रुप?

---

१ ऋग्वेदपुरुषसूक्ते । २ ईशावास्योपनिषदि ३ बृहदारण्यक० उ० । युक्तिभिरनुचिन्तनम् मनन । श्रुतस्यार्थस्य नैरन्तर्येण दीर्घकालमनुसंधानम् निदिध्यासन । ४. मैत्र्युपनिषदि । ५ बृहदारण्यक उ० ४.४.१९, कठोपनिषदि ४.११ । ६. बृहदारण्यक उ० ४ ३.१४ ।

मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न किञ्चिदेतदपि । अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः । किञ्च, पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्नाः अभिन्ना वा ? भेदे द्वैतसिद्धिः । अभेदे त्वेकरूपतापत्तिः । तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्, तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः । तदुक्तम्—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्"[1] ॥

"पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादेः, "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासम्भवात् । वाच्यवाचकभावलक्षणस्य-द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात् । तदुक्तम्—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा"[2] ॥

ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः । ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः ॥ इति काव्यार्थः ॥१३॥

एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं' (सर्वे भावा. ब्रह्मविवर्ता) इस अनुमानमें भी अन्वेतृ (अन्वित करनेवाला—ब्रह्म) और अन्वीयमान (जिसके साथ सम्बन्ध हो–पर्याय) इन दोनोंका अविनाभाव सबध होनेसे पुरुषाद्वैतका विरोध उपस्थित होता है (क्योंकि दो भिन्न भिन्न पदार्थोंका ही सबध होता है)। तथा, घट आदिमें (परब्रह्मके) चैतन्यका सबध भी नहीं पाया जाता, क्योंकि घटका सबध मिट्टी आदि के साथ है। इसलिये यह भी कुछ नहीं है। अत अनुमानसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। तथा, पक्ष, हेतु और दृष्टातसे अनुमान बनता है, ये पक्ष, हेतु और दृष्टात परस्पर भिन्न है, अथवा अभिन्न ? भेद माननेसे द्वैत मानना चाहिए, और अभेद माननेसे पक्ष, हेतु और दृष्टात एक हो जाते है, और पक्ष आदि तीनोंके एक होनेसे अनुमान अपने स्वरूपको कैसे प्राप्त कर सकता हैं (अनुमेय पदार्थको कैसे जान सकता है) ? यदि आप अनुमानके विना ही साध्यकी सिद्धि माने तो वचन मात्रसे भी द्वैतकी सिद्धि हो सकती है। कहा भी है—

"यदि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे होती हो तो हेतु और साध्यके होनेसे द्वैतकी सिद्धि हो जाती है। यदि हेतुके विना ही अद्वैतकी सिद्धि मानो तो वचन मात्रसे द्वैतकी सिद्धि क्यों नहीं हो जाती ?"

तथा, "पुरुष एवेद सव," "सर्वं वे खल्विद ब्रह्म" आदि आगमसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आगममे वाच्य-वाचक सबध होनेसे द्वैतकी ही सिद्धि होती है। कहा भी है—

"लौकिक और वैदिक अथवा शुभ और अशुभ अथवा पुण्य और पाप रुप कर्मद्वैत, प्रशस्त और अप्रशस्त रुप फलद्वैत, इहलोक और परलोक रुप लोकद्वैत, विद्या और अविद्या तथा बंध और मोक्षका अभाव हो जायेगा।"

अतएव आगमसे भी अद्वैत परब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए पुरुषाद्वैतरुप केवल एक किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। अतएव इस दृश्यमान प्रपचको तात्त्विक ही मानना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है॥१३॥

भावार्थ—इस श्लोकमें अद्वैतवादियोंके मायावादकी समीक्षा की गयी है। जैन लोगोंका कहना है कि यदि माया भावरुप है, तो ब्रह्म और माया दो वस्तुओंके होनेसे अद्वैतवादियोंका अद्वैत नहीं बनता। तथा, यदि माया अभावरुप है, तो मायासे जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अद्वैतवादी मायाको मिथ्या

१. आप्तमीमासा २-२६। २. आप्तमीमासा २-२५।

अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरःसरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाभावमाह—

रुप मान कर भी वस्तु (अर्थक्रियाकारी) स्वीकार करें तो स्ववचन विरोध आता है, क्योंकि मिथ्या रुप और वस्तु दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

वेदान्ती—'यह प्रपच मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता हैं, जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान मिथ्या प्रतीत होनेसे मिथ्या है' (अयं प्रपञ्चो मिथ्यारूप प्रतीयमानत्वात्, यदेव तदेव, यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायं तस्मात्तथा)—इस अनुमानसे जगत् मिथ्या सिद्ध होता है। जैन—मिथ्या रूपसे आपका क्या अभिप्राय है? यदि (१) अत्यन्त असत्त्वको मिथ्या कहते हो तो शून्यवादियोंकी असत्ख्याति, (२) अन्य वस्तुके अन्य रुपमे प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहते हो तो नैयायिकोंकी विपरीतख्याति स्वीकार करनी चाहिए। यदि (३) मिथ्या रुपका अर्थ अनिर्वाच्य, अर्थात् निस्स्वभावत्व करते हो तो 'निस्स्वभाव' मे स्वभाव शब्दका अर्थ 'भाव' अथवा 'अभाव' करनेपर क्रमसे असत्ख्याति और सत्ख्याति स्वीकार करनी पडेगी। यदि कहो कि ज्ञानके अगोचर होना ही निस्स्वभावत्व है, तो इस जगत्के प्रपचका ज्ञान नहीं होना चाहिये। तथा प्रपचके ज्ञानका विषय न होनेसे प्रतीयमानत्व हेतु भी नहीं बन सकता। यदि अर्थप्रपचके जैसेके तैसे प्रतिभासित होनेको निस्स्वभावत्व कहो तो विपरीतख्याति माननी पडेगी। इसके अतिरिक्त, यह अनुमान प्रत्यक्षसे भी बाधित है। वेदान्ती—हमारा अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित नहीं हो सकना, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सामान्य रूप ही है, वह विधि रूप ही वस्तुओंका ज्ञान करता है, निषेध रुप नहीं। जैन—प्रत्यक्ष केवल सामान्य रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तुका निषेध किये बिना उसका विधि रुप ज्ञान होना असभव हैं, इस लिये प्रत्यक्षको सामान्यविशेषात्मक स्वीकार करके विधायक और निषेधक दोनों ही स्वीकार करना चाहिये। उक्त अनुमान 'प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत्, इस प्रत्यनुमानसे बाधित भी है। तथा प्रतीयमानत्व हेतु ब्रह्मके साथ व्यभिचारी है।

वेदान्ती—निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्ता मात्रको जानता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि रूप ही होता है, निषेध रूप नहीं। तथा पदार्थोके भेदको ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी पदार्थोंको सत्ता रुपसे जानता हैं, इसलिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्मका साधक है। क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप हैं। 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्' इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है। इसी तरह आगम आदि भी ब्रह्मके अस्तित्वके साधक है। जैन—निश्चयात्मक और विसवादसे रहित ज्ञान ही प्रमाण होता है, इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी समस्त भेदोंसे रहित केवल विधि रुप ब्रह्मको नहीं जान सकता है। क्योंकि जिस प्रकार विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष वस्तुका ज्ञान असभव हैं, उसी तरह विधिके बिना प्रतिषेध और प्रतिषेधके बिना विधि रूप ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्ष भी सामान्य विशेष रूप हो कर विधि और प्रतिषेध दोनों रूपसे ही पदार्थोका ज्ञान करता है। 'विधिरेव तत्त्व प्रमेयत्वात् अनुमानमें भी प्रमेयत्व हेतु प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि और निषेध दोनों तरहसे पदार्थोका ज्ञान करता है, यह अनुभवगम्य है। तथा आगम प्रमाण माननेपर वाच्य-वाचक भाव माननेसे द्वैतकी ही सिद्धि होती है।

अब कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेषरूप वाच्य-वाचक भावका समर्थन करके प्रतिवादियोंद्वारा मान्य एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष रूप वाच्य-वाचक भावका खडन करते हुए उनके प्रतिभा वैभव के अभाव को सिद्ध करते हैं—

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥

वाच्यम्—अभिधेयं, चेतनमचेतनं च वस्तु, एवकारस्याप्यर्थत्वात् । सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेनानेकम्—अनेकरूपम् । अथवानेकरूपमपि एकात्मकम् । अन्योऽन्यं संवलितत्वात् इत्थमपि व्याख्याने न दोषः । तथा च वाचकम्—अभिधायकं, शब्दरूपम् । तदप्यवश्यम्—निश्चितं । द्वयात्मकं—सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद् एकानेकात्मकमित्यर्थः । उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम् । अवश्यमिति पदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्येकानेकात्मकत्वं निश्चिन्वत् तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति । अतः—उपदर्शितप्रकारात्, अन्यथा—सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण, वाचकवाच्यक्लृप्तौ वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, अतावकानाम्—अत्वदीयानाम्, अन्ययूथ्यानाम् । प्रतिभाप्रमादः—प्रज्ञास्खलितम् । इत्यक्षरार्थः । अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं, तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्याभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थम् । तथा च शाब्दिकाः—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"[1] ॥ इति ॥

भावार्थस्त्वेवम् । एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतयाभ्युपगच्छन्ति । ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः सांख्याश्च । केचिच्च विशेषरूपमेव । वाच्यं निर्वचन्ति । ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः । अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते । ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादाः, आक्षपादाश्च ॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार समस्त पदार्थ (वाच्य) अनेक हो कर भी एक है, और एक होकर भी अनेक है उसी तरह उन पदार्थोंको कहनेवाले शब्द (वाचक) भी एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं । इससे भिन्न प्रकारसे आपको न माननेवालों की, वाच्य-वाचक विषयकल्पना में प्रज्ञाका दोष स्पष्ट हो जाता हैं ।

व्याख्यार्थ—जैसे चेतन-अचेतन वस्तु (वाच्य) सामान्यसे एक हो कर भी व्यक्तिरुप से अनेक, और विशेषरुप से अनेक हो कर भी सामान्य से एक हैं, वैसे ही चेतन और अचेतन वस्तु का वाचक भी सामान्य और विशेष होनेसे एक रुप और अनेक रुप है । वाच्य-वाचकको सामान्य-विशेष रुप न स्वीकार करनेवाले अन्यमतावलम्बी प्रज्ञासे स्खलित होते हैं । वाच्य शब्द मे अल्प स्वर होनेसे वाच्यका वाचक शब्दसे पहले निपात होना चाहिये था, परन्तु अर्थका प्रतिपादन करना शब्दके आधीन है, यह बतानेके लिये वाचक शब्दको ही पहले रक्खा हैं । वैयाकरणोंने कहा भी है—

"शब्दके सम्बन्धके विना लोकमें कोई ज्ञान नहीं होता, सम्पूर्ण ज्ञान शब्दके साथ ही सम्बद्ध है ।"

(१) केवल द्रव्यास्तिक नयको माननेवाले अद्वैतवादी, मीमांसक और सांख्य सामान्यको ही सत् (वाच्य) स्वीकार करते है । (२) केवल पर्यायास्तिक नयको माननेवाले बौद्ध लोग विशेषको ही सत् मानते हैं । (३) केवल नैगम नयका अनुकरण करनेवाले न्याय-वैशेपिक परस्पर भिन्न और निरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनोंको स्वीकार करते है ।

---

१. भर्तृहरिकृतवाक्यपदीये १-१२४ ।

एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चित् चर्च्यते । तथाहि । संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्ति । सामान्यमेव तत्त्वम् । ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । तथा सर्वमेकम् । अविशेषेण सदिति्ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात् । तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम् । ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः । किञ्च, यैः सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्त्यात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते न वा ? नो चेद् निःस्वभावताप्रसङ्गः । स्वरूपस्यैवाभावात् । अस्ति चेत् तर्हि तदेव सामान्यम् । यतः समानानां भावः सामान्यम् । विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सद्भैव ॥

अपि च विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम् । व्यावृत्तिप्रत्यय एव विचार्यमाणो न घटते । व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः । विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी, कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते । न च स्वरूपसत्त्वादन्यत् तत्र किमपि, येन तन्निषेधः प्रवर्तते । न च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्तिनोऽतीतवर्तमानानागताः पदार्थास्तस्माद् व्यावर्तनीयाः । ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्याः । ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात् । न चैतत्प्रातीतिकं यौक्तिकं वा । व्यावृत्तिस्तु निषेधः । स चाभावरूपत्वात् तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत् ॥

तथा येभ्यो व्यावृत्तिः ते सद्रूपा असद्रूपा वा ? असद्रूपाश्चेत् तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः । सद्रूपाश्चेत् सामान्यमेव । या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेका

इन तीनों पक्षोंकी यहाँ कुछ चर्चा की जाती है : (१) संग्रहनयको स्वीकार करनेवाले अद्वैतवादी मीमांसक—सांख्य : सामान्य ही एक तत्त्व है, सामान्यसे भिन्न विशेष दृष्टिगोचर नहीं होते । सब पदार्थोंका सामान्य रीतिसे ज्ञान होता है, और सब पदार्थ 'सत्' कहे जाते हैं, अतएव समस्त पदार्थ एक है । अतएव द्रव्यत्व ही एक तत्त्व है, क्योंकि द्रव्यत्वको छोडकर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव नहीं पाये जाते । तथा, सामान्यसे भिन्न और एक दूसरेकी व्यावृत्ति रूप 'विशेष' स्वीकार करनेवाले वादियोंसे हम पूछते हैं कि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, या नहीं ? यदि विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता तो इसका अर्थ यह हुआ कि विशेष निस्वभाव हैं, क्योंकि विशेषोंमें निजस्वरूप विशेषत्व नही रहता । यदि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, तो इसी विशेषत्वको हम सामान्य कहते है । क्योंकि समानके भावको ही सामान्य कहा है, और विशेषरूपत्वसे इन सभी भावोंकी समान-रुपसे होनेवाली प्रतीति सिद्ध ही है ।

तथा, विवक्षित पदार्थमें दूसरे पदार्थके निषेध करनेको व्यावृत्ति कहते हैं, इसी व्यावृत्ति प्रत्ययके हेतुको विशेष माना गया है (जैसे घटमे पटके निषेध करनेसे घटकी पटसे व्यावृत्ति होती है) । परन्तु यह विवक्षित पदार्थ (घट) अपने स्वरूपको ही सिद्ध कर सकता है, दूसरे पदार्थोंका निषेध नहीं कर सकता । स्वरूपके अस्तित्वको छोडकर और कोई भी चीज नही है, जिससे कि अन्य पदार्थोंके निषेधकी आवश्यकता हो । यदि विवक्षित पदार्थ दूसरे पदार्थोंके निषेध करनेमे भी समर्थ हो, तो उसे आत्मस्वरूप से भिन्न तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थोंसे भी अपनी व्यावृत्ति करनी चाहिये । और जब तक तीनों लोकोंके भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थका ज्ञान न हो, उस समय तक इन पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकती । इसलिये एक विशेषके ज्ञान करनेमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंसे उसकी व्यावृत्ति करनेके लिये प्रमाताको सर्वज्ञ होना पडेगा । यह न तो अनुभवसिद्ध है, और न युक्तिसे ही सिद्ध है । तथा, निषेधको ही व्यावृत्ति कहा गया है, यह व्यावृत्ति अभाव रूप होनेसे तुच्छ है, इसलिये आकाश-कुसुमकी तरह विश्वास योग्य नहीं है ।

तथा, जिन पदार्थोंसे दूसरे पदार्थोंकी व्यावृत्ति की जाती है, वे पदार्थ सत् है, या असत् ? यदि असत् है, तो असत् खरविषाणसे भी घटकी व्यावृत्ति की जानी चाहिये । यदि व्यावृत्ति पदार्थोको सत् मानो तो फिर

अनेका वा? अनेका चेत् तस्या अपि विशेषत्वापत्तिः, अनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद् विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात्। तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, अनवस्थापाताच्च। एका चेत् सामान्यमेव संज्ञान्तरेण प्रतिपन्नं स्यात्। अनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाव्यभिचारात्। किञ्च, अमी विशेषाः सामान्याद् भिन्ना अभिन्ना वा? भिन्नाश्चेद् मण्डूकजटाभारानुकाराः। अभिन्नाश्चेत् तदेव तत्स्वरूपवत्। इति सामान्यैकान्तवादः॥

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते। विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः। ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहाय, अन्यत्किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते। तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति—

"एतासु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमंगुलीषु।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः"[1]॥

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्॥

किञ्च, यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकमनेकं वा? एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा? सर्वगतं चेत्, किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते। सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा

उन पदार्थोंको सामान्य ही कहना चाहिए। तथा, विशेषोंके द्वारा की हुई व्यावृत्ति सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति होती है, अथवा सबमें अलग-अलग? यदि व्यावृत्ति अनेक हैं, तो व्यावृत्तिको भी विशेष मानना चाहिये, क्योंकि अनेक रूपको ही विशेष कहते हैं। अतएव व्यावृत्तिके विशेष सिद्ध होने पर व्यावृत्तिमें भी व्यावृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि विशेषकी व्यावृत्तिके साथ अन्यथानुपपत्ति है। तथा, व्यावृत्तिमें व्यावृत्ति माननेपर, व्यावृत्ति व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं हो सकती, अतएव विशेषोंका अभाव मानना होगा, और इस प्रकारकी व्यावृति प्रतिषिद्ध है। तथा, एक व्यावृत्तिमें अनेक व्यावृत्ति माननेसे अनवस्था दोष आता है। यदि सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति स्वीकार करो, तो उसे सामान्य ही मानना चाहिये, क्योंकि अनुवृत्ति प्रत्ययसे विरोध नहीं आता। तथा, ये विशेष सामान्यसे भिन्न हैं, या अभिन्न? विशेषोंको सामान्यसे भिन्न मानना मण्डूकके जटाभारका ही अनुकरण करना है। यदि विशेष सामान्यसे अभिन्न हैं, तो तो उन्हें सामान्य ही कहना होगा। अतएव सामान्य एकान्त वाद मानना ही उचित है।

(२) पर्यायास्तिक नयको स्वीकार करने वाले बौद्ध : भिन्न और क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले विशेष ही तत्त्व हैं, क्योंकि विशेषको छोड कर सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं है। गौको जानते समय हमें गौके वर्ण, आकार आदिके विशेष ज्ञानको छोड कर गौका केवल सामान्य ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि विशेष ज्ञानको छोड कर किसी पदार्थका सामान्य ज्ञान हमारे अनुभवके बाह्य है। कहा भी है—

"जो पुरुष प्रत्यक्षसे स्पष्ट अलग-अलग दिखाई देनेवाली पाँच उँगलियोंमें केवल सामान्य रूपको देखता हैं, वह पुरुष अपने सिरपर सींग ही देखता है, अतएव पदार्थों के विशेष ज्ञानको छोड कर पदार्थों का केवल सामान्य ज्ञान होना असम्भव है।"

तथा, एकरूप ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्तियोंसे ही उत्पन्न होता है। अतएव सामान्य की सिद्धि न्यायसगत नहीं।

तथा, सामान्य एक हैं, या अनेक? यदि सामान्य एक है तो वह व्यापक है, या अव्यापक? यदि सामान्य व्यापक है, तो वह दो व्यक्तियों (गौओं) के बीचमें क्यों नहीं रहता? तथा, सामान्यको सर्वगत

१ अशोकविरचितसामान्यदूषणदिक्प्रन्थे।

गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि, अविशेषात् । असर्वगतं चेद् विशेषरूपापत्तिः अभ्युपगमबाधश्च ॥

अथानेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेभिन्नत्वात्, तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः । अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात् । न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति । अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम् । तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते । न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते । तस्य निष्क्रियत्वात् । वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात् । तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा ? भिन्नं चेद् अवस्तु । विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाभावात् । अभिन्नं चेद् विशेषा एव, तत्स्वरूपवत् । इति विशेषैकान्तवादः ॥

नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः । स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ । तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात् । तथाहि । सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात् । यावेवं तावेवं, यथा पाथः-पावकौ, तथा चैतौ, तस्मात् तथा । सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतम् । तद्विपरीताश्च शवलशाबलेयादयो विशेषाः । ततः कथमेषामैक्यं युक्तम् ॥

न सामान्यात् पृथग्विशेषस्योपलम्भ इति चेत्, कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् । सामान्यव्याप्तस्येति चेद्, न तर्हि स विशेषोपलम्भः । सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता । न चैतदस्ति । विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्माद् विशेषमभिलपता तस्य च

और एक माननेपर जैसे गोत्व सामान्य गौओंमें रहता है, वैसे ही वह घट, पट आदिमे भी रहना चाहिये, क्योंकि सामान्य एक है । यदि सामान्यको अव्यापक मानों तो वह विशेषरूप हो जायेगा और आपकी मान्यतामे बाधा उपस्थित होगी ।

यदि कहो कि सामान्य गोत्व, अश्वत्व, घटत्व, पटत्व आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है, तो इससे एक दूसरेकी व्यावृत्ति करनेवाला विशेष ही सिद्ध होता हैं । क्योंकि गोत्व और अश्वत्वके भिन्न-भिन्न होनेसे गोत्वकी अश्वत्वसे व्यावृत्ति होती है । तथा, अर्थक्रियाकारित्व वस्तुका लक्षण है । यह लक्षण विशेषमे ही स्पष्ट घटता है, क्योंकि सामान्य निष्क्रिय होनेसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता । तथा, वाहन (खेंचना) दोहन (दुहना) आदि अर्थक्रियाओंमें भी अश्वत्व, गोत्व आदि सामान्य उपयोगी नहीं होते, वल्कि खीचने, दुहने आदिके समय विशेषरूप अश्व और गोसे ही हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है । तथा, यह सामान्य विशेषोंसे भिन्न है, या अभिन्न ? यदि सामान्य विशेषोंसे भिन्न है तो सामान्य कोई पदार्थ ही नहीं ठहरता, क्योंकि विशेषसे भिन्न होकर इसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती । यदि सामान्य विशेषसे अभिन्न है तो उसे विशेष ही मानना चाहिये, क्योंकि वह इसीका रूप है । अतएव विशेष एकान्तवाद मानना ही उचित है ।

(३) नैगम नय को स्वीकार करनेवाले **न्याय-वैशेषिक** : सामान्य और विशेष स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रमाणके द्वारा वे ऐसे ही प्रतीत होते है । तथाहि 'सामान्य और विशेष अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि वे विरोधी धर्मोसे युक्त हैं, जो विरोधी धर्मोसे युक्त होते हैं वे अत्यन्त भिन्न होते है, जैसे जल और अग्नि । ये सामान्य और विशेष विरोधी धर्मोसे युक्त हैं, अतः अत्यन्त भिन्न हैं' । गोत्व आदि सामान्य सर्वव्यापक है, और शवल शाबलेय आदि विशेष उसके विपरीत है, अतएव दोनोंका एकत्व कैसे सम्भव है ?

यदि कहो कि सामान्यसे पृथक् रूप मे विशेषका ज्ञान नहीं होता तो कहिये कि विशेषका ज्ञान फिर कैसे होता है ? यदि कहो कि सामान्यसे व्याप्त विशेषका ज्ञान होता है, तो इसका मतलब हुआ कि विशेषका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उस सामान्यसे व्याप्त विशेषके ज्ञानसे सामान्यका भी ज्ञान होता है और इसलिए उस सामान्यसे व्याप्त विशेषके ज्ञानसे सामान्यके कारण भिन्न विशेषका ज्ञान न होनेके कारण प्रमाता, विशेषके वाचक

व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः। एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं, विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक्प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ। ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते। इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः॥

तदेतत् पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदम्। प्रमाणबाधितत्वात्। सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात्। वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रियाकारित्वम्। तच्चानेकान्तवादे एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः। तथाहि। यथा गौरित्युक्ते खुरककुत्सास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसम्पन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते॥

यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासः तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव। शबलेति केवलविशेषोच्चारणेऽपि, अर्थात् प्रकरणाद् वा गोत्वमनुवर्तते। अपि च, शबलत्वमपि नानारूपम्, तथा दर्शनात्। ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते। तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम्। न हि क्वचित् कदाचित् केनचित् सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः। केवलं दुर्नयप्रभावितमति-

---

शब्द तथा विशेषके द्वारा किये जानेवाला व्यवहार न कर सकेगा। किन्तु विशेष वाचक शब्दका और विशेषके द्वारा किये जानेवाले व्यवहारका अभाव तो है नहीं, क्योंकि विशेष शब्दकी और विशेषके द्वारा किये जानेवाले व्यवहारकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव विशेषकी अभिलाषा करनेवालेको और विशेषसाध्य व्यवहारकी प्रवृत्ति करनेवालेको सामान्य ज्ञानसे भिन्न विशेषको जाननेवाले ज्ञानको स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार सामान्यके वाचक शब्दके स्थानमे विशेषके वाचक शब्दका, और विशेषके वाचक शब्दके स्थानमें सामान्यके वाचक शब्दका प्रयोग करनेवालेको, सामान्यके विषयमें भी विशेषके ज्ञानसे भिन्न सामान्यके ज्ञानको स्वीकार करना चाहिए। अतएव सामान्यको जाननेवाले ज्ञानमे और विशेषको जाननेवाले ज्ञानमे पृथक् रूपसे प्रतिभासित होनेके कारण सामान्य और विशेष दोनों ही एक दूसरेसे भिन्न सिद्ध होते हैं। अतएव पदार्थका सामान्य-विशेषात्मक रूप घटित नहीं होता। इसलिए स्वतन्त्र सामान्य और स्वतंत्र विशेषवाद ही ठीक हैं।

जैन—(१) उक्त तीनों पक्ष प्रमाणसे बाधित होनेसे परीक्षाकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। क्योंकि सामान्य-विशेष रूप पदार्थ ही निर्दोष रूपसे अनुभवमे आते है। वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है और यह लक्षण अनेकान्तवादमें ही ठीक-ठीक घटित हो सकता हैं। गौके कहनेपर जिस प्रकार खुर, ककुत्, सास्ना, पूँछ, सींग आदि अवयवोंवाले गो पदार्थका स्वरूप सभी गो व्यक्तियोंमे पाया जाता है, उसी प्रकार भैंस आदिकी व्यावृत्ति भी प्रतीत होती है। अतएव एकान्त सामान्यको न मान कर पदार्थोंको सामान्य विशेष रूप ही मानना चाहिए।

(२) जहाँ 'शबला गो' कहा जाता है, वहाँ जिस प्रकार विशेषका ज्ञान होता हैं, उसी प्रकार गोत्व सामान्यका ज्ञान भी स्पष्ट ही है। 'शबला' केवल इस विशेषका उच्चारण करने पर भी अर्थ या प्रकरणकी दृष्टिसे गोत्व सामान्यकी अनुवृत्ति होती है (अर्थात् गोत्व सामान्यका ज्ञान होता है)। तथा, शबलत्व भी अनेक प्रकारका होता है, क्योंकि वैसा देखनेमे आता हैं। अतएव वक्ताके द्वारा 'शबला' कहा जाने पर, अपनेमें सभी शबल-सामान्यका अन्तर्भाव करनेवाले विवक्षित गोव्यक्तिमे विद्यमान रहनेवाले ही शबलत्वका निश्चय किया जाता हैं। इस प्रकार वस्तुका सामान्य-विशेषात्मकत्व सभी बाल-गोपालमें अनुभव-सिद्ध हैं, फिर भी सामान्य ही सद्भूत है, विशेष नहीं, और विशेष ही सद्भूत हैं सामान्य नहीं, इस प्रकारका एकान्तिक कथन प्रलापमात्र हैं। विशेषोंसे पृथक् किये गये सामान्यका और सामान्यसे पृथक् किये गये विशेषोंका

व्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशाः । सोऽयमन्धगजन्यायः[1] ॥

येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वाद् नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः । स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः । सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्भिन्नं, कथञ्चिदभिन्नं, कथञ्चित् तदात्मकत्वाद्, विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद् विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मक सामान्यदर्शनात् समानेति । तेन समानो गौरयम्, सोऽनेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथञ्चिद् व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव । पृथग्व्यपदेशादिभाक्त्वात् ॥

विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग्भवितुमर्हन्ति । यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत् तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् । न च तस्य तत् सिद्धम् । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित् परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते । सामान्यात् तु विशेषाणामव्यतिरेकात्तेऽप्येकरूपा इति ।

कहीं पर, किसी कालमे, किसीके द्वारा अनुभव नही किया जाता । अज्ञानी पुरुष केवल दुर्नयसे प्रभावित मतिके व्यामोहके कारण सामान्य और विशेष इन दोनोंमेसे एकका अपलाप दूसरेकी सिद्धि करते है । यह अन्धगजन्याय ही है ।

(३) क—सामान्य-एकान्त और विशेष-एकान्त पक्षमें उपस्थित होने वाले पूर्वोक्त दोष भी अनेकान्तवाद रूप प्रचण्ड मुद्गरके प्रहारसे जर्जरित होनेके कारण श्वास लेनेमे भी समर्थ नहीं रह जाते । सामान्य और विशेषको परस्पर भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ मानने वालों (वैशेषिक और नैयायिक) का निम्नलिखित रूपसे निराकरण करना चाहिये, 'सामान्य प्रत्येक व्यक्तिसे कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है, कथचित् तदात्मक होनेसे, विसदृश परिणामकी तरह ।' (विसदृश परिणामका जिस प्रकार अपने परिणामाभिभूत प्रत्येक व्यक्तिके साथ कथचित् तादात्म्य होनेसे, वह प्रत्येक व्यक्तिसे कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है, उसी प्रकार सामान्यका प्रत्येक व्यक्तिके साथ कथचित् तादात्म्य होनेसे, वह प्रत्येक व्यक्तिसे कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है) । जैसे किसी व्यक्तिका उपलभ्यमान अन्य व्यक्तिसे विसदृश परिणाम दिखाई देता है, उसी प्रकार वह सदृश परिणामस्वरूप सामान्य दिखाई देनेसे उपलभ्यमान अन्य व्यक्तिके समान (सदृश परिणाम) होता है, क्योंकि 'यह गाय उस गायके समान है', 'वह उसके समान है', इस प्रकारका ज्ञान होता है । व्यक्तिके स्वरुपसे अभिन्न होनेसे सामान्यकी सामान्यरुपतामे विरोध नहीं आता । क्योंकि रूप आदि अर्थ व्यक्ति (विशेष) के स्वरुपसे अभिन्न होने पर भी (रूप आदिके घट आदिसे अभिन्न होने पर भी) उनकी गुणरूपतामें विरोध नहीं आता । तथा, जिस प्रकार सामान्य व्यक्तिके स्वरुपसे कथचित् भिन्न होता है, उसी प्रकार सदृशपरिणाम व्यक्तिके स्वरुपसे कथचित् भिन्न है, क्योंकि व्यक्तिस्वरूप और सदृश परिणाम की सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भिन्न-भिन्न है ।

(ख)—इसी प्रकार विशेष भी एकातरुपसे सामान्यसे भिन्न होने योग्य नहीं है । क्योंकि यदि सामान्य सर्वव्यापक सिद्ध हो गया तो विशेषके सर्वव्यापक न होनेके कारण उनमे सामान्यसे विरुद्ध धर्मोका अध्यारोप उपस्थित होगा । और सामान्यका सर्वव्यापकत्व सिद्ध नहीं है, इसका हम पहले ही खण्डन कर आये है ।

---

१ जन्मान्धैर्दशभिर्यथाक्रम पदचतुष्टयश्रोत्रद्वयशुण्डादन्तपुच्छरूपा गजावयवा स्पृष्टा । तत तेऽन्धा स्वस्पृष्टरुपं स्तम्भाद्याकारक पूर्णतया गजस्वरूप प्रतिपद्यमानास्तथैव स्थापयन्ति तदितरन्निषेधयन्ति तद्वत् ।

एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम् । प्रमाणार्पणात् तस्य कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् कथञ्चित् प्रतिव्यक्तिभेदात् । एवं चासिद्धं सामान्यविशेपयोः सर्वथाविरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद् विवक्षितम् तदास्मत्कक्षाप्रवेशः । कथञ्चिद् विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः । तयोरपि कथञ्चिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात् । पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासः, भेदश्च । द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति । तथा च कथं न सामान्यविशेपात्मकत्वं वस्तुनो घटते इति । ततः सुष्ठूक्तं वाच्यमेकमनेकरूपम् इति ॥

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् सामान्यविशेपात्मकम् । सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायि शब्दत्वमेकम् । शाङ्खशाङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेपभेदादनेकम् । शब्दस्य हि सामान्यविशेपात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद् व्यक्तमेव । तथाहि । पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत् ॥

यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिपेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वात्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्, पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्, गगनगुणत्वात् चेति पञ्चहेतवो यौगैरुपन्यस्ताः, ते हेत्वाभासाः । तथाहि । शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा,

---

तथा, सामान्य और विशेषका परस्पर कथंचित् अभेद होनेके कारण सामान्य-विशेष एक रूपसे और अनेक रूपसे व्यवस्थित है। विशेषोंसे भिन्न न होनेसे सामान्य भी अनेक रूपसे प्रतिव्यक्तिके भेदरूपसे इष्ट है और सामान्यसे विशेषोंका भेद न होनेसे विशेष भी एक रूपसे इष्ट है।

व्यक्तियोंमे पाया जाने वाला सामान्य संग्रह नयकी विवक्षासे एक रूप होता है। प्रमाणकी विवक्षा (मुख्यता) से सामान्यका कथंचित् विरुद्ध धर्माध्यासितत्व समझना चाहिये। जिस प्रकार विसदृश परिणाम (परिणामाभिभूत) प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भिन्न होता है, उसी प्रकार सदृश परिणाम रूप सामान्यका भी प्रत्येक व्यक्तिसे कथंचित् भेद होता है। इस प्रकार सामान्य और विशेषका सर्वथा विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होना असिद्ध है। यदि सामान्य विशेषका कथंचित् विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होना प्रतिवादीको विवक्षित हो तो यह हमारे ही मतकी स्वीकृति होगी। क्योंकि कथंचित् विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होना कथंचित् भेदके साथ अविनाभाव रूप होना है। तथा, जल और अग्निका दृष्टान्त भी साध्यविकल (साध्यमें न रहनेवाला) और साधन-विकल (साधनमें न रहनेवाला) है। क्योंकि उन दोनोंको भी हमने कथंचित् विरुद्ध धर्माध्यासित और कथंचित् भिन्न रूपसे स्वीकार किया है। जलत्व और अग्नित्व आदिसे दोनों विरुद्ध धर्मोंसे युक्त हैं और दोनोंमें भेदका सद्भाव है। तथा, द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा दोनों विरुद्ध धर्मोंसे युक्त नहीं है और उनमें भेद भी नहीं है। इस प्रकार वस्तुका सामान्य विशेषात्मक कैसे नहीं सिद्ध होता? अतएव हमने जो कहा है कि वाच्य एक और अनेक दोनों रूप है, हमारा यह कथन बिलकुल ठीक है।

इस प्रकार शब्दसंज्ञक वाचक भी सामान्य-विशेष दोनोंसे युक्त है। सभी शब्दरूप व्यक्तियोंमें अन्वित होने वाला शब्दत्व (सामान्य) एक रूप है और वह शब्दत्व शंख, धनुष, तीव्र, मन्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिके शब्दभेदसे अनेक रूप है। तथा, शब्द पौद्गलिक होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप है। तथाहि 'शब्द पौद्गलिक है, क्योंकि रूप आदिकी तरह इन्द्रियका विषय है।'

शब्द पुद्गलकी पर्याय नहीं है, इसका निषेध करनेके लिए नैयायिकों और वैशेषिकोंने जो निम्नलिखित हेतु उपस्थित किये हैं, वे हेत्वाभास हैं. (१) स्पर्शसे शून्य पदार्थ उसका आश्रय है,

न पुनराकाशम् । तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव । यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात् तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत् । इति असिद्धः प्रथमः । द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः । वर्त्यमानजात्यकस्तूरिकादि गन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापाद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवाद् नातिनिबिडत्वम्, अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ । कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम् । सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः इति चेत्, तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु तडिल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव । गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते । पञ्चमः पुनः असिद्धः । तथाहि । न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्, रूपादिवत् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात् सामान्यविशेषात्मकः शब्द इतिः ।

---

(२) अत्यन्त सघन प्रदेशमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकता है, (३) शब्दके पूर्व और पश्चात् उसके अवयव नहीं दिखाई देते, (४) वह सूक्ष्म मूर्त द्रव्योंका प्रेरक नहीं हैं, तथा (५) शब्द आकाशका गुण है । (१) उक्त हेतुओंमे प्रथम हेतु असिद्ध है । क्योंकि शब्द पर्यायका आश्रय भाषावर्गणा है (सजातीय वस्तुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं, जिन पुद्गल वर्गणाओंसे शब्द बनते है, उन्हे भाषावर्गणा कहते है), आकाश नहीं । तथा, शब्दका आश्रय यह भाषावर्गणा स्पर्श गुणसे निर्णीत किया जाता है । जैसे, शब्दका आश्रय भाषावर्गणा स्पर्शसे युक्त है, क्योंकि जिस प्रकार गन्धके आश्रित द्रव्यपरमाणु इन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) का विषय होनेसे, वायुके अनुकूल होनेपर दूर खडे हुए मनुष्यके पास पहुँच जाते हैं, और वायुके प्रतिकूल होनेपर पास बैठे हुए मनुष्य तक भी नहीं पहुँचते, उसी प्रकार शब्दके आश्रित द्रव्यपरमाणु भी इन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय) का विषय होनेसे, वायुके अनुकूल होनेपर दूर देशमें खडे हुए श्रोताके पास तक पहुँचते है, और वायुके प्रतिकूल होनेसे समीपमें बैठे हुए श्रोताके पास तक भी नहीं पहुँचते । अतएव जैसे गन्ध इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द भी इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है । इसलिए वैशेषिकोंका प्रथम हेतु असिद्ध है । (२) दूसरे हेतुमें गन्ध द्रव्यरूप विपक्षमें रहनेके कारण गन्ध द्रव्यसे व्यभिचार आता है, इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक है । वर्तनशील उत्कृष्ट कस्तूरिका आदि गन्ध द्रव्य बन्द द्वारवाले मकानमे प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकते फिर भी पौद्गलिक है । शंका—बन्द द्वारवाले मकानमे सूक्ष्म रन्ध्रोंका सद्भाव होनेसे उसमें अत्यन्त सघनता नहीं होती, अतः उस मकानमे गन्ध द्रव्यका प्रवेश होता है और उसमेंसे वह बाहर निकलता है । अन्यथा जिसका द्वार खुला हुआ है ऐसे मकानमे, जिस प्रकार गन्ध द्रव्य अखण्ड प्रवाह रूपमे प्रवेश करता है और उसमेसे बाहर निकलता है, उसी प्रकार उस मकानमे सूक्ष्म रन्ध्रोंका अभाव होनेपर, गन्ध द्रव्य अखण्ड प्रवाहके रूपसे क्यों नहीं प्रवेश करता और बाहर निकल जाता? सर्वथा रन्ध्र रहित प्रदेशमे गन्ध द्रव्यका निर्गम और प्रवेश सभव नहीं । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि शब्दके विषयमें भी यही सम्भव है, अतएव दूसरा हेतु भी असिद्ध है । (३) तीसरा हेतु विद्युत् और उल्कापात आदिसे व्यभिचारी है । क्योंकि विद्युत् आदिके अवयव विद्युत्के पहले और पीछे नहीं पाये जाते, फिर भी विद्युत् आदि पौद्गलिक माने जाते हैं । (४) इसी तरह चौथा हेतु भी व्यभिचारी है, क्योंकि विशिष्ट गन्ध द्रव्य सूक्ष्म रज व धूम आदिके साथ उसका व्यभिचार है—विपक्षभूत गन्धद्रव्य, रज और धूल आदिमे वह रहता है । नासिकामें प्रवेश करनेवाला गन्ध द्रव्य आदि भी नासिकाके विवरद्वारमें फूटी हुई श्मश्रुका प्रेरक वह नहीं देखा जाता । तथा (५) पाँचवाँ हेतु असिद्ध है । शब्द आकाशका गुण नहीं है, क्योंकि वह रूपादिकी तरह हमारी इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष है । इसलिए पौद्गलिक होनेसे शब्दको सामान्य और विशेष रूप ही मानना चाहिए ।

न च वाच्यम् आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयत इति। यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवल्लोलीभावमापन्नस्य कथञ्चित् पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति[1]। यद्यपि स्याद्वादिनां पौद्गलिकमपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं, तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मत्वमर्वाग्दृशां न तथाप्रतीतिविषयमायाति। पौद्गलिकेषु पुनस्तत् साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम्। इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वमत्र सामान्यविशेषात्मकत्वसाधनायोपन्यस्तमिति ॥

अत्रापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तः, अनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रतिक्षेप्यः। अथवा वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम् शब्दार्थयोः कथञ्चित् तादात्म्याभ्युपगमात्। यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—

"अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च।
खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥ १ ॥

तथा, आत्माके अपौद्गलिक न होनेपर भी उसका सामान्य-विशेष रुपत्व निर्विवाद रुपसे अनुभवमें नहीं आता—ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ सूइओंका समूह घनसे कूटा जानेपर अविभागी एक पिण्डरुप बन जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रदेशकी अपेक्षा अनन्तानन्त कर्म परमाणुओंके साथ संश्लिष्ट एकीभावको प्राप्त संसारी आत्माको कथंचित् पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। यद्यपि स्याद्वादको माननेवालोंके मतमें पौद्गलिक और अपौद्गलिक सभी वस्तु सामान्य-विशेष रुप हैं, फिर भी अल्पज्ञानी धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन अपौद्गलिक पदार्थोंके सामान्य-विशेषत्वको नहीं समझ सकते, शब्द आदि पौद्गलिक पदार्थोंमें सामान्य–विशेषत्वको अच्छी तरह समझ सकते हैं। अतएव यहाँ शब्दका पौद्गलिक प्रस्तुत न होनेपर भी उसके सामान्य-विशेष रुप सिद्ध करनेके लिये पुद्गलकी पर्याय बताया गया है।

नित्य शब्दवादी मीमांसकोंके मतके अनुसार शब्द सर्वथा एक है, और अनित्य शब्दवादी बौद्धोंके अनुसार शब्द सर्वथा अनेक है—इन दोनों मतोंका उक्त पद्धतिसे खण्डन करना चाहिये। अथवा, वाच्य घटादिके सामान्य–विशेष रुप सिद्ध होनेपर, वाचक शब्दोंको भी सामान्य–विशेष मानना चाहिये। क्योंकि शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। भद्रबाहु स्वामीने भी कहा है—

"वाचक वाच्यसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। क्षुर (छुरा), अग्नि और मोदक शब्दोंका उच्चारण करते समय बोलनेवालोंके मुख और सुननेवालोंके कान 'क्षुर' से नहीं छिदते, 'अग्नि' से नहीं जलते, और 'मोदक' से नहीं भर आते, अतएव वाचकसे वाच्य भिन्न है। तथा 'मोदक' शब्दसे मोदकका ही ज्ञान होता हैं, अग्निका नहीं, इसलिये वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) अभिन्न है।"

१—नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः। यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोति। नैष दोषः। बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते। उक्तं च—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं। तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होइ जीवस्स ॥
छाया—बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतः भवति तस्य नानात्वं। तस्मात् अमूर्तिभावः अनेकान्तः भवति जीवस्य॥
सर्वार्थसिद्धौ पृ. ८८

नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं तेण भिन्नं तु ।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि नत्थेव पच्चओ होइ ॥ २ ॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ ।'"

एतेन—"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥"

इति प्रत्युक्तम् । "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति वचनात् । शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति । स च तत् तथाप्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्यः, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति ।

अथवा भंग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते । वाच्यं वस्तु घटादिकम् । एकात्मकमेव एकस्वरूपमपि सत्, अनेकम् अनेकस्वरूपम् । अयमर्थः । प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति । तच्च सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते । यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्थाः, विजातीयाश्च पटादयः । तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम् । पृथुबुध्नोदराद्या-

---

इस कथनसे—

"विकल्पसे शब्द उत्पन्न होते है, और शब्दसे विकल्प उत्पन्न होते हैं, अतएव शब्द और विकल्प दोनोंमें कार्य-कारण संबंध है, परन्तु शब्द अपने अर्थसे भिन्न है (अतएव दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं)।"—

यह कथन भी खंडित हो जाता है। क्योंकि "अर्थ, अभिधान और प्रत्यय ये पर्यायवाची शब्द हैं", ऐसा कहा गया है। जब शब्द वाच्यार्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करता है, तब वाच्यार्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करना ही शब्दका स्वरूप है। वाच्यार्थका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करनेवाले शब्दका, वाच्यका स्वरूप जिसमें अन्तर्निहित है ऐसे अपने परिणामके स्वरूपसे परिणत होनेपर ही उच्चारण करना शक्य है (जैसे घटके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाच्यभूत घटके स्वरूपका ज्ञान होनेके अनन्तर वाच्यके स्वरूपसे युक्त अपने घट स्वरूप शब्दके परिणामरूपसे परिणत होनेपर ही घट शब्दका उच्चारण शक्य है), अन्यथा नहीं। क्योंकि घट शब्दके उच्चारण कालमें पट आदि शब्दोंका उच्चारण होनेसे अतिप्रसंग उपस्थित होता है ।

अथवा, दूसरी तरहसे श्लोकका अर्थ किया जा सकता है । वाच्य घट आदि एक रूप होकर भी अनेक रूप हैं । भाव यह है कि प्रमाता प्रमेयभूत पदार्थके स्वरूपका उसके लक्षण द्वारा उसका निश्चय करता है। सजातीय और विजातीय पदार्थोंका व्यवच्छेद करनेसे लक्षण अस्तिरूपको प्राप्त करता है । उदाहरणके लिए, मिट्टीसे बने पदार्थ घटके सजातीय और पट आदि पदार्थ विजातीय होते हैं। इन सजातीय और विजा-

---

१ छाया—अभिधानमभिधेयाद् भवति भिन्नमभिन्नं च ।
क्षुराऽग्निमोदकोच्चारणे यस्मात् तु वदनश्रवणयो ॥
नाऽपि च्छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु ।
यस्माच्च मोदकोच्चारेण तत्रैव प्रत्ययो भवति ॥
न च भवति अन्यार्थे तेनाऽभिन्नं तदर्थात् ।

२. वाच्य पृथुबुध्नोदराकारोऽर्थोऽपि घट इति व्यपदिश्यते । तद्वाचकमभिधानं घट इति । तद्ज्ञानरूपः प्रत्ययोऽपि घट इति । तथा च लोके वक्तारो भवन्ति । किमिदं पुरो दृश्यते घटः । किमसौ वक्ति घटः । किमस्य चेतसि स्फुरति घटः ।

कारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते । तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते । अन्यथा प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः । सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम् । एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात् । एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात् । तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वाद् भाव भावात्मकं वस्तु । यदाह—

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥"

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानम् । सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥"

तथा—"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥"

तीय पदार्थोंका व्यवच्छेद ही घटका लक्षण है । सजातीय और विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति हो जानेपर ही बड़े, मोटे उदरवाले, शंखकी ग्रीवाके सदृश ग्रीवावाले और जलके रखने और लाने आदि क्रियामें समर्थ विशिष्ट पदार्थ घट कहा जाता है । इन मृत्तिकोपादानक परिणाम होनेसे सजातीय और पटादिरूप विजातीय पदार्थोंके स्वरूपको बुद्धि द्वारा घटमें आरोपित कर उसका व्यवच्छेद किया जाता है, क्योंकि यदि घटका ज्ञान करते समय सजातीय और विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति न की जाय, तो घटके निश्चित रूपका ज्ञान नहीं हो सकता । समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप होते हैं । पदार्थको यदि एकान्तरूपसे, स्वचतुष्टयकी अपेक्षा, अस्तिरूप ही माना जाये—परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप न माना जाये—तो पदार्थ परचतुष्टयको अपेक्षासे भी अस्तिरूप हो जानेसे अनेक रूप हो जायेगा । यदि उसे एकान्तरूपसे अभावात्मक माना जाय—स्वरूप चतुष्टय और पररुप चतुष्टयकी अपेक्षासे भी नास्तिरूप माना जाये—तो वह स्वभावशून्य हो जायेगा । अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूपकी अपेक्षा सत्, और पररूपकी अपेक्षा असत् होनेके कारण भाव-अभाव रूप है । कहा भी है—

"सभी पदार्थ स्वरूपकी दृष्टिसे विद्यमान है, पररुपकी दृष्टिसे विद्यमान नहीं है । यदि पदार्थ स्वरुपसे अस्तिरुप और पररुपसे नास्तिरुप न हो—प्रत्येक पदार्थमें स्वरुपका अभाव और पररूपका सद्भाव माना जाये—तो सभी पदार्थ सत् मात्र रुपसे एक हो जायेंगे और पदार्थोंके स्वरुपका अस्तित्व नहीं रह जायेगा ।"

इससे एक घटमें घटभिन्न सभी पदार्थोंकी अभावरूप से विद्यमानता होनेसे घटका अनेकात्मकत्व (अस्तिनास्तिरुपत्वादि) सुसिद्ध किया जा सकता है । इस प्रकार एक पदार्थके जाननेसे सब पदार्थोंका ज्ञान होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंके बिना जाने, सर्व पदार्थ निषेधयुक्त एक पदार्थको अन्य सभी पदार्थोंसे भिन्न रुपसे जानना असभव हो जाता है । आगममे भी कहा है—

"जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है, वह एकको जानता है ।"

तथा—

"जिसने एक पदार्थको सम्पूर्ण रीतिसे जान लिया है, उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है । जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है ।"

ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते, तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि। यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्, तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत् पररूपादिसत्त्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत्। परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति। अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद्, अहो वैदग्धी। न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति। विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात्। अथ युष्मत्पक्षेऽप्येवं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेद्, अहो वाचाटता देवानांप्रियस्य। न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वं, येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः। किन्तु स्वरूपद्रव्य-क्षेत्रकालभावैः सत्त्वं, पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः ॥

यौगास्तु प्रगल्भन्ते सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियम-सिद्धेः, किं तेषामसत्त्वात्मकत्वकल्पनया इति। तदसत्। यदा हि पटाद्यभावरूपो घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात्, घटाभावाद् भिन्नत्वादेव इत्यलं विस्तरेण।

जो बौद्ध पररूप चतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्वको स्वीकार नही करते, उनके मतमे घटादिको (घटादि-भिन्न) सर्वपदार्थात्मक माननेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे घटका अस्तित्व होता है, उसी प्रकार परचतुष्टयकी अपेक्षासे भी यदि घटका अस्तित्व स्वीकार किया जाय, तो ऐसी स्थितिमे जिस प्रकार स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे (घटादिका) अस्तित्व होता है, उसी प्रकार परचतुष्टयकी अपेक्षासे भी (घटादिका) अस्तित्व स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे घटका सर्वपदार्थरूपत्व कैसे सिद्ध न होगा? अतएव परचतुष्टयकी अपेक्षासे घटके नास्तित्वरूप माननेसे ही निश्चित-रुपसे उसकी सिद्धि होती है। यदि कहो कि 'परचतुष्टयकी अपेक्षासे घटका नास्तित्व सिद्ध नहीं होता, ऐसी बात नही है, किन्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे घटका अस्तित्व ही परचतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्व है'—तो यह महान् पाडित्य है। वस्तुत जो अस्तित्व है, वही नास्तित्वरुप नहीं हो सकता। क्योंकि विधि-प्रतिषेधरुप विरुद्धधर्माध्यासित होनेके कारण सत्त्व और असत्त्वकी एकरुपता घटित नहीं होती। यदि कहो कि जैन लोग भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध मानते है, तो यह कथन मूर्खजनोंकी वाचालता ही है। क्योंकि हम लोग (जैन) जिस प्रकारसे अस्तित्व मानते है, उसी प्रकारसे नास्तित्व नहीं मानते, तथा जिस प्रकारसे नास्तित्व मानते है उसी प्रकारसे अस्तित्व नहीं मानते। हमारी मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु अपने रुप, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् है, और पर रुप द्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् है, अतएव हमारे मतमे विरोधके लिए कोई स्थान नही है।

वैशेषिक—पदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पदार्थसे भिन्न अन्योन्याभाव माननेसे काम चल जाता है, इसलिये पदार्थोको अभावात्मक माननेकी आवश्यकता नहीं है। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थोको पररुपसे अभावात्मक नही मानें, तो पट आदिके अभावको घट नही कह सकते, अतएव घटको पट रुप मानना चाहिये। क्योंकि जैसे घटाभावसे भिन्न होनेके कारण घटको घट कहते है, वैसे ही पटके घटा-भावसे भिन्न होनेके कारण पटको भी घट मानना चाहिये। भाव यह है कि वैशेषिक लोग अन्योन्याभावको पदार्थकी स्थितिमे कारण मानते है। यह अन्योन्याभाव स्वय पदार्थसे जुदा होता है। वैशेषिकोंके अनुसार जहाँ घटका अभाव नहीं होता, वही घटका निश्चय होता है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि वस्त्र आदि भी घटके अभाव रूप नहीं है, इसलिये वस्त्र आदिके घटके अभावसे भिन्न होनेपर वस्त्र आदिमें भी घटका ज्ञान होना चाहिये। जैनसिद्धातके अनुसार घटको घटके अतिरिक्त सभी पदार्थोंके अभाव रुप स्वीकार किया है, इसलिये घटके वस्त्र आदिके भी अभाव स्वरूप होनेसे घटमे वस्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्व्यात्मकम्। एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः। अर्थोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाभावात्मकत्वात्। अथवा एकविषयस्यापि वाचकस्यानेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात् पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्तते वाचकतया, तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमानः केन वार्यते। भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट इति। संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ धृतिश्रद्धासंहननादिमति[1] प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, साम्प्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव सङ्केत्यते, जीतकल्पव्यवहारानुसारात्[2]। शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी। त्रिपुरार्णवे[3] च अलिशब्देन मदिराभिषेकम् च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् इत्यादि।

न चैवं सङ्केतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यम्। स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः। सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी सकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति। तथा च निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः—"स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।[4]" अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम्[5]। अतोऽन्यथेत्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्। प्रतिभासप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्य उक्तयुक्त्या दोषसद्भावात् व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः। सामान्यविशेषात्मकस्य भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको,

वाच्यकी तरह वाचक भी एक होकर भी अनेक है। जैसे अर्थ भाव और अभाव रूप है वैसे ही शब्द भी भाव और अभाव दोनों रूप है। अथवा, एक विषयका वाचक शब्द अनेक विषयोंका वाचक हो सकता है, इसलिये भी शब्द भाव और अभाव रूप है। जैसे बड़े और मोटे उदरवाले पदार्थमें घट शब्दका व्यवहार होता है, उसी प्रकार देश, काल आदिकी अपेक्षा उसी कारण अन्य पदार्थोंमें भी उसकी विद्यमानता कौन रोक सकता है। योगी लोग शरीरको ही घट कहते हैं। चौर शब्दका साधारण अर्थ चोर होता है, परन्तु दक्षिण जैसे देशमें चौर शब्दका अर्थ चावल होता है, कुमार शब्दका सामान्यसे युवराज अर्थ होनेपर भी पूर्व देशमें इसका अर्थ आश्विन मास किया जाता है, कर्कटी शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ककडी होनेपर भी कहीं-कहीं इसका अर्थ योनि किया जाता है। तथा, जीतकल्पव्यवहार अनुसार प्रायश्चित्त विधिमें धृति, श्रद्धा और संहननवाले प्राचीन समयमें षड्गुरु शब्दका अर्थ एकसौ अस्सी उपवास किया जाता था, परन्तु आजकल षड्गुरुका अर्थ केवल तीन उपवास किया जाता है। पुराणोंमें उपवासके नियमोंका वर्णन करते समय द्वादशीका अर्थ एकादशी किया जाता है। त्रिपुरार्णवमें अलि शब्द मदिरा, और मधु शब्द शहद और घीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

केवल संकेत मात्रसे अर्थका ज्ञान नहीं होता। स्वाभाविक शक्तिकी मुख्यतासे उनकी प्रवृत्ति होती है। क्योंकि शब्दोंमें ही सब अर्थोंको जनानेकी शक्ति होती है। संकेत केवल देश और काल आदिकी अपेक्षासे शब्दके ही अर्थको जाननेमें सहकारी होता है। परवादियोंको जीतनेवाले श्रीदेवसूरि आचार्यने कहा भी है—"स्वाभाविक शक्ति तथा संकेतसे अर्थके ज्ञान करनेको शब्द कहते हैं।" शब्दकी शक्तिके विषयमें विशेष

१. इदांक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत्संहननं तच्चास्थिनिचय। तत्संहननं षट्प्रकारं भवति। वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त (छेदस्पृष्टम्)। वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, अर्धनाराच, कीलिका (कीलित), असंप्राप्तासृपाटिका इति षट्संहननानि दिगम्बरग्रन्थेषु।

२ जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृतो गाथाग्रन्थो जीतकल्पाख्य। जीतमाचरितं तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा जीतकल्प।

३ शाक्तमार्गीयो ग्रन्थ।

४. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ४-११।

५ स्याद्वादरत्नाकरे २-१ इत्यादय।

भावाभावात्मकश्च वाच्यवाचकभावः इति । अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानाना वादिना प्रतिभैव प्रमाद्यति, न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते ।

कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेत्, एते ब्रूमः । अपोह[१] एव शब्दार्थ इत्येके । "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तुविधिनोच्यते[२]" इति वचनात् । अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दाना गोचरः । तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्य, एकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः । न पुनर्विशेषाः । तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनो पलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः । विधिवादिनस्तु विधिरेव[३] वाक्यार्थः, अप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात् तस्येत्याचक्षते । विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्यानेकप्रकारः[४] । तथाहि । वाक्यरूपः[५] शब्द एव प्रवर्तकत्वाद् विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनापरपर्यायो[६] विधिरित्यन्ये । नियोग[७] इत्यपरे । प्रैषादय[८] इत्येके । तिरस्कृत-

जाननेके लिये स्याद्वादरत्नाकर (२-२) आदि ग्रन्थ देखने चाहिए । अतएव सामान्य-विशेष रूप और भावाभाव रूप वाचक (शब्द) से ही सामान्य-विशेष और भावाभाव रूप वाच्य (अर्थ) का ज्ञान हो सकता है।

(१) बौद्ध लोग अपोह (इतरव्यावृत्ति—परस्परपरिहार) को ही शब्दार्थ मानते हैं । कहा भी है। "शब्द और लिगसे अपोह कहा जाता है, वस्तुकी प्रेरणासे नहीं ।" (२) कुछ लोग सामान्य (जाति) को ही शब्दका अर्थ मानते हैं । क्योंकि सामान्यके किसी भी स्थानमें रहनेपर वह सब जगह सकेतसे जाना जा सकता है । विशेष अनत है, इसलिए उनकी एक साथ शब्दसे प्रतीति नहीं हो सकती, अतएव सामान्य ही शब्दका विषय है । (३) विधिवादियोंके अनुसार विधि ही शब्दका अर्थ है, क्योंकि उससे प्रवृत्ति न करनेवाले मनुष्योंकी प्रवृत्ति होती है । (प्रवृत्तिके अनुकूल व्यापारको विधि कहते है, विधि, प्रेरणा, प्रवर्तना आदि शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं) । विधि अनेक प्रकारकी है । (सामान्यसे लौकिक और वैदिक विधिके दो भेद हैं । अपूर्व, नियम और परिसख्याके भेदसे विधि तीन प्रकारकी बतायी गई है । उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार ये अपूर्व विधिके चार भेद है) । कोई विधिवादी वाक्यरूप शब्दको विधि कहते है । (जैसे 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको अग्निहोत्र करना चाहिये') । कोई वाक्यमे उत्पन्न व्यापार (भावना) को विधि कहते है । पुरुषकी प्रवृत्तिके अनुकूल प्रवर्तन करनेको व्यापार अथवा भावना कहते हैं । [यह भावना शब्दभावना और अर्थभावनाके भेदसे दो प्रकारकी है । स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको यज्ञ करना चाहिये' (यजेत स्वर्गकाम) आदि वाक्योंमे, ईश्वरके स्वीकार न करनेमे लिङ् (विधिरूप) शब्दके व्यापारको शब्दभावना कहते हैं । शब्दके व्यापारमे यज्ञ करनेवाले पुरुषकी प्रवृत्तिको अर्थभावना कहते हैं । भट्टमीमासक भावनाको मानते हैं] । कोई नियोगको ही विधि मानते हैं । (जिसके द्वारा यज्ञमे नियुक्त हो, उसे नियोग कहते है । यह नियोग ग्यारह

१ अतद्व्यावृत्तिः । यथा विज्ञानवादिबौद्धमते नीलत्वादिधर्मोऽनीलव्यावृत्तिरूप ।

२ दिङ्नाग ।

३ विधिप्रेरणाप्रवर्तनादिशब्दाभिधेयं प्रवृत्त्यनुकूलव्यापार ।

४ सामान्यतोऽयं द्विविधो विधिः लौकिको वैदिकश्च । प्रकारान्तरेण विधिस्त्रिविधः अपूर्वविधिः नियमविधिः परिसंख्याविधिश्च ।

५ यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' ।

६ भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष । यथा यजेतेत्यादौ लिङाद्याख्यातार्थो भावना । भाट्टमते शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति द्विविधा भावना । 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिवैदिकवाक्ये पुरुषाभावात् शब्दनिष्ठत्वादेव शब्दभावना इत्युच्यते । अर्थभावना तु प्रवृत्त्यादिव्यापाररूपा ।

७ नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योग । एकादशधा नियोग विद्यानन्दिकृताष्टसहस्र्या व्याख्यात पृ ६ ।

८. न्यक्कारपूर्विका प्रेरणा प्रैष ।

तदुपाधिप्रवर्तनामात्रमित्यन्ये । एवं फलतदभिलापकर्मादयोऽपि वाच्याः । एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्[1] ॥ इति काव्यार्थः ॥१४॥

इदानीं सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषादितत्त्वानां विरोधावरुद्धत्वं ख्यापयन्, तद्बालिशता-विलसितामपरिमितत्वं दर्शयति–

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥ १५ ॥

प्रकारका बताया गया है । प्रभाकर लोग नियोगवादी हैं । भट्टमीमांसक नियोगवादका खंडन करते हैं ।) कोई प्रेरणा आदिको, और कोई तिरस्कार पूर्वक प्रेरणा करनेको ही विधि मानते हैं । इसी तरह विधिके फल, अभि-लाषा और कर्म आदि भी विधिवादियोंने भिन्न भिन्न स्वीकार किये हैं । इन सब मतोंका निरूपण और उनका खंडन प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें देखना चाहिये ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥१४॥

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको सामान्य-विशेष और एक-अनेक प्रतिपादन करते हुए सामान्य एकान्तवादी, विशेष एकान्तवादी, तथा परस्पर भिन्न निरपेक्ष सामान्य विशेष वादियोंकी समीक्षा की गई हैं । (१) अद्वैतवेदांती, मीमांसक और सांख्योंका मत है कि वस्तु सर्वथा सामान्य है, क्योंकि विशेष सामान्यसे भिन्न प्रतिभासित नहीं होते । (२) क्षणिकवादी बौद्धोंकी मान्यता है की प्रत्येक वस्तु सर्वथा विशेषरूप है, क्योंकि विशेषको छोडकर सामान्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, और वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण भी विशेषमें ही घटित होता है । (३) न्यायवैशेषिकोंका कथन हैं कि सामान्य-विशेष परस्पर भिन्न और निरपेक्ष है, अतएव सामान्य और विशेषको एक न मानकर परस्पर भिन्न स्वीकार करना चाहिये ।

जैनसिद्धांतके अनुसार उक्त तीनों सिद्धांत कथंचित् सत्य हैं । वस्तुको सर्वथा-सामान्य माननेवाले वादी द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे, सर्वथा-विशेष माननेवाले वादी पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे, तथा सामान्य-विशेषको परस्पर भिन्न और निरपेक्ष माननेवाले वादी नैगमनयकी अपेक्षासे सच्चे हैं । इसलिए सामान्य-विशेषको कथं-चित् भिन्न-अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिए । क्योंकि पदार्थोंका ज्ञान करते समय सामान्य और विशेष दोनोंका ही एक साथ ज्ञान होता है, विना सामान्यके विशेष, और विना विशेषके सामान्यका कहीं भी ज्ञान नहीं होता । जैसे गौके देखनेपर हमें अनुवृत्तिरूप गौका ज्ञान होता है, वैसे ही भैंस आदिकी व्यावृत्तिरूप विशेषका भी ज्ञान होता है । इसी तरह शबला गौ कहनेपर जैसे विशेषरूप शबलत्वका ज्ञान होता है, वैसे ही गोत्वरूप सामान्यका भी ज्ञान होता है । अतएव सामान्य-विशेष कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होनेसे सामान्य और विशेष दोनोंरूप ही हैं ।

इसी प्रकार वाच्य (अर्थकी) तरह वाचक (शब्द) भी सामान्य-विशेषरूप है । (यहाँ मल्लिषेणने शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करके उसे भी सामान्य-विशेषरूप सिद्ध किया है ।) तथा, प्रत्येक वस्तुको भाव और अभावरूप मानना चाहिये, क्योंकि यदि वस्तु सर्वथा अभावरूप हो, तो उसे सर्वात्मक माननी चाहिये, और ऐसी अवस्थामें उसका कोई भी स्वभाव नहीं मानना चाहिये । अतएव प्रत्येक वस्तुको अपने स्वरूपसे सत्, और पररूपसे असत् मानना चाहिये । अतएव प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, इसलिये वाच्य और वाचक दोनों सामान्य-विशेष और एक-अनेकरूप है ।

अब सांख्योंके प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वोंका विरोध दिखलाते हुए उन लोगोंके मतका खंडन करते हैं—

श्लोकार्थ—चैतन्यस्वरूप अर्थसे रहित बुद्धि जडरूप है, शब्द आदि पांच तन्मात्राओंसे आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु उत्पन्न होते है, पुरुषके न बंध होता है और न मोक्ष—ये सब सांख्य लोगोंकी विरुध कल्पनायें है ।

---

१ भट्टाकलङ्कदेवकृतलघीयस्त्रयग्रन्थटीकात्मकं प्रभाचन्द्रेण प्रणीतं ।

चित्—चैतन्यशक्तिः, आत्मस्वरूपभूता । अर्थशून्या— विषयपरिच्छेदरहिता । अर्थपरिच्छेदस्य बुद्धिव्यापारत्वात् इत्येका कल्पना । बुद्धिश्च महत्तत्त्वाख्या । जडा अनवबोधस्वरूपा इति द्वितीया । अम्बरादि—व्योमप्रभृतिभूतपञ्चकं शब्दादितन्मात्रजम्—तन्मात्राणि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं, शब्दादितन्मात्रजम् इति तृतीया । अत्र च शेषो गम्यः । पुरुषस्य च प्रकृतिविकृत्यनात्मकत्वादात्मनो न बन्धमोक्षौ, किन्तु प्रकृतेरेव । तथा च कापिलाः—

"तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥"[1]

तत्र बन्धः—प्राकृतिकादिः । मोक्षः—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानपूर्वकोऽपवर्गः इति चतुर्थी । इतिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात्—एवंप्रकारमन्यदपि विरोधीनि विरुद्धं, पूर्वापरविरोधादिदोषाघ्रातम् । ईदृक्—सूक्तैः, तत्त्वावबोधविधुरधीभिः कापिलैः । कियत्र प्रथितं—कियद् न स्वशास्त्रेषूपनिबद्धम् । कियदित्यसूयागर्भम् । तत्प्रकल्पितविरुद्धार्थानामानन्त्येनेयत्तानवधारणात् । इति संक्षेपार्थः ॥

व्यासार्थस्त्वयम् । साङ्ख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुतत्त्वजिज्ञासा उत्पद्यते । आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम् । तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्—शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम् । अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसंबन्धो अभिघातः ॥

महाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम् । पुरुषश्चिद्रूप इति । तथा च ईश्वरकृष्णः—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥"[1]

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरम् । तच्च अनादिमध्यान्तमनवयवं साधारणमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम् । प्रधानाद् बुद्धिर्महदित्यपरपर्यायोत्पद्यते । योऽयमध्यवसायो गवादिषु प्रतिपत्तिः एवमेतद् नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येषा बुद्धिः । तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि । अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानि ॥

बुद्धेः अहंकारः । स च अभिमानात्मकः । अहं शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं गन्धेऽहं रसेऽहं स्वामी अहमीश्वरः असौ मया हतः ससत्त्वोऽहममुं हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः । तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि अविशेषरूपाणि सूक्ष्मपर्यायवाच्यानि । शब्दतन्मात्राद् हि शब्द एवोपलभ्यते, न पुनरुदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितषड्जादिभेदाः[2] । षड्जादयः शब्दविशेषा दुपलभ्यन्ते । एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेष्वपि योजनीयमिति । तत एव चाहङ्काराद् एकादशेन्द्रियाणि च । तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं त्वगिति पंचबुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि । एकादशं मन इति ॥

गन्ध (पाँच तन्मात्रा), ९-१९ घ्राण, रसना, चक्षु, स्पर्श और श्रोत्र (पाँच बुद्धीन्द्रिय), और वाक् (वचन) पाणि (हाथ), पाद (पाँव), पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग) (पाँच कर्मेन्द्रिय), तथा मन, २०-२४ आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी (पाँच महाभूत), तथा २५ प्रकृति और विकृति रहित पुरुष (चित्)। ईश्वरकृष्णने कहा भी है—

"पच्चीस तत्त्वोंका मूल कारण प्रकृति (प्रधान—अव्यक्त) है, यह स्वय किसीका विकार नहीं है (अविकृति)। महत्, अहकार और पाँच तन्मात्रायें ये प्रकृति और विकृति दोनों हैं (महत्त्व अहकारकी प्रकृति, और मूल प्रकृतिकी विकृति है। अहकार पाँच तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी प्रकृति, और महान्की विकृति है। पाँच तन्मात्रायें पचभूतोंकी प्रकृति और अहकारकी विकृति है)। तथा ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व विकृति रुप ही हैं। पुरुष प्रकृति और विकृति दोनोंसे रहित है।"

एक दूसरेका उपकार करनेवाले प्रीति और लाघव रुप सत्त्व, अप्रीति और उपष्टभ रुप रज, और विषाद और गौरव रूप तम गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति, प्रधान अथवा अव्यक्त कहते है। यह प्रधान आदि, मध्य, अन्त और अवयव रहित है, साधारण है, शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धसे रहित, तथा अविनाशी है। प्रधानसे बुद्धि अथवा महान् उत्पन्न होता है। यह गौ ही है, घोडा नहीं, पुरुष ही है, ठूँठ नहीं, इस प्रकार किसी वस्तुके निश्चयरूप ज्ञानको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य (सात्त्विक) और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, और अनैश्वर्य (तामसिक) ये आठ गुण हैं।

बुद्धिसे अहकार होता है। यह अहकार 'मै सुनता हूँ, मै स्पर्श करता हूँ, मै देखता हूँ, मै सूँघता हूँ, मै चखता हूँ, मै स्वामी हूँ, मै ईश्वर हूँ, यह मैने मारा है, मै बलवान हूँ, मै इसे मारूँगा' आदि अभिमानरूप होता है। अहकारसे पाँच तन्मात्राएँ होती है। ये शब्द आदि पाँच तन्मात्राएँ सामान्यरूप और सूक्ष्म पर्याय रूप है। शब्द तन्मात्रासे केवल शब्दका ही ज्ञान होता है, उदात्त, अनुदात्त स्वरित, कंपित और षड्ज आदि शब्दके विशेषरूपोंका नही, क्योंकि षड्ज आदिका ज्ञान विशेष शब्दसे ही होता है। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गध आदि तन्मात्राओंसे सामान्यरूपसे स्पर्श, रूप, रस, गध, आदिका ज्ञान होता है, विशेष स्पर्श

---

१ सांख्यकारिका ३।

२. षड्जऋषभगान्धारा मध्यम· पचमस्तथा । धैवतो निषध सप्त तन्त्रीकण्ठोद्भवाः स्वरा ॥ अभिधानचिन्तामणौ ६—३७।

पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते । तद्यथा शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम् । शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति ॥

पुरुषस्तु—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥"

इति । अन्धपङ्गुवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः । चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या । यत इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादयो बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचारः । आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते । आह च पतञ्जलिः—"शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते[1]" इति । मुख्यतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदः । तथा च वाचस्पतिः—"सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य नन्वहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मया इत्यध्यवस्यति । ततश्च प्रवर्तते इति लोकतः सिद्धम् । तत्र कर्तव्यमिति योऽयं निश्चयश्चितिसन्निधानापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः"[2] इति । चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवाभासते । वादमहार्णवोऽप्याह[3] । "बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबि-

---

आदिका ज्ञान नहीं होता । अहंकारसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श (बुद्धीन्द्रिय), वाक् पाणि, पाद, गुदा, लिंग (कर्मेन्द्रिय) और मन ये ग्यारह इन्द्रिया उत्पन्न होती है ।

पाँच तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत पैदा होते है । शब्द तन्मात्रासे आकाश पैदा होता है । शब्द और स्पर्श तन्मात्राओंसे शब्द और स्पर्शके गुणसे युक्त वायु, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंसे युक्त अग्नि, शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श रूप और रससे युक्त जल, तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध तन्मात्राओसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गधसे युक्त पृथिवी उत्पन्न होती है ।

पुरुष तो :—

"साख्य दर्शनमे अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म" है।

अधे और लगडे पुरुषकी तरह प्रकृति और पुरुषका सबध होता है । चित् शक्ति (पुरुष) स्वयं पदार्थोंका ज्ञान नही कर सकती, क्योंकि सुख-दुख इन्द्रियों द्वारा ही बुद्धिमें प्रतिभासित होते हे । बुद्धि दोनों तरफसे दर्पणकी तरह है, इसमे एक ओर चेतनशक्ति और दूसरी ओर बाह्य जगत् झलकता है । बुद्धिमे चेतनाशक्तिके प्रतिबिम्ब पडनेसे आत्मा (पुरुष) अपनेको बुद्धिसे अभिन्न समझता है, और इसलिये आत्मामे 'मैं सुखी हूँ', 'मै दुखी हूँ' ऐसा ज्ञान होता है । पतजलिने भी कहा हैं-"यद्यपि पुरुष स्वय शुद्ध है, परन्तु वह बुद्धि सम्बन्धी अध्यवसायको देखकर, बुद्धिसे भिन्न होकर भी अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझता हैं ।" वास्तवमे वह ज्ञान बुद्धिका ही होता है । वाचस्पतिने भी कहा है—"लोकके कार्योंमे प्रवृत्ति करनेवाले सभी लोग यह मानते हैं कि इसमे हमारा अधिकार है, और यह हमारा कर्तव्य है, ऐसा समझकर निश्चय करते है । निश्चय करनेके पश्चात् कार्यमे प्रवृत्ति होती हैं, इस प्रकार लोगोंमे परिपाटी चलती है । यहाँ बुद्धिमे चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पडनेसे ही कर्तव्य बुद्धिका निश्चय होता है, यह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार हैं ।" बुद्धिमे चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पडनेसे अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है । वादमहार्णवमे भी कहा है—"दर्पण के समान बुद्धिमें पडनेवाला पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पुरुषरूपी दर्पणमे

---

१ व्यासभाष्ये । २. साख्यतत्त्वकौमुद्या ।
३ साख्यग्रन्थविशेष । जैनाचार्यः अभयदेवसूरिरपि वादमहार्णवनामग्रन्थं कृतवान् ।

म्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः ।" इति । तथा चासुरि[1]:—

"विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥"

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे ।

"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥"

न च वक्तव्यम् पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य मोक्षः । मुचेर्बन्धनविश्लेपार्थत्वात् सवासनक्लेशकर्माशयाना च बन्धसमाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात् । अत एव नास्य प्रेत्यभावापरनामा संसारोऽस्ति, निष्क्रियत्वादिति । यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते च न पुरुष इति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते । यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषे संबन्ध इति ॥

तदेतदखिलमालजालम् । चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या चेति परस्परविरुद्धं वचः । चिती संज्ञाने । चेतनं चित्यते वानयेति चित । सा चेत् स्वपरपरिच्छेदात्मिका नेष्यते तदा चिच्छक्तिरेव सा न स्यात, घटवत् । न चामूर्तायाश्चिच्छक्तेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बोदयो युक्तः । तस्य मूर्तधर्मत्वात । न च तथा परिणाममन्तरेण प्रतिसंक्रमोऽपि युक्तः । कथञ्चित् सक्रियात्मकता-

प्रतिबिम्बित होता है । बुद्धिके प्रतिबिम्बका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है, इसीसे पुरुषको भोक्ता कहते है । इससे आत्मामें कोई विकार नहीं आता ।" आसुरिने भी कहा है—

"जिस प्रकार निर्मल जलमे पडनेवाला चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलका ही विकार है, चन्द्रमाका नहीं, उसी तरह आत्मामे बुद्धिका प्रतिबिम्ब पडनेपर आत्मामें जो भोक्तृत्व है, वह केवल बुद्धिका विकार है, वास्तवमे पुरुष निर्लेप है।"

भोगके विषयमें विन्ध्यवासीने कहा है—

"जैसे भिन्न भिन्न रगोंके सयोगसे निर्मल स्फटिक मणि काले, पीले आदि रूपका होता है, वैसे ही अविकारी चेतन पुरुष अचेतन मनको अपने समान चेतन बना लेता है। वास्तवमें विकारी होनेसे मन चेतन नहीं कहा जा सकता।"

प्रतिवादी—यदि पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है तो उसे मोक्ष नहीं हो सकता । मुच् धातुका अर्थ बन्धनसे छूटना है । अपरिणामी आत्मामें वासना और क्लेशरूप कर्मोके सम्बन्धसे बन्धनका उत्पन्न होना सम्भव नहीं, अतएव आत्माके निष्क्रिय होनेसे उसके परलोक (ससार) भी नहीं हो सकता । साख्य— नाना पुरुषोंके आश्रित प्रकृतिके ही बन्ध होता है, वही ससारमे भ्रमण करती है, और प्रकृति ही को मोक्ष होता है, अतएव पुरुषके वन्ध, मोक्ष और ससारका व्यवहार उपचारसे होता है । जिस प्रकार भृत्यों द्वारा किसी सेनाकी जय, पराजय किये जानेपर वह जय, पराजय सेनाके स्वामीकी समझी जाती है, क्योंकि जय, पराजयसे होनेवाले लाभ और हानिका फल स्वामीको ही मिलता है, उसी तरह वास्तवमें ससार और मोक्ष दोनों प्रकृतिके होते है, परन्तु पुरुषके विवेकख्याति होनेसे, पुरुषके ही ससार और मोक्ष माना जाता है ।

उत्तरपक्ष — (१) क—यह सब बडा भारी जाल है । एक ओर चैतन्यशक्ति है और दूसरी ओर वह ज्ञेय पदार्थके ज्ञानसे शून्य है—यह कथन परस्पर विरुद्ध है। चित् धातु जाननेके अर्थमे प्रयुक्त होती है। जाननेकी जो क्रिया होती है अथवा जिसके द्वारा जाना जाय, उसे चित् (चेतन, चित्यते वा अनयेति चित्) कहते है । यदि यह शक्ति स्व और परको जाननेके स्वभाववाली न मानी गई तो उसे चेतनाशक्ति (चित्शक्ति) नहीं कह सकते, जैसे घट । ख—अमूर्त चेतनाशक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्बित न होना युक्त नहीं है, क्योंकि

१ अय साख्याचार्य ईश्वरकृष्णगुरुपरम्परायामुपलभ्यते ।

व्यतिरेकेण प्रकृत्युपधानेऽप्यन्यथात्वानुपपत्तेः, अप्रच्युतप्राचीनरूपस्य च सुखदुःखादिभोगव्यपदेशानर्हत्वात् । तत्प्रच्यवे च प्राक्तनरूपत्यागेनोत्तररूपाध्यासिततया सक्रियत्वापत्तिः । स्फटिकादावपि तथा परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदयसमर्थनात्, अन्यथा कथमन्धोपलादौ न प्रतिबिम्बः । तथा परिणामाभ्युपगमे च बलादायातं चिच्छक्तेः कर्तृत्वं साक्षाद्भोक्तृत्वं च ॥

अथ "अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवति[1]" इति पतञ्जलिवचनादौपचारिक एवायं प्रतिसंक्रम इति चेत्, तर्हि "उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी" इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम् । तथा च प्रतिप्राणिप्रतीतं सुखदुःखादिसंवेदनं निराश्रयमेव स्यात् । न चेदं बुद्धेरुपपन्नम् । तस्या जडत्वेनाभ्युपगमात् ।

अतएव जडा च बुद्धिः इत्यपि विरुद्धम् । न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमानः साधीयस्तां दधाति । ननूक्तमचेतनापि बुद्धिश्चिच्छक्तिसान्निध्याच्चेतनावतीवावभासत इति । सत्यमुक्तम् अयुक्तं तूक्तम् । न हि चैतन्यवति पुरुषादौ प्रतिसंक्रान्ते दर्पणस्य चैतन्यापत्तिः । चैतन्याचैतन्ययोरपरावर्तिस्वभावत्वेन शक्रेणाप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । किञ्च, अचेतनापि चेतनावतीव प्रतिभासत इतिं इवशब्देनारोपो ध्वन्यते । न चारोपोऽर्थक्रियासमर्थः ।

प्रतिबिम्बित होना मूर्त पदार्थका स्वभाव है । तथा, (चित्शक्तिका) मूर्त पदार्थके रससे परिणमनका अभाव होनेपर उसका (बुद्धिमें) प्रतिबिम्बित होना भी युक्त नहीं । प्रकृतिरूप (बुद्धिरस) उपाधिमें भी—उपाधिके विषयमें भी—कथंचित् सक्रिय होनेके स्वभावके अभावमें, अन्यप्रकाररूपता अर्थात् चैतन्यशक्तिके प्रतिबिम्बसे युक्त होनेकी सिद्धिके अभावमें, प्राचीन—प्राक्तनरूपसे—प्रच्युत न हुआ उपाधि-सुख-दुःखादि भोक्तृदशाके योग्य न होनेसे, तथा प्राचीनरूपके त्यागसे, प्राक्तन रूपका त्याग करके, उत्तररूपसे अध्यासित होनेरूप क्रियारूपमें परिणत होनेसे सक्रियत्वकी सिद्धि होती है । स्फटिक आदिके भी प्राक्तनरूपके त्यागपूर्वक उत्तररूपसे अध्यासित होनेरूप क्रियारूपमें परिणत होनेसे ही (स्फटिकमें) प्रतिबिम्बके प्रादुर्भावका समर्थन किये जानेसे सक्रियत्वकी सिद्धि होती है । यदि ऐसा न होता अर्थात् प्राक्तनरूपके त्याग और उत्तररूपके ग्रहणके विना स्फटिकमें प्रतिबिम्बका प्रादुर्भाव होता तो अब पाषाण आदिमें प्रतिबिम्बका प्रादुर्भाव क्यों न होता ? तथा परिणामको स्वीकार करनेपर चित्शक्तिका कर्तृत्व और साक्षात् भोक्तृत्व जबरन स्वीकार करना पड़ेगा ।

शंका—"भोक्ता (पुरुष) की परिणाम और प्रतिबिंबसे रहित शक्तिमें परिणामी पदार्थके प्रतिबिंबित होने पर वह पदार्थजनित अवस्थाका अनुभव करती है"—पतंजलिके इस वचनके अनुसार प्रतिसंक्रमशून्य पुरुषमें होनेवाला प्रतिसंक्रम (प्रतिबिंबित होना) औपचारिक ही है । समाधान—"तत्त्वोंका निर्णय करनेमें उपचार अनुपयोगी होता है", इसलिये यह औपचारिक प्रतिसंक्रम बुद्धिमानोंको मान्य नहीं हो सकता । ऐसी अवस्थामें, अर्थात्, परिणामी पदार्थका प्रतिसंक्रम औपचारिक होनेसे प्रत्येक आत्मामें पाया जानेवाला सुख-दुखका अनुभव निराधार ही होना चाहिये, क्योंकि वास्तवमें सुख-दुखका आत्माके साथ संबंध नहीं है । यदि कहो कि सुख-दुखका ज्ञान बुद्धिजन्य है तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सांख्यमतमें बुद्धि जड़ मानी गई है ।

(२) सुख, दुख आदिका अनुभव करनेवाली होने पर बुद्धिको जड मानना भी विरुद्ध है । क्योंकि यदि बुद्धिको जड माना जाय तो बुद्धिसे ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । शंका—बुद्धि अचेतन होकर भी चेतनाशक्तिके सम्बन्धसे चेतनायुक्त जैसी प्रतिभासित होती है । समाधान—यह सत्य है, किन्तु अयुक्त है । चैतन्ययुक्त पुरुष आदिके दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेसे दर्पणकी चैतन्यस्वरूपसे परिणति नहीं होती । चेतना और अचेतनाका स्वभाव अपरिवर्तनीय है, उसमें इन्द्र द्वारा भी परिवर्तन नहीं हो सकता । तथा,

१. पातञ्जलयोगसूत्रोपरि व्यासभाष्ये ४-२२ ।

न खल्वतिकोपनत्वादिना समारोपिताग्नित्वो माणवकः कदाचिदपि मुख्याग्निसाध्यां दाहपाकाद्यर्थक्रियां कर्तुमीश्वरः। इति चिच्छक्तेरेव विषयाध्यवसायो घटते न जडरूपाया बुद्धेरिति। अत एव धर्माद्यष्टरूपतापि तस्या वाङ्मात्रमेव, धर्मादीनामात्मधर्मत्वात्। अत एव चाहङ्कारोऽपि न बुद्धिजन्यो युज्यते, तस्याभिमानात्मकत्वेनात्मधर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात्॥

अम्बरादीनां च शब्दादितन्मात्रजत्वं प्रतीतिपराहतत्वेनैव विहितोत्तरम्। अपि च, सर्ववादिभिस्तावदविगानेन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते। अयं च शब्दतन्मात्रात् तस्याविर्भावमुद्भावयन्नित्यैकान्तवादिनां च धुरि आसनं न्यासयन्नसंगतप्रलापीव प्रतिभाति। न च परिणामिकारणं स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति "शब्दगुणकामाकाशम्[1]" इत्यादि वाङ्मात्रम्। वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते। इतरासाध्यकार्यकारित्वाभावात्। परप्रतिपादनग्रहणविहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामितरावयवैरपि साध्यत्वोपलब्धेः। तथापि तत्त्वकल्पने इन्द्रियसंख्या न व्यवतिष्ठते, अन्याङ्गोपाङ्गानामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्।

यच्चोक्तं 'नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ संसारश्च न पुरुषस्य' इति। तदप्यसारम्। अनादिभवपरम्परानुबद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेकाग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भावः स एव चेन्न बन्धः, तदा को नामान्यो बन्धः स्यात्। प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तम् इति च प्रतिपद्यमानेनायुष्मता संज्ञान्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं। तस्यैवंस्वरूपत्वात् अचेतनत्वाच्च॥

यस्तु प्राकृतिकवैकारिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधो बन्धः। तद्यथा प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये

'अचेतन बुद्धि चेतना सहित जैसी प्रतिभासित होती है', यहाँ 'इव' (जैसी) शब्दसे अचेतन बुद्धिमे चेतनाका आरोप किया गया है। परन्तु आरोपसे अर्थक्रियाकी सिद्धि नहीं होती। जैसे यदि किसी बालकका अत्यन्त क्रोधी स्वभाव देख कर उसका अग्नि नाम रख दिया जाय, परन्तु वह अग्निकी जलाने, पकाने आदि क्रियाओंको नहीं कर सकता, इसी प्रकार विषयोंका—ज्ञेय पदार्थोंका-ज्ञान चेतनाशक्तिसे ही हो सकता है, अचेतन बुद्धिमे चेतनाका आरोप करने पर भी बुद्धिसे पदार्थोंका ज्ञान संभव नही। अतएव आप लोगोंने जो बुद्धिके धर्म आदि आठ गुण माने है, वे भी केवल वचनमात्र हैं, क्योंकि धर्म आदि आत्माके ही गुण हो सकते है, अचेतन बुद्धिके नही। इसीलिये अहकारको भी बुद्धिजन्य नहीं मानना चाहिये, क्योंकि अहकार अभिमान रूप है, इसलिये वह आत्मासे ही उत्पन्न होता है, अचेतन बुद्धिसे उत्पन्न नहीं हो सकता।

(३) आकाश आदिका शब्द आदि पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होना अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। तथा, सब लोगोंने आकाशको नित्य स्वीकार किया हैं, नित्य एकान्तवादको मानकर भी केवल साख्य लोग ही उसकी शब्द तन्मात्रासे उत्पत्ति मान कर असगत प्रलाप करते है। तथा, परिणामी (उपादान) वस्तुके परिणाममे कारण है, वह अपने कार्यका गुण नहीं हो सकता, इसलिये "शब्दको आकाशका गुण मानना" भी कथन मात्र हैं। तथा, वाक् आदि इन्द्रियाँ नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि दूसरोंको प्रतिपादन करना, किसी वस्तुको ग्रहण करना, विहार करना, मल त्याग करना आदि, वाक्, पाणि, पाद, पायु आदि कर्मेन्द्रियोसे होने वाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंसे भी किये जा सकते है, जैसे उगलियों द्वारा भी दूसरोंको प्रतिपादित किया जा सकता है। अतएव वाक् आदि शरीरके अवयव है, इन्हे इन्द्रियाँ नहीं कह सकते। यदि इतर अवयवों द्वारा न किये जानेवाले कार्योके कर्तृत्वका अभाव होने पर भी वाक् आदिको इन्द्रिय माना जाय, तो इन्द्रियोंकी ग्यारह सख्या ही नहीं बन सकती, क्योंकि शरीरके अन्य अग-उपागोंको भी इन्द्रियत्वका प्रसग उपस्थित हो जाता है।

(४) तथा, 'अनेक पुरुषोंके आश्रय रहनेवाली प्रकृतिके ही बन्ध, मोक्ष और ससार होते हैं, पुरुषके नहीं', यह कहना भी ठीक नही। क्योंकि आप लोगोंके मनमे यदि अनादि भव-परम्परासे बद्ध और पुरुषके विवेकको न समझने वाले अपृथग्भावको बन्ध नहीं कहते, तो फिर आपके मतमे बन्धका क्या लक्षण है?

---

१. वैशेषिकसूत्रे।

प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्ते[1] दाक्षिणः । पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ।

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा
इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥"[2]

इति वचनात् । स त्रिविधोऽपि कल्पनामात्रं कथञ्चिद् मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद-कषाययोगेभ्योऽभिन्नस्वरूपत्वेन कर्मबन्धहेतुष्वेवान्तर्भावात्[3] । बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव

यदि कहो कि उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थोंका कारण प्रकृति है तो आप लोगोंने नामान्तरसे कर्मको ही स्वीकार किया है, क्योंकि कर्मका यह स्वरूप है और वह अचेतन है । अतएव बन्ध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नहीं ।

सांख्य—प्राकृतिक, वैकारिक, और दाक्षिणके भेदसे बन्ध तीन प्रकारका होता है । प्रकृतिको आत्मा समझकर जो प्रकृतिकी उपासना करते हैं, उनके प्राकृतिक बन्ध होता है । जो पाँच भूत, इन्द्रिय, अहंकार, और बुद्धिरूप विकारोंको पुरुष मानकर उपासना करते हैं उनके वैकारिक बन्ध होता है । जो यज्ञ दान आदि कर्म करते हैं उनके दाक्षिण बन्ध होता है । आत्माको न जानकर, सांसारिक इच्छाओंसे यज्ञ, दान आदि कर्म करनेसे दाक्षिण बन्ध होता है । कहा भी है—

"जो मूढ पुरुष यज्ञ दान आदिको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, यज्ञ दान आदिके अतिरिक्त किसी भी शुभ कर्मकी प्रशंसा नहीं करते, वे लोग स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं, और अन्तमें फिर मनुष्य लोकमें अथवा इससे भी हीन लोकमें जन्म लेते हैं ।"

जैन—उक्त तीनों प्रकारका बन्ध मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगमें गर्भित हो जाता है, अतएव उसे पृथक् स्वीकार करना ठीक नहीं । अतएव जीवके बन्ध सिद्ध होनेपर, जीवके ही संसारकी भी सिद्धि होती है । तथा, जो बँधता है, वह कभी मुक्त भी होता है, अतएव बन्ध और मोक्षका एक ही अधिकरण होनेसे पुरुषके मोक्ष भी सिद्ध होता है । अतएव 'पुरुषके न बन्ध होता है, न मोक्ष' यह कहना अयुक्तियुक्त है ।

शंका—जिस समय प्रकृति और पुरुषमें विवेकख्याति उत्पन्न होती है, प्रकृति प्रवृत्तिसे मुँह मोड़ लेती है, उस समय पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, इसे ही मोक्ष कहते हैं । समाधान—प्रकृतिका स्वभाव प्रवृत्ति करना ही है, अतएव वह प्रकृति प्रवृत्तिसे उदासीन नहीं हो सकती । शंका—

१ एतल्लक्षणं—वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामा पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते ।
एकाग्निकर्महवनं त्रेतायां यच्च हूयते । अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥

२ मुण्डक उ० १-२-१० ।

३ मिथ्या विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनम् । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावः अविरतिः । प्रकर्षेण माद्य-न्त्यनेनेति प्रमादः । विषयक्रीडाभिष्वङ्गः । कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्ममलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः । कायवाङ्‍मनसां कर्म योगः ।

निर्बाधः संसारः । बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकरणत्वाद् य एव बद्धः स एव मुच्यत इति पुरुषस्यैव मोक्ष आबालगोपाल तथाप्रतीतेः ॥

प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति चेत् । न । प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्ययोगात् । अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः। विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः । तस्यां जातायां निवर्तते, कृतकार्यत्वात् ।

"रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥"[1]

इति वचनादिति चेत् । नैवम् । तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्वाभावात् । यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते। प्रवृत्तिलक्षणस्य स्वभावस्यानपेतत्वात् । नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्वेष्टविघातकारी । यथा हि नर्तकी नृत्यं पारिषदेभ्यो दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनस्तत्कुतूहलात् प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनः कथं न प्रवर्ततामिति । तस्मात् कृत्स्नकर्मक्षये पुरुषस्यैव मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम् ॥

एवमन्यासामपि तत्कल्पनानां तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रभेदात्[2] पञ्चधा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपो[3] विपर्ययः । ब्राह्मप्राजापत्यसौम्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो दैवः सर्गः । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात्[4] पञ्चविधस्तैर्यग्योनः । ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो[5] मानुषः । इति चतुर्दशधा भूतसर्गः[6] । बाधिर्यकुण्ठतान्धत्वजड-

---

प्रकृतिकी प्रवृत्ति केवल पुरुषार्थके लिये उत्पन्न होती है, और पुरुष और प्रकृतिमें भेद-दृष्टि होना ही पुरुषार्थ है। इस भेद-दृष्टिके उत्पन्न होनेपर प्रकृति कृतकृत्य होकर विश्राम लेती है। कहा भी है--

"जिस प्रकार रंगभूमिमें अपना नृत्य दिखाकर नटी निवृत्त होती है उसी तरह प्रकृति पुरुषको अपना रूप दिखाकर निवृत्त होती है।"

समाधान--प्रकृति अचेतन है, अतएव वह विचारपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकती। तथा जिस प्रकार विषयका एक बार उपभोग करनेपर भी फिरसे उसी विषयके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है (क्योंकि प्रकृति प्रवृत्तिशील है), वैसे ही विवेकख्याति होनेपर भी फिरसे पुरुषमें प्रकृतिकी प्रवृत्ति होना चाहिये, क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव प्रवृत्ति करनेका है। तथा, नटीका दृष्टांत उलटा आप लोगोंके सिद्धांतका घातक है। क्योंकि दर्शकोंको एक बार नृत्य दिखाकर चले जानेपर भी अच्छा नृत्य होनेसे दर्शक लोगोंके आग्रहसे नर्तकी फिरसे अपना नाच दिखाने लगती है, वैसे ही पुरुषको अपना स्वरूप दिखाकर प्रकृतिके निवृत्त हो जानेपर भी प्रकृतिको फिरसे प्रवृत्ति करना चाहिये। अतएव सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होने पर पुरुषको ही मोक्ष होता है, यह मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त, सांख्य लोगोंकी निम्न कल्पनायें भी विरुद्ध हैं (क) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेशरूप तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र, यह पाँच प्रकारका विपर्यय है। (तम और मोहके-आठ-आठ, महामोहके दस, तामिस्र और अंधतामिस्रके अठारह-अठारह भेद होनेसे यह विपर्यय कुल ६२ प्रकारका होता है)। (ख) ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस पैशाच ये आठ प्रकारके देव, पशु, मृग, पक्षी, सर्प, स्थावर ये पाँच प्रकारके तिर्यंच (अचेतन घट आदि भी स्थावरमें ही गर्भित होते

---

१ सांख्यकारिका ५९ । २ सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ४७ ।

३ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः । पातंजलयोगसूत्रे २-५, ६, ७, ८, ९ ।

४ घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एव । इति वाचस्पतिमिश्र ।

५ मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ जिनसेनकृत आदिपुराणे ३८-४६

६ सांख्यकारिकागौड़पादभाष्ये सांख्यतत्त्वकौमुद्यां च कारिका ५३ ।

ताऽजिघ्रतामूककौण्यपङ्गुत्वक्लैव्योदावर्तमत्तताख्यैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टक - विपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविंशतिधा अशक्तिः । प्रकृत्युपादानकालभोगाख्या अम्भःसलिलौघवृष्ट्यपर पर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिक्यः । शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्ष- णक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चबाह्यास्तुष्टयः । ताश्च पारसुपारपारा पारानुत्तमाम्भ- उत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्याः । इति नवधा तुष्टिः । त्रयो दुःखविघाता इति मुख्यास्तस्रः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाख्याः । तथाध्ययनं शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविघातोपायतया गौण्यः पञ्चतारसुतारतारतारम्यकसदामुदिताख्याः । इत्येवमष्टधा[1] सिद्धि । धृतिश्रद्धासुखाव- विदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्चकर्मयोनयः । इत्यादीनां संवरप्रतिसंवरादीनां[2] च तत्त्वकौमुदीगौडपाद- भाष्यादिप्रसिद्धानां विरुद्धत्वमुद्भावनीयम् ।। इति काव्यार्थः ।।१५।।

हैं—वाचस्पति मिश्र), तथा ब्राह्मण आदिके भेदोंकी अपेक्षा न करके एक प्रकारका मनुष्य—यह चौदह प्रकारका भौतिक सर्ग कहा जाता हैं । (भौतिक सर्ग ऊर्ध्व, अव. और मध्यलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। आकाशसे लेकर सत्यलोक पर्यंत ऊर्ध्वलोकमे सत्त्व, पशुसे लेकर स्थावर पर्यंत अधोलोकमें तम, और ब्रह्मसे लेकर वृक्ष पर्यंत मध्यलोकमे रजकी वहुलता है । सात द्वीप और समुद्रोंका मध्य लोकमे अन्तर्भाव होता है) (ग) ग्यारह प्रकारके इन्द्रियवध और सतरह प्रकारके बुद्धिवधको मिला कर २८ प्रकारकी अशक्ति होती है । बधिरता (श्रोत्र), कुंठता (वचन), अधापन (चक्षु), जडता (स्पर्श), गधका अभाव (घ्राण), गूगापन (जिह्वा), लूलापन (हाथ), लगडापन (पैर) नपुसकता (लिंग), गुदग्रह (पायु), तथा उन्मत्तता (मन), यह ग्यारह इन्द्रियोंका वध हे । नौ तुष्टि और आठ सिद्धिको उलटा करनेसे सतरह प्रकारका बुद्धिवध होता है । प्रकृति (अंभ), उपादान (सलिल), काल (ओघ), भोग (वृष्टि) इन चार आध्यात्मिक तुष्टि, और पॉच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्तिरूप उपार्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिंसासे उत्पन्न होनेवाली पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाभ ओर उत्तमाभ नामक पॉच बाह्य तुष्टियोंको मिला कर नौ तुष्टि होती हैं । तीन प्रकारके दुःखोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली प्रमोद मुदितमोद और मान नामक तीन मुख्य सिद्धि, अध्ययन, शब्द, तर्क, सच्चे मित्रोंकी प्राप्ति, और दानसे होनेवाली तार, सुतार, तारतार, रम्यक और सदामुदित नामक पॉच गौण सिद्धियोंको मिला कर आठ सिद्धिया होती है । (घ) धृति, श्रद्धा, सुख, वाद करनेकी इच्छा तथा ज्ञान ये पॉच कर्मयोनि हैं । इसी प्रकार सवर, प्रतिसंवर आदिकी विरुद्ध कल्पनाये **सांख्यतत्त्वकौमुदी, गौड़पादभाष्य** ग्रथोंमे की गई हैं ।। यह श्लोकका अर्थ है ।।

भावार्थ—सांख्य (१) चित्शक्ति (पुरुष अथवा चेतनशक्ति) से पदार्थोका ज्ञान नहीं होता । अचेतन बुद्धिसे ही पदार्थ जाने जाते है । यह बुद्धि पुरुषका धर्म नही है, केवल प्रकृतिका विकार हैं । इस अचेतन बुद्धिमें चित्शक्तिका प्रतिबिम्ब पडनेसे चित्शक्ति अपने आपको बुद्धिमे अभिन्न समझती है, इसलिये पुरुषमे 'मै सुखी हू' मैं दुखी हू, ऐसा ज्ञान होता है । चित्शक्तिके प्रतिबिम्ब पडनेसे यह अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है । इस बुद्धिके प्रतिबिम्बका पुरुषमे झलकना ही पुरुषका भोग है । वास्तवमें वध और मोक्ष प्रकृतिके ही होता है,पुरुष और प्रकृतिका अभेद होनेसे पुरुषके ससार और मोक्षका सद्भाव माना जाता है । वास्तवमे पुरुष निष्क्रिय और निर्लेप है । जैन—(क) चेतनशक्तिको ज्ञानसे शून्य कहना परस्पर विरुद्ध है । यदि चेतनशक्ति स्व और परका ज्ञान करनेमें असमर्थ है, तो उसे चेतनशक्ति नहीं कह सकते । तथा, अमूर्त चेतनशक्तिका बुद्धिमे प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता । क्योंकि मूर्त पदार्थका ही

---

१ साख्यकारिकागौडपादभाष्ये साख्यतत्त्वकौमुद्या च कारिका ५३ ।

२. 'सचारप्रतिसचारादीनाम्' इति पाठान्तर ।

इदानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहुः ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति ब्रुवते तन्मतस्य विचार्यमाणत्वे विशरारुतामाह—

न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

बौद्धाः किल प्रमाणात् तत्फलमेकान्तेनाभिन्नं मन्यन्ते । तथा च तत्सिद्धान्तः—"उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्[1] ।" "उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञान प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम् । कुतः । अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथाहि । परि-

प्रतिबिंब पड़ना है । चेतनशक्तिको परिणमनशील और कर्ता माने बिना चेतनशक्तिका बुद्धिमें परिवर्तन होना भी सभव नहीं है । पूर्व रूपके त्याग और उत्तर रूपके ग्रहण किये विना पुरुष सुख-दु खका भोक्ता नहीं कहला सकता । इस पूर्वाकारके त्याग और उत्तराकारके ग्रहण माननेसे पुरुषको निष्क्रय नहीं कह सकते । तथा, यह पुरुष अनादिकालसे अविवेकके कारण प्रकृतिसे बँध रहा हैं । परन्तु प्रकृति अचेतन है, इसलिये वध पुरुषके ही मानना चाहिये । तथा, प्रकृतिका स्वभाव सदा प्रवृत्ति करना है, अतएव प्रकृति अपने स्वभावसे कभी निवृत्त नहीं हो सकती, इसलिये पुरुषको कभी मोक्ष नहीं हो सकता । (ख) बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध है, क्योंकि बुद्धिको जड माननेसे उससे पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । जिस प्रकार दर्पणमे पुरुषका प्रतिविम्ब पडनेसे अचेतन दर्पण चेतन नही हो सकता, उसी तरह अचेतन बुद्धि चेतन पुरुषके प्रतिविम्बसे चेतन नहीं कही जा सकती । अतएव धर्म आदि बुद्धिके आठ गुण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि अचेतन है । इसी तरह अहकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं ।

साख्य (२) (क) आकाश आदि पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होते है । (ख) ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं । जैन (क) आकाश आदिकी पाँच तन्मात्राओंसे उत्पत्ति मानना अनुभवके विरुद्ध हैं । सत्कार्यवाद (नित्यैकान्तवादके) माननेवाले साख्य लोग भी आकाशको नित्य मानते हैं, यह आश्चर्य है । आकाशको सभी वादियोंने नित्य माना है । (ख) वाक्, पाणि आदिको अलग इन्द्रिय नहीं कह सकते । क्योंकि वाक्, पाणि आदि कर्म इन्द्रियोंसे होनेवाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंसे भी किये जा सकते है । अतएव वाक् आदिको अलग इन्द्रिय मानना ठीक नहीं । यदि इन्हे इन्द्रिय माना जाय तो शरीरके अन्य अगोपागोंको भी इन्द्रिय कहना चाहिये ।

अब, प्रमाणसे प्रमाणके फल (प्रमितिको) सर्वथा भिन्न माननेवाले, तथा वाह्य पदार्थोंका निषेध करके ज्ञानाद्वैतको स्वीकार करनेवाले बौद्धोंका खडन करते हैं—

श्लोकार्थ—हेतु और हेतुका फल साथ साथ नहीं रह सकते, और हेतुके नाश हो जानेपर फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि जगत्को विज्ञानरूप माना जाय तो पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव बुद्धका इन्द्रजाल विशीर्ण हो जाता है ।

व्याख्यार्थ—(१) बौद्धपक्ष—प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एकान्तरूपसे अभिन्न है । सिद्धान्त भी है "जो ज्ञान प्रमिति और अनुमितिका कारण होता है वही ज्ञान दोनोंमे प्रमाण फलरूप है, क्योंकि ज्ञान अधिगम रूप है ।" "उभयत्र अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमें प्रत्यक्षरूप और अनुमानरूप ज्ञान ही फलरूप (कार्यरूप) है, क्योंकि वह अधिगम रूप– परिच्छेद रूप है । तथाहि—ज्ञप्ति रूप ही ज्ञान उत्पन्न होता है । पदार्थोंको जाननेकी क्रियाके अतिरिक्त ज्ञानका कोई दूसरा फल नहीं हो सकता, क्योंकि परिच्छेदका अधिकरण और परिच्छेदसे भिन्न ज्ञानके फलका अधिकरण भिन्न-भिन्न होते हैं । (हानोपादानादि

---

१ दिङ्नागविरचितन्यायप्रवेशे पृ० ७ ।

च्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणात्वात्[1] । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति[2] ॥"

एतच्च न समीचीनम् । यतो यद्यस्मादेकान्तेनाभिन्नं, तत्तेन सहैवोत्पद्यते । यथा घटेन घटत्वम् । तैश्च प्रमाणफलयोः कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते । प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति । स चैकान्ताभेदे न घटते । न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्तः । नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य । नियतोत्तरकालभावित्वात् कार्यस्य । एतदेवाह न तुल्यकालः फलहेतुभाव इति । फलं कार्यं हेतुः कारणम् तयोर्भावः स्वरूपम्, कार्यकारणभावः । स तुल्यकालः समानकालो न युज्यत इत्यर्थः ॥

अथ क्षणान्तरितत्वात् तयोः क्रमभावित्वं भविष्यतीत्याशङ्कयाह । हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति । हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव निरन्वयं विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भावः सत्ता, निर्मूलत्वात् । विद्यमाने हि फलहेतावस्येदं फलमिति प्रतीयते नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । किञ्च, हेतुफलभावः सम्बन्धः स च द्विष्ठ एव स्यात् । न चानयोः क्षणक्षयैकदीक्षिता भवान् सम्बन्धं क्षमते । ततः कथम् 'अयं हेतुरिदं

ज्ञानका फल—कार्य—नहीं है, क्योंकि ज्ञानफलका आश्रय ज्ञान होता है और हानोपादानका अधिकरण ज्ञानसे भिन्न पुरुष होता है)। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका फल प्रत्यक्ष और अनुमान रूप ज्ञानसे सर्वथा भिन्न नहीं होता।"

(१) **उत्तरपक्ष**—यह ठीक नहीं है। क्योंकि जो जिससे एकान्तरूपसे अर्थात् सर्वथा अभिन्न होता है वह उसीके साथ उत्पन्न होता है। जैसे, घटसे घटत्व सर्वथा अभिन्न होता है, इसलिये घटके साथ घटत्व, उत्पत्ति होती है। तथा, बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमाणके फलमे कार्यकारण सम्बन्ध मानते है—प्रमाणको कारण और प्रमाणके फलको उसका कार्य कहते है। यह कार्य-कारण भाव प्रमाण और उसके फलको सर्वथा अभिन्न माननेमे नही बनता। जैसे एक साथ उत्पन्न होनेवाले गायके बाये और दाहिने सींगोंमे कार्य-कारण सम्बन्ध नही हो सकता, उसी प्रकार एक साथ उत्पन्न होनेवाले प्रमाण और फलमें कार्य-कारणभाव उचित नहीं। क्योंकि कारण नियतरूपसे पहले, और कार्य नियतरूपसे कारणके उत्तरकालमे होता है। कार्य-कारणभाव समान काल वाला नही होता। अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न नहीं हो सकते।

शंका—प्रमाण और प्रमाणके फलमे क्षणमात्रका अन्तर पडता हैं, अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल क्रमसे होते है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध लोगोंके क्षणिकवादमे प्रत्येक वस्तु एक क्षणके लिये ठहर कर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाती है, अतएव प्रमाणके क्षणिक होनेके कारण प्रमाण (कारण) के उत्पन्न होते ही सर्वथा नष्ट हो जानेसे प्रमाणके फल (कार्य) की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण रूप प्रमाणका सर्वथा (निरन्वय) विनाश हो जाता है। कार्यकी उत्पत्ति उसके कारणके रहने पर ही होती हैं, अन्यथा नही। यदि कारणके विना कार्य उत्पन्न होने लगे, तो अतिप्रसग हो जायेगा—बीजके विना वृक्षकी उत्पत्ति माननी होगी। अतएव प्रमाण और प्रमाणके फलमे कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा, प्रमाण और उसके फलका सम्बन्ध दो पदार्थोंमे ही रहता है। किन्तु क्षण-क्षणमें नाश होनेवाले प्रमाण और प्रमाणके फलमे कोई सम्बन्ध नही हो सकता। अतएव यह हेतु है, और यह उसका फल है' यह निश्चयात्मक ज्ञान

१ हरिभद्रसूरिकृता न्यायप्रवेशवृत्ति पृ० ३६।

२ पार्श्वदेवकृतन्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिकाया—भिन्नमधिकरणमाश्रयो यस्य फलस्य तत्तथा. अयमर्थः। ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं यत्तुच्यते फलं हानोपानादिकं तदा तत्फलं प्रमातुरेव स्यान्न ज्ञानस्य। तथाहि ज्ञानेन प्रदर्शितेऽर्थे हानादिकं तद्विषये पुरुषस्यैवोपजायते अतो हानादिकस्य भिन्नाश्रयत्वान्न फलत्वं मन्तव्यं।

फलम्' इति प्रतिनियता प्रतीतिः । एकस्य ग्रहणेऽप्यन्यस्याग्रहणे तदसंभवात् ।

" द्विष्टसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सबन्धवेदनम् ॥"

इति वचनात् ॥

यद्यपि धर्मोत्तरेण "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः" [२]इति न्यायबिन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितम्—"नीलनिर्भासं हि विज्ञानं, यतस्तस्माद् नीलस्य प्रतीतिरवसीयते । येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते । न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः । येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात् । अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते । व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्"[३] इत्यादि ॥

नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों क्षणिक होनेसे एक साथ नहीं रहते । इसलिये प्रमाणके फल, और फलके होनेसे प्रमाणका ज्ञान नहीं हो सकता । कहा भी है—

"दो वस्तुओंमें रहनेवाले सम्बन्धका ज्ञान दोनों वस्तुओंके ज्ञान होने पर ही हो सकता है । यदि दोनों वस्तुओंमेसे एक वस्तु रहे, तो उस सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता ।"

बौद्ध—"अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धे"—अर्थके साथ होनेवाली समानरूपताके कारण अर्थनिर्णयकी सिद्धि हो जानेसे अर्थके साथ होनेवाली समानरूपता प्रमाण है—न्यायबिन्दुके सूत्रका विवरण करनेवाले धर्मोत्तरने कहा है—"जिस कारण विज्ञानमें नील (नील वर्ण पदार्थ) का प्रतिभास होता है, उस कारण नीलकी प्रतीति होती है । जिन चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उन इन्द्रियोंके अधीन होनेसे इन्द्रियजन्य वह ज्ञान 'नील पदार्थका यह ज्ञान है' इस प्रकार संवेदन नहीं कर सकता, किन्तु अनुभूयमान नील (पदार्थके) सदृश ज्ञान (नीलाकार ज्ञान) नील पदार्थका ज्ञान है, ऐसा संवेदन किया जाता है । यहाँ प्रमाण और प्रमाणके फलमें जन्य-जनकभाव (कार्य-कारणभाव) जिसका कारण है ऐसा साध्य-साधनभाव नहीं है, जिससे एक वस्तुमें विरोध उत्पन्न हो, किन्तु यहाँ व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक (निश्चय-निश्चायक) रूपसे साध्य-साधनभाव है । इसलिये एक वस्तुका किंचित् प्रमाणरूप होनेमें और किंचित् प्रमाणफलरूप होनेमें विरोध नहीं आता । सारूप्य उस ज्ञान (नील पदार्थका ज्ञान) का निश्चय करनेमें हेतु है और नील पदार्थका ज्ञान व्यवस्थाप्य (निश्चेय) ।" स्पष्टार्थ—बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न मानते हैं । उनके मतमें जिस ज्ञानसे (प्रत्यक्ष, अनुमान) पदार्थ जाने जाते हैं, वही ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप होता है । बौद्ध लोगोंने पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाले संशय और विपर्यय रहित प्रापक ज्ञानको प्रमाण माना है । जिस प्रापण शक्तिसे ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होनेपर भी प्रापक होता है, वही प्रमाणका फल है । अतएव जिस ज्ञानसे अर्थकी प्रतीति होती है, उसी ज्ञानसे अर्थका दर्शन होता है, इसलिये ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप है (तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्) । शंका—यदि ज्ञान प्रमिति रूप होनेसे प्रमाणका फल है, तो प्रमाण किसे कहते है ? उत्तर—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है, और पदार्थों के आकार रूप होकर पदार्थोंको जानता है, इसलिये ज्ञान प्रमाण है । हमारे (बौद्ध) मतके अनुसार ज्ञान इन्द्रिय आदिकी सहायतासे पदार्थोंको नहीं जानता । किन्तु नील घटको जानते समय नील घटसे उत्पन्न

१ कारिकेयं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके, पृ० ४२१ उद्धृता ।
२. न्यायबिन्दौ १-१९, २० ।
३. न्यायबिन्दौ १-२० स्वोपज्ञटीकायां ।

तदप्यसारम् । एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयायोगात्, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च संबन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्नसंभवात् । किञ्च, अर्थसारूप्यमर्थाकारता । तच्च निश्चयरूपम्, अनिश्चयरूपं वा ? निश्चयरूपं चेत्, तदेव व्यवस्थापकमस्तु, किमुभयकल्पनया ? अनिश्चितं चेत्, स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलादिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम् ? अपि च केयमर्थाकारता ? किमर्थग्रहणपरिणामः ? अहोस्विदर्थाकारधारित्वम् ? नाद्यः, सिद्धसाधनात् । द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुकरणाज्जडत्वापत्त्यादिदोषाघ्रातः । तन्न प्रमाणादेकान्तेन फलस्याभेदः साधीयान् । सर्वथातादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात् । न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथातादात्म्ये सिद्ध्यति, अतिप्रसङ्गात् ॥

ननु प्रमाणस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्ति-

---

ज्ञान नील घटके आकार रूप होता है । नील घटके सदृश आकारको धारण करना ही ज्ञानका प्रामाण्य है (अर्थसारूप्यमस्य प्रमाण) । शंका—यदि ज्ञान सादृश्य (नील सादृश्य) से अभिन्न है, तो उसी ज्ञानको प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप कहना चाहिये । एक ही वस्तुमे साध्य और साधन दोनों नही रह सकते । अतएव ज्ञान (प्रमाण) पदार्थोंके सदृश नही हो सकता । उत्तर—सारूप्य (सदृश आकार) से ही पदार्थोंकी प्रतीति होती है । क्योंकि पदार्थोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान नील घटके आकारका हो कर ही नील घटका ज्ञान करता है । चक्षु आदिकी सहायतासे नील घटका ज्ञान नही हो सकता । अतएव हम (बौद्ध) लोग प्रमाण और प्रमितिमे कार्य-कारण सम्बन्ध न स्वीकार करके व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक सम्बन्ध मानते हैं । सारूप्य व्यवस्थापक है, और नील ज्ञान व्यवस्थाप्य है । अतएव प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न माननेसे कोई विरोध नहीं आता ।

जैन—धर्मोत्तरका यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि निरंश ज्ञान-क्षण (बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, इसलिये वे लोग घटको घट न कहकर घट-क्षण कहते हैं । इसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान-क्षणसे क्षणिक ज्ञान समझना चाहिये) मे व्यवस्थाप्यरूप और व्यवस्थापकरूप दो स्वभाव नही बन सकते, और व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भावका सम्बन्ध दो पदार्थोंमें ही रहनेवाला होनेसे एक निरंश ज्ञान-क्षणमे नही रह सकता । तथा, ज्ञानका जो अर्थके साथ सारूप्य है वह ज्ञानकी अर्थाकारता है । यह ज्ञानका अर्थसारूप्य निश्चयरूप है, या अनिश्चयरूप ? यदि यह अर्थसारूप्य निश्चयरूप है, तो इस अर्थसारूप्यको ही व्यवस्थापक (निश्चयात्मक) मानना चाहिये, उसे व्यवस्थाप्यरूप और व्यवस्थापकरूपसे अलग-अलग माननेकी आवश्यकता नहीं । यदि ज्ञानका वह अर्थसारूप्य अनिश्चित है, तो स्वयं अनिश्चित अर्थसारूप्यसे नील आदि पदार्थका ज्ञान निश्चित नहीं हो सकता । तथा, ज्ञानकी अर्थाकारतासे आपका क्या अभिप्राय है ? आप लोग ज्ञेय पदार्थको जाननेवाले ज्ञानके परिणामको अर्थाकारता कहते हैं, अथवा ज्ञानके अर्थके आकाररूप होनेको अर्थाकारता कहते है ? प्रथम पक्ष माननेमे सिद्धसाधन हैं, क्योंकि हम भी ज्ञानका स्वभाव पदार्थोंको जानना मानते है । यदि आप लोग ज्ञानके पदार्थोंके आकार रूप होनेको अर्थाकारता कहते है, तो ज्ञानको जड प्रमेयके आकार माननेमे ज्ञानको भी जड मानना पडेगा । अतएव प्रमाण और प्रमाणके फलको एकान्त अभिन्न नहीं मान सकते । क्योंकि प्रमाण और प्रमाणके फलका सर्वथा तादात्म्य सम्बन्ध माननेसे प्रमाण और प्रमाणके फलकी व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि एक निरंश ज्ञान-क्षणमे व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव होनेमें विरोध आता है । प्रमाण और प्रमाणके फलमे सर्वथा तादात्म्य मानने पर 'ज्ञानका अर्थके साथ होनेवाला सारूप्य प्रमाण है और अर्थ ज्ञानका फल है'—यह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इससे अतिप्रसंग उपस्थित हो जायेगा ।

शंका—सारूप्यके असारूप्यव्यावृत्ति रूप और अधिगतिके अनधिगतिव्यावृत्तिरूप होनेसे व्यावृत्तियोंमे

भेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्, नैवम् । स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्तेः । कथं च प्रमाणस्य फलस्य च अप्रमाणाफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याऽप्रमाणत्वस्याफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्? विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद् वस्तुनः । तस्मात् प्रमाणात् फलं कथञ्चिद्भिन्नमेवैष्टव्यं । साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात् । ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयंते ते परस्परं भिद्यते यथा कुठारच्छिदिक्रिये इति ॥

एव यौगाभिप्रेतः प्रमाणात् फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्तव्यः तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणात् कथञ्चिदभेदव्यवस्थितेः प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजति उपेक्षते चेति सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् । इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्यत इत्यलम् ॥

अथवा पूर्वार्द्धमिदमन्यथा व्याख्येयं ॥ सौगताः किलेत्थं प्रमाणयन्ति । सर्वं सत् क्षणिकम् । यतः सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते । तत्र येन स्वरूपेणान्त्यावस्थायां घटादिकं विनश्यति तच्चेतत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरइव तेन विनष्टव्यम्, इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् ॥

भेद होनेके कारण, प्रमाणके एक रूप होनेपर भी उसके प्रमाणरूप होनेका और फलरूप होनेका निश्चय होता है । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वभावोंके अभावमें व्यावृत्तियोंमें भेदका होना नहीं बनता । तथा, जिस प्रकार अप्रमाणकी व्यावृत्तिसे प्रमाणकी प्रमाणरूपताका और अफलकी व्यावृत्तिसे फलकी फलरूपताका निश्चय होता है, वैसे ही प्रमाणान्तरकी व्यावृत्तिसे प्रमाणके अप्रमाणत्वका और फलान्तरकी व्यावृत्तिसे फलके अफलत्वका निश्चय मानना चाहिये । क्योंकि जैसे आप लोग विजातीय वस्तुसे व्यावृत्ति मानते हैं, वैसे ही सजातीय वस्तुसे भी व्यावृत्ति माननी चाहिये । अतएव प्रमाण और उसका फल कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि दोनों साध्य-साधन भावरूपसे प्रतीयमान होते हैं । जो साध्य-साधन भावसे प्रतीयमान होते हैं, वे परस्पर भिन्न होते हैं, जैसे कुठार और छेदनक्रिया ।

इससे प्रमाण और प्रमाणके फलका एकान्त भेद माननेवाले यौगोंका भी निराकरण हो जाता है । क्योंकि जो आत्मा ज्ञेय पदार्थको यथार्थरूपसे जानती है वही आत्मा उस पदार्थको ग्रहण करती है, उसका त्याग करती है और उसकी उपेक्षा करती है यह सबको दृढ अनुभव होता है । इससे प्रमाणरूपसे परिणत हुई आत्माकी ही फलरूपसे जो परिणति होती है, उसका निर्णायक ज्ञान होनेके कारण, इस प्रमाणफलका एक प्रमाताके साथ तादात्म्य होनेसे, प्रमाण द्वारा उसके कथंचित् अभेदकी सिद्धि होती है । यदि प्रमाण और उसके फलमें कथंचित् अभेद न माना जाये—दोनोंमें सर्वथा अभेद माना जाये—तो अपना प्रमाण और अपना फल, तथा दूसरेका प्रमाण और दूसरेका फल—इस व्यवस्थाके नाशका ही प्रसंग उपस्थित हो जाता है । (विज्ञानाद्वैतमें स्व और पर दोनों विज्ञानरूप माने गये हैं, अतएव दोनोंमें भेदका अभाव होनेसे स्वप्रमाण और स्वफल, तथा परप्रमाण और परफलकी व्यवस्थाका अभाव हो जाता है) ।

(२) पूर्वपक्ष—'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं' (सर्वं सत् क्षणिकं) । क्योंकि सभी घट आदि पदार्थ मुद्गर आदिका संयोग होने पर नष्ट होते हुए देखे जाते हैं । घट आदि पदार्थ अन्त्य अवस्थामें जिस स्वरूपसे विनाशको प्राप्त होते हैं, वही स्वरूप उत्पन्नमात्र पदार्थोंका होता है । अतएव उत्पत्तिके बाद ही घट आदि पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं । स्पष्टार्थ—बौद्धोंके अनुसार, प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है । यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो पदार्थ दूसरी वस्तुके संयोगसे भी नष्ट नहीं हो सकते । पदार्थोंका यह क्षणिक स्वभाव पदार्थोंकी आरम्भ और अन्त दोनों अवस्थाओंमें समान है । यदि पदार्थोंको उत्पन्न होनेके बाद नाशमान न माना जाय, तो

अथेदृश एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति एवं तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽपि एष एव तस्य स्वभावः इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यम् इति नैव विनश्येदिति । सोऽयं "अदित्सोर्वणिजः प्रतिदिनं पत्रालिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः" १ । तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पन्नो प्रथमक्षणवद् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपरक्षणद्वयमवतिष्ठेत । एवं तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येदिति ॥

स्यादेतत् । स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातम्, परं बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यत इति । तदसत् । कथं पुनरेतद् घटिष्यते । न च तद् विनश्यति स्थावरत्वात्, विनाशश्च तस्य विरोधिना बलेन क्रियते इति । न ह्येतत्सम्भवति जीवति देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति । अथ विनश्यति तर्हि कथमविनश्वरं तद् वस्तु स्वहेतोर्जातमिति । न हि म्रियते च अमरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम् । तस्मदविनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात् दृष्टत्वाच्च नाशस्य नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्तव्यम् । तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति । तथा च क्षणक्षयित्वं सिद्धं भवति ॥

पदार्थोंका किसी भी कारणसे नाश नही हो सकता । इसलिये प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होता है । शंका—यदि क्षण-क्षणमें नाशको प्राप्त होनेवाले परमाणु ही वास्तविक है, तो घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । उत्तर—वास्तवमें स्थूल पदार्थोंका ज्ञान स्वप्न-ज्ञान अथवा आकाशमें केश-ज्ञानकी तरह निर्विषय है । अनादि कालकी वासनाके कारण ही स्थूल पदार्थोंका प्रतिभास होता है । शंका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं, तो पदार्थोंका प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता । उत्तर—जिस प्रकार दीपककी लौमें परस्पर समानता रखनेवाले पहले और दूसरे क्षणमें, पहले क्षणके नष्ट होनेके समय ही पहले क्षणके समान दूसरे क्षणके उत्पन्न होनेसे यह वही दीपक है, यह ज्ञान होता है, उसी प्रकार समान आकारकी ज्ञान-परम्परासे पूर्व क्षणोंके अत्यन्त नष्ट हो जानेपर भी पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है ।

प्रतिवादी—अपनी उत्पत्तिके कारणभूत सहायकोंसे उत्पन्न हुए (कार्यरूप) पदार्थका कुछ समय तक ठहर कर नष्ट हो जाना, यह प्रत्येक पदार्थका स्वभाव है । बौद्ध—यदि पदार्थका स्वभाव क्षण-क्षणमें नाशमान न माना जाय, तो घडेके साथ मुद्गरका सयोग होनेपर भी घडा नष्ट नहीं होना चाहिये, क्योंकि मुद्गरका सयोग होनेपर भी घडेका नाश नही होनेका स्वभाव मोजूद है । अतएव जिस प्रकार कोई कर्जदार साहुकारके कर्जको न चुकानेकी इच्छासे कर्ज चुका देनेका प्रतिदिन वायदा करनेपर भी अपने कर्जको नहीं चुका पाता, उसी तरह मुद्गरका सयोग होनेपर भी प्रत्येक क्षणमें नष्ट न होनेवाला घट दूसरे, तीसरे आदि क्षणमें नष्ट न हो कर सर्वदा नित्य ही रहना चाहिये । अतएव पदार्थोंका स्वभाव क्षण-क्षणमें नष्ट होनेका है ।

प्रतिवादी—प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये ही उत्पन्न होता है, बादमें अपने बलवान विरोधी मुद्गर आदिसे नष्ट हो जाता है । बौद्ध—यह ठीक नहीं । क्योंकि यदि पदार्थका स्वभाव नष्ट नहीं होनेका है, तो वह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ अपने बलवान विरोधीसे नष्ट हो जाता है, क्योंकि जिस पदार्थका स्वभाव नष्ट होना नहीं है, वह पदार्थ नष्ट नहीं हो सकता । अतएव जिस प्रकार देवदत्तके जीते हुए उसको मरा हुआ नहीं कह सकते, वैसे ही यदि पदार्थ नष्ट हो जाता है, तो वह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये उत्पन्न हुआ था । अतएव जैसे नाशमान देवदत्तको अनाशमान नहीं कहा जा सकता, वैसे ही नष्ट होनेवाले पदार्थको अविनश्वर नहीं कह सकते । तथा, पदार्थ नाशमान देखे जाते है, अतएव अपनी उत्पत्तिके कारणों द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ

---

१ कश्चित् वणिक् द्रव्यमदित्सु पत्रद्वारा प्रत्यहमुत्तमर्णाय श्वस्तनदिन दास्य इति बोधयति तद्वत्

प्रयोगस्त्वेवम् । यद्विनश्वरस्वरूपं तदुत्पत्तेरनन्तरानवस्थायि, यथान्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम् । विनश्वरस्वरूपं च रूपादिकमुदयकाले, इति स्वभावहेतुः[१] । यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात् । उच्यते । निरन्तरसदृशापरापरोत्पादात्, अविद्यानुबन्धाच्च । पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृशं क्षणान्तरमुदयते । तेनाकारविलक्षणत्वाभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यभेदाध्यवसायी प्रत्ययः प्रसूयते । अत्यन्तभिन्नेष्वपि लूनपुनरुत्पन्नकुशकाशकेशादिषु[२] दृष्ट एवायं स एवायम् इति प्रत्ययः, तथेहापि किं न संभाव्यते । तस्मात् सर्वं सत् क्षणिकमिति सिद्धम् । अत्र च पूर्वक्षण उपादानकारणम् उत्तरक्षण उपादेयम्

नश्वर ही मानना चाहिये । अतएव प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाता है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ क्षणविध्वंसी है ।

जिस प्रकार अन्त्यक्षवर्ति घटका—विनाशको प्राप्त होनेवाले घटका—स्वरूप विनश्वर होनेसे, उसके विनाशके अनन्तर घट स्वस्वरूपसे (अवस्थायी) विद्यमान नहीं रहता, उसी प्रकार जिस पदार्थका स्वरूप विनश्वर होता है, वह पदार्थ उत्पत्तिके बाद अवस्थायी–अक्षणिक–नहीं होता । (जो स्वभाव स्वभाववानका नाश होने पर नष्ट हो जाता है, वह विनश्वर होता है । पदार्थका स्वभाव विनश्वर होने पर उसकी अभिव्यक्ति होते ही उसका नाश हो जाता है । जिस पदार्थका स्वभाव विनश्वर होता है उसकी उत्पत्तिके बाद उसका स्वभाव विनश्वर होनेसे वह अवस्थायी—अक्षणिक नहीं होता) । पदार्थकी उत्पत्तिके कालमें पदार्थके रूप आदिका स्वभाव विनश्वर होता है । इस प्रकार विनश्वरस्वरूपत्व रूप हेतु स्वभावहेतु रूप है । (बौद्ध लोगोंने स्वभावहेतु, कार्यहेतु और अनुपलब्धिहेतुके भेदसे हेतुके तीन भेद माने हैं । जैसे 'यह वृक्ष है, शिंशिपा (सीसम) होनेसे'—यहां वृक्षत्व और शिंशिपात्वका कार्य कारण संबंध न हो कर स्वभाव सम्बन्ध है, अतएव यह स्वभावहेतु अनुमान है । 'यहाँ अग्नि है, धूम होनेसे'—यहाँ पर कार्य–कारण सम्बन्ध है, इसलिये यह कार्यहेतु अनुमान है । पदार्थके न मिलनेको अनुपलब्धि कहते हैं । जैसे 'देवदत्त घरमें नहीं है, क्योंकि वह वहाँ अनुपलब्ध है' । स्वभावहेतुमें एक स्वभावसे दूसरे स्वभावका, और कार्यहेतुमें कार्यसे कारण अनुमान होता है । स्वभाव और कार्यहेतु वस्तुकी उपस्थितिको, और अनुपलब्धिहेतु वस्तुकी अनुपस्थितिको सिद्ध करते हैं) । शंका—यदि पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं, तो प्रत्येक क्षणमें नष्ट होनेवाले घटकी उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे लगा कर अन्तिम समय तक घटके एकत्वका प्रत्यभिज्ञान–'यह वही है' नहीं हो सकता । बौद्ध—समान रूप अपर-अपर क्रमवर्ती क्षणमात्र कालवर्ती पदार्थोंकी निरन्तर उत्पत्ति होनेके कारण तथा आत्माका अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण, 'यह वही है'—इस प्रकार एकत्वका प्रत्यभिज्ञान होता है । (प्रत्येक उत्तरक्षण पूर्वक्षणसे भिन्न होने पर भी, पूर्वक्षणोंमें होनेवाली सदृशताके कारण, आत्माके साथ अविद्याका सम्बन्ध होनेसे, आत्मा उन क्षणोंको एक रूप समझती है जिससे आत्माको 'यह वही है'—यह प्रत्यभिज्ञान होता है) । पूर्वकालवर्ती क्षणिक पदार्थका विनाश होनेके कालमें ही पूर्वक्षणवर्ती क्षणिक पदार्थके सदृश उत्तरक्षणवर्ती क्षणिक पदार्थ उत्पन्न होता है । अतएव पूर्वक्षणवर्ती पदार्थके आकारसे उत्तर क्षणवर्ती क्षणिक पदार्थका आकार विलक्षण—विसदृश—न होनेसे, तथा पूर्वोत्तरकालवर्ती दोनों क्षणिक पदार्थोंमें व्यवधान न होनेसे, पूर्वकालीन क्षणिक पदार्थका आत्यंतिकरूपसे विनाश होने पर भी, 'यह वही है'—इस प्रकार पूर्वोत्तर क्षणवर्ती क्षणिक पदार्थोंमें अभेदका - एकत्वका—निश्चय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है । जिस प्रकार पहले काटे हुए और फिरसे उत्पन्न होनेवाले कुश (घास), काश और केश आदिके पूर्व और

१ त्रीण्येव च लिङ्गानि । अनुपलब्धि स्वभावकार्ये चेति । तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति । स्वभाव स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतु । यथा वृक्षोऽयं शिंशिपात्वादिति । कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति ।

२ पूर्वं लूनाश्छिन्ना कुशादय पुनरुत्पद्यन्ते ।

इति पराभिप्रायमङ्गीकृत्याह न तुल्यकालः इत्यादि ॥

ते विशकलितमुक्तावलीकल्पा[1] निरन्वयविनाशिनः पूर्वक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्तः किं स्वोत्पत्तिकाले एव जनयन्ति, उत क्षणान्तरे ? न तावदाद्यः । समकालभाविनोर्युवतिकुचयोरिवोपादानोपादेयभावाभावात् । अतः साधूक्तम् न तुल्यकालः फलहेतुभाव इति । न च द्वितीयः । तदानी निरन्वयविनाशेन पूर्वक्षणस्य नष्टत्वादुत्तरक्षणजनने कुतः संभावनापि । न चानुपादानस्योत्पत्तिर्दृष्टा, अतिप्रसङ्गात् । इति सुष्ठु व्याहृतं हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति । पदार्थस्त्वनयोः पादयोः प्रागेवोक्तः । केवलमत्र फलमुपादेयं हेतुरुपादानं तद्भाव उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः ॥

यच्च क्षणिकत्वस्थापनाय मोक्षाकरगुप्तेनानन्तरमेव प्रलपितं तत् स्याद्वादवादे निरवकाशमेव । निरन्वयनाशवर्जं कथंचित्सिद्धसाधनात् । प्रतिक्षणं पर्यायनाशस्यानेकान्तवादिभिरभ्युपगमात् । यदप्यभिहितम् 'न ह्येतत् संभवति जीवति च देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति,' तदपि संभवादेव न स्याद्वादिनां क्षतिमावहति । यतो जीवनं प्राणधारणं, मरणं चायुर्दलिकक्षयः । ततो जीवतोऽपि देवदत्तस्य प्रतिसमयमायुर्दलिकानामुदीर्णाना क्षयादुपपन्नमेव मरणम् । न च वाच्यमन्त्यावस्थायामेव कृत्स्नायुर्दलिकक्षयात् तत्रैव मरणव्यपदेशो युक्त इति । तस्यामप्य-

उत्तर क्षणोंमे अत्यन्त भेद होनेपर भी 'यह वही घास है', 'यह वही काश हैं', और 'यह वही केश हैं', ऐसा ज्ञान होता है, वैसे ही क्षण क्षणमे नष्ट होनेवाले प्रत्येक पदार्थों के पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सर्वथा भेद होनेपर भी उनमे एकत्वका प्रत्यभिज्ञान क्यों नहीं हो सकता है ? अत यह सिद्ध हो जाता हैं कि समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। यहाँ पूर्वकालवर्ती क्षणिक पदार्थ उपादानकारण और उत्तर क्षणवर्ती क्षणिक पदार्थ उपादेय हैं । अतएव दूसरेके अभिप्रायको मानकर 'न तुल्यकाल' इत्यादि कहा है ।

(२) उत्तरपक्ष—आपके मतमे स्खलित मोतियोंकी मालाके समान, सर्वथा नाश होनेवाले पूर्वक्षण उत्तरक्षणोंको उत्पन्न करते समय अपनी उत्पत्तिके क्षणमें ही उत्तरक्षणोंको उत्पन्न करते है, अथवा दूसरे क्षणमें उत्पन्न करते है ? अर्थात् पूर्व और उत्तरक्षण एक साथ उत्पन्न होते हैं, या क्रमसे ? पूर्वक्षण और उत्तरक्षण एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि जैसे एक हाथसे दूसरा हाथ पैदा नहीं होता, वैसे ही पूर्वक्षण उत्तर क्षणको उत्पन्न नही कर सकता, क्योंकि एक ही कालमें होनेवाले दो पदार्थोंमे उपादान-उपादेय भाव नही बन सकता। इसलिये कहा हैं, 'हेतु और उसका फल दोनों एक साथ नही हो सकते' (न तुल्यकाल फलहेतुभाव ।) यदि कहो कि पूर्वक्षण उत्तरक्षणको दूसरे क्षणमें उत्पन्न करता हैं, तो यह भी नहीं बन सकता। क्योंकि पूर्वक्षण सर्वथा विनाशी है, उसका सर्वथा नाश हो जानेसे उससे उत्तरक्षण उत्पन्न नही हो सकता । अतएव दूसरे क्षणमें उपादानकारण रुप पूर्वक्षणका सर्वथा नाश होनेके पूर्वक्षणसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उपादानके बिना भी उपादेयकी उत्पत्ति होने लगे, तो प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति माननी चाहिये । अतएव 'हेतुके नष्ट हो जानेपर फलका भी अभाव हो जाता है' (हेतौ विलीने न फलस्य भाव)—यह हमने ठीक कहा है ।

तथा क्षणिकत्व सिद्ध करनेके लिये जो मोक्षाकरगुप्त नामक बौद्धाचार्यने नित्यत्वका खंडन किया है उसे स्याद्वादमे अवकाश नही है । क्योंकि स्याद्वादी लोग 'निरन्वय विनाशको' छोडकर बौद्ध मतका ही समर्थन करते हैं। क्योंकि अनेकान्तवादियोने भी पर्यायोंकी अपेक्षा प्रतिक्षण नाश स्वीकार किया हैं । तथा, आपने जो कहा कि 'जीते हुए देवदत्तको मरा हुआ नहीं कह सकते' उससे भी स्याद्वादियोंको कोई क्षति नहीं होती। क्योकि स्याद्वादियोंके अनुसार, प्राणोंके धारण करनेको जीवन, और आयुके अशोंके नाश होनेको मरण कहते है । अतएव देवदत्तके जीवित दशामे भी प्रत्येक समय उदय आनेवाले आयुके निषेकोंका क्षय होनेसे मरण होता रहता हैं । यदि आप लोग कहें कि अन्त अवस्थामे सम्पूर्ण आयुके नाश हो जानेको ही

१ सूत्रविगलितमौक्तिकमालासदृशाः ।

वस्थायां न्यक्षेण[1] तत्क्षयाभावात् । तत्रापि ह्यवशिष्टानामेव तेषां क्षयो न पुनस्तत्क्षण एव युगपत्सर्वेषाम् । इति सिद्धं गर्भादारभ्य प्रतिक्षणं मरणम् ।, इत्यलं प्रसङ्गेन ॥

अथवापरथा व्याख्या । सौगतानां किलार्थेन ज्ञानं जन्यते । तच्च ज्ञानं तमेव स्वोत्पादकमर्थं गृह्णातीति । "नाकारणं विषयः" इति वचनात् । ततश्चार्थः कारणं ज्ञानं च कार्यमिति ॥

एतच्च न चारु । यतो यस्मिन् क्षणेऽर्थस्य स्वरूपसत्ता तस्मिन्नद्यापि ज्ञानं नोत्पद्यते, तस्य तदा स्वोत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् । यत्र च क्षणे ज्ञानं समुत्पन्नं तत्रार्थोऽतीतः । पूर्वापरकालभावनियतश्च कार्यकारणभावः । क्षणातिरिक्तं चावस्थानं नास्ति । ततः कथं ज्ञानस्योत्पत्तिः, कारणस्य विलीनत्वात् । तद्विलये च ज्ञानस्य निर्विषयतानुपज्यते, कारणस्यैव युष्मन्मते तद्विषयत्वात् । निर्विषयं च ज्ञानमप्रमाणमेवाकाशकेशज्ञानवत् । ज्ञानसहभाविनश्चार्थक्षणस्य न ग्राह्यत्वम्, तस्याकारणत्वात् । अत आह न तुल्यकाल इत्यादि । ज्ञानार्थयोः फलहेतुभावः कार्यकारणभावस्तुल्यकालो न घटते, ज्ञानसहभाविनोऽर्थक्षणस्य ज्ञानानुत्पादकत्वात्, युगपद्भाविनोः कार्यकारणभावायोगात् । अथ प्राचोऽर्थक्षणस्य ज्ञानोत्पादकत्वं भविष्यति, तन्न । यत आह हेतौ इत्यादि । हेतावर्थरूपे ज्ञानकारणे विलीने क्षणिकत्वान्निरन्वयं विनष्टे न

मरण कहते हैं, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अन्त अवस्थामें भी आयुके अवशिष्ट अंशोंका ही नाश होता हैं, एक ही क्षणमें आयुके सम्पूर्ण भागोंका नाश नहीं होता । अतएव गर्भके धारण करनेसे लेकर मृत्यु पर्यंत मनुष्यका मरण होता रहता है, यह निर्विवाद है ।

(३) पूर्वपक्ष—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होकर उसी पदार्थको जानता है । कहा भी है "जो पदार्थ ज्ञानोत्पत्तिका कारण नहीं होता, वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता ।" अतएव पदार्थ कारण है और ज्ञान कार्य है ।

(४) उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस क्षणमें पदार्थ स्वरूपसे विद्यमान रहता है, उस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, उस समय वह अपनी उत्पत्तिमें व्यग्र रहता है । बौद्धोंके क्षणिकवादके अनुसार जब तक एक पदार्थ बनकर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता । तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है (क्योंकि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है) । तथा क्रमसे पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव होता है । परन्तु बौद्ध मतमें कोई भी वस्तु क्षणमात्रसे अधिक नहीं ठहरती । अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थके नाश हो जानेसे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके पहले ही ज्ञानका कारण पदार्थ नष्ट हो जाता है, परन्तु आप लोगोंके मतमें कारणको ही विषय माना है, इसलिये ज्ञानको निर्विषय मानना चाहिये । यह निर्विषय ज्ञान आकाशमें केश-ज्ञानकी तरह प्रमाण नहीं हो सकता । तथा यदि ज्ञान और पदार्थको सहभावी माना जाय, तो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है, कारण कार्यसे पहले उत्पन्न होता है, अतः कारण कार्यका सहभावी नहीं होता । अतएव आपके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) नहीं हो सकता । इसलिये हमने कहा है 'ज्ञान और पदार्थमें एक समयमें कार्य और कारण भाव नहीं बन सकता (न तुल्यकाल फलहेतुभावो) । इसलिए ज्ञानके साथ उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता । कारण कि एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य कारण सम्बन्ध नहीं होता । यदि कहो कि ज्ञानके पहले उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि हमने पहले कहा है—'क्षणिक होनेसे पदार्थका निरन्वय विनाश होनेके कारण नष्ट हुए पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो

१ साकल्येन ।

फलस्य ज्ञानलक्षणकार्यस्य भाव आत्मलाभः स्यात् । जनकस्यार्थक्षणस्यातीतत्वाद् निर्मूलमेव ज्ञानोत्थानं स्यात् ।

जनकस्यैव च ग्राह्यत्वे इन्द्रियाणामपि ग्राह्यत्वापत्तिः, तेपामपि ज्ञानजनकत्वात् । न चान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टं, मृगतृष्णादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानोत्पादात्, अन्यथा तत्प्रवृत्तेरसंभवात । भ्रान्तं तज्ज्ञानमिति चेत्, ननु भ्रान्ताभ्रान्तविचारः स्थिरीभूय
६ क्रियतां त्वया । सांप्रतं प्रतिपद्यस्व तावदनर्थजमपि ज्ञानम् । अन्वयेनार्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टमेवेति चेत् । न । न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि । स चोक्तयुक्त्या नास्त्येव । योगिना चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम्, तयोरसत्त्वात् ।

"ण णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए ।
णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसवोवमा ।।"[१]

इति वचनात् । निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः ।।

सकती' (हेतौ विलीने न फलस्य भाव) क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले पदार्थके नष्ट होनेपर ज्ञान निर्विषय रह जाता है ।

तथा, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण भूत पदार्थको ज्ञानका विषय माननेसे इन्द्रियोंको भी ज्ञानका विषय स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ भी ज्ञानको उत्पन्न करती है । परन्तु आप लोगोने पदार्थकी तरह इन्द्रियोंको ज्ञानका विषय नहीं माना है । शंका—पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) है, क्योंकि पदार्थका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है । जैसे अग्नि धूमका कारण है, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता, वैसे ही 'जहाँ ज्ञान होता है वहाँ पदार्थ होता है,' और 'जहाँ पदार्थ नहीं होता, वहाँ ज्ञान भी नहीं होता' इसलिये ज्ञान और पदार्थमें अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होनेसे पदार्थ ज्ञानका कारण है । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस प्रकार धूमका होना अग्निके उपर अवलम्बित है, उस प्रकार ज्ञानका होना पदार्थके ऊपर अवलम्बित नहीं । कारण कि मृगतृष्णामें जल (अर्थ)के अभाव होनेपर भी जलको पानेके लिये मनुष्यकी प्रवृत्ति देखी जाती है । शंका—मृगतृष्णामें जलका ज्ञान होना भ्रमपूर्ण है, अतएव यहाँ पदार्थके बिना भी ज्ञान हो जाता है । समाधान—यहाँ ज्ञानके भ्रमरूप या अभ्रमरूप होनेका प्रश्न नही है, प्रश्न है कि ज्ञान पदार्थके विना भी उत्पन्न होता है । यदि कहो कि जहाँ ज्ञान होता है, वहीं पदार्थ होता है, इसलिये पदार्थ ज्ञानका कारण है, तो यह भी ठीक नही । क्योंकि जब तक पदार्थोमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों सम्बन्ध न रहे तब तक उनमे कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बन सकता । अतएव जबतक पदार्थ और ज्ञानमे 'जहा पदार्थ न हो, वहाँ ज्ञान भी न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक सम्बन्ध न बने, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते । यह व्यतिरेक सम्बन्ध पदार्थ और ज्ञानमें नहीं है, क्योंकि मृगतृष्णामे जलका अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है । तथा, अतीत और अनागत पदार्थोको जाननेवाले योगियोंके ज्ञानमे पदार्थ कारण नहीं हो सकता । क्योंकि अतीत और अनागत पदार्थोको जानते समय अतीत और अनागत पदार्थोका अभाव रहता है । अतएव भूत, भविष्यत् पदार्थ ज्ञानमे कारण नहीं हो सकते । कहा भी है—

"जो पदार्थ नष्ट हो गये है, वे किसी खजानेमे जमा नहीं है, तथा जो पदार्थ आनेवाले है, उनका कहीं ढेर नहीं लगा है । जो पदार्थ उत्पन्न होते है, वे सूईकी नोंकपर रक्खी हुई सरसोंके समान स्थायी नही है ।"

यदि अतीत और अनागत पदार्थोको भी ज्ञानमें कारण माना जाय, तो अर्थक्रियाकारी होनेसे उनके अतीतत्व और अनागतत्वका अभाव हो जाता है ।

---

१ छाया—न निधानगता भग्ना. पुञ्जो नास्त्यनागते । निर्वृत्ता नैव तिष्ठन्ति आराग्रे सर्षपोपमा ।।

न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वं, प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वात् । जनकस्यैव च ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृत्यादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः तस्यार्थाजन्यत्वात् । न च स्मृतिर्न प्रमाणम्, अनुमानप्रमाणप्राणभूतत्वात् साध्यसाधनसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात् तस्य । जनकमेव च चेद् ग्राह्यम्, तदा स्वसंवेदनस्य कथं ग्राहकत्वम् । तस्य हि ग्राह्यं स्वरूपमेव । न च तेन तज्जन्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । तस्मात् स्वसामग्रीप्रभवयोर्घटप्रदीपयोरिवार्थज्ञानयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसंभवाद् न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थस्य ॥

नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिनियतकर्मव्यवस्था । तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते । तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् सर्वग्रहणं प्रसज्येत । नैवम् । तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः । तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्यमेष्टव्या । अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्ये तत्तदर्थासांनिध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः ॥

तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् ज्ञानस्य

शंका—प्रकाश्य पदार्थ से उत्पन्न होकर पदार्थोंको प्रकाशित करना ही प्रकाशक (ज्ञान) का प्रकाशकपना है । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि घट आदिसे उत्पन्न न होनेवाले भी दीपक आदि घटको प्रकाशित करते हैं । अतएव प्रकाश्य (अर्थ) और प्रकाशक (ज्ञान) में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं हो सकता । तथा, यदि ज्ञानको पदार्थसे उत्पन्न हुआ मान कर, ज्ञानको उसी पदार्थका जाननेवाला स्वीकार किया जाय, तो स्मृति आदिको अप्रमाणत्वका प्रसंग उपस्थित हो जाता है, क्योंकि स्मृति आदि प्रमाण किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होते । तथा, स्मृति प्रमाण नहीं, ऐसी बात नहीं, क्योंकि स्मृति प्रमाण, साध्य-साधनके अविनाभाव रूप सम्बन्ध (व्याप्ति) के स्मरणपूर्वक होनेवाले अनुमान प्रमाणका प्राणभूत है । तथा, जो पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है, वही ज्ञानका विषय होता हो तो स्वसंवेदन ज्ञानके ग्राहकत्व की सिद्धि कैसे होगी? स्वसंवेदन ज्ञानका जानने योग्य विषय उसका अपना स्वरूप ही होता है । स्वसंवेदनसे स्वसंवेदन ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानमें अपनी उत्पत्ति क्रिया होनेमें विरोध आता है । अतएव जैसे अपनी-अपनी उपादान और सहकारीभूत सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले घट और प्रदीपमें प्रकाश्य-प्रकाशक भाव रहता है, वैसे ही अपनी-अपनी उपादान और सहकारी भूत सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञानमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संभव होनेसे अर्थका ज्ञान निमित्तत्व अर्थात् अर्थके ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होना संभव नहीं ।

बौद्ध—यदि ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती, तो विवक्षित ज्ञेय पदार्थका निश्चित ज्ञान कैसे होगा? यह व्यवस्था ज्ञानको उस पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला, और उस पदार्थके आकाररूप होकर उस पदार्थको जाननेवाला माननेसे ही बन सकती है । अन्यथा पदार्थसे उत्पन्न न होनेवाले और ज्ञेयाकार रूप न होनेवाले ज्ञानकी सभी पदार्थोंके विषयमें समानरूपता होनेसे एक पदार्थको जानते समय ज्ञानको प्रत्येक पदार्थको जानना पड जायेगा । जैन—यह ठीक नहीं । क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञेय पदार्थसे न होने पर भी ज्ञेय पदार्थके ज्ञानको आवृत करनेवाले कर्मके क्षयोपशमसे अभिव्यक्त विशिष्ट क्षायोपशमिक ज्ञानसे ही प्रतिनियत अर्थके विषयमें आत्माका प्रकाशकत्व घटित होता है । ज्ञेय पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें भी ज्ञानकी क्षयोपशमरूप योग्यताको अवश्य स्वीकार करना होगा । यदि इस योग्यताको स्वीकार न किया जाये तो अनेक पदार्थोंका सानिध्य होनेपर उस-उस अर्थका सानिध्य न होनेपर भी, किसी भी अर्थसे किसी भी ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाया करेगी, और फिर यह ज्ञान इसी पदार्थका है, यह विभाग नहीं बन सकेगा ।

ज्ञानको पदार्थके आकारका मानना भी संगत नहीं है, अन्यथा पदार्थको ज्ञानके आकारका होनेसे

साकारत्वप्रसङ्गाच्च । अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यम् । इत्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साभ्युपेया । ततः—

"अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता" ॥[1]

इति यत्किञ्चिदेतत् ॥

अपि च, व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम् । यदि व्यस्ते, तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति, यथासंख्यं तदुत्पत्तेः तदाकारत्वाच्च । अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति, तयोरुभयोरपि सद्भावात् । ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्, तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत, तयोर्जन्यजनकभावसद्भावात् । तन्न योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारणं पश्याम इति ॥

पदार्थको निराकार, और ज्ञानको पदार्थके आकारका होनेसे ज्ञानको साकार मानना होगा । परन्तु मूर्त पदार्थों के साथ अमूर्त ज्ञानकी समानता नहीं हो सकती । अतएव ज्ञानकी अर्थाकारताका कार्य प्रतिनियत पदार्थों का ज्ञान ही मानना चाहिये । इसलिए—

"ज्ञानकी अर्थाकारताको छोड़कर पदार्थ और ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतएव ज्ञानका पदार्थों के आकार होना ही ज्ञानकी प्रमाणता है," यह आप लोगोंका कथन खण्डित हो जाता है ।

तथा, आप लोगोंका जो कहना है कि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति), और पदार्थों के आकार होकर पदार्थका ज्ञान करता है (तदाकार), सो यह ज्ञानकी तदुत्पत्ति और तदाकारता पदार्थों के ज्ञानमें अलग-अलग रूपसे कारण है, अथवा मिलकर ? यदि कहो कि कहीं तदुत्पत्ति और कहीं तदाकारता पदार्थों के ज्ञानमें अलग-अलग कारण है, तो कपालके प्रथम क्षणको घटके अन्तिम क्षणका ज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि घटके अन्तिम क्षणसे कपालका प्रथम क्षण उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति), तथा चन्द्रमाके जलमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको आकाशके चन्द्रमाका ज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि जल-चन्द्र आकाशचन्द्रके आकारको धारण करता है (तदाकार) । परन्तु घटके अन्तिम क्षणसे कपालके प्रथम क्षणके उत्पन्न होनेपर भी कपालके प्रथम क्षणको घटके अन्तिम क्षणका ज्ञान नहीं होता, तथा जलमें पड़नेवाले चन्द्रमाके प्रतिबिम्बके आकाशके चन्द्रमाके आकारका होनेपर भी जल चन्द्रको आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता । अतएव तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग-अलग पदार्थके ज्ञानमें कारण नहीं है । यदि कहो कि तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनो मिलकर पदार्थों के ज्ञानमें कारण है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि घटका उत्तर-क्षण घटके पूर्व-क्षणसे उत्पन्न भी होता है (तदुत्पत्ति), और पूर्व-क्षणवर्ती घटाकार भी है (तदाकारता), परन्तु उत्तर-क्षण घटको पूर्व-क्षणवर्ती घटका ज्ञान नहीं होता । **शंका**— जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है, और जिस पदार्थके आकारको धारण करता है, वह ज्ञान उसी पदार्थको जानता है, इसलिये यह नियम नहीं है कि जो कोई वस्तु जिस किसी वस्तुसे उत्पन्न होती हो, और जिस वस्तुका आकार रखती हो, वह उस वस्तुको जाने (ज्ञानरूपत्वे सति तदुत्पत्ति तदाकारता) । **समाधान**— यह भी ठीक नहीं । क्योंकि पीछेसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान (समनन्तर ज्ञान) के पूर्ववर्ती सजातीय ज्ञानसे उत्पन्न होने, और उसके आकार रूप होनेके कारण पूर्ववर्ती समानजातीय ज्ञानके ग्राहक होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । अतएव प्रत्येक ज्ञानके प्रतिनियत पदार्थोंको जाननेमें कर्मोंके आवरणकी क्षयोपशम रूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये ।

---

१ प्रमाणवार्तिके ३-३०५ ।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते यत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्यते तेषां प्रतिक्षेपः। तन्मतं चेदम्। ग्राह्यग्राहकादिकलङ्कानङ्कितं निष्प्रपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत्। बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते। तथाहि। कोऽयं बाह्योऽर्थः? किं परमाणुरूपः स्थूलावयविरूपो वा? न तावत् परमाणुरूपः, प्रमाणाभावात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनबद्धकक्षम्। तद्धि योगिनां[1] स्यात् अस्मदादीनां वा? नाद्यम्, अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात्। न द्वितीयम्, अनुभवबाधितत्वात्। न हि वयमद्य परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः, स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात्। नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः, अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सहाविनाभावस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात्॥

किञ्च, अमी नित्या अनित्या वा स्युः। नित्याश्चेत्, क्रमेणार्थक्रियाकारिणो युगपद्वा? न क्रमेण, स्वभावभेदेनानित्यत्वापत्तेः। न युगपत्, एकक्षण एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावादसत्त्वापत्तिः। अनित्याश्चेत्, क्षणिकाः कालान्तरस्थायिनो वा? क्षणिकाश्चेत्, सहेतुका निर्हेतुका वा? निर्हेतुकाश्चेत्, नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्, निरपेक्षत्वात्। अपेक्षातो हि कादाचित्कत्वम्। सहेतुकाश्चेत्, किं तेषां स्थूलं किंचित् कारणं परमाणवो

(४) ज्ञानाद्वैतवादी (पूर्वपक्ष)—ग्राह्य, ग्राहक आदिसे रहित निष्प्रपंच ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंका अभाव है। हम पूछते हैं कि परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अवयवीरूप एक पिंडको? यदि परमाणुओंके समूहको बाह्य अर्थ कहते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणसे परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। योगिप्रत्यक्ष अत्यन्त परोक्ष है, और वह केवल श्रद्धाका ही विषय है, इसलिये योगिप्रत्यक्षसे परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियप्रत्यक्षसे भी बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियप्रत्यक्षसे परमाणुरूप सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उससे केवल स्तंभ (खभा) और कुम्भ (घड़ा) रूप स्थूल पदार्थोंका ही ज्ञान हो सकता है। अनुमानसे भी परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, इसलिये परमाणुरूप साध्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान न होनेके कारण, साध्यके अविनाभावी हेतुका भी ज्ञान नहीं हो सकता।

तथा, परमाणु नित्य हैं, या अनित्य? यदि नित्य हैं तो क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, अथवा एक साथ? यदि परमाणु नित्य होकर क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि परमाणुओंमें क्रमसे अर्थक्रिया माननेमें परमाणुओंमें स्वभावका भेद मानना पड़ेगा। तथा परमाणुओंमें स्वभाव-भेद माननेसे परमाणुओंको नित्य नहीं कह सकते। परमाणु एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि यदि परमाणु एक साथ समस्त अर्थक्रिया करने लगें, तो विश्वमें जो क्रम-क्रमसे परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह नहीं होना चाहिये। तथा समस्त अर्थक्रियाके एक ही समयमें समाप्त हो जानेसे दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाका अभाव होगा, इसलिये परमाणुओंका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। यदि परमाणु अनित्य हैं, तो वे क्षणिक हैं, अथवा एक क्षणके बाद भी रहते हैं? यदि परमाणु क्षणिक हैं, तो वे किसी कारणसे उत्पन्न हुए हैं? या किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं? यदि परमाणु किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं तो उन परमाणुओंका या तो नित्यकाल अस्तित्व होगा (विनश्वर न होनेसे वे क्षणिक नहीं होंगे)? अथवा नित्यकाल उनका अभाव होगा (उत्पादक, उपादान और निमित्त कारणोंका सदा अभाव होनेसे उन परमाणुओंका सभी कालोंमें अभाव होगा)? क्योंकि निर्हेतुक पदार्थ उत्पत्तिके कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखते। कादाचित्कत्व—अनित्यत्व—उत्पादक कारणोंकी अपेक्षा रखने ही होता है। (तात्पर्य यह है कि परमाणुओंको अनित्य भी

१ भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति—न्यायबिन्दौ १-११

वा ? न स्थूलं, परमाणुरूपस्यैव बाह्यार्थस्याङ्गीकृतत्वात। न च परमाणवः ते हि सन्तोऽसन्तः सदसन्तो वा स्वकार्याणि कुर्युः । सन्तश्चेत्, किमुत्पत्तिक्षण एव क्षणान्तरे वा ? नोत्पत्तिक्षणे, तदानीमुत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात तेषाम्। अथ "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते" इति वचनाद् भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेत्, एवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम्, ते च तेषामुपादानं स्युः, उभयत्रभवनाविशेषात् । न च क्षणान्तरे, विनष्टत्वात् । अथासन्तस्ते तदुत्पादकाः, तर्हि एकं स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात । सदसत्पक्षस्तु "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति वचनाद्विरोधाघ्रात एव । तन्नाणवः क्षणिकाः ॥

नापि कालान्तरस्थायिनः । क्षणिकपक्षसदृक्षयोगक्षेमत्वात् । किञ्च, अमी कियत्कालस्थायिनोऽपि किमर्थक्रियापराङ्मुखाः तत्कारिणो वा ? आद्ये खपुष्पवदसत्त्वापत्तिः । उदग्विकल्पे किमसद्रूप सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः ? असद्रूपं चेत्, शशविषाणादेरपि किं न

मानना और निःपेक्ष भी मानना उचित नहीं। क्योंकि अनित्य पदार्थ सापेक्ष होता है और नित्य पदार्थ निरपेक्ष होता ह, अर्थात अपने उत्पादक कारणोंकी अपेक्षा वह नहीं रखता)। यदि परमाणु सहेतुक है तो कोई स्थूल कारण परमाणुओंका हेतु है, अथवा स्वय परमाणु ही परमाणुओमे हेतु है ? यदि स्थूल पदार्थको परमाणुओका कारण माना जाय, तो यह ठीक नही। क्योंकि आप स्थूल बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते- आप लोगोंने बाह्य पदार्थोको परमाणुरूप ही माना है। तथा स्वय परमाणु भी परमाणुओंमें कारण नहीं ह। क्योंकि हम पूछते है कि ये परमाणु सत्, असत्, अथवा सत्–असत् होकर अपने कार्यको करते है ? यदि परमाणु सत्रूप होकर अपने कार्यको करे तो परमाणु उत्पत्तिके समय ही अपना कार्य करते ह, अथवा उत्पत्तिके दूसरे क्षणमे ? परमाणु उत्पत्तिके समय अपना कार्य नहीं करते क्योंकि उस समय परमाणु अपनी उत्पत्तिमे ही व्यग्र रहते हैं। यदि कहो कि "उत्पन्न होना ही क्रिया है, और क्रिया ही कारण है" इसलिये परमाणुओकी उत्पत्ति होना ही दूसरोंकी उत्पत्ति होनेमें कारण है, यह भी ठीक नही। क्योंकि यदि उत्पन्न होना ही उत्पत्तिमे कारण मान लिया जाय, तो रूपके परमाणुओको रसके परमाणुओंकी उत्पत्तिमे कारण मानना चाहिये, इसलिये रूपके परमाणुओंको रस-परमाणुओंका उपादान कारण कहना चाहिये। क्योंकि जैसे एक परमाणु स्वय उत्पन्न होकर दूसरे परमाणुओंकी उत्पत्ति कर सकता है, वैसे ही रूप और रसके परमाणु भी साथ उत्पन्न होते हुए एक दूसरेकी उत्पत्तिमे सहायक हो सकते ह। अतएव रूप-परमाणु और रस-परमाणुओंको अपनी-अपनी उत्पत्तिमें पृथक् कारण न मानकर रूपके परमाणुओंकी रसके परमाणुओंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। यदि कहो कि परमाणु सत्रूप होकर दूसरे क्षणमे अपना कार्य करते ह, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। यदि कहो कि परमाणु असत्रूप होकर अपना कार्य करते ह (दूसरा पक्ष) तो यह भी ठीक नही। क्योंकि अपनी उत्पत्तिके समयको छोडकर सदा ही इन परमाणुओंको अपना कार्य करते रहना चाहिये, कारण कि असत् परमाणु सदा एकसे रहते ह। तथा, सत्-असत्रूप होकर भी परमाणु कार्य नहीं करते (तीसरा पक्ष), क्योकि "जो दोष सत् और असत् एक-एक स्वभावके अलग-अलग माननेमें कहे गये हैं, वे सब दोष सत्-असत् दोनों स्वभावोंको एक साथ माननेम भी आते ह।' इसलिये परमाणु सत् और असत्रूप होकर भी अर्थक्रिया नही कर सकते। अतएव परमाणु क्षणिक नहीं है।

तथा, अनित्य परमाणु एक क्षणके बाद दूसरे क्षणमें स्थित रह कर भी (एक क्षणसे अधिक, परन्तु परिमित समय तक रहनेवाले) अर्थक्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि परमाणुओंको क्षणिक मानकर अर्थक्रियाकारी माननेमें जो दोष आते ह। वे यहां भी आते ह। तथा, एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, अथवा नही ? यदि ये परमाणु अर्थक्रिया नहीं करते, तो आकाशके फूलकी तरह इन परमाणुओं-

करणम् । सद्रूपं चेत्, सतोऽपि करणेऽनवस्था । तृतीयभेदस्तु प्राग्वद्विरोधदुर्गन्धः । तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते ॥

नापि स्थूलावयविरूपः । एकपरमाण्वसिद्धौ कथमनेकतत्सिद्धिः । तदभावे च तत्प्रचयरूपः स्थूलावयवी वाङ्मात्रम् । किञ्च, अयमनेकावयवाधार इष्यते । ते चावयवा यदि विरोधिनः, तर्हि नैकः स्थूलावयवी, विरुद्धधर्माध्यासात् । अविरोधिनश्चेत्, प्रतीतिबाधः । एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः । अपि च, असौ तेषु वर्तमानः कात्स्न्र्येन एकदेशेन वा वर्तते ? कात्स्न्र्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेकावयववृत्तित्वं न स्यात् । प्रत्यवयवं कात्स्न्र्येन वृत्तौ चावयविबहुत्वापत्तिः । एकदेशेन वृत्तौ च तस्य निरंशत्वाभ्युपगमविरोधः । सांशत्वे वा तेंऽशास्ततो भिन्नाः अभिन्ना वा ? भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य कात्स्न्र्यैकदेशविकल्पानतिक्रमादनवस्था । अभिन्नत्वे न केचिदंशाः स्युः ॥

इति नास्ति बाह्योऽर्थः कश्चित् । किन्तु ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति । बाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तम् "स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः"

का अभाव मानना चाहिये । क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है । यदि एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, तो वह अर्थक्रिया सत्‌रूप है, असत्‌रूप, अथवा उभयरूप ? यदि परमाणुओंका कार्य असत्‌रूप है, तो परमाणुओंको असतरूप खरगोशके सींगोंकी उत्पत्तिमें भी कारण होना चाहिये । यदि यह कार्य सत्‌रूप है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो कार्य पहलेसे मौजूद था, उस कार्यको ही परमाणुओंने किया है । अतएव इस मान्यतामें अनवस्था दोष आता है । अतएव सत् और असत्‌रूप कार्यके न बननेसे सत्-असत्‌रूप कार्य भी नही बन सकता । अतएव परमाणु बाह्य पदार्थ नहीं हो सकते ।

बाह्य पदार्थोंको स्थूल अवयवीरूप भी स्वीकार नहीं कर सकते । क्योंकि जब एक परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, तो अनेक परमाणुरूप बाह्य पदार्थोंकी कैसे सिद्धि हो सकती है ? अतएव परमाणुओंके अभावमें परमाणुप्रचयरूप स्थूल अवयवीका सद्भाव होता है, यह कहना केवल कथन मात्र है । तथा, अवयवीके अनेक अवयव आधार माने गये हैं । ये अवयव परस्पर विरोधी है, या अविरोधी ? यदि ये परस्पर विरोधी हैं, तो इनसे एक स्थूल अवयवी ही नहीं बन सकता क्योंकि अवयवीमें विरोधी धर्मोंका अध्यारोप हो जाता है । यदि इन परमाणुओंका परस्पर अविरोधी मानो, तो यह अनुभवके विरुद्ध है, क्योंकि हमें प्रत्यक्षसे एक ही स्थूल अवयवीमें चल, अचल, रक्त, अरक्त, आवृत, अनावृत आदि विरुद्ध धर्म देखनेमें आते हैं । तथा, अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा एक देशसे ? यदि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते है, तो सम्पूर्ण अवयवीके एक अवयवमें समाप्त हो जानेसे अवयवी अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकता । यदि अवयवी अनेक अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहे भी, तो अनेक अवयवी मानने पड़ेंगे । यदि अवयवी अवयवोंमें एक देशसे रहे, तो अवयवमें अंशोंकी कल्पना होनेसे उसे निरंश एक अवयवी नहीं कह सकते, परन्तु अवयवी निरंश होता है । यदि कहो कि अवयवी अंश सहित होकर अवयवोंमें रहता है, तो ये अंश अवयवोंसे भिन्न हैं, या अभिन्न ? यदि अंश अवयवसे भिन्न हैं, तो प्रश्न होगा, कि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, अथवा एक देशसे ? इस तरह अनवस्था माननी पडेगी । यदि अंश अवयवसे अभिन्न है, तो अवयवोंको छोड़कर अवयवीके अंशोंका पृथक् अस्तित्व नहीं मान सकते ।

इस प्रकार परमाणुरूप या स्थूलरूप बाह्य अर्थका सद्भाव नही हैं, किन्तु जो कुछ नील आदि पदार्थोंके आकार रूपसे प्रतिभासित होता है, वह सब ज्ञान ही है । क्योंकि जड़ अर्थात् अचेतन या ज्ञानहीन बाह्यार्थका अपने आपको जानना घटित नहीं होता । कहा भी है—"अपने आकाररूप बुद्धिको उत्पन्न करने

अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्[1]—

"यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ।
न चेत् संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ॥

यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभासः इति चेत्, ननु निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितः, निर्विषयत्वात्, आकाशकेशज्ञानवत्, स्वप्नज्ञानवद् वेति । अत एवोक्तम्—

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥[2]
बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते" ॥ इति ॥

तदेतत्सर्वमवद्यम् । ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दः । ततो ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति । अस्य च कर्मणा भाव्यं, निर्विषयाया ज्ञप्तेरघटनात् । न चाकाशकेशादौ निर्विषयमपि दृष्टं ज्ञानमिति वाच्यम्, तस्याप्येकान्तेन निर्विषयत्वाभावात् । न हि सर्वथागृहीत-

---

वाले इन्द्रियगोचर दृश्य पदार्थ अस्तिरूप नहीं हैं ।"

अलंकारकार (प्रज्ञाकरगुप्त) ने भी कहा है—

"यदि नील पदार्थका अनुभव किया जाता है तो वह नील पदार्थ बाह्य पदार्थ है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ? यदि नील पदार्थका अनुभव नहीं किया जाता तो वह नील पदार्थ बाह्य पदार्थ है, ऐसा कैसे कह सकते है ।" (जो जिसका होता है वह उसका अनुभव कर सकता है । नील पदार्थका अनुभव ज्ञानके द्वारा किया जाता है तो वह नील पदार्थ ज्ञानका—ज्ञानरूप—होना चाहिये । नील पदार्थका ज्ञान नहीं होता तो उसे बाह्य पदार्थ नहीं कह सकते । जिस पदार्थका किसी भी हालतमें ज्ञान होता ही नहीं, उसका बाह्य अस्तित्व नही हो सकता, और जिसका अस्तित्व होता है उसका किसी न किसी प्रकारसे ज्ञान होता ही है) ।

शंका—यदि बाह्य पदार्थका अस्तित्व नही है तो घट, पट आदिका ज्ञान किस प्रकार होता है ? समाधान—जिस प्रकार आकाशकेशरूप बाह्य पदार्थके अभावमे आकाशकेशका ज्ञान होता है, अथवा जिसप्रकार स्वप्नज्ञानका विषय बने हुए पदार्थका वस्तुत सद्भाव न होने पर भी स्वप्नमे उसका ज्ञान होता है, उसी तरह घट, पट आदि बाह्य पदार्थोंका अभाव होनेसे, आलंबनरहित होनेपर भी, अनादि मिथ्या-वासनाके कारण घट, पट आदिका ज्ञान होता है । इसलिए कहा है—

"जिसका बुद्धिके द्वारा अनुभव किया जाता है, वह बुद्धिसे भिन्न नहीं होता । अनुभव बुद्धिसे भिन्न नही है । ग्राह्य-ग्राहक (अनुभाव्य-अनुभावक) भावसे रहित होनेसे बुद्धि स्वयं प्रकाशित होती है । मूर्खों द्वारा कल्पित बाह्य अर्थ विद्यमान नहीं हैं । (अनादि) वासनासे प्रतिहत चित्त (बुद्धि) अर्थाभास (अयथार्थ अर्थ) में प्रवृत्त होता है ।"

(४) उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है । ज्ञान शब्द क्रियाका द्योतक है । जिसके द्वारा जाना जाय, अथवा जानने मात्रको ज्ञान कहते हैं । ज्ञान (क्रिया) के कोई कर्म अवश्य होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान निर्विषय नहीं होता । यदि आकाशमे निर्विषय केशज्ञानकी तरह मिथ्या ज्ञानको ही ज्ञानका विषय मानो, तो यह भी ठीक नही । क्योंकि आकाशमे केशज्ञान भी एकान्त रूपसे निर्विषय नही है । कारण कि जिसने कभी वास्तविक

---

१ प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालङ्काराख्यो बौद्धग्रन्थः ।
२ प्रमाणवार्तिके ३–३२७ ।

सत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रतीति । स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थविषयत्वान्न निरालम्बनम । तथा च महाभाष्यकार :—

"अणुहूयदिट्ठचिंतिय सुयपयइवियारदेवयाणूवा ।
सुमिणस्य निमित्ताइं पुण्ण पावं च णाभावो"[1]

यश्च ज्ञानविषयमः स बाह्योऽर्थः । भ्रान्तिरियमिति चेन चिरं जीव । भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणापाटवादिनान्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा, यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः । अर्थक्रियासमर्थेऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरुच्यते तर्हि प्रलीना भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्था । तथा च सत्यमेतद्वचः—

"आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः ।
रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥"

न चामून्यर्थदूषणानि स्याद्वादिनां बाधा विदधते, परमाणुरूपस्य स्थूलावयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वात् । यच्च परमाणुपक्षखण्डनेऽभिहित प्रमाणाभावादिति, तदसत तत्कार्याणा

केशोंका ज्ञान नहीं किया है, उसे आकाशमें मिथ्या केशज्ञान नहीं हो सकता । इसी प्रकार स्वप्नमें भी जाग्रत दशामें अनुभूत पदार्थोंका ही ज्ञान होता है, इसलिये स्वप्नज्ञान भी सर्वथा निर्विषय नहीं है । महाभाष्यकार (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण) ने भी कहा है—

अनुभव किये हुए, देखे हुए, विचारे हुए, सुने हुए पदार्थ, वात, पित्त आदि प्रकृतिके विकार, दैविक और जलप्रधान देश स्वप्नमें कारण होते हैं । सुखनिद्रा आनेसे पुण्य रूप, और सुख-निद्रा न आनेसे पाप रूप स्वप्न दिखाई देते हैं । वास्तवमें स्वप्नके निमित्तोंका अभाव नहीं है, अर्थात् स्वप्न निर्विषय नहीं होता ।"

तथा, ज्ञानका विषय ही बाह्य अर्थ है । यदि कहो कि ज्ञानका विषय बाह्य पदार्थ है, यह कथन भ्रान्तिरूप है, तो यह बहुत ठीक है । क्योंकि मुख्य पदार्थके कहीं देखे जानेपर इन्द्रियोंके रुग्ण आदि होनेसे कहीं किसी अन्य पदार्थमें, उस मुख्य पदार्थको विपर्यास रूपमें जाननेपर भ्रान्तिकी सिद्धि होती है, सीपीमें चाँदीकी भ्रान्तिकी भाँति । (चाँदीको देखनेसे उसके शुभ्रत्वका ज्ञान होने पर, सीपके शुभ्रत्वको देखनेसे जिस प्रकार सीपके विषयमें चांदीका होनेवाला ज्ञान भ्रान्तिरूप होता है उसी प्रकार कहीं मुख्य पदार्थको देखनेपर, इन्द्रियोंके रुग्ण आदि होनेसे अन्य पदार्थमें विपर्यस्त अर्थात् अन्यत्र देखे हुए मुख्य पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह भ्रांतिरूप होता है, यह सिद्ध हो जाता है । इस भ्रान्त ज्ञानसे भी बाह्यार्थके सद्भावकी ही सिद्धि होती है) । प्रयोजन भूत कार्यकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ होनेवाले पदार्थके विषयमें भी इस पदार्थका अस्तित्व भ्रान्तरूप है—यह जो कहा गया है तो इससे यह ज्ञान भ्रान्त है और यह ज्ञान अभ्रान्त, यह व्यवस्था ही नष्ट हो जायेगी । अतएव—

"जो मनके लड्डू खाकर तृप्त हुए हैं और जिन्होंने वास्तवमें लड्डुओंका स्वाद चखा है, उन दोनोंके रस, वीर्य और विपाक आदिके समान होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है"—यह वचन सत्य है ।

तथा, आप लोगोंने ज्ञानाद्वैतका प्रतिपादन करते हुए जो परमाणुरूप और स्थूल अवयवीरूप बाह्य पदार्थोंका खण्डन किया, उससे स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती । क्योंकि जैन लोगोंने परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप बाह्य पदार्थोंको स्वीकार किया है । तथा, परमाणुपक्षका खण्डन करते हुए 'परमाणु रूप बाह्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसके साधक प्रमाणोंका अभाव है'—यह जो कथन है, वह भी

१ छाया—अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदैविकानूपा वा ।
स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाभावः ॥
—जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, विशेषावश्यकभाष्ये १७०३ ।

घटादीनां प्रत्यक्षत्वे तेषामपि कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वं योगिप्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमवसेयम् । अनुपलब्धिस्तु सौक्ष्म्यात् । अनुमानादपि तत्सिद्धिः, यथा—सन्ति परमाणवः, स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, इत्यन्तर्व्याप्तिः । न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः, स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात्, आत्माकाशादेरपुद्गलत्वकक्षीकाराच्च । यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तन् कालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात् प्रादुर्भूतं संयोगातिशयमपेक्ष्येयमवितथैव ॥

यदपि किञ्चायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि, तत्रापि कथञ्चिद्विरोध्यनेकावयवाविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते । तत्र च यद्विरोध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं तत्कथञ्चिदुपेयत एव तावत्, अवयवात्मकस्य तस्यापि कथञ्चिदनेकरूपत्वात् । यच्चोपन्यस्तम्, अपि च असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा वर्ततेत्यादि, तत्रापि विकल्पद्वयानभ्युपगम एवोत्तरम्, अविष्वग्भावेनावयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात् ॥

किञ्च, यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किमिदानीं नियताकारं प्रतीयते । नीलमेतत् इति विज्ञानकारोऽयमिति चेत्, न । ज्ञानाद् बहिर्भूतस्य संवेदनात् । ज्ञानाकारत्वे तु अहं नीलम् इति प्रतीतिः, स्यान्न तु इदं नीलम् इति । ज्ञानाना प्रत्येकमाकारभेदात् कस्यचित् 'अहम्' इति प्रतिभासः, कस्यचित् 'नीलमेतत्' इति चेत्, न । नीलाद्याकारवदहमित्याकारस्य व्यवस्थितत्वा-

---

ठीक नहीं। क्योंकि परमाणुओंके कार्यरूप घट आदिका प्रत्यक्षसे ज्ञान होनेपर उन परमाणुओंका भी कथंचित् प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, तथा योगिप्रत्यक्षसे उनका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। उन परमाणुओंके अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होती। अनुमान प्रमाणसे भी उन परमाणुओंकी सिद्धि होती है। अनुमान—परमाणु अस्तिरूप है क्योंकि परमाणुओंके अभावमें स्थूल अवयवकी निष्पत्ति नहीं हो सकती, यह अन्तर्व्याप्ति है। (परमाणुरूप उपादानका उपादेयभूत कार्यमें स्व-स्वरूपमें अन्वय होनेसे, परमाणु और स्थूल अवयवी में अन्तर्व्याप्य-व्यापक भावका सदभाव होनेसे इनमें अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है)। परमाणुओंसे स्थूल अवयवीका ही उत्पाद होता है—यह एकान्त नहीं है। क्योंकि स्थूल सूत्रसमूह आदिसे भी स्थूल पट आदिकी उत्पत्तिका स्पष्ट ज्ञान होता है तथा आत्मा, आकाश आदि की पुद्गलभिन्नता स्वीकार की गई है। जहाँ पुनः अणुओं से स्थूल की—स्थूल अवयवीभूत कार्य की—उत्पत्ति होती है, वहाँ वह स्थूल अवयवीरूप कार्य, कालादिरूप सहकारियों की सामग्री की अपेक्षा रखनेवाली क्रिया के कारण, अतिशय संयोग की अपेक्षा से उत्पन्न होता हैं। अत अवयवीभूत स्थूल कार्य की परमाणुओं से होनेवाली उत्पत्ति यथार्थ ही है।

तथा, आप लोगों ने 'अवयवी के अनेक आधार माने है। ये अवयव यदि परस्पर विरोधी हों तो एक स्थूल अवयवी नही बन सकता। क्योकि 'अवयवी में विरोधी धर्मों का अध्यारोप होता है—ऐसा जो कहा है, उसमे भी कथंचित् विरोध आता है। ऐसे अनेक अवयवों के साथ जो अभेदरूप से रहता है, वह अवयवी कहा जाता है। वहाँ, 'परस्पर विरोधी अनेक अवयव अवयवी के आधारभूत होनेपर, अवयवीमे विरोधी धर्मोंका अध्यारोप होता है'—यह जो कहा है, उसे कथंचित रूपसे स्वीकार किया ही गया है। तथा, आप लोगोंने जो प्रश्न किया था, 'अवयवी अवयवोंमे सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा एक देशसे? सो हम दोनों ही विकल्पोंको नही मानते। हमारे मतके अनुसार अवयवी अवयवोंमें अविष्वग्भावसे रहता है।

तथा, यदि बाह्य पदार्थ का अभाव है तो नियत रूपसे जो ज्ञान होता है वह किसका ज्ञान होता है? यदि कहो कि 'यह नील है'—यह विज्ञानका ही आकार है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि हमे ज्ञानसे बहिर्भूत नीलका संवेदन होता है। यदि ज्ञानकी नीलाकार परिणति हो तो मै नील हूं'—यह प्रतीति होनी चाहिये, 'यह नील है'—ऐसी प्रतीति नहीं। शंका—प्रत्येक ज्ञानका आकार भिन्न-भिन्न होता है, इसलिये कहीं 'मै नील हूं' ऐसा ज्ञान होता है, और कहीं, 'यह पदार्थ नील है' ऐसा ज्ञान होता है। अतएव बाह्य और अतरग

भावात् । तथा च यदेकेनाहमिति प्रतीयते तदेवापरेण त्वमिति प्रतीयते । नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थितः, सर्वैरप्येकरूपतया ग्रहणात् । भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु[1] यद्यपि नीलादिकं पीतादितया गृह्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः तस्य भ्रान्तत्वात् । स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभास इति चेत्, ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति । कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः । प्रतियोगीशब्दो ह्ययं परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते । स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत्, हन्त प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः न कथं वास्तवः ॥

भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेत्, ननु कुत एतत् । अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत्, किं तदनुमानमिति पृच्छामः । यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत् ततो न भिद्यते, यथा सच्चन्द्रादसच्चन्द्रः । नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः । प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भानियमस्तस्यानुपलब्धिः । भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात् । इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेन् ॥

न । संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात् । ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम् । तत्पर-

दोनों पदार्थ ज्ञानाकार होते हैं। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार नील आकार निश्चित है, वैसे 'अहम्' आकार निश्चित नहीं है। कारण कि जो मेरे लिये 'अहं' है वह दूसरेके लिये 'त्व' है। परन्तु नील आकार व्यवस्थित है, क्योंकि वह सब लोगोंके अनुभवमें एकरूपसे ही आता है। यदि कहो कि पित्त उत्पन्न करनेवाले धतूरेको खा लेनेसे नील पदार्थ भी पीतरूप प्रतिभासित होता है, इसलिये नील आकार सब लोगोंके अनुभवमें एकसा नहीं आता। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि नीलका पीतरूप प्रतिभासित होना भ्रान्त है। रोग रहित मनुष्योंको नील सदा नील रूप ही प्रतिभासित होता हैं। स्वयको अपने आपका ज्ञान होनेसे 'अह' का प्रतिभास होता है, यह आपका कथन तभी सत्य माना जा सकता है, जब आप अपने अतिरिक्त दूसरेका भी सवेदन मानते हों। 'स्व' शब्द प्रतियोगी शब्द है अतएव स्व शब्दसे पर शब्दका भी ज्ञान होता है। यदि कहो कि स्व शब्द में पर स्वरूप भेदका ज्ञान होता है, वास्तवमें स्व और परमें कोई भेद नहीं है, तो खेद है कि आप लोग प्रत्यक्षसे दिखाई देनेवाले स्व और पर, तथा अतर और बाह्यके भेदको भी वास्तविक नहीं मानना चाहते।

बौद्ध—स्व और परके भेदको बतानेवाला प्रत्यक्ष भ्रान्त है। क्योंकि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है। 'जो जिसके साथ नियमसे उपलब्ध होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे असत् या भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमा के साथ उपलब्ध होता है, अतएव भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमासे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और पदार्थ नियमसे एक साथ पाये जाते हैं। अतएव पदार्थ ज्ञानसे भिन्न नहीं है। (व्यापकका अभाव होने पर व्याप्यका अभाव होना व्यापकानुपलब्धि है। यहा व्याप्य-शिंशिपाका अभाव है, क्योंकि यहाँ शिंशिपाव्यापक वृक्ष की अनुलब्धि है। वृक्ष व्यापक है और वृक्ष होनेसे शिंशिपा व्याप्य है। अत वृक्षमात्रका अभाव शिंशिपा वृक्षके अभाव की सिद्धि करता है। प्रस्तुत प्रसगमें अभेदव्यवस्थापक सहोपलभ नियम का अभाव व्यापक है, तथा अर्थ और ज्ञानमें होनेवाला भेद व्याप्य। अर्थात् जहाँ सहोपलभ नियम का अभाव होता है, वहाँ अभेद का अभाव—भेदका सद्भाव—होता है।) जिस प्रकार परस्पर भिन्न नील और पीत पदार्थो का एक साथ ज्ञान होनेके नियम का अभाव होता है, उसी प्रकार ज्ञानके साथ अर्थ की उपलब्धि नियमसे होती है, अतएव सहोपलभ रूप नियमके अभावरूप व्यापक की उपलब्धि न होनेसे ज्ञानके और अर्थके अभेदके अभावरूप व्याप्य की उपलब्धि नहीं होती—ज्ञान और अर्थमे भेद की सिद्धि नहीं होती। इस अनुमानसे ज्ञान और अर्थ का अभेद सिद्ध होता है।

जैन—बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है। (क) बौद्धोंके द्वारा उपस्थित किये गये अनुमानमें दिया

१ हृत्पूर. पित्तरोगकरः फलविशेषस्तद्भक्षणेन पित्तपीतिम्ना सर्वे पदार्था पीता इव भासन्ते।

संवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति, स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम् । तदेवमनयोर्युगपद् ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति अभेदश्च नास्ति । इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः सन्दिग्धत्वात् संदिग्धानैकान्तिकत्वम् । असिद्धश्च सहोपलम्भनियमः, नीलमेतत् इति बहिर्मुखतयाऽर्थेऽनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य नीलानुभवस्याननुभवात्, इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्ध्या भ्रान्तत्वम् । अपि च, प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभः, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वम्, इत्यन्योन्याश्रयदोषोऽपि दुर्निवारः । अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणा प्रतीतिः कुतः । न हि तत्र विवक्षितदेशेऽस्य मारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः ॥

वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेत् । न । तस्या अपि तद्देशनियमकारणत्वाभावात् । सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवः तद्देशा च तत्पूर्विका वासना । बाह्यार्थाभावे तु तस्याः किंकृतो देशनियमः ॥

गया सहोपलम्भरूप हेतु संदिग्धानैकांतिक होनेसे अनुमानाभास है। (जिस हेतु की विपक्षसे व्यावृत्ति संदिग्ध होती है, उस हेतु को संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभास कहा जाता है)। ज्ञान परमार्थतः स्व और पर को जाननेवाला होता है। परसंवेदन स्वभावके कारण ही ज्ञान नील पदार्थ को जानता है, तथा स्वसंवेदन स्वभावके कारण नीलके ज्ञान को ग्रहण करता है। इस प्रकार नील पदार्थ और नील पदार्थ का ज्ञान, इन दोनों को एक साथ ग्रहण करनेसे सहोपलम्भ नियम का सद्भाव है। तथा नील पदार्थ और नील पदार्थ का ज्ञान, इन दोनोंमें अभेद नहीं है। इस प्रकार सहोपलम्भ नियम रूप हेतु की विपक्षसे व्यावृत्ति संदिग्ध होनेके कारण उस हेतु का संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभासत्व सिद्ध हो जाता है। (ख) ज्ञान और अर्थ की एक साथ उपलब्धि होने का नियम असिद्ध है—उसकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि 'यह नील है,' इस प्रकार बहिर्मुख रूपसे जब पदार्थ का ज्ञान होता है, उसी समय अंतरंग नील ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार नील पदार्थ का ज्ञान तथा अंतरंग नील ज्ञान का अनुभव एक साथ न होनेसे, सहोपलम्भ नियमके स्वरूप की सिद्धि नहीं होती। इससे सहोपलम्भ नियमहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ठहरता है और अनुमान नहीं बनता। ऐसी हालतमें असिद्ध अनुमानद्वारा सिद्ध किये जानेवाले ज्ञान और अर्थके अभेद द्वारा प्रत्यक्ष का भ्रान्तत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? (ग) तथा, यदि प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो, तो अनुमानका विषय अबाधित सिद्ध होनेसे अनुमानकी उत्पत्ति हो, तथा अनुमान की उत्पत्ति होने पर प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो—इस प्रकार अनुमान और प्रत्यक्षके परस्पर अन्योन्याश्रित होनेसे अन्योन्याश्रय दोष दुर्निवार हो जाता है। इसलिये प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे भी ज्ञान और पदार्थमें अभेद सिद्ध नहीं होता। तथा, यथार्थ का अभाव होने पर पदार्थों के निश्चित स्थानकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। इसलिये विवक्षित स्थानमें ही अमुक पदार्थ का आरोप करना चाहिये, अन्यत्र नहीं, इस नियम का कारण नहीं बन सकता।

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग वासनाद्वारा प्रतिनियत स्थानमें रहनेवाले पदार्थोंका ज्ञान करते हैं। (पदार्थके प्रतिनियत स्थानमें रहनेसे उस स्थानका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, परन्तु हम वासनाके द्वारा अमुक पदार्थके अमुक स्थानमें स्थित रहनेका ज्ञान करते हैं। अतएव बाह्य पदार्थोंका ज्ञान हमारी वासनाके कारण होता है, वास्तवमें बाह्य पदार्थ स्वतन्त्र वस्तु नहीं है)। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि हम वासनासे पदार्थके प्रतिनियत स्थानका ज्ञान नहीं कर सकते। पदार्थके होनेपर ही जिस स्थानमें पदार्थका अस्तित्व होता है, उसी स्थानमें पदार्थका ज्ञान होता है, और उसी स्थानमें पदार्थज्ञानपूर्वक वासना उत्पन्न होती है। बाह्य पदार्थका अभाव होनेपर केवल उस वासना द्वारा पदार्थके प्रतिनियत स्थानका निश्चय कौन कर सकता है? अतएव यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो प्रतिनियत स्थानके निश्चयका कोई नियम नहीं बन सकता।

अथास्ति तावदारोपनियमः । न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते । बाह्यश्चार्थो नास्ति । तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत्, तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकाराद्न्यत्, अनन्यद्वा ? अनन्यच्चेत्, बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेषः । अन्यच्चेत्, अर्थे कः प्रद्वेषः, येन सर्वलोकप्रतीतिरपह्नूयते ? तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः ॥

तथा च प्रयोगः । विवादाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात् । विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः, अर्थस्य च बहिः, ज्ञानस्यापरकाले, अर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात्, ज्ञानस्यात्मनः सकाशात्, अर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः । ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वात्, अर्थस्य च जडरूपत्वादिति । अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि सङ्गतिमङ्गति । न च दृष्टमपह्नोतु शक्यमिति ॥

अत एवाह स्तुतिकारः—'न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्' इति । सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित् । स्वसंवेदनपक्षे तु संवेदनं संवित् ज्ञानम्, तस्या अद्वैतम्, द्वयोर्भावो, द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकेऽणि[1] । न द्वैतमद्वैतम्, बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वं । संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः । तस्य पन्थाः मार्गः संविदद्वैतपथस्तस्मिन् ज्ञानाद्वैतवादपक्ष इति यावत् । किमित्याह । नार्थसंवित् । येयं बहिर्मुखतयार्थप्रतीतिः साक्षादनुभूयते सा न घटते इत्युपस्कारः । एतच्चानन्तरमेव भावितम् ॥

एवं च स्थिते सति किमित्याह । विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् इति । सुगतो मायापुत्रः । तस्य सम्बन्धि तेन परिकल्पितं क्षणक्षयादि वस्तुजातम् । इन्द्रजालमिवेन्द्रजालं, मतिव्यामोह-

विज्ञानवादी—पदार्थके प्रतिनियत स्थानका निश्चय होता है। विशिष्ट कारणके विना विशिष्ट कार्यकी सिद्धि नहीं होती। और बाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं। अतएव पदार्थके प्रतिनियत स्थानके निश्चय करनेमे वासना वैचित्र्य ही कारण है। जैन—हम पूछते हैं कि यह वासना वैचित्र्य ज्ञानके आकारसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? यदि वासना वैचित्र्य ज्ञानके आकारसे अभिन्न है तो ज्ञानका आकार एकरूप होनेसे नानाविध वासनाओंमे परस्पर भेद कैसे हो सकता है ? यदि वासना-वैचित्र्य ज्ञानके आकारसे भिन्न है, तो ज्ञानसे बाह्य पदार्थोका भेद माननमें ही क्या आपत्ति है ? अतएव ज्ञान पदार्थको परस्पर भिन्न ही मानना चाहिये।

प्रयोग निम्न प्रकार है—विवादाध्यासित नील आदि पदार्थ ज्ञानसे भिन्न है, क्योंकि ज्ञान पदार्थ विरुद्ध धर्मोसे युक्त हैं। ज्ञान शरीरके अन्दर होता है, और पदार्थ शरीरके बाहर। पदार्थदर्शनके उत्तरकालमे पदार्थज्ञानका सद्भाव होता है, तथा पदार्थज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें ज्ञानका विषय बननेवाले पदार्थका सद्भाव रहता है। ज्ञान आत्मासे उत्पन्न होता है, पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। ज्ञान प्रकाशरूप है, ज्ञेय पदार्थ जडरूप है। अतएव ज्ञान और पदार्थ परस्पर विरुद्ध धर्मोसे युक्त हैं। इसलिये ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर बाह्यरूपसे अनुभव किये जानेवाले पदार्थोका ज्ञान सगत नहीं हो सकता। तथा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले बाह्य पदार्थोका निषेध करना शक्य नहीं।

अतएव स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्यने कहा है कि 'ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर पदार्थोका ज्ञान नहीं हो सकता' (न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्)। जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तुका ज्ञान हो, उसे ज्ञान (संवित्) कहते है। बाह्य पदार्थोका निषेध करके केवल एक ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करना अद्वैत है। इस ज्ञानाद्वैतके माननेपर पदार्थोकी बाह्य रूपसे प्रतीति नहीं हो सकती।

अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणस्थायी हैं,' 'ज्ञान और पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं' आदि मायापुत्र बुद्धके सिद्धान्त बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण इन्द्रजालकी तरह विशीर्ण हो जाते है। जिस

१ प्रज्ञादिभ्योऽण । हैमसूत्रे ७-२-१६५ ।

विधातृत्वात् । सुगतेन्द्रजालं सर्वमिदं विलूनशीर्णम् । पूर्वं विलूनं पश्चात् शीर्णं विलूनशीर्णम् । यथा किञ्चित् तृणस्तम्बादि विलूनमेव शीर्यते विनश्यति, एवं तत्कल्पितमिदमिन्द्रजालं तृणप्रायं धारालयुक्तिशस्त्रिकया[1] छिन्नं सद्विशीर्यत इति । तथवा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्र-जालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुततोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विदग्धं जनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनु-रिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति, तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्रमाणतत्तत्फलाभेदक्षण-क्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणानभिज्ञं लोकं व्यामोह्यमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरारुतामेव[2] सेवत इति । अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः । सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगतं इत्युशन्ति । ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता, येनेत्थमयुक्तियुक्त-मुक्तम् ॥ इति काव्यार्थः ॥१६॥

प्रकार बाजीगरका इन्द्रजाल मिथ्या होनेसे थोडे समयके लिये अद्भुत् अद्भुत वस्तुओंका प्रदर्शन करके भोले लोगोंको ठग कर इन्द्रधनुषकी तरह विलीन हो जाता है, उसी प्रकार 'प्रमाण और फल अभिन्न हैं,' 'सब पदार्थ क्षणिक है,' ज्ञान और पदार्थमे परस्पर अभेद है' आदि सिद्धान्तोंसे भोले प्राणियोंको व्यामोहित करनेवाले बुद्धके सिद्धान्त युक्तियोंसे जर्जरित हो जाता है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—इस कारिकामे वौद्धोके चार सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। बौद्ध—(१) प्रमाण और प्रमिति अभिन्न है। क्योंकि ज्ञान ही प्रमाण और प्रमाणका फल हे, कारण कि वह अधिगमरूप हे। ज्ञानसे पदार्थ जाने जाते हे, इसलिये ज्ञान प्रमाण हें। तथा पदार्थों को जाननेके अतिरिक्त ज्ञानका दूसरा कोई फल नही हो सकता, इसलिए ज्ञान ही प्रमाणका फल है। प्रमाण और प्रमितिमे प्रमाण कारण हे, और प्रमाणका फल प्रमाणका कार्य है। जैन—(क) यदि प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हे, तो वे दोनों एक साथ उत्पन्न होने चाहिए। इसलिए प्रमाण और प्रमितिमे कार्य-कारण सम्बन्ध नही वन सकता। क्योंकि कारण सदा कार्यके पहले ही उत्पन्न होता हे (ख) प्रमाण और प्रमितिको क्रमभावी मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वौद्धोंके मतमे प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमे नष्ट होनेवाली है। अतएव प्रमाणका निरन्वय-विनाश होनेसे प्रमाणसे प्रमितिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। (ग) प्रमाण और प्रमितिमें कोई सम्बन्ध नही हो सकना क्योंकि प्रमाण और प्रमिति दोनों क्षण-क्षणमे नष्ट होनेवाले हैं। तथा प्रमाण और प्रमितिमे रहनेवाले कार्य-कारण सम्बन्धका ज्ञान दो वस्तुओंका ज्ञान होनेपर ही हो सकता है।

सौत्रान्तिक बौद्ध—हम प्रमाण और प्रमितिमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध मानते है, कार्य-कारण सम्बन्ध नही। ज्ञान पदार्थको जानते समय पदार्थके आकारको धारण करके पदार्थका ज्ञान करता है। वास्तवमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। जिस समय ज्ञानमे अमुक पदार्थके आकारका अनुभव होता है, उस समय उस पदार्थका ज्ञान होता है। इसलिए प्रमाण प्रमितिको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह प्रमितिकी व्यवस्था करता हे। जिस समय ज्ञान नील घटके आकार होकर नील घठको जानता हैं, उस समय ज्ञानमे नील घटका सारूप्य व्यवस्थापक हे, और घटका नीलरूप ज्ञान व्यवस्थाप्य हे। पदार्थोंका जाननेवाला ज्ञान नील घटके आकारको धारण करके ही नील घटको जानता है। अतएव प्रमाण और प्रमितिमे व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध स्वीकार करनेसे एक ही वस्तुमे प्रमाण और प्रमितिके माननेसे विरोध नहीं आता। जैन—(क) निरंश क्षणिक विज्ञानमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध नही वन सकता। क्योंकि व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सम्बन्ध दो पदार्थोमे ही रह सकता है। (ख) ज्ञान को अर्थाकार माननेमे ज्ञानको जड प्रमेयके आकार माननेसे ज्ञानको भी जड मानना चाहिए। तथा, ज्ञानको पदार्थाकार माननेमें 'यह नील पदार्थ है' ऐसा ज्ञान न होकर 'मैं नील हू इस प्रकारका ज्ञान होना चाहिये। तथा जल-चन्द्रके

१ तीक्ष्णधारायुक्तशस्त्रिका।
२ विशीर्णशीलता।

आकाश-चन्द्रके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रसे आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता। (ग) यदि प्रमाण और प्रमिति सर्वथा अभिन्न होते, तो आप लोग सारूप्यको प्रमाण और ज्ञानसंवेदनको प्रमिति मानकर प्रमाण और उसके फलको अलग अलग नहीं मानते। अतएव प्रमाण और प्रमितिको सर्वथा अभिन्न न मानकर उन्हे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए।

बौद्ध—(२) सम्पूर्ण विद्यमान पदार्थ क्षणिक है, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है। पदार्थोंका नश्वर स्वभाव दूसरेके ऊपर अवलम्बित नही है। यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो दूसरी वस्तुओंके संयोग होनेपर भी पदार्थ नष्ट न होने चाहिये। पदार्थोंका यह नाशमान स्वभाव पदार्थोंकी आरम्भ और अन्त दोनों अवस्थाओंमे समान है। इसीलिए प्रत्येक पदार्थ क्षणस्थायी है। अतएव जो घट हमे नित्य दिखाई देता है, वह भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। घटका प्रत्येक पूर्वक्षण उत्तरक्षणको उत्पन्न करता है। ये समस्त क्षण परस्पर इतने सदृश हैं कि घटके क्षण-क्षणमें नष्ट होनेपर भी घट एकरूप ही दिखाई देता है। अतएव क्षणोंकी पारस्परिक सादृश्यताके कारण ही हमें अविद्याके कारण घटमे एकत्वका ज्ञान होता है। जैन—पूर्व और उत्तरक्षणोंका एक साथ अथवा क्रमसे उत्पन्न होना नही बन सकता, अतएव पदार्थोंको क्षणिक मानना ठीक नही है। तथा क्षणिकवादी निरन्वय विनाश मानते हैं, अतएव क्षणिकवादका सिद्धान्त एकान्तरूप होनेसे सत्य नही कहा जा सकता। इसलिए पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप ही स्वीकार करना चाहिए। यही सत्‌का लक्षण है। जिस समय मनुष्य गर्भमें आता है, उस समय जीवका उत्पाद होता है, और उसी समयसे उसकी आयुके अंगोंकी हानि होना प्रारम्भ हो जाती है, इसलिए उसका व्यय होता है, तथा जीवत्व दशाके सदा ध्रुव रहनेसे जीवमें ध्रौव्य पाया जाता है। अतएव पर्यायोंकी अपेक्षासे ही पदार्थोंको क्षणिक मानना चाहिये। द्रव्यकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य ही हैं।

वैभाषिक बौद्ध—(३) ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होता है उसी पदार्थको जानता है। अतएव पदार्थ कारण है, और ज्ञान कार्य है। जैसे अग्निका धूम कारण है, क्योंकि अग्नि और धूमका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। इसी तरह पदार्थ भी ज्ञानका कारण है, क्योंकि पदार्थ ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेकसे सम्बद्ध है। यदि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न न हो, तो घड़ेके ज्ञानसे घड़ेका ही ज्ञान होना चाहिये, अन्य पदार्थोंका नही यह व्यवस्था नहीं बन सकती। जैन—(क) बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं। अतएव जब तक एक पदार्थ बनकर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। तथा जिस क्षणमे ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है। अतएव पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। (ख) क्रमसे होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव हो सकता है, परन्तु बौद्धमतमें कोई भी वस्तु क्षण मात्रसे अधिक नहीं ठहरती। अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थका नाश हो जानेसे पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होनेके पहले ही पदार्थ नष्ट हो जाता है। (ग) पदार्थको ज्ञानका सहभावी माननेसे भी पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमे कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बन सकता। (घ) यदि पदार्थको ज्ञानमे कारण माना जाय, तो इन्द्रियोंको भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिया भी ज्ञान पैदा करती है। (च) ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थके ऊपर अवलम्बित नही है, कारण कि मृगतृष्णामें जलरूप पदार्थके अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है। अतए जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहाँ पदार्थ न हो, वहाँ ज्ञान न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक सम्बन्ध सिद्ध न हो, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नही कह सकते। (छ) योगियोंके अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत, अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है। अतएव अतीत, अनागत पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते। (ज) प्रकाश्य रूप अर्थसे प्रकाशक रूप ज्ञानकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि घट दीपकसे उत्पन्न नहीं होता, फिर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है। (झ) ज्ञानकी पदार्थसे उत्पत्ति मानकर ज्ञानको पदार्थका ज्ञाता माननेसे स्मृतिको भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्मृति किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार एक स्वस-

वेदन ज्ञानमे क्रियाका अभाव होनेसे कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। क्योंकि स्वसवेदनसे स्वसवेदनकी उत्पत्ति नही होती। (ट) कपालके प्रथम क्षणसे घटका अतिम क्षण उत्पन्न होता हैं, परन्तु कपालके प्रथम क्षणसे घटके अतिम क्षणका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार समानजातीय ज्ञानसे समनन्तर ज्ञानके उत्पन्न होनेपर समानजातीयसे समनन्तर ज्ञानका ज्ञान नही होता। (ठ) अतएव जिस समय ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे आत्मामे क्षय और उपशमरूप योग्यता होती हे, उसी समय प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान स्वीकार करना चाहिए।

योगाचार (बौद्ध)—(४) ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि ज्ञानका कारण कोई वाह्य पदार्थ नहीं है। बाह्यार्थवादी परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते है, अथवा स्थूल अवयवीरूप पिंडको? प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे परमाणुरूप वाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नही होती, अतएव वाह्य पदार्थ परमाणुरूप नहीं हो सकते। तथा वाह्य पदार्थोंकी परमाणुरूप सिद्धि न होनेसे उन्हे स्थूल अवयवी भी नही कह सकते क्योंकि परमाणुओंके समूहको अवयवी कहते हैं। अतएव जो नील, पीत आदि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, वे सब ज्ञानरूप ही है। जिस प्रकार बाह्य आलम्बनके बिना आकाशमें केशका ज्ञान होता है, उसी तरह अनादि कालकी अविद्याकी वासनासे वाह्य पदार्थोंके अवलम्बनके बिना ही घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। वास्तवमें स्वयं ज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहकरूप प्रतिभासित होता है। **जैन** (क) यदि वाह्य पदार्थोंको ज्ञानका विषय नहीं माना जाय, तो ज्ञानको निर्विषय माननेसे ज्ञानको अप्रमाण मानना पडेगा। वास्तविक वाह्य पदार्थोंके बिना हमें ज्ञान मात्रसे ही पदार्थोंका पतिभास नहीं हो सकता। ज्ञानसे वाह्य पदार्थोंका ज्ञान होना अनुभवसे सिद्ध है। (ख) परमाणुरूप बाह्य पदार्थकी प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्धि होती है। क्योंकि हम परमाणुओंके कार्य घट अदिके प्रत्यक्षसे परमाणुओंका कथचित् प्रत्यक्ष करते है। इसलिये परमाणुओंकी अनुमानसे भी सिद्धि होती है, क्योंकि परमाणुओंके अस्तित्वके बिना घट आदि स्थूल अवयवीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अवयव (परमाणु) और अवयवीका हमलोग कथचित् भेदाभेद स्वीकार करते हे, उतएव वाह्य पदार्थोंको परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप मानना चाहिये। (ग) वासना-वैचित्र्यसे भी पदार्थोंका नाना रूप प्रतिभासित मानना ठीक नहीं। क्योंकि बाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना उत्पन्न होती हैं। तथा ज्ञान और वासनाको अलग-अलग माननेसे ज्ञानाद्वैत नहीं वन सकता।

योगाचार—'जो जिसके साथ उपलब्ध नहीं होता हैं, वह उससे अभिन्न है। जैसे आकाश-चन्द्रमा जल-चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, इसलिये दोनों परस्पर अभिन्न है। इसी तरह ज्ञान और पदार्थ एक साथ उपलब्ध होते है। अतएव ज्ञान और पदार्थ एक दूसरेसे अभिन्न है'—इस अनुमानसे ज्ञान और पदार्थकी अभिन्नता सिद्ध होती है। **जैन**—यह अनुमान सदिग्धानैकातिक हेत्वाभास है। क्योंकि ज्ञानसे जाने हुए नील और नीलज्ञानमें सहोपलभ नियम होनेपर भी उनमे अभिन्नता नहीं पायी जाती। तथा सहोपलभ नियम पक्षमे नहीं रहनेके कारण असिद्ध भी है। क्योंकि ज्ञान और पदार्थमे अभेद सिद्ध नहीं होता। तथा, बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेसे, यह वस्तु इसी स्थानपर ह, दूसरे स्थानपर नहीं, यह नियम नहीं वन सकता। अतएव नील, पीत आदि ज्ञानसे भिन्न है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय परस्पर विरोधी हें। ज्ञान अन्तरंग है, ज्ञेय वाह्य, ज्ञान ज्ञेयके पश्चात् उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञानके पूर्व, ज्ञान आत्मामे उत्पन्न होता है, ज्ञान अपने भिन्न कारणोंसे तथा ज्ञान प्रकाशक हें, और ज्ञेय जड है। अतएव विज्ञानाद्वैतको न मान कर ज्ञान और वाह्य पदार्थोंका परस्पर भेद मानना चाहिये।

अथ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणादिचतुष्टयव्यवहारापलापिनः शून्यवादिनः सौगतजातीयांस्तत्कक्षीकृतपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकारानङ्गीकारलक्षणपक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थासिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह—

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥१७॥

शून्यः शून्यवादी प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पदं प्रतिष्ठां नाश्नुवीत न प्राप्नुयात् । किंवत् ? परवत् इतरप्रामाणिकवत् । वैधर्म्येणायं दृष्टान्तः । यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधकतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते एवं नायम् । अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात्, "सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिःसदसत्त्वमपेक्ष्यते" इत्यादिवचनात् । अप्रमाणकश्च शून्यवादाभ्युपगमः कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति, प्रेक्षावत्त्वव्याहतिप्रसंगात् ॥

अत चेत् स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते, तत्रायमुपालम्भः कुप्येदित्यादि । प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय, प्रकरणादस्मै शून्यवादिने, कृतान्तस्तत्सिद्धान्तः कुप्येत्कोपं कुर्यात्, सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः । यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्वमपहरति, एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादित्वमपहरति ।

इसके बाद तत्त्वोंके व्यवस्थापक प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाताके व्यवहारका लोप करनेवाले शून्यवादी बौद्धोंके पक्षका खंडन करते हुए उसका उपहास करते हैं—

श्लोकार्थ—दूसरे वादी प्रमाणोंको मानते हैं, इसलिये उनके मतकी सिद्धि हो सकती है। परन्तु शून्यवादी प्रमाणके बिना अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर सकते। यदि शून्यवादी किसी प्रमाणको माने, तो शून्यतारूपी यमके कुपित होनेसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती। हे भगवन्! आपके मतसे ईर्ष्या रखनेवाले लोगोंने जो कुछ कुमतिज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है, वह मिथ्या होनेके कारण उपहासके योग्य हैं ॥

व्याख्यार्थ—शून्यवादी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको बिना माने ही स्वमान्य शून्यवादके सिद्धान्तको सिद्ध करना चाहते है, जो सिद्ध नहीं हो सकता। कैसे ? प्रमाणों को स्वीकार करनेवाले अन्य दार्शनिकोंके समान। यह वैधर्म्य दृष्टान्त हैं। जैसे अन्य प्रामाणिक साधकतम (साध्य की सिद्धि करनेवाले) प्रमाण के द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि कर सकते है, उस प्रकार शून्यवादी (साधकतम) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को माने बिना अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर सकते। क्योंकि इनके मतमें प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाणका व्यवहार अपारमार्थिक—अवास्तविक—माना गया हे। कहा भी है, "बुद्धि पर आरूढ हुए धर्म-धर्मि सबंधके कारण समस्त अनुमान-अनुमेय व्यवहार बाह्य पदार्थके कारण सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं करता" अर्थात् बाह्य पदार्थ का सद्भाव हो या असद्भाव, वह समस्त अनुमान-अनुमेय व्यवहार काल्पनिक धर्म-धर्मिके सबंधसे रहता हे। शून्यवाद की सिद्धि करनेवाले प्रमाणों का अभाव होनेसे शून्यवाद की मान्यता बुद्धिमानों द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती, क्योंकि इससे उनकी बुद्धिमत्ताके आहत होनेका प्रसंग उपस्थित होता है।

यदि शून्यवादी अपने सिद्धांतको सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण दे, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका आश्रय लेनेके कारण शून्यवादियोंका सिद्धान्त बाधित होता है। जिस प्रकार कोई राजा अपने सेवकके अवाछनीय आचरणसे कुपित होकर सेवकका सर्वस्व हरण कर लेता हे, वैसे ही शून्यवादका सिद्धांत शून्यवादके विरुद्ध प्रमाण आदि व्यवहारको स्वीकार करनेवाले शून्यवादीका सर्वस्व हरण करता है। अतएव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती।

किञ्च, स्वागमोपदेशेनैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः, प्रमाणाङ्गीकरणात् । किञ्च, प्रमाणं प्रमेयं विना न भवतीति प्रमाणानङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूकतैव युक्ता, न पुनः शून्यवादोपन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बरं । शून्यवादस्यापि प्रमेयत्वात् । अत्र च स्पृशिधातुं कृतान्तशब्दं च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्रायः । यद्यसौ शून्यवादी दूरे प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारो यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते, तदा तस्मै कृतान्तो यमराजः कुप्येत् । तत्कोपो हि मरणफलः । ततश्च स्वसिद्धान्तविरुद्धमसौ प्रमाणयन् निग्रहस्थानापन्नत्वाद् मृत एवेति ॥

एवं सति अहो इत्युपहासप्रशंसायाम् । तुभ्यमसूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्तीत्येवं शीलास्त्वदसूयिनस्तैस्तन्त्रान्तरीयैर्दृष्टं मत्यज्ञानचक्षुषा निरीक्षितमहो । सुदृष्टं साधु दृष्टम् । विपरीतलक्षणयोपहासान्न सम्यग् दृष्टमित्यर्थः । अत्रासूयधातोस्ताच्छीलिकणक्प्राप्तावपि बाहुलकाण्णिन् । असूयास्त्येषामित्यसूयिनस्त्वय्यसूयिनः त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्तं वा । त्वदसूयुदृष्टमिति पाठेऽपि न किञ्चिद्चारु । असूयुशब्दस्योदन्तस्योदयनाद्यैर्न्यायतात्पर्यपरिशुद्ध्यादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति ॥

इह शून्यवादिनामयमभिसंधिः । प्रमाता प्रमेयं प्रमाणं प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पितमवस्त्वेव, विचारासहत्वात्, तुरङ्गशृङ्गवत् । तत्र प्रमाता तावदात्मा, तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वाभावादभावः । तथाहि । न प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिरिन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वात् । यत्तु अहङ्कारप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वसाधनम् तदप्यनैकान्तिकम् । तस्याहं गौरः श्यामो

तथा, शून्यवादी लोग अपने आगमके अनुकूल ही शून्यवादियोंका प्ररूपण करते हैं । अतएव आगम माननेसे शून्यवादियोंके सिद्धांतकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आगम प्रमाण माननेसे सर्वथा शून्यपना नहीं बनता । तथा, प्रमाण प्रमेयके विना नहीं हो सकता, अतएव कोई प्रमाण न माननेसे प्रमेय भी नहीं बन सकता, अतएव शून्यवादियोंको शून्यवादकी स्थापना करनेका आडम्बर न रचते हुए मौन रहना ही ठीक है । क्योंकि शून्यवाद भी प्रमेयमे ही गर्भित होता है, तथा, शून्यवादियोंके मतमे प्रमेय कोई वस्तु नहीं है । यहाँ पर स्तुतिकारका स्पृश् धातु और कृतान्त शब्दके प्रयोग करनेसे आचार्यका यही अभिप्राय है कि शून्यवादी लोग शून्यवादकी सिद्धि करनेके लिये प्रमाणका स्पर्श भी करें, तो कृतान्त (यमराज तथा सिद्धान्त) कुपित हो जाता है । अतएव जिस प्रकार यमराजके कुपित होनेसे जीवकी मृत्यु होती है, उसी प्रकार प्रमाणोंका आश्रय लेनेसे शून्यवादी निग्रहस्थानमे पड, अपने सिद्धान्तकी स्थापना नहीं कर सकता, इसलिये वह मृत ही है ।

'अहो' शब्द उपहास और प्रशंसा अर्थमे प्रयुक्त होता है । अतएव हे भगवन्, तुम्हारे गुणोंमें ईर्ष्या रखनेवाले अन्यमतावलम्बियोंने जो कुमतिज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है, वह विपरीत लक्षण होनेके कारण उपहासके योग्य है । यहाँ असूय् धातुमे 'णक्' प्रत्यय होनेसे 'असूयक' शब्द बनना चाहिये था, परन्तु बहुलतासे असूय् धातुमें 'णिन्' प्रत्यय होनेपर 'असूयि' शब्द बना है । अथवा जिनके 'असूया' हो वे असूयी हैं । यहाँ असूया शब्दसे मत्वर्थमें 'इन्' प्रत्यय करनेसे 'असूयी' शब्द बनता है । अथवा, 'असूयु' शब्द भी अशुद्ध नहीं है । उदयन आदि आचार्योंने न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि आदि ग्रन्थोंमे 'असूयु' शब्दका प्रयोग मत्सरी के अर्थमे किया है ।

पूर्वपक्ष—शून्यवादी—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों तत्त्वचतुष्टय अवस्तु है, क्योंकि इनका विचार करनेपर खरविषाणकी तरह प्रमाण आदिकी व्यवस्था नहीं बनती । (क) प्रमाता आत्मा है । आत्मा किसी प्रमाणमे सिद्ध नहीं होती, अतएव आत्माका अभाव है । तथाहि—आत्मा इन्द्रियोंका विषय नही है, इसलिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि नही हो सकती । यदि कहो कि 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माकी सिद्धि होती है, तो यह अनैकांतिक है । क्योंकि 'मै गोरा हूँ',

वेत्यादौ शरीराश्रयतयाप्युपपत्तेः। किञ्च, यद्ययमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात् तदा न कादाचित्कः स्यात्। आत्मनः सदा सन्निहितत्वात्। कादाचित्कं हि ज्ञानं, कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टम्। यथा सौदामिनीज्ञानमिति। नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाग्रहणात्। आगमानां च परस्परविरुद्धार्थवादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम्। तथाहि। एकेन कथमपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितः, अभियुक्ततरेणापरेण स एवान्यथा व्यवस्थाप्यते। स्वयमव्यवस्थितप्रामाण्यानां च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम्। इति नास्ति प्रमाता॥

प्रमेयं च बाह्योऽर्थः, स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपक्षणे निर्लोठितः। प्रमाणं च स्वपरावभासि ज्ञानम्। तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु, निर्विषयत्वात्। किंच, एतत् अर्थसमकालम्, तद्भिन्नकालं वा तद्ग्राहकं कल्प्येत? आद्यपक्षे, त्रिभुवनवर्तिनोऽपि पदार्थास्तत्रावभासेरन्, समकालत्वाविशेषात्। द्वितीये तु, निराकारम् साकारम् वा तत्स्यात्? प्रथमे, प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः। द्वितीये तु, किमयमाकारो व्यतिरिक्तो अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात्? अव्यतिरेके, ज्ञानमेवायम्, तथा च निराकारपक्षक्षेपः। व्यतिरेके, यद्ययं चिद्रूपस्तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात्। तथा चायमपि निराकारः साकारो वा तद्वेको भवेत्?

'मै काला हू' इस प्रकारका ज्ञान शरीरमें भी होता है। तथा, यदि 'अह प्रत्यय' से आत्माका ज्ञान होता है, तो यह 'अह प्रत्यय' आत्मामें सदा होना चाहिये, कभी-कभी नही। क्योंकि आत्मा सदा विद्यमान है। ज्ञान सदा विद्यमान नहीं रहता, इसलिये वह कभी-कभी उत्पन्न होता है, बिजली के ज्ञानकी तरह ज्ञान अनित्य कारणोंसे ही उत्पन्न होता है। अतएव आत्मामें सदा ही 'अह प्रत्यय' होना चाहिये। अनुमानसे भी आत्मा सिद्ध नहीं होती। क्योंकि आत्माको ग्रहण करनेवाला कोई निर्दोष हेतु नहीं है। तथा, आगम परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये आगमसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथाहि—जिस पदार्थको एक शास्त्र अमुक प्रकारसे प्रतिपादन करता है, उसी पदार्थको दूसरा दूसरी तरहमे कहता है। अतएव आगमके स्वय अव्यवस्थित होनेके कारण आगमसे दूसरे तत्त्वोंकी व्यवस्था नही बन सकती। अतएव प्रमाता आत्माका अस्तित्व मानना ठीक नहीं है।

(ख) जिसे प्रमेय कहते हैं वह बाह्य अर्थ है। बाह्य अर्थका परिहार करते समय उसको खडन किया जा चुका है।

(ग) स्व और परके जाननेवाले ज्ञानको प्रमाण अर्थात् प्रमिति क्रिया का कारण कहते है। प्रमेयके अभावमे प्रमाणभूत ज्ञानके विषयका अभाव हो जानेसे, वह प्रमाणभूत ज्ञान किसका ग्राहक होगा, क्योंकि उसके पास कोई विषय ही नहीं है। तथा, अर्थके अस्तित्वकालमें विद्यमान ज्ञान पदार्थको जानता है, अथवा जिस कालमें अर्थका सद्भाव होता है, उससे भिन्नकालमें प्रमाणभूत ज्ञान पदार्थको जानता है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर तीनों लोकोंके पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित होने चाहिये, क्योंकि ज्ञान सभी पदार्थोंके समकालीन है। द्वितीय पक्षमें, वह ज्ञान निराकार (ज्ञेयाकार शून्य) होता है या ज्ञेयाकार सहित? यदि पदार्थके सद्भावके भिन्नकालमें होनेवाला ज्ञान निराकार है तो प्रतिनियत पदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धि न हो सकेगी। यदि पदार्थके सद्भावकालसे भिन्नकालमें होनेवाला ज्ञान साकार (पदार्थके आकारवाला) है तो वह पदार्थका आकार ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न? यदि पदार्थके सद्भावकालसे भिन्नकालमे होनेवाले ज्ञानसे पदार्थोंका आकार भिन्न न हो तो यह पदार्थका आकार ज्ञानरूप ही होगा, और पदार्थका आकार ज्ञानरूप होनेसे निराकार पक्षमें जो दोष आता है, वही दोष यहां भी उपस्थित होगा, अर्थात् प्रतिनियत पदार्थके ज्ञानकी सिद्धि नहीं होगी। यदि पदार्थके कालसे भिन्नकालमें होनेवाले ज्ञानसे पदार्थका आकार भिन्न है तो वह चिद्रूप है या अचिद्रूप? यदि यह आकार चिद्रूप है तो वह पदार्थके आकारका भी ज्ञाता होगा। तथा, पदार्थके आकारका ज्ञाता होनेपर, यह आकार निराकार अथवा साकार होता हुआ

इत्यावर्त्तनेनानवस्था । अथ अचिद्रूपः, किमज्ञातः ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात् । प्राचीनविकल्पे, चैत्रस्येव मैत्रस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात् । तदुत्तरे तु, निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन, तस्यापि ज्ञानं स्यात् । इत्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति ॥

इत्थं प्रमाणाभावे तत्फलरूपा प्रमितिः कुतस्तनी । इति सर्वशून्यतैव परं तत्त्वमिति । यथा च पठन्ति—

"यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा
यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥[१]

इति पूर्वपक्षः । विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम् ॥

अत्र प्रतिविधीयते । ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तम्

पदार्थोंका ज्ञाता होता है क्या? इस प्रकार फिर फिरसे प्रश्न उपस्थित होनेपर अनवस्था दोष उपस्थित होता है। यदि वह पदार्थका आकार चिद्रूप न हो तो क्या वह ज्ञात आकार पदार्थका ज्ञान कराता है या अज्ञात आकार? यदि अज्ञात पदार्थका आकार पदार्थका ज्ञान कराता है तो वह अज्ञात आकार, चैत्र और मैत्र द्वारा अज्ञात होनेसे, जिस प्रकार चैत्रको पदार्थका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार मैत्रको भी पदार्थका ज्ञान करायेगा। यदि पदार्थका आकार ज्ञात होनेपर पदार्थका ज्ञान कराता है तो क्या उस आकारका ज्ञान आकारशून्य ज्ञानसे होता है या आकारसहित ज्ञानसे? इस प्रकार फिर फिरसे प्रश्न उपस्थित होनेपर अनवस्था दोष ही उपस्थित होता है।

(घ) प्रमाणकी सिद्धि न होनेपर प्रमाणका फल प्रमिति भी सिद्ध नहीं होती अतएव सर्वथा शून्यता ही वास्तविक तत्व है। कहा भी है—

"जैसे जैसे तत्वोंका विचार करते है, वैसे वैसे तत्त्व विशीर्ण होते है। वास्तवमें पदार्थोंका स्वरूप ही इस तरहका है, इसमे हमारा दोष नहीं।"

प्रमाणका विस्तृत खडन तत्त्वोपप्लवसिह[२] नामक ग्रन्थमे देखना चाहिये।

उत्तरपक्ष—जैन—देवानाप्रिय बौद्ध लोगोंने शून्यवादकी स्थापना करनेके लिये जो वाक्य कहा है, वह

---

१ बुद्ध्या विवच्यमानाना स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च कीर्तिता.
इद वस्तु बलायत यद्वदात विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥
लकावतारसूत्रे

२ यह ग्रन्थ पाटणके एक जैन भडारसे मिला है। इसके कर्ता जयराशि भट्ट है। प वेचरदास जीवराज दोशीका अनुमान है, कि ये जयराशि भट्ट ही तत्त्वोपप्लववादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंह नामसे कहे जाते थे। तत्त्वोपप्लवके अतिम दो श्लोक—

'ये याता न हि गोचरं सुरगुरोर्बुद्धेर्विकल्पा दृढा
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाषण्डदर्पच्छिदि ।
भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभि सृष्टो महार्थोदय-
स्तत्त्वोपप्लवसिंह एव इति यः ख्यातिं परा यास्यति ॥
पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्धिता ।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णुव ॥

पहले श्लोकसे स्पष्ट है कि यही ग्रन्थ तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे प्रसिद्ध था।'
देखिये 'पुरातत्त्व' ५–४, पृ २६१।

तत् शून्यम् वा अशून्यम् वा ? । शून्यं चेत्, सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नानेन किञ्चित्साध्यते निषिध्यते वा । ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था । अशून्यं चेत्, प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः । भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात् । तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती । तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधनं दूष्यते ॥

तत्र यत्तावदुक्तम् प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिः, इन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वादिति, तत्सिद्धसाधनम् ; यत्पुनः अहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तम् तदसिद्धम् । अहं सुखी अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालंबनतयैवोपपत्तेः । तथा चाहुः—

"सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते ।
मतुवर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥
इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् ।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥"[१]

यत्पुनः अहं गौरः श्यामः इत्यादिवहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणाय शरीरे प्रयुज्यते । यथा प्रियभृत्येऽहमितिव्यपदेशः ॥[२]

स्वय शून्यरूप है, या अशून्यरूप ? यदि यह वाक्य शून्यरूप है, तो समस्त इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होनेसे खरविषाणकी तरह इस वचनके द्वारा न किसीकी सिद्धि हो सकती है, और न किसीका निषेध किया जा सकता है । अतएव प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता इस प्रमाण चतुष्टयका निर्णय निर्विरोध सिद्ध हो जाता है । यदि कहो कि उक्त वाक्य अशून्यरूप है, तो तपस्वी शून्यवाद ही नष्ट हो जाता है । क्योंकि शून्यवादियोंके वचनोंको अशून्य माननेसे सर्वशून्यता नहीं बन सकती । अतएव प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता ये चारों निर्बाध सिद्ध हो जाते हैं ।

(क)—आप लोगोंने जो कहा कि 'प्रमाता इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये प्रमाता प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता' सो हम भी आत्माको प्रत्यक्षका विषय नहीं मानते, अतएव उक्त कथन हमारे लिये सिद्धसाधन है।

(ख) 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माका अस्तित्व स्वीकार करनेमे अनैकांतिक दोष' नहीं आता, क्योंकि 'मै सुखी हूँ,' 'मै दुखी हूँ' इस प्रकारका अंतरंग ज्ञान आत्मा ही के आधारसे होता है । कहा भी है—

"जिसका अनुभव किया जाता है, ऐसे सुख आदिका अनुभव स्वतंत्ररूपसे अर्थात् आत्माके बिना नहीं किया जाता । 'सुखी' शब्द मत्वर्थीय इन् प्रत्यय लगानेसे बना है । 'सुखमस्यास्मिन्वास्तीतिसुखी' इस निरुक्तिमें जो 'अस्य' पद है वह सुखके आश्रयभूत आत्माका ज्ञान कराता है । अत मतुप् प्रत्ययसे सुखके आश्रयभूत आत्मपदार्थका सूचन होनेसे, 'सुखी' शब्दसे आत्माका ग्रहण होता है ॥ जिस प्रकार 'यह घट है' ऐसा कहनेसे घट पदार्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार 'यह सुख है' ऐसा कहने पर सुख दिखाई नहीं देता । अत 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान आत्माको भी प्रकाशित करता है ।"

तथा 'मै गोरा हूँ' मै काला हूँ' इत्यादि रूप जो बहिर्मुख ज्ञान होता है, वह इसी आत्माका उपकार (सुख-दुख आदिका अनुभव करनेमें सहकारी) होनेसे, लक्षणके द्वारा, शरीरके विषयमे प्रयुक्त किया जाता

---

१. न्यायमञ्जर्याम् ।

२ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ।
—काव्यप्रकाशे मम्मट ।

यच्च अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् तत्रेयं वासना। आत्मा तावदुपयोगलक्षणः[१]। स च साकारानाकारोपयोगयोरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति। अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव। तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् इन्द्रियानिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव। यथा बीजं सत्यामप्यङ्कुरोपजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाङ्कुरं जनयति, नान्यथा। न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की, तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात्। एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्॥

यदप्युक्तम् तस्याव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति तदप्यसारं। साध्याविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः। तथाहि। रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्। यश्चास्याः कर्ता स आत्मा। न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वम्। तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनास्वतंत्रत्वात्। करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाचेतनत्वात्, परप्रेर्यत्वात्, प्रयोक्तृव्यापारनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावात्। यदि हि इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात, तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वानुभूतार्थस्मृतेः मया दृष्टम् स्पृष्टम् आस्वादितम् श्रुतम् इति प्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च

है। जैसे अपने प्रिय सेवकमे अहबुद्धि होती है, उसी प्रकार यहा अह प्रत्ययका प्रयोग आत्माके उपकारक शरीरमे होता है।

(ग) 'अह प्रत्यय'का जो कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) है, उसके विषयमें यहाँ प्रतिपादन किया गया है। आत्माका लक्षण उपयोग हैं। वह आत्मा साकार और अनाकार उपयोगमेंसे किसी एक उपयोगमे नियमसे उपयुक्त ही रहती है। 'अह प्रत्यय' भी एक प्रकारका उपयोग ही हैं। कर्मके क्षयोपशमके वैचित्र्यके कारण इन्द्रिय, मन, आलोक, विषय आदि निमित्तोंकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होनेवाले उस 'अह प्रत्यय' रूप विशिष्ट उपयोगका कादाचित्क (अनित्य) होना ठीक ही है। जिस प्रकार बीजमे अकुरके उत्पन्न करनेकी शक्तिके सदा विद्यमान रहते हुए भी पृथिवी, जल आदि सहकारी सामग्री मिलनेपर ही बीज अकुरको उत्पन्न करता है, सहकारी सामग्रीके अभावमे वह अकुरकी उत्पत्ति नही कर सकता। बीजकी अकुर उत्पन्न करनेकी क्रियाके कादाचित्क (अनित्य) होनेपर भी बीजकी अकुर उत्पादन करनेकी शक्तिको कादाचित्क नही कह सकते, क्योकि बीजकी वह अकुर उत्पादन करनेकी शक्ति कथचित् अनित्य होती है। इसी तरह आत्माके सदा विद्यमान रहनेपर भी कर्मोंके क्षय और उपशमकी विचित्रतासे इन्द्रिय, मन आदिके सहकार मिलनेपर ही 'अह प्रत्यय' होता है, जो कादाचित्क (अनित्य) होता है।

(घ) आत्माको सिद्ध करनेवाले 'व्यभिचारी हेतुका अभाव', जो कहा है, वह भी ठीक नही है। क्योंकि जिनका आत्मरूप साध्यके साथ अविनाभावी सबध विद्यमान है, ऐसे अनेक हेतु हैं: (१) रूप आदिको जाननेकी क्रियाका कर्ता विद्यमान है, क्योंकि रूप आदिको जानना क्रियारूप है, जैसे छेदन क्रिया। जैसे छेदन रूप क्रियाका कोई काटनेवाला देखा जाता है, उसी तरह रूप आदि रूप क्रियाका कोई कर्ता होना चाहिये। इन रूप आदिको जाननेकी जो क्रिया है उसका कर्ता आत्मा ही है। यदि कहो कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदिको जाननेकी क्रियाके विषयमे कर्ता है, इसलिये आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं, तो यह ठीक नहीं। क्योकि जिस प्रकार कुठार आदि करण होनेसे किसी दूसरे कर्ताके आधीन रहते है, उसी तरह इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिये वे भी परतत्र है। तथा, इन्द्रियाँ पौद्गलिक होनेसे अचेतन होनेके कारण, दूसरेकी प्रेरणासे कार्य करनेके कारण और प्रयोक्ताकी क्रियाकी अपेक्षाके अभावमे उनकी प्रवृत्ति न होनेके कारण, वे करणरूप हैं। यदि स्वय इन्द्रियाँ ही रूप आदिको जाननेकी क्रियाकी कर्ता हों, तो इन्द्रियोंके नष्ट होनेपर, इन्द्रियोंसे पूर्वकालमें अनुभूत पदार्थोंका स्मरण नहीं

१. बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः। राजवार्तिके पृ, ८२।

कुतः संभवः । किञ्च, इन्द्रियाणा स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपरसयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम् । अस्ति च तथाविधफलादेः रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचरितरसानुस्मरणम्, दन्तोदकसंप्लवान्यथानुपपत्तेः । तस्मादुभयोर्गवाक्षयोरन्तर्गतः प्रेक्षक इव द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्या रूपरसयोर्द्रष्टा कश्चिदेकोऽनुमीयते । तस्मात्करणान्येतानि यश्चैषां व्यापारयिता स आत्मा ॥

तथा साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत् । शरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम्, विशिष्टक्रियाश्रयत्वात्, रथवत् । यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, सारथिवत् । तथात्रैव पक्षे, इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रयत्वाद् भस्त्रावत् । वायुश्च प्राणापानादिः । यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, भस्त्राध्मापयितृवत् । तथात्रैव पक्षे, इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वाद्, दारुयन्त्रवत् । तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतम्, वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वाद्, गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत् । वृक्षादिगतेन वृद्धयादिना व्यभिचार इति चेत्, न । तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात् । यश्चैषा कर्ता, स आत्मा, गृहपतिवत् । वृक्षादीना च [2]सात्मकत्वमाचाराङ्गादेरवसेयम् । किंचिद्वक्ष्यते च ॥

तथा प्रेर्यं मनः, अभिमतविषयसम्बन्धीनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद्, दारकहस्तगतगोलकवत् । यश्चास्य प्रेरकः स आत्मा इति । तथा आत्मचेतनक्षेत्रज्ञजीवपुद्गलादय पर्याया न निर्विषयाः पर्यायत्वाद्, घटकुटकलशादिपर्यायवत् । व्यतिरेके षष्ठभूतादि । यश्चैषा विषयः स

होना चाहिये । तथा, 'मै ने देखा, मै ने छुआ, मै ने सूँघा, मै ने चाखा, मै ने सुना', इस प्रकार विविध इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान एक कर्ताके साथ सवद्ध नहीं हो सकता । तथा, प्रत्येक इन्द्रियका विषय अलग अलग है, इसलिये रूप और रसका एक साथ ज्ञान करनेमें वे समर्थ नहीं है, परन्तु हम देखते हैं कि आम वगैरह फलके देखते ही मुँहमे पानी आ जानेसे, साथ ही साथ, आमके रसका भी अनुभव होता है । अतएव दो खिडकियोंमेसे देखनेवाले प्रेक्षककी तरह, दो इन्द्रियों (नेत्र और रसना) द्वारा रूप और रसको अनुभव करनेवाला एक आत्मा ही है । इसलिये ये इन्द्रियाँ करण है, और इन इन्द्रियोंका प्रेरक आत्मा है ।

(२) हित रूप साधनोंका ग्रहण और अहित रूप साधनोका त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है, क्योंकि यह क्रिया है । जितनी क्रिया होती है, वे सब यत्नपूर्वक होती है । जैसे रथकी चलनेकी क्रिया सारथिके प्रयत्नसे होती है, वैसे ही शरीरको नियत दिशामें ले जानेवाली चेष्टा आत्माके प्रयत्नसे होती है । यहा आत्मा रथको चलानेवाले सारथिकी तरह कर्ता है । (३) जिस प्रकार वायुकी सहायतामे कोई पुरुष धोंकनीको फूंकता है, वैसे ही इच्छापूर्वक श्वासोच्छ्वास रूप वायुसे शरीर रूपी धोंकनीको फूंकनेवाला शरीरका अधिष्ठाता आत्मा है । (४) जिस प्रकार लकडीके बने मशीनके खिलौनेकी ऑखोका खुलना या बद होना किसी कर्ताके अधीन रहता है, उसी प्रकार शरीर रूपी यत्रका कर्ता किसी आत्माको स्वीकार करना चाहिये । (५) जैसे घरका बनाना, फोडना और टूटे हुएकी मरम्मत करना आदि किसी कर्ताद्वारा किये जाते है, उसी प्रकार शरीरकी वृद्धि, हानि, घावका भर जाना आदि कार्य आत्माके स्वीकार करनेसे ही बन सकते है । यदि कहो कि वृक्ष आदिमें जो वृद्धि, हानि होती है, उसका कोई अधिष्ठाता नही देखा जाता, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीव है, इसलिए उनमे भी आत्मा है । वृक्ष आदिमें आत्माकी सिद्धि **आचारांग** (१-१-५) से जाननी चाहिये । इसका वर्णन आगे भी किया जायेगा (देखिये श्लोक २९ की व्याख्या) ।

(६) तथा जिस प्रकार बालकके हाथकी गेंद अभिमत विषयके साथ होनेवाले सबध की निमित्तभूत क्रियाका आश्रय होनेसे प्रेर्य (प्रेरित करनेके योग्य—फेंकनेके योग्य) होती है, अर्थात् जिस प्रकार दीवार पर

---

२ आचाराङ्गसूत्रश्रुतस्कधे १-१-५

आत्मा । तथा अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवाच्यत्वात् । यो योऽसाङ्केतिकशुद्धपर्यायवाच्यः, स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति, यथा घटादिः । व्यतिरेके खरविषाणनभोऽम्भोरुहादयः । तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि, गुणत्वाद्, रूपवत् । योऽसौ गुणी स आत्मा । इत्यादिलिङ्गानि । तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः ॥

आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वम् तेषामप्रामाण्यमेव । यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव, कषच्छेदतापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात् । कषादीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः । न च वाच्यमाप्तः क्षीणसर्वदोषः तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि नास्तीति । यतः रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात, सूर्याद्यावरकजलदपटलवत् । तथा चाहुः—

पटकनेकी इच्छासे बालक जिस गेंदको अपने हाथमे लेता है, वह गेंद दीवारकी ओर जानेकी क्रियाका आश्रय होनेवाली होनेसे प्रेर्य-पटकने योग्य होती है, उसी प्रकार मन अभिमत विषयके साथ होनेवाले सबधकी निमित्त भूत क्रियाका आश्रय होनेसे प्रेर्य है । इस मनकी प्रेरक आत्मा है। (७) तथा, जिस प्रकार घट, कुट, कलश आदि पर्याये पर्यायरूप होनेसे निराश्रय नहीं होतीं (उनका उपादानभूत मृत्तिका रूप विद्यमान होता है), उसी प्रकार आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ, जीव, पुद्गल (पुद्गल-सज्ञक जीव द्रव्य) आदि (निष्पर्याय द्रव्य) पर्याये पर्यायरूप होनेसे निराश्रय (उपादानके बिना) नहीं होती । (साध्यके अभावमे जब साधनका अभाव बताया जाता है, तब व्यतिरेकदृष्टात होता है) । षष्ठभूत आदिका अभाव होने पर उनकी पर्यायोंका अभाव होना व्यतिरेकदृष्टात है । (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार षष्ठभूतका अभाव होनेके कारण उसकी पर्यायोंके द्वारा षष्ठभूतके अस्तित्वकी सिद्धि नहीं की जा सकती, उसी प्रकार पर्यायका अभाव होनेसे पर्यायी आत्माके अभावकी सिद्धि नहीं की जा सकती । आत्माकी पर्यायोंका सद्भाव होनेसे उनके द्वारा आत्माकी सिद्धि की जा सकती है ।) इन चेतन, आत्मा आदि पर्यायोका आश्रय आत्मा है । (८) तथा, आत्मा अस्तिरूप है, क्योंकि वह अपनी अनारोपित शुद्ध पर्यायके द्वारा वाच्य कहा जाता है । (असमस्त अर्थात् अमिश्रित-शुद्ध । सोने और तांबके मिश्रणसे बनाये आभूषणसे जिस प्रकार शुद्ध सुवर्णका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार आत्माकी अशुद्ध पर्यायसे शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं होता—आत्माकी शुद्ध पर्यायसे ही आत्माका ज्ञान होता है) । जो अनारोपित शुद्ध होनेसे, जिसपर शुद्धत्वका आरोप नही किया गया होता, ऐसी शुद्ध पर्यायके द्वारा वाच्य होता है, वह अस्तित्वरहित नहीं होता, जैसे घट आदि (घट आदिके कपाल आदि शुद्ध पर्यायके द्वारा जिस प्रकार घट आदिका ज्ञान होता है; उसी प्रकार आत्माकी शुद्ध पर्यायके द्वारा शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है) । खरविषाण, आकाशपुष्प आदिका अभाव होनेसे उनकी अनारोपित शुद्ध पर्यायों का अभाव होना, यह व्यतिरेकदृष्टात है । (तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार खरविषाण आदिका अभाव होनेसे, उनकी शुद्ध पर्यायोंका अभाव होनेके कारण, उन पर्यायोंके द्वारा खरविषाण आदि वाच्य नहीं होते, उसी प्रकार आत्माकी शुद्ध पर्यायका अभाव न होनेसे—सद्भाव होनेसे—उसके द्वारा आत्मा वाच्य होती है) । (९) तथा, जिस प्रकार रूप गुण होनेसे द्रव्यके आश्रित होता है, उसी प्रकार सुख आदि गुण होनेसे द्रव्यके आश्रित होते हैं । जो गुणोंका आश्रय है, वह आत्मा है । इस प्रकार आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाले अनेक हेतुओंका सद्भाव पाया जाता है । अतएव अनुमानसे भी आत्माकी सिद्धि होती है ।

तथा, आप लोगोंने जो 'आगमोंका परस्पर विरोध' दिखलाया, वह भी ठीक नहीं । क्योंकि हम आप्तके द्वारा प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानते हैं, परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले आगमको नहीं । आप्तकथित आगममें कष, छेद और ताप रूप उपाधियोंका निषेध किया गया है, इसलिये वह आगम प्रमाण है । (कष आदिका स्वरूप बत्तीसवे श्लोककी व्याख्यामे बताया गया है) । शंका—जिसके सम्पूर्ण

"देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः ।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ॥"

इति । यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञः ॥

अथ अनादित्वाद् रागादीनां कथं प्रक्षयः इति चेत् । न । उपायतस्तद्भावात् । अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात् । तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणा प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाऽभ्यासेन विलयोपपत्तेः । क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम् ॥

तत्सिद्धिस्तु–ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, तारतम्यत्वात्, आकाशे परिमाणतारतम्यवत् । तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, क्षितिधरकन्दराधिकरणधूमध्वजवत् । एवं चन्द्रसूर्योपराग[1]ादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः । तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव । तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम् ।

"रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।

दोष क्षय हो गये हों, उसे आप्त कहते हैं, ऐसा आप्त होना सभव नहीं है । **समाधान**—राग आदि दोष किसी जीवमें सर्वथा नष्ट हो जाते है, क्योंकि हमलोगोंमें राग आदि दोषोंकी हीनाधिकता देखी जाती है । जिसकी हीनाधिकता देखी जाती हैं, उसका सर्वथा नाश होना सभव हैं । जिस प्रकार सूर्यको आच्छादित करनेवाले बादलोंमे हीनाधिकता पायी जाती हैं, इसलिये कहीं पर बादलोंका सर्वथा नाश भी सभव है, इसी तरह राग आदि दोषोंमें हीनाधिकता रहनेके कारण कहीं पर राग आदिका सर्वथा विनाश भी सभव है । कहा भी है—

"जो पदार्थ एक देशसे नाश होते है, उनका सर्वथा नाश भी होता हैं । जिस प्रकार मेघोंके पटलोंका आंशिक नाश होनेसे उनका सर्वथा नाश भी होता है, इसी प्रकार राग आदिका आंशिक नाश होनेसे उनका भी सर्वथा नाश होता है ।"

जिस पुरुषविशेषमे राग आदिका सम्पूर्ण रीतिसे नाश हो जाता है, वही पुरुष विशेष आप्त भगवान् सर्वज्ञ है ।

शंका—राग आदि दोष अनादि है, इसलिये उनका क्षय नहीं हो सकता । **समाधान**—जिस प्रकार अनादि सुवर्णके मैलका खार मिट्टीके पुटपाक आदिसे नाश हो जाता है, उसी तरह अनादि राग आदि दोषोंका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयकी भावनासे नाश हो जाता हैं । जिस पुरुषके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं, उसके केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती हैं, अतएव वीतराग भगवान् सर्वज्ञ है ।

सर्वज्ञसिद्धि–(क) ज्ञानकी हानि और वृद्धि किसी जीवमे सर्वोत्कृष्ट रूपमें पायी नहीं जाती है, हानि, वृद्धि होनेसे । जैसे आकाशमे परिमाणकी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है, वैसेही ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता सर्वज्ञमें पायी जाती हैं । (ख) स्वभावसे दूर परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, देशसे दूर सुमेरु पर्वत आदि, तथा कालसे दूर राम, रावण आदि किसीके प्रत्यक्ष होते है, अनुमेय होनेसे । जो अनुमेय होते है, वे किसीके प्रत्यक्ष होते है । जिस प्रकार पर्वतकी गुफाकी अग्नि अनुमानका विषय होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष होती है, इसी प्रकार हमारे प्रत्यक्षज्ञानके बाह्य परमाणु आदि किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होने चाहिये । इसी प्रकार चन्द्र और सूर्यके ग्रहणको बतानेवाले ज्योतिषशास्त्रकी सत्यता आदिसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । इसलिये सर्वज्ञ आप्तका बनाया हुआ आगम ही प्रमाण है । जिस आगमका बनानेवाला सदोष होता है, वही आगम अप्रमाण होता है । कहा भी है—

---

१. उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च । इत्यमर. ।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात्" ॥

इति वचनात् । प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेवेति सिद्ध आगमादप्यात्मा "एगे आया"[1] इत्यादि वचनात् । तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता ॥

प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम् । तत्सिद्धौ च प्रमाणं ज्ञानम् तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात् इति प्रलापमात्रम्, करणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगाद् लवनादिषु तथादर्शनात् । यच्च, अर्थसमकालमित्याद्युक्तम्, तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव । अस्मदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाकलनकुशलम् । स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम् । शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याप्यर्थस्य परिच्छेदके । निराकारं चैतद् द्वयमपि । न चातिप्रसङ्गः, स्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः । शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः ॥

प्रमितिस्तु प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव । न ह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा । फलं च द्विधा आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात् । तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् । पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम् । शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः । इति सुव्यवस्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम् । ततश्च—

"राग द्वेष और मोहके कारण असत्य वाक्य बोले जाते है । जिस पुरुषके राग, द्वेष और मोहका अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता ।"

अतएव आगमोंके प्रणेताके निर्दोष सिद्ध होनेपर आगमसे भी "आत्मा एक है" इत्यादि वचनोंसे आत्माकी सिद्धि होती है। इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम आत्माको सिद्ध करते है।

(२) बाह्य पदार्थोंके अस्तित्व सिद्ध करनेके प्रसगमें पिछली कारिकामें प्रमेयकी सिद्धि की जा चुकी है। (३) प्रमेयकी सिद्धि होनेपर ज्ञानके प्रमिति क्रियाके करणत्वकी सिद्धि हो जाती है। 'प्रमिति क्रियाका कारणभूत स्वपरावभासक ज्ञान प्रमेयके अभावमें निर्विषय (प्रमेयशून्य) होनेसे किसका ग्राहक होगा ?' यह कथन प्रलापमात्र है। क्योंकि प्रमाणको न माननेसे प्रमिति क्रियाके करणका अभाव हो जानेके कारण 'प्रमेयके अभावमे ज्ञान जान नहीं सकता'—इस अभिप्रायको जाननेकी क्रियाकी सिद्धि, जिस प्रकार कुठार आदि रूप करणके अभावमे छेदन आदि क्रियाकी सिद्धि नही होती, उसी प्रकार नहीं हो सकती। 'ज्ञानका काल और पदार्थका काल समान होनेपर ज्ञान प्रमेयको जानता है या भिन्न होनेपर ?' यह जो आपलोगोंने कहा है, तो हम दोनों ही विकल्पोंको स्वीकार करते है। हमलोगोंके मतमें प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानके कालमें रहनेवाले (विद्यमान) पदार्थोंका, स्मरण अतीत कालीन पदार्थोंका, तथा शब्द और अनुमान तीनो कालके पदार्थोंका ज्ञान करनेमे कुशल होते हैं। शब्द और अनुमान तीनो कालोंमे विद्यमान पदार्थको जाननेवाले होते है। दोनो ही ज्ञेय पदार्थके आकारसे रहित होते हैं। यहाँ अतिप्रसग दोष नहीं आता। क्योंकि इस ज्ञानकी पदार्थोंको जाननेकी जो प्रवृत्ति होती हैं, वह अपने अपने ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके विशिष्ठ क्षयोपशमके कारण होती है। शून्यवादका स्थापन करनेमें जो दूसरे विकल्प प्रतिपादित किये गये है, उनको न मानना ही शून्यवादका तिरस्कार करना है।

(४) प्रमाणकी फलभूत प्रमिति स्वसवेदन प्रत्यक्ष अर्थात् अनुभवसे सिद्धि ही हैं। अतएव प्रमितिको सिद्ध करनेके लिये आवश्यकता नही हैं। प्रमाणका फल साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो प्रकारका होता है। पदार्थविषयक अज्ञानकी निवृत्ति सभी प्रमाणोंका साक्षात् फल है। केवलज्ञानका परम्पराफल ससारमे उदासीन होना है, केवलज्ञानके अतिरिक्त शेष प्रमाणोंका परम्पराफल इष्टानिष्ट पदार्थों को छोडना, ग्रहण करना तथा उपेक्षा करना है। अतएव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारो पदार्थ

१. स्थानाङ्गसूत्रे १-१ । प्रकृतार्थतया असख्यातप्रदेशोऽपि जीवो द्रव्यार्थतया एक' इति अभयदेवसूरिटीकायाँ ।

"नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः" ॥[१]

इत्युन्मत्तभापितम् ॥

किञ्च, इदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम् । तच्चासौ प्रमाणात् अभिमन्यते अप्रमाणाद्वा ? न तावदप्रमाणात्, तस्याकिञ्चित्करत्वात् । अथ प्रमाणात्, तन्न अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतमसांवृतम् वा स्यात् ? यदि सांवृतम्[२] कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः । तथा तदसिद्धौ च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहारः प्राप्तः । अथ तद्ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसांवृतम्, तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहारावास्तवत्वप्रतिज्ञा, तेनैव व्यभिचारात् । तदेवं पक्षद्वयेऽपि "इतो व्याघ्र इतस्तटी" इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः ॥ इति काव्यार्थः ॥१७॥

सिद्ध होते हैं। इसलिये—

"जो न असत् हो, न सत् हो, न सत्-असत् हो, और न सत्--असत्के अभाव रूप हो, इस प्रकार माध्यामिक (शुन्यवादी) लोगो का चारो कोटियोंसे रहित तत्त्वको स्वीकार करना" केवल उन्मत्त पुरुषके प्रलापकी भाँति है।

तथा, शून्यवादीको प्रमाता, प्रमेय आदिकी अवास्तविकता परमार्थत इष्ट है। यह अवास्तविकता शून्यवादी प्रमाणसे सिद्ध करते हैं, अथवा अप्रमाणसे ? अप्रमाणसे प्रमाण आदिकी असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अप्रमाण अकिंचित्कर है। दूसरे पक्षमें, प्रमाण आदिको अवास्तव सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्वय सावृत (असत्य) है, या असावृत (सत्य) ? यदि प्रमाण असत्य है, तो अवास्तव प्रमाणसे वास्तव शून्यवादकी स्थापना नहीं की जा सकती। तथा, शून्यवादकी सिद्धि न होने पर सपूर्ण प्रमाता, प्रमेय आदि का व्यवहार वास्तव सिद्ध हो जाता है। यदि प्रमाता आदिको अवास्तविक सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्वय वास्तविक है, तो प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमितिके व्यवहारको तो आप असत्य कहते हैं, वह नहीं बन सकता। क्योकि उस वास्तव प्रमाणके साथ व्यभिचार होनेका दोष आता है। अतएव 'एक तरफ व्याघ्र है, दूसरी ओर नदी' इस न्यायसे प्रमाण और अप्रमाण दोनों पक्षोंके स्वीकार करनेमें शून्यवादियोंके स्वाभिमत सिद्धिका विरोध वास्तमें स्पष्ट ही है। यह श्लोकका अर्थ है ॥१७॥

भावार्थ—शून्यवादी—सब पदार्थ शून्य है, क्योकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति अवस्तु हैं। (क) प्रमाता (आत्मा) इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। अनुमान भी आत्माको सिद्ध नहीं करता, क्योकि किसी भी हेतुसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। आगम परस्पर विरोधी है, इसलिये आगम भी आत्माको सिद्ध नहीं कर सकता। (ख) प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। अविद्याकी वासनासे ही बाह्य पदार्थोके अभावमें घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव प्रमेय भी कोई पदार्थ नही है। (ग प्रमेयके अभाव

---

१ न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्न जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन ॥
माध्यमिककारिकाया।

२. सवृतेर्लक्षणम्—
अभूत ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातकवृत्तिवत् ॥
बोधिचर्यावतारपञ्जिकायाम् ३५२

अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारितं दर्शयन्नाह—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

कृतप्रणाशदोषम् अकृतकर्मभोगदोषम् भवभङ्गदोषम् प्रमोक्षभङ्गदोषम् स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् दोषान् । साक्षादित्यनुभवसिद्धान् । उपेक्ष्यानादृत्य । साक्षात् कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः[1] । सर्वभावानां क्षणभङ्गम् उदयानन्तरविनाशरूपां क्षणक्षयिताम् । इच्छन् प्रतिपद्यमानः । ते तव । परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः सौगत इत्यर्थः । अहो महासाहसिकः सहसा

होनेपर प्रमाण भी नहीं बन सकता । (घ) प्रमाणके अभावमे प्रमिति भी नहीं सिद्ध हो सकती। अतएव सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तत्त्व है। क्योकि अनुमान और अनुमेयका व्यवहार बुद्धिजन्य है। वास्तव मे बुद्धिके बाहर सत् और असत् कोई वस्तु नहीं। अतएव न सत्, न असत् न सत्-असत्, और न सत्-असत् का अभाव रूप ही वास्तवमे परमार्थ है।

जैन—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते है। (क) मै सुखी है, मै दुखी हूँ' आदि 'अहं' प्रत्यय'से प्रमाता सिद्ध होता है। (ख) बाह्य पदार्थोका ज्ञान अनुभवसे सिद्ध है। तथा बाह्य पदार्थों के अनुभव होनेपर ही वासना बन सकती है। अतएव प्रमेय भी स्वीकार करना चाहिये। (ग) प्रमेयके सिद्ध होनेपर प्रमाण भी अवश्य मानना चाहिये। जैसे कुठारसे काटनेकी क्रिया हों सकती है, वैसे जानने रूप क्रियाका भी कोई कारण होना चाहिये। (घ) पदार्थको जानते समय पदार्थ, सबधी अज्ञानका नाश होना ही प्रमाणका साक्षात् फल है, अतएव प्रमिति भी मानना चाहिये। तथा शून्यवादी लोग प्रमाता आदिको प्रमाण अथवा अप्रमाण किसीसे भी सिद्ध नहीं कर सकते। अप्रमाण अकिंचित्कर है, इसलिये अप्रमाणसे प्रमाता आदि सिद्ध नहीं हों सकते। इसी तरह प्रमाणसे भी प्रमाता आदि सिद्ध नहीं होंते, क्योकि शून्यवादियोके मतमे स्वय प्रमाण ही अवस्तु है। तथा, जिस प्रमाणसे शून्यवादी लोग अपने पक्षकी सिद्धि करते है, वह प्रमाण बिना प्रमेयके नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाण निर्विषय नहीं होता, अतएव शून्यवादियोंको मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

क्षणिकवादियोंके मतमे इस लोक और परलोककी व्यवस्था नहीं बन सकती । अतएव उनके मतको अविचारपूर्ण सिद्ध करते है—

श्लोकार्थ—आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी बौद्ध क्षणिकवादको स्वीकार करके, किये हुए कर्मोके फलको न भोगना, अकृत कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होना, परलोकका नाश, मुक्तिका नाश, तथा स्मरण शक्तिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करके अपने सिद्धातको स्थापित करनेका महान् साहस करते हैं।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार हाथी आखोको वन्द करके जलपान करता है, वैसे ही ससार, मोक्ष आदिका साक्षात् अनुभव करते हुए भी सम्पूर्ण पदार्थोको क्षणस्थायी माननेवाले प्रतिपक्षी बौद्ध (१) किये हुए कर्मोका नाश, (२) नहीं किये हुए कर्मोंका भोग, (३) ससारका क्षय, (४) मोक्षका नाश और

१. गजो नेत्रे निमील्य जलपानादि करोति नेत्रनिमीलनेन न किंचित्करोमीति भावयति च तद्वदय वादी कृतप्रणाशादीन् दोषान् साक्षादनुभवन् सर्वभावना क्षणभङ्गुरता प्रतिपद्यते।

अविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः । भाविनमर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते। महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी । इति मुकुलितार्थः ॥

विवृतार्थस्त्वयम् । बौद्धा[1] बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम् । तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतम् तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः । यस्य च फलोपभोगः, तेन तत् कर्म न कृतम् । इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य चाकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति । अत्र च कर्मशब्दः उभयत्रापि योज्यः, तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः । बन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यासः ॥

यथा भवभङ्गदोषः । भव आर्जवीभावलक्षणः संसारः, तस्य भङ्गो विलोपः । स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते । परलोकाभावप्रसंग इत्यर्थः । परलोकिनः[2] कस्यचिदभावात् । परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्माणुसारेण भवति । तत्र प्राचीनज्ञानक्षणाना निरन्वयं नाशात् केन नामोपभुज्यता जन्मान्तरे ॥

यत्र मोक्षाकरगुप्तेन "यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसन्धत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च

(५) स्मृतिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करते हुए क्षणवादके सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेका महान् साहस करते है ।

(१) बौद्ध लोग विचारके क्षणोंकी परम्पराको आत्मा मानते हैं। जिस प्रकार एक सूतका डोरा बहुतसे मोतियोंमे प्रविष्ट होकर सब मोतियोंकी एक माला बनाता है, उस तरह बौद्धोंके मतमे विचारके सम्पूर्ण क्षणोंमे अन्वित होनेवाली किसी एक वस्तुको आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है । अतएव बौद्ध मतमे जिस विचारके क्षणसे अच्छे या बुरे कर्म किये जाते ह, उस विचार क्षणके सर्वथा नष्ट हो जानसे अच्छे या बुरे कर्म करनेवाले मनुष्यको उन अच्छे, बुरे कर्मोंका फल न मिलना चाहिये। क्योंकि फल भोगनेवाले मनुष्यने उन कर्मोको किया ही नहीं है। कारण कि जिस पूर्व विचारके क्षणसे कर्म किया गया था, वह क्षण सर्वथा नष्ट हो चुका हे। अतएव मनुष्यको अपने कर्मोंके फलका उपभोग नहीं करना चाहिये। (२) तथा क्षणिकवादमें जिस विचारक्षणने कर्मोको नहीं किया, उस विचारक्षणको कर्मोके फलको भोगनेके लिये बाध्य होनेके कारण, स्वय नहीं किये हुए दूसरोंके कर्मोको भोगनेसे अकृत कर्मभोग नामका दोष आता है। यहा जिस प्रकार श्लोककी प्रथम पक्तिमें 'अकृतकर्मभोग' में कर्म शब्दका सबध है, उसी तरह 'कृतप्रणाश' में भी कर्म शब्द जोडकर 'कृतकर्मप्रणाश' अर्थ करना चाहिये।

(३) क्षणिकवादमें परलोक का अभाव होनेका प्रसग उपस्थित होता है, क्योंकि परलोकको प्राप्त होनेवालेका अभाव है। पूर्वजन्में किये गये कर्मके अनुसार ही परलोककी प्राप्ति होती है। तथा क्षणिकवादियोंके मतमे पूर्वजन्में किये गये कर्मोका, प्राचीन ज्ञानक्षणोंका निरन्वय नाश हो जानेसे, अन्य जन्ममें किसके द्वारा उपभोग किया जायेगा ? अतएव बौद्ध मतमे परलोकी (आत्मा) के अभाव होनेसे परलोककी भी सिद्धि नहीं होती ।

मोक्षाकारगुप्त (बौद्ध)—"वर्तमानकालीन चित्तक्षणके समान जो चित्तक्षण होता है वह अन्य

१. सतानस्यैकमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितं ॥
यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद्भागश कृत । तथाहमप्यसमद्भूतो मृग्यमाणो विचारत ॥
बोधिचर्यावतारे ९-७३, ७५ ।

२ काचिन्नियतमर्यादाऽवस्थैव परिकीर्त्यते ।
तस्याश्चानाद्यनन्ताया परः पूर्व इहेति च ॥ तत्वसंग्रहे १८७३ ।

मरणकालभावि" इति भवपरम्परासिद्धये प्रमाणमुक्तम्, तद्व्यर्थम्, चित्तक्षणानां निरवशेपनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसंधानायोगात्। द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसंधानमुभयानुगामिना केनचित् क्रियते। यश्चानयोः प्रतिसंधाता, स तेन नाभ्युपगम्यते। स ह्यात्मान्वयी॥

न च प्रतिसंधत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः, कार्यहेतुप्रसङ्गात्। तेन वादिनास्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात्। स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति। भिन्नकाल-भाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम्। युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाभावापत्तिः, युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामकम्, यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति। अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जननमर्थः। सोऽप्यनुपपन्नः। तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्याभावात्। भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात् उत्तरचित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम्। इति यत्किञ्चिदेतत्॥

तथा प्रमोक्षभंगदोषः। प्रकर्षेणापुनर्भावेन कर्मबन्धनाद् मोक्षो मुक्तिः प्रमोक्षः। तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति। कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते। ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते। न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः। क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात् तेनैव सार्धं ध्वंसे। सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित्। वास्तवत्वे तु आत्माभ्युपगमप्रसंगः॥

चित्तक्षणके साथ सबद्ध होता है। मरणकालमे जो उत्पन्न होता है, वह चित्तक्षण होता है। अत वह चित्तक्षण उत्तर चित्तक्षणके साथ सम्बद्ध होता है" (यच्चित्त तच्चित्तान्तरं प्रतिसधत्ते यथेदानींतनं चित्तं चित्तं च मरणकालभावि), अतएव ससारकी परम्परा सिद्ध होती है। जैन—यह अनुमान व्यर्थ है क्योंकि सम्पूर्ण रूपसे विनाशको प्राप्त होनेवाले चित्तक्षणोंका अन्य चित्तक्षणोंके साथ सम्बद्ध होना घटित नहीं होता। अवस्थित रहेनेवाले—सपूर्णरूपसे विनष्ट न होनेवाले—दो पदार्थोंका सम्बन्ध दोनोंमें अन्वित होनेवाले किसीके द्वारा ही घटित होता है। किन्तु दो चित्तक्षणोंमे जो कोई सबन्ध करानेवाला है, उसे क्षणिकवादियोंके मतमे स्वीकार नहीं किया गया। और दोनों चित्तक्षणोंमे जो अन्वित होता है वह आत्मा है।

शंका—'यच्चित तच्चित्तान्तरं प्रतिसधत्ते' यहाँ 'प्रतिसधत्ते' इस क्रियापदका अर्थ 'उत्पन्न करता है,' ऐसा नही है। क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे मोक्षाकरगुप्तके वचनका अर्थ हो जाता है—'जो चितक्षण होता है वह अन्य चित्तको उत्पन्न करता है'। इससे पूर्वचित्त द्वारा उत्पन्न उत्तर चित्तक्षणके, पूर्व चित्तक्षण को कार्यहेतु बननेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। परन्तु बौद्धोने पूर्व और अपर चित्तक्षणोंमे स्वभावहेतु माना है। तथा, स्वभावहेतु तादात्म्य सबध होनेपर ही होता है। जैसे, यह वृक्ष है, सीसम होनेसे, यहा वृक्ष और सीसमका तादात्म्य होनेसे स्वभावहेतु अनुमान है। इसलिये भिन्न-भिन्न समयमें होनेवाले पूर्व और अपर चित्तक्षणोंमे स्वभावहेतु भी नहीं बन सकता। क्योंकि यदि पूर्व और अपर चित्तक्षणोंको एक ही समयमें होनेवाले माना जाय, तो उनमे प्रतिसन्धेय और प्रतिसधायकका विभाग नहीं बन सकता। तथा, प्रतिसधानका अर्थ उत्पन्न करना भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि पूर्व और उत्तर क्षणोंका भिन्न समयवर्ती माने, तो पूर्व चित्तक्षणके सर्वथा नाश हो जानेपर, उपादान कारणके बिना, उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(४) तथा, मोक्षके अभाव होनेका दोष उपस्थित होता है। फिरसे सद्भूत न होने रूप कर्मोंके बधनसे मुक्त होना प्रमोक्ष है। इसके भी अभाव होनेका प्रसग आ जाता है। क्योंकि बौद्ध मतमें जब आत्मा ही नही है तो परलोकमे सुखी होनेके लिये कौन प्रयत्न करेगा। क्षणमात्रमें निरन्वय विनाशको प्राप्त होनेवाला संसारी ज्ञानक्षण भी अन्य ज्ञानक्षणके सुखी होनेके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। क्योंकि पूर्व और अपर ज्ञान क्षणोंमें कोई संबध नहीं रह सकता। जैसे, दुखी हुआ देवदत्त यज्ञदत्तके सुखके लिए प्रयत्न करता हुआ नहीं देखा जाता। प्रत्येक ज्ञानक्षणका दुख भी उसी क्षणके साथ नष्ट हो जाता है। यदि सब ज्ञानक्षणोंमे सुख-दुख

अपि च बौद्धाः "निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः" इत्याहुः। तच्च न घटते। कारणाभावादेव तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो[1] हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाभावाद् विशेषानाधायकः, प्रतिक्षणमपूर्ववद् उपजायमानः, निरन्वयविनाशी, गगनलङ्घनाभ्यासवत् अनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभिज्ञानजननाय प्रभवति, इत्यनुपपत्तिरेव तस्य। समलचित्तक्षणानां स्वभाविक्याः सदृशारम्भणशक्तेरसदृशारम्भम् प्रत्यशक्तेश्च अकस्मादनुच्छेदात्। किंच, समलचित्तक्षणाः पूर्वे स्वरसपरिनिर्वाणा, अयमपूर्वो जातः सन्तानश्चैको न विद्यते, बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ न विषयभेदेन वर्तेते। तत कस्येयं मुक्तिर्य एतदर्थं प्रयतते। अयं हि मोक्षशब्दो बन्धनविच्छेदपर्यायः। मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः। क्षणक्षयवादे त्वन्यः क्षणो बद्धः क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति प्राप्नोति मोक्षाभावः॥

तथा स्मृतिभंगदोषः। तथाहि। पूर्वबुद्धयानुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः सम्भवति। ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः

पहुँचानेवाली संतान स्वीकार की जाय, तो यदि वह संतान ज्ञानक्षणके अतिरिक्त कोई पृथक् वस्तु है, तो उसे आत्मा ही कहना चाहिये। यदि संतान अवस्तु है, तो वह संतान अकार्यकारी है।

तथा बौद्ध लोग 'सम्पूर्ण वासनाओंका उच्छेद हो जानेपर विषयोंके आकारोंकी विघ्न-बाधाओंसे रहित विशुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेको मोक्ष'' कहते है, परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें वासना-विनाशके कारणका अभाव होनेसे, वासनाओंके विनाशकी सिद्धि न होनेसे, विशुद्ध ज्ञानोत्पाद रूप मोक्षकी सिद्धि नहीं होती। भावनाओंका समूह ही समस्त वासनाओंके उच्छेदका कारण माना गया है। (बौद्धोंके मतमे 'सब पदार्थ क्षणिक हैं, सब दुख रूप हैं, सामान्य रूपको ज्ञात न हो कर अपने असाधारण रूपसे ज्ञात होते है, अतएव स्वलक्षण है, तथा सब पदार्थ निस्वभाव होनेसे शून्य है'—इस प्रकार भावना चतुष्टयकी उत्कटतासे सम्पूर्ण वासनाओंका उच्छेद हो जाना मोक्ष है।) स्थिर–अक्षणिक–अर्थात् नित्य आत्मा-रूप एक आश्रयका बौद्ध मतमें अभाव होनेके कारण, विशेष–अतिशय को उत्पन्न न करनेवाला प्रत्येक ज्ञान-क्षणमे अपूर्वकी भाँति उत्पन्न होनेवाला, निरन्वयविनाशी, आकाशको लाँघनेके अभ्यासकी भाँति प्रकर्षको प्राप्त न करनेवाला भावनाओंका समूह, विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ नहीं होता, अतएव मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती। कारण कि मलसहित (अर्थात् अशुद्ध) ज्ञानक्षणोंकी सदृश (अर्थात् अशुद्ध) अन्य ज्ञानक्षणोंकी उत्पत्तिको आरंभ करनेकी स्वाभाविक शक्तिका, तथा असदृश (अर्थात् शुद्ध) ज्ञानक्षणोंकी उत्पत्तिको आरम्भ करनेकी शक्तिके अभावका अकस्मात् भावनाप्रचयरूप कारणके अभावमे उच्छेद नहीं होता। तथा, अशुद्ध ज्ञानक्षणके स्वभावत क्षणिक होनेके कारण नष्ट होनेवाले और अपूर्व रूपमे उत्पन्न शुद्ध ज्ञानरूप ज्ञानक्षण—ये दोनों एक सन्तान नहीं है। तथा, बधका अधिकरणभूत अशुद्ध ज्ञानक्षण और मोक्षका अधिकरणभूत शुद्ध ज्ञानक्षणके परस्पर भिन्न होनेसे, ये बधमोक्षरूप एक अधिकरणमें नहीं रह सकते—अर्थात् बध और मोक्ष एक ज्ञानक्षणके नहीं हो सकते—जो ज्ञानक्षण बद्ध होता है वही ज्ञानक्षण मुक्त नही हो सकता। फिर, जो मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रयत्न करेगा, उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकेगा ? मोक्ष शब्द बन्धनच्छेदका पर्यायवाची है, अर्थात् बन्धका अभाव होना मोक्ष है। क्षणवादियोके मतमें अन्य क्षण (ज्ञानक्षण) बद्ध होता है और उससे भिन्न क्षण अर्थात् भिन्न ज्ञानक्षणकी मुक्ति होती है, अतएव मोक्षका अभाव होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है।

(५) बौद्धोंके मतमें स्मृतिभग हो जानेका प्रसग उपस्थित होता है। तथाहि—जिस प्रकार एक बुद्धिसन्तानके द्वारा अनुभूत पदार्थका, जिसने उस पदार्थको अनुभूत नहीं किया ऐसे अन्य संतानकी बुद्धि को स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार पूर्व ज्ञानके द्वारा अनुभूत पदार्थके विषयमे उत्तर ज्ञानक्षणोंके द्वारा स्मरण

---

१. सर्वं क्षणिक सर्वं क्षणिकम्, दु.ख दुःख, स्वलक्षणम् स्वलक्षणं, शून्य शून्यमिति भावनाचतुष्टय।

सर्वैः स्मर्येत । स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः, तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात् । पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेण इयमुत्पद्यते ।

अथ स्यादयं दोषः, यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते; किन्तु अन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावाद्[1] एव च स्मृतिः । भिन्नसंतानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति । तेन संतानान्तराणां स्मृतिर्न भवति । न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्धयनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात् । तदप्यनवदातम्, एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात् । न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं, क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात् । न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः ॥

अथ— "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा" ॥

होना संभव नहीं । यदि अन्य पुरुषके द्वारा दृष्ट पदार्थका किसी अन्य पुरुषके द्वारा स्मरण किया जाता हो तो एक पुरुषके द्वारा दृष्ट पदार्थका (जिन्होने इस पदार्थको कभी-नहीं देखा ऐसे) अन्य सभी पुरुषोंको स्मरण हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा । यदि पूर्वज्ञानके द्वारा अनुभूत पदार्थका उत्तरबुद्धियोंको स्मरण न हुआ तो प्रत्यभिज्ञान कहाँसे बन सकता है ? क्योंकि प्रत्यभिज्ञान स्मरण और अनुभव इन दोनोंसे उत्पन्न होता है । पदार्थके दर्शनसे जिसका सस्कार प्रबुद्ध हो जाता है, ऐसे प्रमाता को ही 'यह वही है' इस रूपसे प्रत्यभिज्ञान होता है ।

शंका—यदि सामान्यरूपसे अन्य विज्ञानक्षणके द्वारा दृष्ट पदार्थका अन्य विज्ञानक्षण स्मरण करता है—ऐसा हमने कहा होता तो स्मृतिभग नामका दोष आ सकता था । किन्तु पूर्वोत्तर विज्ञानक्षणोंमे भेद होनेपर भी उनमें कार्यकारण भाव होनेसे ही स्मरण होता है—अर्थात् पूर्वविज्ञानक्षणके द्वारा दृष्ट पदार्थका उत्तर विज्ञानक्षणको स्मरण होता है । अन्योन्यभिन्न सतानोंकी बुद्धियोंमे कार्यकारण भाव नहीं होता । इससे एक सतानकी बुद्धिके द्वारा दृष्ट पदार्थका उससे भिन्न सतानकी बुद्धिको स्मरण नहीं होता । तथा, एक सतानकी भी (भिन्न-भिन्न) बुद्धियोंमे कार्यकारण भाव नहीं होता—ऐसी बात नहीं है, जिससे पूर्वबुद्धिके द्वारा जो पदार्थ अनुभूत है, उस पदार्थका स्मरण उसकी उत्तरकालीन बुद्धियोंको न होगा ।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं । पूर्वोत्तर बुद्धियोंमे कार्य-कारण भाव होनेपर भी उन दोनोंमें होनेवाला भिन्नत्व जैसेका तैसा बना रहता है । पूर्वोत्तरकालीन बुद्धियोंमें कार्य-कारण माननेपर भी उनमे होनेवाले भेदका अभाव नहीं होता । क्योंकि सभी बुद्धियोंके क्षणिक होनेसे वे अन्योन्यभिन्न होती है । 'उनमे परस्पर भेद होनेपर भी दोनोंमें कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृति उत्पन्न होती है'—इस विषयमें वादी-प्रतिवादी प्रसिद्ध दृष्टान्तका सद्भाव नहीं है । (अतएव पूर्वोत्तरकालवर्ती दो भिन्न बुद्धियोंमें कार्य-कारण भावकी, उभयमान्य दृष्टातके अभावके कारण सिद्धि न होने और उनमे भेद होनेसे, स्मृतिका प्रादुर्भाव असम्भव होनेके कारण स्मृतिभग नामक दोष आता ही है)।

शंका—"जिस प्रकार जिस कपासमे लाल रग द्वारा सस्कार किया जाता है, उसीमें ललाई होती है, उसी प्रकार जिस सतानमें कर्मवासना उत्पादित की गई होती है, उसी (सतान) मे कर्मवासनाका फल रहता है" ।

इस प्रकार कपासमें रक्तताका दृष्टात विद्यमान है ।

---

१. कार्यकारणभावप्रतिनियमादेव स्मृत्यभावोऽपि निरस्त । न स्मर्ता कश्चिदिह विद्यते । किं तर्हि स्मरणमेव केवलमारोपवशात् । अनुभूते हि वस्तुनि विज्ञानसताने स्मृतिबीजाधानात्कालान्तरेण सततिपरिपाकहेतो. स्मरण नाम कार्यमुत्पद्यते । बोधिचर्यावतारपञ्जिकाया पृ. ४१५ ।

इति । कर्पासे रक्ततादृष्टान्तोऽस्तीति चेत्, तदसाधीयः, साधनदूषणयोरसम्भवात् । तथाहि— अन्वयाद्यसम्भवान्न साधनम् । न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः कर्पासे रक्ततावदित्यन्वयः सम्भवति । नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽपि । असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम् । न हि ततोऽन्यत्वात् इत्यस्य हेतोः कर्पासे रक्ततावत् इत्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते ॥

किञ्च, यद्यनन्वयत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात् । अथ नायं प्रसङ्गः, एकसंतानत्वे सतीतिविशेषणादिति चेत्, तदयुक्तं, भेदाभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात् । क्षणपरम्परातस्तस्याभेदे हि क्षणपरम्परैव सा । तथा च संतान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात् । भेदे तु पारमार्थिकः अपारमार्थिको वासौ स्यात्? अपारमार्थिकत्वेऽस्य दूषणं, अकिंचित्करत्वात् । पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात् क्षणिको वा? क्षणिकत्वे संताननिर्विशेष एवायम्, इति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकरणिना । स्थिरश्चेत् आत्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः प्रतिपन्नः । इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् ॥

समाधान—यह ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्वोत्तर बुद्धिक्षणोंमें (बौद्धों द्वारा मान्य) कार्य-कारण भाव रूप हेतुसे स्मृतिकी उत्पत्ति होना रूप साध्यकी, न इस दृष्टान्तसे सिद्धि होती है और न वह साध्य दूषित ही होता है । तथाहि—बुद्धिके पूर्वोत्तरक्षणोंमें होनेवाला कार्यकारण भाव रूप हेतु और स्मृति इनमें अन्वय-व्यतिरेक संभव न होनेसे स्मृतिकी उत्पत्ति होना रूप साध्यकी सिद्धि नहीं होती । 'जहाँ कार्य-कारण भाव होता है, वहाँ स्मृतिका सद्भाव होता है, जैसे कपासमें रक्तता,' तथा 'जहाँ स्मृति नहीं होती, वहाँ कार्य-कारण भाव भी नहीं होता' इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बनते । इस प्रकार स्मृतिरूप साध्य और कार्य-कारण भाव रूप हेतु इनमें अन्वय-व्यतिरेक न बननेसे उस हेतुसे स्मृतिरूप साध्यकी सिद्धि नहीं होती । 'उससे अर्थात् पूर्वबुद्धिसे उत्तरबुद्धि भिन्न होनेसे' इस हेतुके असिद्धत्व आदि दोषोंका प्रकटीकरण न होनेसे यह हेतु दूषित नहीं है । 'पूर्वबुद्धिसे उत्तरबुद्धि भिन्न होनेसे' इस हेतुके विषयमें 'जैसे कपासमें रक्तता' इस दृष्टान्तके द्वारा किसी दोषका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता ।

तथा, 'जहाँ कार्य कारण भाव होता है वहा स्मृति होती है'—इस प्रकार कार्य-कारण भावमें और स्मृतिमें अन्वयका अभाव होनेपर भी, यदि उत्तर बुद्धिक्षण और पूर्व बुद्धिक्षणमें कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृतिकी उत्पत्तिका इष्ट होना माना गया, तो शिष्यबुद्धि और आचार्यबुद्धिमें, आचार्यबुद्धिके कारण और शिष्यबुद्धिके कार्य होनेसे, कार्य-कारण भाव होनेसे-स्मृतिका सद्भाव हो जायेगा । 'शिष्यबुद्धिमें और आचार्य बुद्धिमें अन्वयका अभाव होनेपर भी उनमें कार्य-कारण भाव होनेसे स्मृति आदिके सद्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता, क्योंकि शिष्य और आचार्य ये दो भिन्न संतान हैं, और हमने 'एक संतानत्व' (एक संतानत्वे सति) विशेषणका प्रयोग किया है' यह भी ठीक नहीं । क्योंकि भेदपक्ष और अभेदपक्षके द्वारा 'एक-संतानत्व' विशेषण क्षीण हो जाता है—अकिंचित्कर बन जाता है । क्षण परंपरासे उस 'एकसंतानत्व' को अभिन्न माननेपर वह क्षणपरंपरारूप ही होगा । इस प्रकार संतानके क्षणपरंपरारूप होनेसे, संतानको क्षणपरंपरा (संतानी) ही कहना चाहिये, संतान नहीं । यदि संतान और क्षणपरंपराको भिन्न मानो, तो यह संतान वास्तविक है, या अवास्तविक? यदि यह अवास्तविक है, तो वह अकिंचित्कर होनेपर दूषित हैं । यदि संतान वास्तविक है, तो वह स्थिर है, या क्षणिक? यदि क्षणपरंपरासे भिन्न संतान क्षणिक है, तो यह संतान क्षणपरंपरासे अभिन्न ही है । इस प्रकार क्षणपरंपराको छोड़कर संतानका आश्रय लेना, एक चोरके भयसे दूसरे चोरके आश्रय लेनेके समान है । यदि वास्तविक संतानको स्थिर मानो, तो फिर संतान-संज्ञासे तिरोहित आत्मा स्वीकार करनेमें ही क्या दोष है? अतएव क्षणिकवादियोंके मतमें स्मृति भी नहीं बनती ।

तदभावे च अनुमानस्यानुत्थानमित्युक्तम् प्रागेव । अपि च, स्मृतेरभावे निहित-प्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन् ।

"इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥"

इति वचनस्य का गतिः । एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो नाशयतीति चतुःक्षणिकं[1] वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः । क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात् । तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिप्रैति तस्य महत् साहसम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ १८ ॥

स्मृतिके अभाव होनेपर अनुमान भी नहीं बन सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है तथा स्मृतिके अभावमे धरोहर आदि रख कर भूल जाना, धरोहरको लौटानेकी याद न रहना आदि व्यवहारका भी लोप हो जायगा । तथा—

"अबसे इक्यानवेवे भवमे मैंने एक पुरुषको बलात्कारसे मार डाला, उस कर्मके खोटे फलसे मेरा पैर छिद गया है ।"

आदि वचनोंके लिए भी कोई स्थान नहीं है । इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, जरा और विनाश इन चार क्षण पर्यंत जो वस्तुकी स्थिति मानी है (क्षणिकवादका परिवर्तित रूप), वह भी नहीं बन सकती । क्योंकि चार क्षणोंके बाद भी धरोहर आदिको रखकर भूल जाने और उसे लौटानेकी याद न रहने आदिका व्यवहार देखा जाता है । इसलिये अनेक दोषोंके आनेपर भी क्षणभंगको मानना बौद्धोंका महान् साहस है ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥१८॥

भावार्थ—इस श्लोकमें बौद्धोंके 'क्षणभंग' वादपर विचार किया गया है । जैन लोगोंका कहना है कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी माननेपर बौद्धोंके मतमें आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं बन सकता । तथा, आत्माके न माननेपर (१) संसार नहीं बनता, क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें पूर्व और अपर क्षणोंमें कोई संबंध न हो सकनेसे पूर्व जन्मके कर्मोंका जन्मांतरमें फल नहीं मिल सकता । बौद्ध लोग संतानको वस्तु मानते है । उनके मतानुसार संतानका एक क्षण दूसरे क्षणसे संबद्ध होता है, मरणके समय रहनेवाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचारसे संबद्ध होता है, इसीलिये संसारकी परम्परा सिद्ध होती है । परन्तु यह ठीक नहीं । क्योंकि संतानक्षणोंका परस्पर संबंध करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है, जिससे दोनों क्षणोंका परस्पर संबंध हो सके । (२) आत्माके न माननेपर मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि संसारी आत्माका अभाव होनेसे मोक्ष किसको मिलेगा । बौद्ध लोग सम्पूर्ण वासनाओंके नष्ट होजाने पर भावनाचतुष्टयसे होनेवाले विशुद्ध ज्ञानको मोक्ष कहते हैं । परन्तु क्षणिकवादियोंके मतमें कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता । तथा, अशुद्ध ज्ञानसे अशुद्ध ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है, विशुद्ध ज्ञान नहीं । तथा, जिस पुरुषके बंध हो, उसे ही मोक्ष मिलना चाहिये । परन्तु क्षणिकवादियोंके मतमे बंधके क्षणसे मोक्षका क्षण दूसरा है, अतएव बद्ध पुरुषको मोक्ष नहीं हो सकता । (३) अनात्मवादी बौद्धोंके मतमे स्मृतिज्ञान भी नहीं बन सकता । क्योंकि एक बुद्धिसे अनुभव किये हुए पदार्थोंका दूसरी बुद्धिसे स्मरण नहीं हो सकता । स्मृतिके स्थानमें संतानको एक अलग पदार्थ मान कर एक संतानका दूसरी संतानके साथ कार्य-कारण भाव माननेपर भी संतानक्षणोंकी परस्पर भिन्नता नहीं मिट सकती, क्योंकि बौद्ध मतमे सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न है ।

---

१. लक्षणानि तथा जातिर्जरास्थितिरनित्यता ।
जाति जात्यादयस्तेषा तेऽष्टधर्मैकवृत्तय. ।
वसुबन्धुविरचिताभिधर्मकोशे २-४५, ४६ ।

अथ ताथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितामाकर्ण्य इत्थं प्रतिपादयन्ति—यत् सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा[1] एव इति। तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभयलक्षणे पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह—

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदभेदानुभयैर्घटेते।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥१९॥

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः। सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावत् नवनवोत्पद्यमानापरापरसदृशक्षणपरम्परा। एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते॥

न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते। तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात् क्षणपरम्परा वा,

बौद्ध—पदार्थोंके क्षणस्थायी होनेपर भी वासनासे उत्पन्न होनेवाले अभेद ज्ञानसे इस लोक और परलोक संबंधी व्यवहार चल सकता है, अतएव 'कृतकर्मप्रणाश' आदि दोष हमारे सिद्धांतमें नहीं आ सकते। जैन—आप लोग जिस वासनाको स्वीकार करते हैं, वह कल्पित वासना क्षणपरम्परासे भिन्न, अभिन्न, अथवा न भिन्न और न अभिन्न, (अनुभय) किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। अतएव हमारे द्वारा अभिप्रेत स्याद्वादके भेदाभेदको ही स्वीकार करना चाहिये—

श्लोकार्थ—वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, और अभिन्न, और अनुभय—तीनों प्रकारसे किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। अतएव जिस प्रकार समुद्रमें, जहाजसे उड़ा हुआ पक्षी समुद्रका किनारा न देखकर पीछे जहाजपर ही लौट आता है, उसी तरह उपायान्तर न होनेसे हे भगवन्! बौद्ध लोगोंको आपके ही सिद्धान्तोंका आश्रय लेना चाहिये।

व्याख्यार्थ—जिसका अपर नाम संतान है, ऐसी बौद्धों द्वारा कल्पित वासना, त्रुटित मुक्तावलिके भिन्न-भिन्न मोतियोंके समान, परस्पर भिन्न क्षण एक दूसरेसे अनुस्यूत हुए हैं, इस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न करनेवाली—एक सूत्रके समान होती है। पूर्व ज्ञानक्षणसे उत्तर ज्ञानक्षणमें उत्पन्न की हुई शक्तिको वासना कहते हैं। दीपककी लौके समान नये नये उत्पन्न होनेवाले अपर अपर सदृश पूर्व और उत्तर क्षणोंकी परम्पराको क्षणसंतति कहते हैं। (जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहने पर भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें परस्पर सदृश ज्ञान होनेके कारण, यह वही लौ है, ऐसा ज्ञान होता है, उसी तरह पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सदृश ज्ञान होनेके कारण यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है। इसे ही बौद्ध मतमें क्षणसंतति कहा है।) यह वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, अभिन्न, अथवा अनुभय रूपसे किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

(१) वासना (संतति) और क्षणसंततिको परस्पर अभिन्न मानना ठीक नहीं। क्योंकि वासना

१. यथा बीजादिष्वात्मानमन्तरेणापि प्रतिनियमेन कार्यं तदुत्पत्तिश्च क्रमेण भवति, तथा प्रकृतेऽपि परलोकगामिनमेकं विनापि कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्प्रतिनियतमेव फलं क्लेशकर्माभिसंस्कृतस्य सन्तानस्याविच्छेदेन प्रवर्तनात् परलोके फलप्रतिलम्भोऽभिधीयते। इति नाकृताभ्यागमो न कृतविप्रणाशो बाधकः। बोधिचर्यावतारपञ्जिका पृ ४७३। अत्र शान्तरक्षितकृततत्त्वसंग्रहे कर्मफलसम्बन्धपरीक्षानामप्रकरणम् अवलोकयितव्यम्।

न द्वयम् । यद्धि यस्मादभिन्नं न तत् ततः पृथगुपलभ्यते, तथा घटाद् घटस्वरूपम् । केवलायां वासनायामन्वय्यिस्वीकारः । वास्याभावे च किं तया वासनीयमस्तु । इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते । क्षणपरम्परामात्राङ्गीकरणे च प्राञ्च एव दोषाः ॥

न च भेदेन ते युज्येते । सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यात् अक्षणिका वा? क्षणिका चेत्, तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक्कल्पनं व्यर्थम् । अक्षणिका चेत्, अन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनागमबाधः । तथा च पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम् ॥

अनुभयपक्षेणापि न घटेते । स हि कदाचित् एवं ब्रूयात्, नाहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं किंत्वनुभयमिति । तदप्यनुचितम् । भेदाभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात् अन्यतरपक्षाभ्युपगमः । तत्र च प्रागुक्त एव दोषः । अथवानुभयरूपत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गः । भेदाभेदलक्षणपक्षद्वयव्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्य नास्तित्वात् । अनार्हतानां हि वस्तुना भिन्नेन वा भाव्यम् अभिन्नेन वा? तदुभयातीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वात् । एवं विकल्पत्रयेऽपि क्षणपरम्परावासनयोरनुपपत्तौ पारिशेष्याद् भेदाभेदपक्ष एव कक्षीकरणीयः । न च "प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः ।" इति वचनादत्रापि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम् । कुक्कुटसर्पनरसिंहादिवद्[1] जात्यन्तरत्वादनेकान्तपक्षस्य ॥

और क्षणसंततिके अभिन्न होनेसे वासना और क्षणसंतति दोनोंमेसे किसी एकको ही मानना चाहिए दोनोंको नही। जो पदार्थ जिससे अभिन्न होता है, वह उससे अलग नहीं पाया जाता। जैसे घटस्वरूप घटसे अभिन्न है, इसलिये घटस्वरूप घटसे अलग नहीं पाया जाता। अतएव केवल वासनाको स्वीकार करना नित्य पदार्थको स्वीकार करनेके समान है। तथा, वास्य (क्षणसंतति) को स्वीकार न करके केवल वासनाको स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। यदि केवल क्षणपरम्परा स्वीकार करो तो पूर्वोक्त दोष आते हैं।

(२) यदि वासना और क्षणसंततिको परस्पर भिन्न मानो तो वासना क्षणिक है, अथवा अक्षणिक? यदि वासना क्षणिक है तो वासनाको क्षणोंसे भिन्न मानना निरर्थक है। यदि वासना अक्षणिक है तो वासना को नित्य माननेसे आपके आगमसे विरोध आता है, इसलिये पदार्थोंके क्षणिकत्वकी कल्पनाका प्रयास व्यसनमात्र है।

(३) वासना और क्षणसंततिमे भेद और अभेदसे विलक्षण भेदाभेदका अभाव (अनुभय) भी नही बन सकता। क्योंकि भेद विधिरूप है और अभेद निषेधरूप, इसलिये एकके निषेध करनेपर दूसरेको स्वीकार करना पड़ता है—भेद न माननेसे अभेद, और अभेद न माननेसे, भेद मानना पड़ता है। यह ठीक नही है। अलग-अलग भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमे दोष दिये जा चुके है। तथा, वासना और क्षणसंततिका संबंध परस्पर भेदाभेदके अभावरूप मानने पर क्षणसंतति और वासनाको अवस्तु अर्थात् कल्पित ही कहना चाहिये, क्योंकि बौद्धोंके मतमे भेद और अभेदसे विलक्षण तीसरा पक्ष नहीं बन सकता। अनेकांतवादियोंको छोड़कर अन्य वादियोंके मतमें पदार्थोंके परस्पर भेद और अभेदसे विलक्षण तीसरा पक्ष वंध्यापुत्रके समान, संभव नहीं है। अतएव भेद, अभेद और अनुभय तीनों विकल्पोंसे वासना और क्षणपरम्परा सिद्ध नही हो सकती। इसलिये वासना और क्षणपरम्परामें भेदाभेद ही स्वीकार करना चाहिये। यदि कहो कि "भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमें जो दोष आते हैं, वे सब दोष भेदाभेद माननेमें भी आते हैं" तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जैसे कुक्कुटसर्पमे कुक्कुट और सर्प दोनोंसे विलक्षण, और नरसिंहमे नर और

---

१ यथा नरसिंहे नरत्वसिंहत्वोभयजातिव्यतिरिक्तं नरसिंहत्वाख्यं जात्यन्तरम्, तद्वदित्यर्थः । कुक्कुटसर्पोऽपि कश्चन कुक्कुटत्वसर्पत्वेत्युभयजातिव्यतिरिक्त. कुक्कुटसर्पत्वजातिमान् प्राणिविशेषः स्यात् ॥

ननु आर्हतानां वासनाक्षणपरम्परयोरङ्गीकार एव नास्ति तत्कथं तदाश्रयभेदाभेदचिन्ता चरितार्था इति चेत्, नैवम्। स्याद्वादवादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरम्परोत्पत्तिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। अतीतानागतवर्तमानपर्यायपरम्परानुसंधायकं चान्वयिद्रव्यम्। तच्च वासनेति संज्ञान्तरभागप्यभिमतमेव। न खलु नामभेदाद् वादः कोऽपि कोविदानाम्। सा च प्रतिक्षणोत्पादिष्णुपर्यायपरम्परा अन्वयिद्रव्यात् कथंचिद् भिन्ना कथंचिदभिन्ना। तथा तदपि तस्याः स्याद् भिन्नं स्यादभिन्नम्। इति पृथक्प्रत्ययव्यपदेशविषयत्वाद् भेदः, द्रव्यस्यैव च तथा तथा परिणमनादभेदः। एतच्च सकलादेशविकलादेशव्याख्याने पुरस्तात् प्रपञ्चयिष्यामः॥

अपि च, बौद्धमते वासनापि तावन्न घटते, इति निर्विषया तत्र भेदादिविकल्पचिन्ता। तल्लक्षणं हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। न चास्थिराणां भिन्नकालतयान्योन्यासंबद्धानां च तेषां वास्यवासकभावो युज्यते। स्थिरस्य संबद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति॥

अथ पूर्वचित्तसहजात चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते, सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना। तथाहि। पूर्वचित्तं रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत् षड्विधं।

सिद्ध दोनोंसे विलक्षण तीसरा रूप पाया जाता है, उसी तरह अनेकान्त पक्षमें भेद और अभेद दोनोंसे भिन्न तीसरा पक्ष स्वीकार किया गया है।

शंका—जैन लोगोंने वासना और क्षणपरम्पराको स्वीकार ही नहीं किया, फिर वासना और क्षण परम्परामें भेद, अभेद आदिके विकल्प करना असंगत है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि स्याद्वादी लोगोंने प्रत्येक द्रव्यमें क्षण-क्षणमें नयी-नयी पर्यायोंकी परम्पराकी उत्पत्ति स्वीकार की है। इसीको जैन लोग क्षणपरम्परा कहते हैं। इसी प्रकार अतीत, अनागत, और वर्तमान पर्यायोंका संबंध करानेवाला नित्य द्रव्य भी जैन लोगोंने माना है। इस नित्य द्रव्यको वासना भी कह सकते हैं। अतएव पर्याय और क्षण-परम्परा, तथा द्रव्य और वासनामें नाम मात्रका अन्तर है। तथा पर्याय परंपरा नित्य द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न। नित्य द्रव्य भी प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली पर्यायपरम्परासे कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। इस प्रकार अन्वयिद्रव्य और पर्यायके भिन्न ज्ञान और भिन्न संज्ञाका विषय होनेके कारण, दोनोंमें भेद है, तथा द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं, क्योंकि एक ही द्रव्य भिन्न-भिन्न रूप पर्यायोंको धारण करता है। अतएव वासना और क्षणसंततिको भी भिन्नाभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये। द्रव्य और पर्यायके कथंचित् भेदाभेद का खुलासा सकलादेश और विकलादेशका स्वरूप वर्णन करनेके अवसरपर (२३ वें श्लोकमें) किया जायेगा।

बौद्धोंके मतमें 'वासना' ही सिद्ध नहीं होती, अतएव वासना और क्षणपरम्परामें भेद आदिकी कल्पना निरर्थक है। (वासना और क्षणसंतति इन दोनोंका सद्भाव होनेपर ही भेद आदि विकल्पका अवकाश हो सकता है। भेद आदि विकल्पोंके द्वारा तब विचार किया जा सकता है जब दोनोंका सद्भाव हो। वासनाका अभाव होनेपर एकमात्र क्षणसंततिका सद्भाव रहनेसे भेद आदि विकल्पोंके द्वारा विचार नहीं किया जा सकता)। पूर्वक्षणके द्वारा उत्तरक्षणकी वास्यता–पूर्वक्षणके द्वारा उत्तरक्षणमें शक्तिकी उत्पाद्यता ही वासना का लक्षण है। परन्तु बौद्धोंके मतमें क्षण स्वयं अस्थिर है, इसलिये परस्पर भिन्न और असंबद्ध क्षणोंमें वास्य-वासक सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्योंकि नित्य और कस्तूरीसे सम्बद्ध नित्य वस्त्रमें ही कस्तूरीसे वासना उत्पन्न हो सकती है।

शंका—रूप आदिको विषय बनानेवाले प्रवृत्तिविज्ञान रूप पूर्व चित्तके साथ उत्पन्न आलयविज्ञान रूप चेतनाविशेषसे पूर्वचित्तकी शक्तिसे युक्त चित (ज्ञान) उत्पन्न होता है। इस शक्तिविशिष्ट

पञ्च रूपादिविज्ञानान्यविकल्पकानि षष्ठं च विकल्पविज्ञानम्¹ । तेन सह जातः समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम्² । तस्मात् पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति ॥

तदपि न । अस्थिरत्वाद्वासकेनासंबन्धाच्च । यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी, स न वर्तमाने चेतस्युपकारं करोति । वर्तमानस्याशक्यापनेयोपनेयत्वेनाविकार्यत्वात् । तद्धि यथाभूतं जायते तथाभूतं विनश्यतीति । नाप्यनागते उपकारं करोति । तेन सहासंबद्धत्वात् ।

चित्तका उत्पन्न होना ही वासना है। तथाहि—रूप आदिको अपना विषय बनानेवाला प्रवृत्तिविज्ञान रूप वाला जो पूर्व चित्त है, वह छह प्रकारका है—पाच अविकल्पक रूप आदि विज्ञान और छठा विकल्प विज्ञान। इस प्रवृत्तिविज्ञान रूप पूर्व चित्तके साथ उत्पन्न अतएव समानकाल वाला, अहंकारका कारणभूत चेतनाविशेष आलयविज्ञान है। इस आलयविज्ञान रूप चेतनाविशेषमें पूर्व चित्तकी—पूर्व चित्त द्वारा जनित शक्तिविशिष्ट चित्तकी-उत्पत्ति होना वासना है। (प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। आलयविज्ञानसे प्रवृत्तिविज्ञानकी शक्तिविशिष्ट जिस चित्त (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है, वही वासना है। जिस प्रकार पवनके द्वारा समुद्रमें लहरें उठती हैं, उसी तरह अहंकारसयुक्त चेतना (आलयविज्ञान) में आलम्बन, समनन्तर, सहकारी और अधिपति प्रत्ययोंद्वारा प्रवृत्तिविज्ञान रूप धर्म उत्पन्न होता है। शब्द आदि ग्रहण करनेवाले पूर्व चित्तको प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं। यह प्रवृत्तिविज्ञान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध, और विकल्पविज्ञानके भेदसे छह प्रकारका है। शब्द, स्पर्श आदिको ग्रहण करनेवाले पाच विज्ञानोंको निर्विकल्प (जिस ज्ञानमें विशेषाकार रूप नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रतिभासित हों) और विकल्पविज्ञानको सविकल्प (जिस ज्ञानमें सब विज्ञान रूप प्रतिभासित हों) कहा गया है। इन्हीं ज्ञानोंको बौद्ध लोग चित्त कहते हैं। सौत्रान्तिक बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके बाह्य और आन्तर दो भेद हैं। बाह्य भूत और भौतिकके भेदसे दो प्रकारका है। पृथ्वी आदि चार परमाणु भूत हैं और रूप आदि और चक्षु आदि भौतिक हैं। आन्तर चित्त और चैत्तिकके भेदसे दो प्रकारका है। विज्ञानको चित्त अथवा चैत्तिक, और बाकीके रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार स्कन्धोंको चैत्त कहते हैं। प्रवृत्तिविज्ञानके साथ एक कालमें उत्पन्न होनेवाले अहंकारसे युक्त चेतनाको आलयविज्ञान कहते हैं। इस आलयविज्ञानसे पूर्व क्षणमें उत्पन्न चेतनाकी शक्तिविशिष्ट उत्तर चित्त उत्पन्न होता है। इसी आलयविज्ञानको वासना कहा है)।

समाधान— यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक चित्तक्षण क्षणिक होनेके कारण अस्थिर होता है—अन्वयी नहीं होता, तथा वासक वासनाजन्य आलयविज्ञान रूप चित्तक्षणके साथ उसके सम्बन्धका अभाव रहता है। तथा पूर्वचित्तके (प्रवृत्तिविज्ञानके) साथ उत्पन्न होनेवाली चेतनाविशेष (आलयविज्ञान) वर्तमान (क्षणिक) चित्तक्षणमें विशेषको उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि बौद्धोंके मतमें वर्तमान चित्तक्षणके क्षणिक होनेसे उसकी उत्पत्ति और विनाश असंभव होनेके कारण उसमें विकार नहीं होता। वह चित्तक्षण जिस रूपसे उत्पन्न होता है उसी रूपसे विनाशको प्राप्त हो जाता है। आलयविज्ञान भविष्यत्कालीन चित्तक्षणमें भी विशेष का उत्पाद नहीं करता, क्योंकि अनागत (भविष्य) चित्तक्षणके साथ वासक चित्तक्षण-वासनाजन्य आलयविज्ञान रूप चित्तक्षणका-सम्बन्ध नहीं होता। जो असबद्ध रहता है वह विशेषरूप विकारको उत्पन्न नहीं कर सकता (जब आलयविज्ञान ही घटित नहीं होता तो फिर वासनाकी उत्पत्ति किससे होगी?)

असंबद्धं च न भावयतीत्युक्तम् । तस्मात् सौगतमतमते वासनापि न घटते । अत्र च स्तुतिकारेणाभ्युपेत्यापि ताम् अन्वयिद्रव्यस्थापनाय भेदाभेदादिचर्चा विरचितेति भावनीयम् ॥

अथोत्तरार्द्धव्याख्या । तत इति पक्षत्रयेऽपि दोषसद्भावात् त्वदुक्तानि भवद्वचनानि भेदाभेदस्याद्वादसंवादपूतानि, परे कुतीर्थ्याः प्रकरणात् मायातनयाः श्रयन्तु आद्रियन्ताम् । अत्रोपमानमाह तटादर्शीत्यादि । तटं न पश्यतीति तटादर्शी । यः शकुन्तपोतः पक्षिशावकः तस्य न्याय उदाहरणम् तस्मात् । यथा किल कश्चमाप्यपारपारावारान्तःपतितः काकादिशकुनिशावको बहिर्निर्जिगमिषया प्रवहणकूपस्तम्भादेस्तटप्राप्तये मुग्धतयोड्डीनः, समन्ताज्जलैकार्णवमेवावलोकयंस्तटमदृष्ट्वैव निर्वेदात् व्यावृत्य तदेव कूपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते, गत्यन्तराभावात् । एवं तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयेऽपि वस्तुसिद्धिमनासादयन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाभेदपक्षमनिच्छयापि कक्षीकुर्वाणास्त्वच्छासनमेव प्रतिपद्यन्ताम् । न हि स्वस्य बलविकलतामाकलय्य बलीयसः प्रभोः शरणाश्रयणं दोषपाषाय नीतिशालिनाम् । त्वदुक्तानीति बहुवचनं सर्वेषामपि तन्त्रान्तरीयाणां पदे पदेऽनेकान्तवादप्रतिपत्तिरेव यथावस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिकं, नान्यदिति ज्ञापनार्थम्, अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इतरथान्धगजन्यायेन पल्लवग्राहिताप्रसङ्गात् ॥

श्रयन्तीति वर्तमानान्तं केचित्पठन्ति, तत्राप्यदोषः । अत्र च समुद्रस्थानीयः संसारः,

---

अतएव आलयविज्ञानकी सिद्धि न होनेसे उससे उत्पन्न होनेवाली वासना भी नहीं बनती। यहाँ स्तुतिकारने उस वासनाको स्वीकार करके भी अन्वयी द्रव्यकी सिद्धि करनेके लिये भेद, अभेद आदिकी चर्चा उठाई है।

अतएव भेद, अभेद और अनुभय तीनों पक्षोंके सदोष होनेसे कुतीर्थिक बौद्ध मतावलम्बियोंको आपके (जिन भगवान्के) कहे हुए भेदाभेद रूप स्याद्वादका आश्रय लेना पडता है। जिस प्रकार किसी पक्षीका बच्चा अथाह और विशाल समुद्रके बीचमें पहुंच जानेपर अपनी मूर्खताके कारण जहाजके मस्तूल परसे उडकर समुद्रके किनारे पर वापिस आनेकी इच्छा करता है, परन्तु वह चारों तरफ जल ही जल देखता है और कहीं भी किनारेका कोई निशान न पाकर, उपायान्तर न होनेसे फिरसे मस्तूलपर वापिस लौट आता है, इसी प्रकार कुतीर्थिक बौद्ध लोगोंका सिद्धान्त पूर्वोक्त तीनों पक्षोंसे सिद्ध न होनेपर बौद्ध लोगोंको भेदाभेद नामक चौथे पक्षको स्वीकार करनेकी अनिच्छा होनेपर भी, अन्तमें आपके ही मतका अवलम्बन लेना पडता है। अपने पक्षकी निर्बलता देख कर बलवान स्वामीका आश्रय लेनेसे नीतिज्ञ पुरुषोंका दोष नहीं समझा जाता। सम्पूर्ण वादी पद-पदपर अनेकान्तवादका आश्रय लेकर ही पदार्थोंका प्रतिपादन कर सकते हैं, यह बतानेके लिये श्लोकमें 'त्वदुक्तानि' पद दिया गया है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त स्वभाव है, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप स्याद्वादके विना किसी भी वस्तुका ठीक-ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अन्यथा जिस प्रकार जन्मके अन्धे मनुष्य हाथीका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथीके भिन्न-भिन्न अवयवोंको टटोल कर हाथीके केवल कान, सूंड, पैर आदिकों ही हाथी समझ बैठते हैं, उसी प्रकार एकान्ती लोग वस्तुके केवल एक अंशको जान कर उस वस्तुके एक अंश रूप ज्ञानको ही वस्तुका सर्वांशात्मक ज्ञान समझने लग जाते है।

कुछ लोग 'श्रयन्तु' के स्थानपर 'श्रयन्ति' पढते हैं। परन्तु दोनों पाठ ठीक हैं। समुद्रमें मस्तूल परसे उडनेवाले पक्षीकी तरह वादी लोग अपने सिद्धान्तको पुष्ट करके मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वे लोग अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि न होते देख वापिस आ कर स्याद्वादसे शोभित आपके शासनका आश्रय लेते हैं क्योंकि स्याद्वादका सहारा लेकर ही वादी लोग संसार-समुद्रमें छुटकारा पा सकते हैं, अन्यथा नहीं॥ यह श्लोकका अर्थ है॥१९॥

भावार्थ—इस श्लोकमें बौद्धोंकी 'वासना' पर विचार किया गया है। बौद्ध—प्रत्येक पदार्थ क्षण-

पोतसमानं त्वच्छासनम्, कूपस्तम्भसंनिभः स्याद्वादः । पक्षिपोतोपमा वादिनः । ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोड्डयनेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि तस्माद् इष्टार्थसिद्धिमपश्यन्तो व्यावृत्त्य स्याद्वादरूपकूपस्तम्भालङ्कृततावकीनशासनप्रवहणोपसर्पणमेव यदि शरणीकुर्वते, तदा तेषां भवार्णवाद् बहिर्निष्क्रमणमनोरथः सफलतां कलयति नापरथा ॥ इति काव्यार्थः ॥१९॥

एवं क्रियावादिनां[1] प्रावादुकानां कतिपयकुग्रहनिग्रहं विधाय सांप्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां[2] मतं सर्वाधमत्वादन्ते उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिंचित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

क्षणमे नष्ट होता है, कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमे बदलते रहते हुए भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमे एकसा ज्ञान होनेके कारण यह वही लौ है, यह ज्ञान होता है, वैसे ही पदार्थो के प्रत्येक क्षणमे बदलते रहनेपर भी पदार्थो के पूर्व और उत्तर क्षणोंमे एकसा ज्ञान होनेसे पदार्थकी एकताका ज्ञान होता है। पदार्थो के प्रत्येक क्षणमे नष्ट होते हुए भी परस्पर भिन्न क्षणोंको जोडनेवाली शक्तिको वासना, अथवा सन्तान कहते है। यह नाना क्षणोंकी परम्परा ही वासना है। इसी वासनाकी उत्तरोत्तर अनेक क्षणपरंपराके कार्य-कारण सम्बन्धसे कर्ता, भोक्ता आदिका व्यवहार होता है, वास्तवमें कर्ता और भोक्ता कोई नित्य पदार्थ नहीं है। **जैन**—वासना और क्षणसंतति परस्पर अभिन्न हैं, भिन्न है, अथवा अनुभय? (क) यदि वासना और क्षणसंतति अभिन्न है, तो दोंमेसे एकको ही मानना चाहिये। (ख) यदि वासना और क्षणसंततिको भिन्न मानों, तो दोनोंमे कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। (ग) भिन्न और अभिन्न दोनों विकल्प स्वीकार न करके यदि वासना और क्षणसंतति भिन्न-अभिन्नके अभाव रूप मानो, तो अनेकान्त मत छोड कर, दूसरे वादियोंके मतमें भेद और अभेदसे विलक्षण कोई तीसरा पक्ष नहीं बन सकता।

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग आलयविज्ञानको वासना कहते हैं। अहंकार-संयुक्त चेतनाको आलयविज्ञान कहते है। आलयविज्ञानमे प्रवृत्तिविज्ञान रूप सम्पूर्ण धर्म कार्य रूपसे उत्पन्न होते है। इस आलयविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिसे युक्त उत्तर क्षण उत्पन्न होता है। इसी आलयविज्ञान (वासना) से परस्पर भिन्न पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सम्बन्ध होता है। **जैन**—क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें स्वयं आलयविज्ञान भी नित्य नहीं कहा जा सकता। अतएव क्षणिक आलयविज्ञान परस्पर असंबद्ध पूर्व और उत्तर क्षणोंको नहीं जोड सकता। इसलिये आलयविज्ञान द्वारा पूर्व क्षणसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति नही हो सकती। अतएव बौद्धोंको पदार्थोको सर्वथा अनित्य न मान कर कथंचित् नित्य और कथंचित अनित्य ही मानना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्षणमें नयी-नयी उत्पन्न होनेकी अपेक्षा अनित्य है।, तथा वस्तुकी क्षण-क्षणमे पलटनेवाली भूत, भविष्य और वर्तमान पर्याय किसी नित्य द्रव्य (वासना) से परस्पर संबद्ध होती है, इस लिये अनित्य है।

इस प्रकार क्रियावादियों (आत्मवादी) के सिद्धान्तोंका खंडन करके अक्रियावादी (अनात्मवादी) लोकायत लोगोंके मतका खंडन करते हुए, अनुमान आदि प्रमाणोंके विना प्रत्यक्ष प्रमाणको असिद्धि बता कर उनके ज्ञानकी मन्दता दिखाते है—

१. क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यविप्रतिपत्ति । ये त्वक्रियावादिनस्तेऽस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव, अस्तित्वे वा शरीरेण सहैकत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यत्वमिच्छन्ति । उत्तराध्ययनसूत्रे २३, शीलाङ्कटीकायां ।

२. लोका निर्विचारा सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि। बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति । षड्दर्शनसमुच्चयोपरि गुणरत्नटीकायां पृ १२२।

विनानुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥२०॥

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः । तत्र सन्नह्यते । अनु पश्चात् लिङ्गसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरम् मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेण इत्यनुमानं । प्रस्तावात् स्वार्थानुमानम्[1] । तेनानुमानेन लैङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसन्धिं पराभिप्रायम्, असंविदानस्य सम्यग् अजानानस्य । तुशब्दः पूर्ववादिभ्यो भेदद्योतनार्थः । पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थानेषु क्षोदः कृतः, नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचिती कृत एव तेन सह क्षोद इति तुशब्दार्थः । नास्ति परलोकः पुण्यम् पापम् इति वा मतिरस्य । "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्[2]" इति निपातनात् नास्तिकः । तस्य नास्तिकस्य लौकायतिकस्य, वक्तुमपि न साम्प्रतं वचनमप्युच्चारयितुं नोचितम् । ततस्तूष्णींभाव एवास्य श्रेयान्, दूरे प्रामाणिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी ॥

वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते । परेण चाप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् नासौ सतामवधेयवचनो भवति, उन्मत्तवत् । ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणम् इत्याशङ्क्याह क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च इति । क्वेति बृहदन्तरे । चेष्टा इङ्गितम् । पराभिप्रायस्यानुमेयस्य लिङ्गम् । क्व च दृष्टमात्रम् । दर्शनं दृष्ट । भावे क्तः । दृष्टमेव दृष्टमात्रम् प्रत्यक्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमेतयोः । न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः

श्लोकार्थ—अनुमानके विना चार्वाक लोग दूसरेका अभिप्राय नहीं समझ सकते । अतएव चार्वाक लोगोंको बोलनेकी चेष्टा भी नहीं करनी चाहिये । क्योंकि चेष्टा और प्रत्यक्ष दोनोंमें बहुत अन्तर है । यह कितना प्रमाद है !

व्याख्यार्थ—चार्वाक—केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसलिये पांच इन्द्रियोंके विषयके बाह्य कोई वस्तु नहीं है। जैन—जिसके द्वारा अविनाभाव सम्बन्धके स्मरणपूर्वक देश, काल और स्वभाव सम्बन्धी दूर पदार्थोंका ज्ञान हो, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं । (अनु पश्चात् मीयते परिच्छिद्यते) स्वार्थानुमान परोपदेशके विना होता है, और परार्थानुमानमें दूसरोंको समझानेके लिये पक्ष और हेतुका प्रयोग किया जाता है । अनुमान प्रमाणके विना दूसरोंका अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता। अब तकके श्लोकोंमें आस्तिक मतका खंडन किया गया है। परलोक, पुण्य और पापको न माननेवाले नास्तिक चार्वाक लोग वचनोंका उच्चारण भी नहीं कर सकते, अतएव नास्तिकोंके लिये प्रामाणिक पुरुषोंकी सभासे दूर रह कर मौन रहना ही श्रेयस्कर है । "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" इस निपात सूत्रसे नास्तिक शब्द बनता है ।

दूसरोंको ज्ञान करानेके लिये ही वचनोंका प्रयोग किया जाता है । दूसरेके द्वारा अप्रतिपित्सित (जिसे जानने की इच्छा न हो) अर्थको प्रतिपादन करनेवालेका वचन उन्मत्त पुरुषके वचनके समान आदरणीय नहीं हो सकते। इसका मौन रहना ही कैसे श्रेयस्कर हो सकता है ? दूसरेके अनुमानका विषय बने हुए अभिप्रायको जाननेकी चेष्टाविशेष आदिसे, जिसको प्रतिपादन करना होता है, उसका अभिप्राय जानकर, उसके द्वारा वचनोच्चारण करना ठीक है'—इस शंकासे उत्तरमें कहते हैं। कहां चेष्टा (इंगित) और कहां प्रत्यक्षदर्शन ! दूसरेके अभिप्रायको बतानेवाली चेष्टामें और प्रत्यक्षसे किसी पदार्थको जाननेमें बहुत अन्तर है। क्योंकि चेष्टा दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें लिंग है, और प्रत्यक्ष लिंगके विना ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंके बाह्य दूसरेके मनका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ही होता

---

१ अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् । पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् । प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ३-१०,२३ । २ हैमसूत्रे ६-४-६६ ।

परिज्ञातुं शक्याः, तस्यैन्द्रियकत्वात् । मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चये अनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम् । तथाहि—मद्वचनश्रवणाभिप्रायवानयं पुरुषः, तादृग् मुखप्रासादादिचेष्टान्यथानुपपत्तेरिति । अतश्च हहा प्रमादः । हहा इति खेदे । अहो तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापह्नुते ॥

अत्र संपूर्वस्य वेत्तेरकर्मकत्वे एवात्मनेपदम्, अत्र तु कर्मास्ति तत्कथमत्रानश् । अत्रोच्यते । अत्र संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यम् । "वयःशक्तिशीले"[1] इति शक्तौ शानविधानात् । ततश्चायमर्थः । अनुमानेन विना पराभिसंहितं सम्यग् वेदितुमशक्तस्येति । एवं परबुद्धिज्ञानान्यथानुपपत्त्यायमनुमानं हठाद् अङ्गीकारितः ॥

तथा प्रकारान्तरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः । तथाहि—चार्वाकः काश्चित् ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्य, अन्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणतेतरते व्यवस्थापयेत्, न च संनिहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते । न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद् यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकम् परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत ।

है । अतएव लिंगभूत मुख आदिकी चेष्टासे दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये अनुमान प्रमाणको स्वीकार करनेकी अनिच्छा होनेपर भी प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणको जबरन मानना पड़ता है । तथाहि—'यह पुरुष मेरे वचनोंको सुननेकी इच्छा रखता है, क्योंकि यदि उसकी उक्त इच्छा न होती तो उसकी मुख-प्रसाद आदि रूप चेष्टायें न दिखाई देतीं'—इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके बिना नहीं होता । खेद है कि चार्वाक लोग इस प्रकार अनुमान प्रमाणका अनुभव करते हुए भी अनुमानको उडाकर केवल प्रत्यक्षको ही स्वीकार करना चाहते है ।

शंका—सं विद् धातु अकर्मक होनेपर आत्मानेपदमे ही प्रयुक्त होती है, इसलिये यहा 'पराभिसन्धिम्' कर्मके होते हुए सं-विद् धातुमें 'आनश्' प्रत्यय होकर 'संविदानस्य' शब्द नही बन सकता । समाधान—जो जाननेके लिये समर्थ हो, उसे 'संविदान' कहते है । यहा "वय शक्तिशीले" सूत्रसे सामर्थ्य के अर्थमे 'शान' प्रत्यय होनेसे 'संविदान' शब्द बना है । इसलिये यहा यह अर्थ होता है कि नास्तिक लोग दूसरे लोगोंके अभिप्रायको सम्यक्रूपसे समझनेमे असमर्थ (असंविदानस्य) है, अतएव दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण अवश्य मानना चाहिये ।

(क) तथा, प्रकारान्तसे भी अनुमान प्रमाण अंगीकार करना आवश्यक है । तथाहि—संवादी होनेके कारण कुछ ज्ञानव्यक्तियोंको अव्यभिचारी, तथा विसंवादी होनेके कारण अन्य ज्ञानव्यक्तियोंको व्यभिचारी जानकर, पुन कालान्तरमें संवादी अव विसंवादी ज्ञानव्यक्तियोंकी प्रमाणता और अप्रमाणताका चार्वाक अवश्यमेव निर्णय कर सकता है । किन्तु पूर्व एव अपरकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानव्यक्तियोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका निर्णय करनेमे साधनभूत समीपस्थ अर्थके बलसे उत्पन्न होनेवाले पूर्व एव अपर कालवर्ती पदार्थोंके सब धसे शून्य प्रत्यक्षको लक्ष्य करनेके लिये वह समर्थ नहीं है । अपने अनुभवका विषय बने हुए ज्ञानव्यक्तियों का दूसरेके लिये प्रमाण्य और अप्रामाण्यका निश्चय करनेके लिये चार्वाक समर्थ नहीं है । (ख) चार्वाक लोग प्रत्यक्षसे दूसरोंके प्रति ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं ठहरा सकते । अतएव पूर्व कालमे जाने हुए ज्ञानकी समानता देखकर वर्तमान कालके ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण ठहरानेके लिये प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमानके रूपमे कोई दूसरा प्रमाण अवश्य मानना चाहिये । प्रत्यक्षके अतिरिक्त दूसरा प्रमाण अनुमान ही हो

---

१. हैमसूत्रे ५-२-२४

परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, संनिहितमात्रविषयत्वात् तस्य । परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः ॥

किञ्च, प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यम्, कथमितरथा स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियाऽसमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि जलज्ञाने न प्रामाण्यम्? तच्च अर्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतोरनुमानागमयोरप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते? व्यभिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनाद् अप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषाद् निशीथिनीनाथयुगलावलम्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः । प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्, इतरत्रापि तुल्यमेतत् अन्यत्र पक्षपातात् । एवं च प्रत्यक्षमात्रेण वस्तुव्यवस्थानुपपत्तेः तन्मूला जीवपुण्यापुण्यपरलोकनिषेधादिवादा अप्रमाणमेव ॥

एतेन नास्तिकाभिमतो भूतचिद्वादोऽपि निराकार्यः । तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ उपयोगवर्णने—"न चायं भूतधर्मः सत्त्वकठिनत्वादिवद् मद्याङ्गेषु भ्रम्यादिमदशक्तिवद् वा प्रत्येकमनुपलम्भात् । अनभिव्यक्तावात्मसिद्धिः । कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः स उत्पद्यते इति चेत्, कायपरिणामोऽपि तन्मात्रभावी न कादाचित्कः । अन्यस्त्वात्मैव स्यात् । अहेतुत्वे न देशादि-

---

सकता है । (ग) प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोक आदिका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष पासके पदार्थो को ही जान सकता है । परलोकका अभाव माने विना चार्वाक लोगोंको शांति नहीं मिलती, और साथ ही वे लोग प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण न माननेकी भी हठ करते हैं—यह कैसी बालचेष्टा है ।

तथा, प्रत्यक्षका प्रामाण्य (ज्ञेयार्थको जाननेकी क्रियाकी–प्रमितिकी–उत्पत्तिमें साधकतम) प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय पदार्थके ज्ञानका अविसंवादित्व होनेपर ही सिद्ध होता है । यदि प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय पदार्थका ज्ञान अविसंवादी न होनेपर भी प्रत्यक्षका प्रामाण्य सिद्ध होता हो तो स्नान, पान, अवगाहन आदि प्रयोजन की निष्पत्ति करनेमें असमर्थ मृगतृष्णा विषयक जलज्ञानमें प्रामाण्य कैसे नहीं हो सकता ? अर्थके साथ प्रतिबद्ध (अविनाभाव युक्त) ऐसे हेतु और शब्दके द्वारा उत्पन्न अनुमान एवं आगमके द्वारा ज्ञात पदार्थके ज्ञानकी अविसंवादिता होनेसे इन दोनोंका प्रामाण्य क्यों स्वीकार नहीं किया जाता ? यदि कहो कि अनुमान और आगममें ज्ञात पदार्थके ज्ञानकी अविसंवादिता नहीं देखी जाती इसलिये उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता, तो इस प्रकार प्रत्यक्षमें भी तिमिर आदि नेत्ररोगके कारण एक चन्द्रमाका दो चन्द्रमा रूप ज्ञान होता है, इसलिये प्रत्यक्षको भी सर्वत्र अप्रमाण ही मानना चाहिये । यदि कहो कि नेत्ररोगके कारण एक चन्द्रमाके स्थानपर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, इसलिये एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमा ज्ञान प्रत्यक्षाभास है, तो इसी तरह हम सदोष अनुमानको अनुमानाभास, और सदोष आगमको आगमाभास कहते हैं । अतएव केवल प्रत्यक्ष प्रमाणसे पदार्थोंका निश्चित स्वरूप नहीं जाना जा सकता, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणका अवलम्बन लेकर जीव, पुण्य, पाप परलोक आदिका निषेध करनेवाले दर्शन अप्रमाण ही हैं ।

इससे नास्तिक लोगोंके भूतचिद्वाद (पांच भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति) का भी निराकरण करना चाहिये । द्रव्यालंकारके—(दो) कर्ता उपयोगका वर्णन करते समय कहते हैं—"जिस प्रकार सत्त्व, कठिनत्व आदि भूतोंके धर्म हैं, अथवा जिस प्रकार मादक द्रव्योंमें थकावट एवं मद उत्पन्न करनेवाली शक्ति, होती है, उसी प्रकार पंच महाभूतोंमेंसे प्रत्येक भूतमें चैतन्य नहीं पाया जाता, अतएव वह भूतधर्म नहीं है । यह चैतन्य भूतोंमें अभिव्यक्त नहीं होता, अतएव आत्माकी सिद्धि होती है । चार्वाक—जिस समय पृथिवी आदि पांच महाभूत शरीर रूपसे परिणत होते हैं, उसी समय उनमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है । जैन—यह ठीक नहीं । क्योंकि यदि आप लोग पृथिवी आदिके मिलनसे ही शरीरका परिणमन मानते हैं, तो वह अनित्य नहीं होता (शरीरके अनित्य न होनेके कारण उसकी उत्पत्ति होना असंभव है, अतएव चैतन्य धर्मकी भी उत्पत्ति नहीं होती) । और यदि पृथिवी आदिके अतिरिक्त चैतन्य कोई भिन्न वस्तु है, तो उसे आत्मा कहना चाहिये । यदि चैतन्य

नियमः । मृतेऽपि च स्यात् । शोणिताद्युपाधिः सुप्तादावप्यस्ति । न च सतस्तस्योत्पत्तिः, भूयो-भूयः प्रसङ्गात् । अलब्धात्मनश्च प्रसिद्धमर्थक्रियाकारित्वं विरुध्यते । असतः सकलशक्तिविकलस्य कथमुत्पत्तौ कर्तृत्वम्, अन्यस्यापि प्रसङ्गात् ? तन्न भूतकार्यमुपयोगः ॥

कुतस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदयः ? असंवेदनेन चैतन्यस्याभावात् । न, जाग्रदवस्थानुभूतस्य स्मरणात् । असंवेदनं तु निद्रोपघातात् । कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्यविकृतिः ? नैकान्तः, श्वित्रादिना कश्मलवपुषोऽपि बुद्धिशुद्धेः, अविकारे च भावनाविशेषतः प्रीत्यादिभेददर्शनात् शोकादिना बुद्धिविकृतौ कायविकारादर्शनाच्च । परिणामिनो विना च न कार्योत्पत्तिः । न च भूतान्येव तथा परिणमन्ति विजातीयत्वात् । काठिन्यादेरनुपलम्भात् । अणव एवेन्द्रियग्राह्यत्व-रूपां स्थूलतां प्रतिपद्यन्ते तज्जात्यादि चोपलभ्यते । तन्न भूतानां धर्मः फलं वा उपयोगः । तथा भवांश्च यदाक्षिपति तदस्य लक्षणम् । स चात्मा स्वसंविदित. । भूतानां तथाभावे वहिर्मुखं स्याद् । गौरोऽहमित्यादि तु नान्तर्मुख बाह्यकरणजन्यत्वात् । अनभ्युपगतानुमानप्रामाण्यस्य चात्मनिषेधोऽपि दुर्लभः ।

धर्मको अहेतुक माना जाय तो देश और कालका नियम नहीं वन सकता। यदि कहो कि भूतोंके शरीर रूपमे परिणमन होनेसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है, तो मृतक पुरुषमे भी चैतन्य पाया जाना चाहिये, क्योंकि वहा भी पृथिवी आदिका कायरूप परिणमन मौजूद है। यदि कहो कि मृतक पुरुषमे रक्तका सचार नही होता, अतएव मुर्देमें चेतन शक्तिका अभाव है, तो सोते हुए मनुष्यमें रक्तका सचार होनेपर भी उसे ज्ञान क्यों नहीं होता? तथा, यदि कहो कि चैतन्य धर्मका सद्भाव होनेपर भी उसकी उत्पत्ति होती है, तो यह भी ठीक नही। क्योंकि चैतन्य धर्मकी पुन पुन उत्पत्ति होनेका प्रसग आयेगा, तथा अनुत्पन्न चैतन्यधर्मका अर्थक्रियाकारित्व विरुद्ध पडेगा। जिस पदार्थका सर्वथा अभाव है, और जो सर्व शक्तिसे रहित है, वह उत्पत्ति क्रियाका कर्ता कैसे हो सकता है? यदि सकल शक्तिशून्य असत् पदार्थको भी उत्पत्ति क्रियाका कर्ता माना जाये तो विशिष्ट शक्तिशून्य पदार्थको भी कर्ता माननेका प्रसग उपस्थित होगा। अतएव उपयोग अर्थात् चैतन्य धर्म पच महाभूतोत्पन्न कार्य नही है।

शंका—यदि पृथिवी आदि पच भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती, तो सो कर उठनेवाले पुरुषमे चेतन शक्ति कहाँसे आती है, क्योंकि सोनेके समय पूर्व चेतन शक्ति नष्ट हो जाती है। **समाधान**—सो कर उठनेके पश्चात् हमें जाग्रत अवस्थामे अनुभूत पदार्थोंका ही स्मरण होता है। सोते समय चेतन शक्तिका निद्राके उदयमे आच्छादन हो जाता है। शंका—यदि शरीर और चैतन्यका कोई सबध नहीं है, तो शरीरमे विकार उत्पन्न होनेसे चेतनामे विकार क्यों होता है? **समाधान**—यह एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि बहुतसे कोढी पुरुष भी बुद्धिमान होते हैं, और शरीरमे किसी प्रकारका विकार न होनेपर भी बुद्धिमे राग द्वेष आदिका भावनाविशेषके कारण सद्भाव पाया जाता है, इसी तरह शोक आदिसे बुद्धिमे विकार होनेपर भी शरीरमे विकार नही देखा जाता। परिणामी अर्थात् परिणमनशील उपादानके अभावमे कार्य अर्थात् परिणामकी उत्पत्ति नहीं होती। तथा, पृथिवी आदि पंचभूतोंका चैतन्यरूप परिणमन मानना ठीक नही क्योंकि पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय है—पृथिवी आदिकी तरह चैतन्यमे काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते। परमाणु ही इन्द्रियग्राह्यत्व रूप स्थूल पर्यायको धारण करते हैं, और स्थूल पर्यायको प्राप्त करनेपर भी परमाणुओंकी जातिमे कोई अन्तर नहीं पडता। अतएव चैतन्य पृथिवी आदि पाच भूतोंका धर्म अथवा फल (कार्य) नहीं कहा जा सकता। तथा, आपलोग जिस पर आक्षेप करते है, हम उसे ही आत्मा कहते है। आत्मा स्वसवेदनका विषय हैं। यदि आत्मा भूतोंसे उत्पन्न हो, तो 'मै गोरा हूँ' यह अन्तर्मुख ज्ञान न होकर 'यह गोरा है' इस प्रकारका वहिर्मुख ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि वह बाह्य कारणसे उत्पन्न होता है। तथा अनुमान प्रमाणके स्वीकार किये विना आत्माका निषेध नही किया जा सकता।

धर्मः फलं च भूतानाम् उपयोगो भवेद् यदि ।
प्रत्येकमुपलम्भः स्यादुत्पादो वा विलक्षणात् ॥"

इति काव्यार्थः ॥२०॥

एवमुक्तयुक्तिभिरेकान्तवादप्रतिक्षेपमाख्याय साम्प्रतमनाद्यविद्यावासनाप्रवासितसन्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥२१॥

प्रतिक्षणं प्रतिसमयम् । उत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण विनाशेन च पूर्वाकारपरिहारलक्षणेन युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि । किं तत् ? स्थिरैकं कर्मतापन्नं । स्थिर-

'यदि चैतन्य (उपयोग) पृथिवी आदि भूतोंका धर्म या कार्य हो, तो प्रत्येक पदार्थमें चैतन्यकी उपलब्धि होनी चाहिये, और विजातीय पदार्थोसे सजातीय पदार्थोकी उत्पत्ति होनी चाहिये' ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—चार्वाक (१) प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। अतएव पाच इन्द्रियोंके बाह्य कोई वस्तु नहीं है। इसलिये स्वर्ग नरक और मोक्षका सद्भाव नहीं मानना चाहिये। वास्तवमें कण्टक आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुखको नरक कहते है। प्रजाके नियन्ता राजाको ईश्वर कहते हैं, और देहको छोडनेको मोक्ष कहते है। अतएव मनुष्य जीवनको खूब आनन्दसे विताना चाहिये कारण कि मरनेके बाद फिर ससारमें जन्म नहीं होता। जैन—अनुमान प्रमाणके विना दूसरेके मनका अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्षसे इन्द्रियोके बाह्य दूसरेका अभिप्राय नहीं जाना जा सक्ता। 'यह पुरुष मेरे बचनोका सुनना चाहता है, क्योंकि इसके मुँहपर अमुक प्रकारकी चेष्टा दिखाई देती है'—इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके विना नहीं हो सकता। तथा, विना अनुमान प्रमाणके ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का भी निश्चय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्षकी सत्यता भी अनुमानसे ही जानी जाती है। इसलिये अनुमान अवश्य मानना चाहिये।

चार्वाक—(२) जिस प्रकार मादक पदार्थोंसे मदशक्ति पैदा होती है, वैसे ही पृथिवी आदि भूतोसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती हैं। पॉच भूतोके नाश होनेसे चैतन्यका भी नाश हो जाता है, इसलिये आत्मा कोई वस्तु नहीं है। आत्माके अभाव होनेसे धर्म, अधर्म, और पुण्य, पाप भी कोई वस्तु नहीं ठहरते। जैन—यदि मादक शक्तिकी तरह चैतन्यको पाच भूतोका विकार माना जाय, तो जिस तरह मदशक्ति, प्रत्येक मादक पदार्थमें पायी जाती है, वैसे ही चेतन शक्तिको भी प्रत्येक पदार्थमें उपलब्ध होना चाहिये। तथा, यदि पृथिवी आदिसे चेतन शक्ति उत्पन्न हो, तो मृतक पुरुषमें भी चेतना माननी चाहिये। इसके अतिरिक्त, पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय है, क्योंकि चैतन्यमें पृथिवीके काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते। अतएव चेतना शक्तिको भौतिक विकार नहीं मानकर आत्माको स्वतंत्र पदार्थ मानना चाहिये।

इस प्रकार एकान्तवादका खडन करके, अनादि अविद्याकी वासनासे मलिन बुद्धिवाले जो लोग अनेकातको प्रत्यक्षसे देखते हुए भी उसकी अवमानना करते है, उनकी उन्मत्तताका प्रदर्शन करते है—

श्लोकार्थ—हे नाथ, प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न और नाश होनेवाले पदार्थोको प्रत्यक्षसे स्थिर देखकर भी वातरोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह लोग आपकी आज्ञाकी अवहेलना करते है।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्तर पर्यायोंके होनेसे उत्पन्न (उत्पाद) और पूर्व पर्यायोंके नाश होनेसे नष्ट (व्यय) होकर भी स्थिर रहता है। जिस प्रकार चैत्र और मैत्र दोनों भाइयोंका अधिकरण

मुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्तियदेकं द्रव्यंस्थिरैकम् । एकशब्दोऽत्र साधारणवाची । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम्, अन्वयिद्रव्यत्वात् । यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता पर्यायाणां, कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन् अपि । हे जिन रागादिजैत्र । त्वदाज्ञाम् आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं तवाज्ञा त्वदाज्ञा । ता त्वदाज्ञां भवत्प्रणीतस्याद्वादमुद्राम् यः कश्चिदविवेकी अवमन्यतेऽवजानाति । जात्यपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा । स पुरुपपशुर्वातकी पिशाचकी वा । वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी । वातकीव वातकी । वातूल इत्यर्थः । एवं पिशाचकीव पिशाचकी । भूताविष्ट इत्यर्थः ।

अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः उपमानार्थो वा । स पुरुषापसदो वातकिपिशाचकिभ्यामाधिरोहति तुलामित्यर्थः । "वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" [१]इत्यनेन मत्वार्थीयः कश्चान्तः । एवं पिशाचकीत्यपि । यथा किल वातेन पिशाचेन वाक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्नपि तदावेशवशात् अन्यथा प्रतिपद्यते एवमयमप्येकान्तवादापस्मार[२]परवश इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम् । रागादिजेतृत्वाद् हि जिनः । ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयावधेयवचनस्यापि तत्रभवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ हे स्वामिन् । अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः । तस्यामन्त्रणम् ॥

एक माता है, उसी तरह उत्पाद और विनाश दोनोंका अधिकरण एक अन्वयी द्रव्य है इसलिये उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी द्रव्य सदा स्थिर रहता है। क्योंकि उत्पाद और व्यय रूप पर्यायोंके कथंचित् अनेक होने पर भी द्रव्य कथंचित् एक माना गया है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप पदार्थोंको प्रत्यक्षसे देखकर भी वातरोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह अविवेकी लोग आपकी अनेकान्त रूप आज्ञाका उल्लघन करते है।

यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय अथवा उपमान अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यह अर्थ होता है कि आपकी आज्ञाको उल्लघन करनेवाले अधम पुरुष वातकी (वात रोगसे ग्रस्त) अथवा पिशाचकी (पिशाचसे ग्रस्त) की तरह हैं। यहाँ "वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" सूत्रसे वात और पिशाच शब्दस मत्वर्थमे ईन् प्रत्यय होकर अन्तमें 'क' लग जाता है। जिस प्रकार वात और पिशाचसे ग्रस्त पुरुष पदार्थोंको देखते हुए भी उन्हे वात और पिशाचके आवेशमें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है, वैसे ही एकान्तवाद रूपी अपस्मार (मृगी) से पीड़ित मनुष्य प्रत्येक पदार्थमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अवस्थाये देखकर भी उन्हे अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है। श्लोकमे 'जिन' शब्दका प्रयोग विशेष अर्थ बतानेके लिये किया गया है। जिसने राग, द्वेष आदि दोषोंको जीत लिया है, उसे जिन कहते है। अतएव आपके वचनोंके निर्दोष होनेपर भी जो लोग उनकी अवज्ञा करते है, उन्हे उन्मत्त ही कहना चाहिये। हे स्वामिन्, आप सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेवाले और उसे निरतिचार पालन करनेका उपदेश देनेवाले होनेके कारण सुख और शातिके दाता हैं, इसलिये आप नाथ हैं।

१, हैमसूत्रे ७-२-६१ ।

२ अपस्मर्यते पूर्ववृत्त विस्मर्यतेऽनेन । रोगविशेषः ।
तमःप्रवेशो सरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विध ॥
शब्दकल्पद्रुमें ।

वस्तुतत्त्व चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथाहि सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा, परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् ।

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्" ॥

इति वचनात् ।

ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुन । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात । न खलु सोऽस्खलद्रूपा येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद् बाधकस्याभावात् ।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है । तथाहि—द्रव्यकी अपेक्षासे कोई वस्तु न उत्पन्न होती है, और न नाश होती है । कारण कि द्रव्यमे भिन्न भिन्न पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेपर भी द्रव्य एकसा दिखायी देता है । (भाव यह है कि यदि द्रव्य रूपसे वस्तुका उत्पन्न होना स्वीकार किया जाये तो उत्पत्तिके पूर्वकालमें उसे सर्वथा असत् मानना होगा । ऐसी दशामे असत्से सत्की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी । तथा, यदि द्रव्यरूपसे वस्तुका विनाश होना स्वीकार किया जाये तो सत्का विनाश मानना होगा । और असत्का उत्पाद और सत्का नाश कभी होता नहीं । दूसरी बात यह है कि उत्पत्ति और विनाशके कालमें सत्का अभाव होने पर उत्पत्ति और विनाश किसके होंगे? अतएव जब वस्तुका अपने उपादेयभूत परिणामके रूपसे उत्पाद होता है और परिणामके विनाशके रूपसे व्यय होता है, तब द्रव्यका सद्भाव होता है, ऐसा मानना ही होगा तथा दोनों अवस्थाओंमे द्रव्यका अन्वय होनेसे उसका सद्भाव देखा जाता है) । **शंका**—नख आदिके काटे जाने पर फिरसे बढ जानेसे वे पहिले जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तवमे बढे हुए नख पहले नखोंसे भिन्न है । इसी तरह सम्पूर्ण पर्याय नयी नयी उत्पन्न होती है । इसलिये पर्यायोंको द्रव्यकी अपेक्षा एक मानना ठीक नहीं है । **समाधान**—यह ठीक नहीं । कारण कि फिरसे पैदा हुए नख पहले नखोंसे भिन्न हैं इसलिये नख आदिके दृष्टातमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है । परन्तु उत्पाद और नाशके होते हुए द्रव्यका एकसा अवस्थित रहना प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे सिद्ध है । कहा भी है—

"प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमे बदलते रहते है, फिर भी उनमे सर्वथा भिन्नपना नहीं होता । पदार्थोंमे आकृति और जातिसे ही अनित्यपना और नित्यपना होता है ।"

अतएव द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु स्थिर है, केवल पर्यायकी दृष्टिसे पदार्थोंमे उत्पत्ति और नाश होता है । हमें पर्यायोंके उत्पाद और व्ययका निर्दोष अनुभव होता है । इससे सफेद शखके पीतादि पर्यायके रूपसे परिणमन होने पर भी उसमे जो पीत आदि पर्यायका अनुभव (ज्ञान) होता है, उसके साथ 'पर्यायोंके निर्दोष अनुभवके सद्भावरूप' हेतुका व्यभिचार नहीं आता । क्योंकि सफेद शखमें पीलेपनका ज्ञान स्खलित होनेवाला होता है, कारण कि नेत्ररोगके दूर होनेपर वह ज्ञान हमें असत्य मालूम होता है । सफेद शखमे पीलेपनका ज्ञान अस्खलित नहीं होता, अर्थात् नष्ट होनेवाला होता है जिससे कि पूर्व पर्यायका नाश, ध्रुव रूप द्रव्यका त्याग न करनेवाली उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिके साथ अविनाभावी होता है । जीव आदि पदार्थोंमें हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायोंकी परम्परा अस्खलित नहीं कही जा सकती, क्योंकि उन पर्यायोंके अनुभवको बाधित करनेवाले हेतुका सद्भाव नहीं है ।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम्? न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं त्रयात्मकम्? तथा च

"यद्युत्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्।
अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्"

इति चेत्, तदयुक्तं, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। तथाहि—उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात, रूपादिवदिति। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्। असत आत्मलाभः सतः सत्तावियोगः द्रव्यरूपतयानुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव॥

न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः। तथाहि—उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात् कूर्मरोमवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात, तद्वत्। एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव। इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीना वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। तथा चोक्तम्—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥१॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्॥२॥[1]"

शंका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न है, या अभिन्न? यदि उत्पाद आदि परस्पर भिन्न है तो वस्तुका स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप नहीं कहा जा सकता। यदि वे परस्पर अभिन्न हैं, तो तीनों एक रूप होनेसे तीन रूप कैसे हो सकते है? कहा भी है—

"यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं, तो वे तीन रूप नहीं कहे जा सकते। यदि उत्पाद आदि अभिन्न हैं, तो उन्हे तीन रूप न मानकर एक ही मानना चाहिये।'

समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें कथंचित् भेद होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमे कथचित् भेद मानते हैं। तथाहि—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथचित् भिन्न है, भिन्न लक्षणवाले होनेसे, रूप, रस, स्पर्श और गधकी भाति। यहा भिन्न लक्षणरूप हेतु असिद्ध नहीं हैं। उत्पत्तिके पूर्व जिसका (कथंचित्) अभाव होता है उसका प्रादुर्भाव (आत्मलाभ), विद्यमान होता है उसकी सत्ताका अभाव, तथा द्रव्य रूपसे अनुवर्तन—ये वस्तुत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके परस्पर असंकीर्ण लक्षण सभीके द्वारा जाने जाते हैं।

उत्पाद आदि परस्पर भिन्न होकर भी एक दूसरेसे निरपेक्ष नहीं है। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एक दूसरेसे निरपेक्ष मानें, तो आकाश-पुष्पकी तरह उनका अभाव मानना पडे। अतएव जैसे कछुवेकी पीठपर बालोंके नाश और स्थितिके विना, बालोंका केवल उत्पाद होना सभव नहीं है, उसी तरह व्यय और ध्रौव्यसे रहित केवल उत्पादका होना नहीं बन सकता। इसी प्रकार कछुवेके बालोंकी तरह उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय, तथा उत्पाद और नाशसे रहित केवल स्थिति भी संभव नहीं हैं। अतएव एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तुका लक्षण स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है—

"घडे, मुकुट और सोनेके चाहनेवाले पुरुष घडेके नाश, मुकुटके उत्पाद, और सोनेकी स्थितिमे क्रमसे शोक, हर्ष और माध्यस्थ भाव रखते है। तथा, 'मैं दूध ही पीऊँगा' इस प्रकारका व्रत रखनेवाला पुरुष सिर्फ दूध ही पीता है, दही नहीं खाता, "मै आज दही ही खाऊँगा' इस प्रकारका नियम लेनेवाला पुरुष सिर्फ दही

१ आप्तमीमासाया ५९,६०

इति काव्यार्थः ॥२१॥

अथान्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वात् आस्तां तावत्साक्षाद् भवान्, भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः ॥२२॥

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु जीवाजीवलक्षणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव । अनन्तास्त्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः । त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः । अत एवाह अतोऽन्यथा इत्यादि ।

ही खाता है, दूध नहीं पीता, और गोरसव्रत नत लेनेवाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता। अत प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है।"

(यहां उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको दृष्टान्तसे समझाया गया है। एक राजाके एक पुत्र और एक पुत्री थी। राजाकी पुत्रीके पास एक सोनेका घड़ा था, राजाके पुत्रने उस घड़ेको तुड़वा कर उसका मुकुट बनवा लिया। घड़ेके नष्ट होनेपर (व्यय) राजाकी पुत्रीको शोक हुआ, मुकुटकी उत्पत्ति होनेसे (उत्पाद) राजाके पुत्रको हर्ष हुआ, तथा राजा दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ था (ध्रौव्य) इसलिये राजाको शोक और हर्ष दोनों नहीं हुए। इससे मालूम होता है, कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थायें मौजूद रहती है। इसी प्रकार दूधका व्रती दही, और दहीका व्रती दूध, और गोरसका व्रती दही और दूध दोनों नहीं खाता है। इसलिये प्रत्येक वस्तु तीनों रूप है) ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—जैन दर्शनके अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही वस्तुका लक्षण है (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्)। वेदान्ती लोगोंके अनुसार, वस्तु सर्वथा नित्य, और बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु सर्वथा क्षणिक है। परन्तु जैन लोगोंका मत है कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं इसलिये पर्यायकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है, तथा उत्पत्ति और नाश होते हुए भी हमें वस्तुकी स्थिरताका भान होता है, अतएव द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु नित्य है। अतएव जैन दर्शनमें प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य, और कथंचित् अनित्य स्वीकार की गई है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर कथंचित् भिन्न होकर भी सापेक्ष है। जिस प्रकार नाश और स्थितिके बिना केवल उत्पाद संभव नहीं है, तथा उत्पाद और स्थितिके बिना नाश संभव नहीं है, उसी तरह उत्पाद और नाशके बिना स्थिति भी संभव नहीं। अतएव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको ही वस्तुका लक्षण मानना चाहिये।

साक्षात् भगवान्की बात तो दूर रही, भगवान्के उपदेशके कुछ अंश ही कुवादियोंको पराजित करनेमें समर्थ है, इसलिये स्तुतिकार स्याद्वादका प्रतिपादन करते है—

श्लोकार्थ—प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म मौजूद है, पदार्थोंमें अनन्त धर्म माने बिना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती। अतएव आपके प्रमाणवाक्य कुवादी रूप मृगोंको डरानेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान है।

व्याख्यार्थ—जीवरूप और अजीवरूप परमार्थभूत वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। त्रिकालविषय होनेसे जो धर्म अनन्त है वे सहभावी पर्याय (गुणरूप) और क्रमभावी पर्यायरूप होते हैं। सहभावी और क्रमभावी पर्यायें जिसका स्वरूप होती है, वह वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है। यहां 'एव' शब्द, अनंतधर्मात्मक न होनेवाले वस्तुका परिहार करनेके लिये प्रयुक्त किया गया है। अतएव 'अतोऽन्यथा' इत्यादि शब्दोंका

अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन । सत्त्वं वस्तुतत्त्वम् । असूपपादं सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंटङ्कमारोप्यते इति सूपपादं । न तथा असूपपादं । दुर्घटमित्यर्थः । अनेन साधनं दर्शितम् । तथाहि—तत्त्वमिति धर्मि । अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः । सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः । अन्तर्व्याप्त्यैव[1] साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम् । यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकी हेतुः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात् ।

अनन्तधर्मात्मकत्वं च आत्मनि तावद् साकारानाकारोपयोगिता । कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता [2]अमूर्तत्वम् असंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः[3] सहभाविनो

प्रयोग किया गया है । 'अतोऽन्यथा' अर्थात् उक्त प्रकारसे विपरीत । 'सत्त्व' अर्थात् वस्तुका स्वरूप । 'सूपपाद'-सुखसे प्राप्त करने योग्य । जो 'सूपपाद' नहीं, वह 'असूपपाद' अर्थात् दुर्घट । इसके द्वारा साधन प्रदर्शित किया गया है । तथाहि—'तत्त्व' यह धर्मी है । 'अनन्त धर्मात्मकत्व' यह साध्यभूत धर्म है । 'सत्त्वान्यथानुपपत्ते' हेतु है, क्योंकि अन्यथानुपपन्नत्व हेतुका लक्षण है । 'वस्तुतत्व (पक्ष) अनन्त धर्मात्मक (साध्य) है, क्योंकि दूसरे प्रकारसे वस्तुतत्त्वकी सिद्धि नही होती (हेतु)'—यहाँ अन्तर्व्याप्तिसे साध्यकी सिद्धि होती है, इसलिये उक्त हेतुमे दृष्टाँतकी आवश्यकता नहीं है । (जहा साधनसाध्यसे व्याप्त होता है, अर्थात् जहाँ साध्य अपने स्वरूपसे साधनमे होता है, उसे अन्तर्व्याप्ति कहते है । जिस समय प्रतिवादीको व्याप्ति सबंधका ज्ञान करते समय व्याप्ति सबंधका स्मरण होता हैं, उस समय प्रतिवादीको हेतुके सर्वत्र साध्य युक्त होनेका ज्ञान होता है, और साथ ही अन्तर्व्याप्ति ज्ञानसे प्रतिवादीको यह भी ज्ञान होता है कि प्रस्तुत पक्षमें वर्तमान हेतु भी साध्यसे युक्त है । दृष्यातके बिना पक्षके भीतर ही हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है, इसलिये यहाँ पक्षके बाहर दृष्यातके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता) । 'जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता, जैसे आकाशका फूल' । आकाशके फूलमें अनन्त धर्म नहीं रहते, इसलिये वह सत् भी नहीं है । सत्त्वान्यथानुपपत्ते' यह हेतु केवलव्यतिरेकी है । जहाँ जहाँ साध्य नहीं रहता, वहाँ वहाँ साधन नहीं रहता । क्योंकि 'जहा-जहा सत् है, वहा वहा अनन्त धर्म पाये जाते है' इस अन्वयव्याप्तिमें दिया जानेवाला प्रत्येक दृष्यात पक्षमें ही गर्भित हो जाता है । अतएव यहा अन्वयव्याप्ति न बताकर केवल व्यतिरेक व्याप्ति बताई गई है ।

ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आठ मध्य प्रदेशोंकी स्थिरता, अमूर्त्त्व, असख्यात प्रदेशीपना

१ अन्तःपक्षमध्ये व्याप्तिः साधनस्य साध्याक्रान्तत्वमन्तर्व्याप्ति । तयैव साध्यस्य गम्यस्य सिद्धेः प्रतीते । अयमर्थः । अन्तर्व्याप्ते साध्यससिद्धिशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णन वन्ध्यमेव । साध्यससिद्ध्यशक्तौ बाह्यव्याप्ते वर्णनं व्यर्थमेव ।

२ तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यमप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवाना स्थिता एव । केवलिनामपि अयोगिना सिद्धानां च सर्वे प्रदेशा स्थिता एव । व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणताना जीवाना यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जिता इतरे प्रदेशा अवस्थिता एव । शेषाणा प्राणिना स्थितास्चास्थितास्चेति । तत्त्वार्थराजवार्तिके पृ २०३

३ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

छाया – जीवः उपयोगमय अमूर्ति कर्त्ता स्वदेहपरिमाण ।
भोक्ता ससारस्थ सिद्ध स विस्रसा ऊर्ध्वगति ॥ द्रव्यसग्रहे २

जीवसिद्धि चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण नैयायिकं प्रति, अमूर्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वय प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापन साख्य प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापन नैयायिकमीमासकसाख्यत्रय प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यान बौद्धं प्रति, ससारस्य व्याख्यान सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यान भट्टाचार्वाकद्वय प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्य । द्रव्यसग्रहवृत्तौ ।

धर्माः । हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः । धर्मास्तिकायादिष्वपि असंख्येयप्रदेशात्मकत्वम् गत्याद्युपग्रहकारित्वम्[1] मत्यादिज्ञानविषयत्वम् तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वम् अवस्थितत्वम् अरूपत्वम् एकद्रव्यत्वम् निष्क्रियत्वमित्यादयः । घटे पुनरामत्वम् पाकजरूपादिमत्त्वम् पृथुबुध्नोदरत्वम् कम्बुग्रीवत्वम् जलादिधारणाहरणसामर्थ्यम् मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वम् नवत्वम् पुराणत्वमित्यादयः । एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शब्दार्थाश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम् ॥

और जीवत्व इत्यादि आत्माके सहभावी धर्म हैं। (जो धर्म सदा द्रव्यके साथ रहते हैं, उन्हें सहभावी धर्म कहते हैं। सहभावी धर्म गुण भी कहे जाते हैं। (१) व्यवहार नयकी अपेक्षा साकार ज्ञानोपयोग और निराकार दर्शनोपयोग जीवका लक्षण है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जीवसे कभी अलग नहीं होते। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार, और मति, श्रुति अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुति, और कुवधि ज्ञानके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है। निश्चय नयसे शुद्ध अखंड केवलज्ञान ही जीवका लक्षण है। नैयायिक लोग ज्ञान और दर्शनको आत्माका स्वभाव न मानकर उन्हें आत्माके साथ समवाय संबंधसे संबद्ध मानते हैं, इसलिये जीवको उपयोग रूप बताया है। (२) जीव कर्ता है। जीव सांख्योंके पुरुषकी तरह कर्मोंसे निर्लिप्त होकर केवल द्रष्टाकी तरह नहीं रहता, किन्तु ज्ञानावरण आदि कर्मोंका स्वयं करनेवाला निमित्तकर्ता है। यहां सांख्य मतके निराकरणके लिये जीवको कर्ता बताया गया है। (३) यह जीव सुख-दुख रूप कर्मोंके फलका भोग करता है। क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें जो कर्ता है, वह भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिये जीवको भोक्ता कहा गया है। (४) जीवके आठ मध्यप्रदेश सदा एकसे अवस्थित रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धोंके सम्पूर्ण प्रदेश स्थिर रहते हैं। व्यायाम दुख, परिताप आदिसे युक्त जीवोंके आठ प्रदेशोंके अतिरिक्त बाकीके प्रदेश प्रवृत्तिशील होते हैं। शेष जीवोंका प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों रूप प्रदेश होते हैं। (५) यह जीव स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे रहित है, इसलिये निश्चय नयसे अमूर्त है। (६) जीव लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंका धारक है। वास्तवमें जैन दर्शनके अनुसार नैयायिक-मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह जीवको प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं माना, किन्तु जैन दर्शनमें ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक कहा है।[2] (७) जीवमें जीवत्व जीवका पारिणामिक (स्वाभाविक) भाव है, व्यवहार नयसे दस प्राण, और निश्चय नयसे चेतना जीवका जीवत्व है।) हर्ष, विषाद, शोक, सुख, दुख देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि अवस्था जीवके क्रमभावी अर्थात् क्रमसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले धर्म हैं। (क्रमभावी धर्मोंका दूसरा नाम पर्याय भी है।) (१) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रत्येक द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश (अविभाज्य अंश) होते हैं। (२) जिस प्रकार जल मछलीके चलानेमें सहायता करता है, और वृक्षकी छाया पथिकके ठहरानेमें निमित्त होती है, उसी तरह धर्म गतिशील पदार्थोंकी गतिमें, और अधर्म ठहरनेवाले पदार्थोंकी स्थितिमें निमित्त कारण होते हैं। (३) धर्म और अधर्म मति, श्रुति आदि ज्ञानोंसे निश्चित किये जाते हैं। (४) धर्म और अधर्म अपने स्वरूपको छोड़कर परस्पर नहीं होते, इसलिये परस्पर मिश्रण न होनेसे अवस्थित हैं। (५) धर्म और अधर्म स्पर्श आदिसे रहित होनेसे अरूपी हैं। (६) एक व्यक्तिरूप होनेसे एक हैं, तथा (७) क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय हैं। इसी प्रकार घटमें कच्चापन, पक्कापन, मोटापन, चौड़ापन, कम्बुग्रीवापन (शंख जैसी गर्दन) जलधारण, जलआहरण, ज्ञेयपन, नयापन, पुरानापन आदि अनन्त धर्म रहते हैं। अतएव नाना नयोंकी दृष्टिसे शब्द और अर्थकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं।

---

१. नित्यावस्थितान्यरूपाणि। आ आकाशादेकद्रव्याणि। निष्क्रियाणि च। असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये पञ्चमाध्याये सूत्राणि।

२. देखिये द्रव्यसंग्रहवृत्ति गा. १०।

अत्र चात्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवृत्तिरूपमन्वयिद्रव्यं ध्वनितम् । ततश्च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति व्यवस्थितम् । एवं तावदर्थेषु । शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणतादयः तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः । अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः । इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि । आस्तां तावद् साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान् । यावदेतान्यपि कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः कुवादिनः कुत्सितवादिनः । एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगास्तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः । यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रस्ततामनुवते प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत । एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः ॥

अत्र प्रमाणानि इति बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम्, एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसलिलसर्वसरिद्वालुकानन्तगुणार्थत्वात् तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात् । अथवा "इत्यादिबहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति" इति न्यायाद् इतिशब्देन प्रमाणबाहुल्यसूचनात् पूर्वार्द्धे एकस्मिन् अपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनम् ॥ इति काव्यार्थः ॥२२॥

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम् । तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह—

'अनन्त धर्मात्मक' शब्दमें आत्मा शब्दसे अनन्त पर्यायोंमें रहनेवाले नित्य द्रव्यका सूचन होता है। अतएव "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही 'सत्' का लक्षण है।" पदार्थोंकी तरह शब्दोंमें भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि तथा पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति आदि अनन्त धर्म पाये जाते हैं। 'तत्त्वं अनन्तधर्मात्मकं सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इस अनुमानमें जो 'सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' हेतु दिया गया है उसके असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकान्तिकत्व आदि दोषोंके परिहार पर स्वयं विचार करना चाहिये। हे भगवन्! आपकी बात तो दूर रही, आपके न्याययुक्त वचन ही कुवादीरूपी हरिणोंको संत्रस्त करनेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान है। जिस प्रकार सिंहकी गर्जनाको सुनकर जंगलके हरिण भयभीत होते हैं, उसी प्रकार आपके स्याद्वादका निरूपण करनेवाले वचनोंको सुनकर वस्तुके केवल अंशमात्रको ग्रहण करनेवाले, संसाररूपी गहन वनमें फिरनेवाले कुवादी लोग संत्रस्त होते हैं।

एक एक विषयको खंडन करनेवाले बहुतसे प्रमाणोंका सूचन करनेके लिये श्लोकमें 'प्रमाणानि' बहुवचन दिया है, क्योंकि भगवानके प्रत्येक सूत्र सम्पूर्ण समुद्रोंके जलमें और सम्पूर्ण नदियोंकी बालुकासे भी अनंतगुने हैं और वे सम्पूर्ण सूत्र सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए हैं, इसलिये प्रमाण हैं। अथवा "इति, आदि बहुवचनवाले शब्दसमूहके सूचक होते हैं" इस न्यायसे 'इति' शब्दसे बहुतसे प्रमाणोंका सूचन होता है,अतएव श्लोकके पूर्वार्धमें एक प्रमाणका उल्लेख करनेपर भी बहुवचन समझना चाहिये॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥२२॥

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको अनंत धर्मवाली सिद्ध किया गया है। जैन सिद्धांतके अनुसार यदि पदार्थोंमें अनंत धर्म स्वीकार न किये जायं, तो वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतएव, 'प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, क्योंकि वस्तुमें अनंत धर्म माने विना वस्तुमें वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता। जैसे आकाश।' अतएव जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सम्पूर्ण द्रव्योंमें अनन्त धर्म स्वीकार करने चाहिये।

वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं, इसीको सात भंगों द्वारा प्ररूपण करते हुए भगवान्के निरतिशय वचनातिशयकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥२३॥

समस्यमानं संक्षेपेणोच्यमानं वस्तु अपर्ययम् अविवक्षितपर्यायम् । वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्[1] । अयमभिप्रायः । यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वस्तु वक्तुमिष्यते । तदा संक्षेपेणाभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वलक्षणेनाभिधीयमानत्वात् अपर्ययमित्युपदिश्यते । केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः । यथात्मायं घटोऽयमित्यादि, पर्यायाणां द्रव्यानतिरेकात् । अतएव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहाद्यो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात् । पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । अद्रव्यमित्यादि । चः पुनरर्थे । स च पूर्वस्माद् विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च । विविच्यमानं चेति विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं पुनरेतद् वस्तु अद्रव्यमेव । अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः ॥

यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्यायं विचार्यते, तदा पर्याया एव

श्लोकार्थ—सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंसे युक्त होनेपर भी संक्षेपमें कथन किये जाने पर जिसको पर्यायें गौण होती है, और विस्तारसे कथन किये जानेपर जिसकी पर्यायोंकी मुख्यता होती है, तथा सकलादेश (प्रमाण) और विकलादेश (नय) के भेदसे जिसके सात अंगोंका प्ररूपण किया गया है, ऐसी पंडितों द्वारा समझने योग्य वस्तुका, हे भगवन ! आपने ही प्रतिपादन किया है ।

व्याख्यार्थ—जब वस्तुका कथन संक्षेपमें किया जाता है, तब उसकी पर्याय विवक्षित नहीं होती—वे गौण होती है। जिसमे गुण और पर्याये रहती है, वह वस्तु धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव-इन छह द्रव्यों [देखिये परिशिष्ट (क)] मे विभक्त की जाती है। (कोई आचार्य कालको पृथक् द्रव्य नहीं मानते। उनके मतमें पाच ही द्रव्य है) अभिप्राय यह है—चेतनात्मक आत्मरूप और अचेतनात्मक घट आदि रूप एक ही वस्तुकी पर्यायोंके विद्यमान होने पर भी, उन पर्यायोंके कथन करनेकी इच्छा न होनेसे—उन्हें गौण कर देनेसे-द्रव्यमात्र रूप वस्तुका कथन करना ही इष्ट होता है। अतएव संक्षेपसे प्रतिपादित समस्त पर्यायसमूहके अन्तर्भाव होनेसे 'अपर्यय' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'अपर्यय'का अर्थ है केवल द्रव्यरूप। उदाहरणके लिये, 'यह आत्मा है,' 'यह घट है'-कहने पर, आत्मा और घटकी पर्याये विद्यमान होनेपर भी, उनके आत्मा और घटसे भिन्न न होनेके कारण, उनका निर्देश नही किया जाता, क्योंकि वे विवक्षित नहीं है । अतएव द्रव्यास्तिक नयरूप शुद्ध संग्रह आदि नयोंको अपने विषयरूपसे द्रव्यमात्र ही इष्ट होता है, क्योंकि पर्याये द्रव्यसे भिन्न नही होतीं। 'पर्यय,' 'पर्यव' 'पर्याय' शब्द पर्यायवाची है । जब पर्यायोंका द्रव्यसे भिन्नरूपसे कथन किया जाता है तब अन्वयि द्रव्यकी विवक्षा न होनेसे वस्तु केवल पर्यायरूप होती है।

जिस समय आत्माकी ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंकी मुख्यतासे आत्माका विचार किया जाता है,

१ केषांचिदाचार्याणा मते पंचास्तिकाया एव। कालो द्रव्य पृथग् नास्ति । जीवादिवस्त्वपि कदाचित् कालशब्देन उच्यते । तथा चागमः। "किमय भंते, कालोत्ति पवुच्चइ, गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेवत्ति" । अन्ये तु आचार्या संगिरन्ते । अस्ति धर्मास्तिकायादिद्रव्यपञ्चकव्यतिरिक्तम् अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ति षष्ठं कालद्रव्य, यन्निबन्धा एते ह्य स्व इत्यादय प्रत्यया शब्दाश्च प्रादुर्भवन्ति । आगमश्च । "कइ णं भंते दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता । त जहा धम्मत्थिकाये अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए अद्धासमये य" । हरिभद्रकृतधर्मसंग्रहिण्या मलयगिरिटीकाया गा ३२

प्रतिभासन्ते, न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम् । एवं घटोऽपि कुण्डलौष्ठपृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागाद्यवयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याया एव, न पुनर्घटाख्य तदतिरिक्तं वस्तु । अतएव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति—

"भागा एव हि भासन्ते संनिविष्टास्तथा तथा ।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते ।"

इति । ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया पर्यायनयानर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयानर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता । अत एवाह वाचकमुख्यः "अर्पितानर्पितसिद्धेः"[1] इति । एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु त्वमेवादीदृशस्त्वमेव दर्शितवान् नान्य इति काक्वावधारणावगतिः ॥

नन्वन्याभिधानप्रत्यययोग्यं द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकम्? इत्याशङ्कयः विशेषणद्वारेण परिहरति आदेशभेदेत्यादि । आदेशभेदेन सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन उदिताः प्रतिपादिताः सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा । ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविध वस्तुतत्त्वमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयाः तत्र विप्रतिपद्यन्ते? इत्याह बुधरूपवेद्यम् इति । बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्व सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः । प्रकृष्टाः बुधाः बुधरूपाः नैसर्गिकाधिगमिकान्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः । तैरेव

उस समय केवल ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंका ही ज्ञान होता है, आत्मा कोई भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार जब हम घटके मोटेपन, गोलपन, पूर्वभाग, अपरभाग आदि अवयवोंको देखते हैं, उस समय हमें घट द्रव्यका अलग ज्ञान न होकर घटकी पर्यायोंका ही ज्ञान होता है। अतएव पर्यायास्तिक नयको माननेवाले कहते है —

"उस प्रकारसे पारस्परिक घनिष्ठ संयोगको प्राप्त अंश–अवयव-ही प्रतिभासित होते हैं। अंशवान् पदार्थ ही प्रतिभासित होता है, कोई निरंश द्रव्य दिखाई ही नहीं देता।"

अतएव प्रत्येक वस्तुके द्रव्य, पर्याय और उभयरूप होनेपर भी द्रव्यनयकी मुख्यतासे और पर्यायनयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान द्रव्यरूप, पर्यायनयकी मुख्यता और द्रव्यनयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान पर्याय रूप, तथा द्रव्य और पर्याय दोनोंकी प्रधानतासे वस्तुका ज्ञान उभयरूप होता है।" वाचकमुख्य उमास्वातिने कहा भी है—"द्रव्य और पर्यायकी मुख्यता और गौणतासे वस्तुकी सिद्धि होती है।" वस्तुका यह द्रव्य और पर्यायरूप स्वरूप आपने (जिन भगवान्ने) ही प्ररूपण किया है, दूसरे किसीने नहीं। यहा अवधारणका ज्ञान काकुसे होता है।

शंका—द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न अभिधान और भिन्न भिन्न ज्ञानके विषय होते हैं अतएव एक वस्तुको द्रव्य और पर्याय दोनों रूप नहीं कह सकते। समाधान—इस शंकाका परिहार 'आदेशभेद' विशेषणसे किया गया है। हमलोग सकल और विकल आदेशके भेदसे द्रव्य और पर्यायरूप वस्तुको मानते हैं। इसी सकलादेश (प्रमाण) और विकलादेश (नय) के ऊपर सप्तभंगी नय अवलम्बित है। शंका— यदि तीनों लोकोंके बन्धु जिन भगवान्ने प्रत्येक वस्तुका सामान्य रूपसे सब लोगोंके लिये सप्तभंगी द्वारा विवेचन किया है, तो अन्य वादी लोग सप्तभंगीके सिद्धांतको क्यों नहीं मानते? समाधान—सप्तभंगी नयके सूक्ष्म तत्त्वको निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध उत्कृष्ट विद्वान ही समझ सकते हैं। केवल अपने

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे ५-३२ ।

वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम्, न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः, तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथावस्थितवस्तुतत्त्वानवबोधेन बुधरूपत्वाभावात् । तथा चागमः—

"सदसदविसेसणाउ भवहेउजहिच्छिओवलंभाउ ।
णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं"[1]

अतएव तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति, तेषामुपपत्तिनिरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात् । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमति । सम्यग्दृशां सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेधविषयतयोन्नयनात् । तथाहि किल वेदे "अजैर्यष्टव्यम्" इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकतया व्याचक्षते, सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि सप्तवार्षिकं कङ्गुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति । अतएव च भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति"[2] इत्यादिऋचः श्रीमदिन्द्रभूत्यादीनां द्रव्यगणधरदेवानां[3] जीवादिनिषेधकतया[4]

अपने शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे कुण्ठित बुद्धिवाले पुरुष इस गहन तत्त्वको नहीं समझ सकते, क्योंकि इन लोगों की बुद्धि अनादिकालकी अविद्या वासनासे दूषित रहती है, इसलिये ये लोग पदार्थोंका ठीक ठीक ज्ञान नहीं कर सकते । आगममें भी कहा है—

"सत् और असत्का विवेक न होनेसे, कर्मोंके सद्भावसे और ज्ञानके फलका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टिके अज्ञान उत्पन्न होता है ।"

अतएव उनके द्वारा ज्ञात द्वादशाग (देखिये परिशिष्ट (क)) शास्त्रको भी मिथ्यादृष्टि मिथ्याश्रुत समझता है, क्योंकि युक्तिवादसे निरपेक्ष अपनी इच्छानुसार वस्तुको जाननेकी इच्छा प्रबल होती है । सम्यग्दृष्टि द्वारा ज्ञात मिथ्याश्रुत भी समीचीन श्रुतके रूपसे परिणत होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ भगवान्के उपदेशके अनुसार चलता है, इसलिये वह मिथ्या आगमोंका भी यथोचित विधि-निषेध रूप अर्थ कर उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है । (क) उदाहरणके लिये "अजैर्यष्टव्यम्" इस वेदवाक्यमें मिथ्यादृष्टि 'अज' शब्दका अर्थ पशु, और सम्यग्दृष्टि उत्पन्न न होने योग्य तीन बरसके पुराने जौ, धान आदि पाच बरसे पुराने तिल, मसूर आदि, तथा सात बरसके पुराने कागनी, सरसों आदि धान्य अर्थ करते हैं । (ख) अतएव भगवान श्रीवर्द्धमानस्वामीने—"यह विज्ञानघन आत्मा इन भूतोंसे उत्पन्न होकर भूतोंमें तिरोहित हो जाता है, उसके परलोक नहीं है" (विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति

१ छाया—सदसदविशेषणत॰ भवहेतुयथास्थितोपलम्भात् । ज्ञानफलाभावान्मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥ विशेषावश्यके ११५ ।

२ बृहदारण्यके २-४-१२ ।

३ इन्द्रभूतिरग्निभूतिर्वायुभूति॰ सहोद्भवा । व्यक्त॰ सुधर्मा मण्डितमौर्यपुत्रौ सहोदरौ ॥ अकम्पितोऽचलभ्राता मेतार्यश्च प्रभासक॰ । इत्येकादश गणधरा ।

४ विज्ञानमेव घनानन्दादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्योऽध्यक्षत, परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्य॰ पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय उत्पद्य पुनस्तान्येवानुविश्यति तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति तत्रैवाव्यक्तरूपतया सलीनो भवतीति भावः न प्रेत्यसंज्ञास्ति भूत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्युच्यते तत्संज्ञास्ति न परलोकसंज्ञास्तीति भाव ।

प्रतिभासमाना अपि तद्व्यवस्थापकतया व्याख्याताः। तथा स्मार्ता अपि—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"[2] ॥

इति श्लोकं पठन्ति। अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्याने ऽसम्बद्धप्रलाप एव। यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति, इज्याध्ययनदानादेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् अन्यद् ऐदंपर्यमस्य श्लोकस्य। तथाहि। न मांसभक्षणे कृतेऽदोषः अपि तु दोष एव। एवं मद्यमैथुनयोरपि। कथं नादोष इत्याह। यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्। प्रवर्तन्ते उत्पद्यन्तेऽस्यामीति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानम्। भूतानां जीवानाम् तत्तज्जीवसंसक्तिहेतुरित्यर्थः ॥

प्रसिद्धं च मांसमद्यमैथुनाना जीवसंसक्तिमूलकारणत्वमागमे—

न प्रेत्यसंज्ञास्ति) आदि ऋचाओंका (महावीर स्वामीके गणधर बननेसे पहले) श्रीइन्द्रभूति आदि वैदिक विद्वान जीव आदिका निषेध करते थे, परन्तु महावीर भगवानने उक्त वाक्यका "ज्ञान पाच भूतोंके निमित्तसे कथंचित उत्पन्न होता है, और पाच भूतोंमे परिवर्तन होनेसे ज्ञानमें परिवर्तन होता है, अतएव ज्ञानकी पूर्व संज्ञा नहीं रहती" यह अर्थ करके जीव आदिकी सिद्धि की है। (ग) स्मार्त लोगोंका कहना है—

"न मास खानेमें दोष है, न मद्य और मैथुन सेवन करनेमें पाप है, क्योंकि यह प्राणियोंका स्वभाव है। हा, यदि मास आदिसे निवृत्ति हो सके, तो इससे महान फल होता है" (न मासभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृतिस्तु महाफला)।

परन्तु ये वाक्य केवल प्रलाप मात्र है। कारण कि यदि माँस आदिके भक्षणमें दोष नहीं है, तो उनसे निवृत्त होना महान् फल नहीं कहा जा सकता। यदि माँस आदिके सेवन करनेपर भी दोष न मानकर उनसे निवृत्त होनेको महान् फल माना जाय तो पूजा, अध्ययन, दान आदिके अनुष्ठानसे निवृत्त होनेको भी महान फल कहना चाहिये। अतएव "मासके भक्षण करनेमे पुण्य (अदोष) नहीं है (न मांसभक्षणेऽदोषो), तथा मद्य और मैथुन सेवन करनेमे भी दोष है, क्योकि मास, मद्य और मैथुन जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान है (प्रवृत्ति—उत्पत्तिस्थान एषा भूतानाम)। अतएव इनसे निवृत्त होना चाहिये'—यह श्लोकका अर्थ करना चाहिये।

आगममें भी मास, मद्य और मैथुनको जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान बताया है—

---

१. ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति' (बृह० २-४-१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम्। नैष दोषः। विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्र मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यर्थान्तरस्य दर्शितत्वात्-'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति। कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति। मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति। संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये १-४-२२। अत्र हेमचन्द्रकृतत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् (१०-५-७७, ७८) हरिभद्रीयावश्यकवृत्तिश्च विलोकनीया।

२, मनुस्मृतौ ५-५६

"आमासु[1] य पक्वासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ णिगोअजीवाणं ॥ १ ॥
मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए ।
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतूणो ॥ २ ॥
मेहुणसण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं ।
केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं ॥ ३ ॥"[2]

तथाहि—

"इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा ।
इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं ॥ ४ ॥
पुरिसेण सह गयाए तेसि जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसलागणाएणं ॥ ५ ॥"

ससक्तायां योनौ द्वींद्रिया एते । शुक्रशोणितसंभवास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे ।

"पंचिंदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि ।
उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ॥ ६ ॥
णवलक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह य समत्ती ।
सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव ॥ ७ ॥"

"कच्चे पक्के और अग्निमें पकाये हुए मासकी प्रत्येक अवस्थाओंमें अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है ॥ १ ॥

मद्य, मधु, मास और मक्खनमें मद्य, मधु, मास और मक्खनके रगके अनत जीवोंकी उत्पत्ति होती है ॥२॥

केवली भगवान्‌ने मैथुनके सेवन करनेमे नौ लाख जीवोंका घात वताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिये ॥३॥

तथा—

स्त्रियोंकी योनिमे दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है । इन जीवोंकी सख्या एक, दो तीनसे लगा कर लाखों तक पहुँच जाती है ॥४॥

जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ सभोग करता है, उस समय जैसे अग्निसे तपाई हुई लोहेकी सलाईको वासकी नलीमे डालनेसे रखे हुए तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुषके सयोगसे योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंका नाश हो जाता है ॥५॥

अव रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज पचेन्द्रिय जीवोंकी सख्या कहते हैं—

पुरुष और स्त्रीके एक वार सयोग करनेपर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं ॥६॥

इन नौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते है, वाकी सव जीव नष्ट हो जाते है ॥७॥"

---

१ रत्नशेखरसूरिकृतसम्बोधसप्ततिकाया ६६, ६५, ६३ ।

२ छाया—आमासु च पक्वासु च विपच्यमानासु मासपेशीसु। आत्यन्तिकमुपपादो भणितस्तु निगोदजीवानाम् ॥
मद्ये मधुनि मासे नवनीते चतुर्थके। उत्पद्यन्तेऽनन्ता तद्वर्णास्तत्र जतव ।
मैथुनसज्ञारूढो नवलक्ष हन्ति सूक्ष्मजीवानाम् । केवलिना प्रज्ञप्ताः श्रद्धातव्या सदाकालम् ॥
स्त्रीयोनौ सभवन्ति द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः। एको वा द्वौ वा त्रयो वा लक्षपृथुक्त्व चोत्कृष्टम् ॥
पुरुषेण सह गताया तेषा जीवाना भवति उद्द्रवणम् । वेणुकदृष्टान्तेन तप्तायसशलाकाज्ञातेन ॥
पचेन्द्रिया मनुष्या एकनरभुक्तनारीगर्भे। उत्कृष्ट नवलक्षा जायन्ते एकवेलायाम् ॥
नवलक्षाणा मध्ये जायते एकस्य द्वयोर्वा समाप्ति । शेषा, पुनरेवमेव च विलय व्रजन्ति तत्रैव ॥

तदेवं जीवोपमर्दहेतुत्वाद् न मांसभक्षणादिकमदुष्टमिति प्रयोगः ॥

अथवा भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः । त एवात्र मांसभक्षणादौ प्रवर्तन्ते न पुनर्विवेकिन इति भावः । तदेवं मांसभक्षणादेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह । "निवृत्तिस्तु महाफला" । तुरेवकारार्थः । "तुः स्याद् भेदेऽवधारणे"[1] इति वचनात् । ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा । न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । अतएव स्थानान्तरे पठितम्—

"वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम्[2] ॥ १ ॥
एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।
न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर" ॥ २ ॥

मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादैः, तस्य सर्वविगर्हितत्वात् । तानेवं प्रकारानर्थान् कथमिव बुधाभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्तीति कृतं प्रसङ्गेन ॥

अथ केऽमी सप्तभङ्गाः, कश्चायमादेशभेद इति ? उच्यते । एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते । तद्यथा । १ स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ।

इस प्रकार मास, मैथुन आदिके सेवन करनेसे अनन्त जीवोंका नाश होता है, अतएव इनका सेवन करना दोषपूर्ण है।

अथवा, मास-भक्षण आदिमें भूत-पिशाचोंकी ही प्रवृति होती हैं। भूत-पिशाच जैसे ही मास खानेमे प्रवृत्त होते हैं, विवेकी लोग नही। अतएव "मास आदिसे निवृत्त होना ही महान् फल है।" "'तु' शब्दका प्रयोग निश्चय अर्थमे होता है"। इसलिये मास आदिके त्याग करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है। कहा भी है—

"प्रत्येक वर्ष सौ वार यज्ञ करनेवाले और मास भक्षण न करनेवाले दोनों पुरुषोंको बराबर फल मिलता है ॥१॥

हे युधिष्ठिर! एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषको जो उत्तम गति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करनेसे भी नहीं होती ॥२॥

मद्यपानके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सब जगह लोकमें निंदनीय हैं। इस प्रकारके अर्थोंको अपनेको पंडित समझनेवाले कुवादी लोग नहीं समझ सकते।

सप्तभंगी—जीव आदि पदार्थोंमें अस्तित्व आदि धर्मोंके विषयमे प्रश्न उठानेपर, विरोधरहित प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध अलग अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मोंके विचारपूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचनरचनाको सप्तभंगी कहते हैं। १ प्रत्येक वस्तु विधि धर्मसे कथंचित् अस्तित्व रूप ही

---

१. अमरकोशे ३-२-२३९।
२. मनुस्मृतौ ५-५३।

२ स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषधकल्पनया द्वितीयः । ३ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । ४ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । ५ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । ६ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । ७ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः ॥

तत्र स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण । तथाहि—कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति, नाप्यादिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरत्वेन । न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामत्वेन, न रक्तादित्वेन । अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् इतरथानभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तम्—

"वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित्"[१] ॥

तथाप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः

है (स्यादस्ति), २ प्रत्येक वस्तु निषेध धर्मसे कथंचित् नास्तित्व रूप ही है (स्यान्नास्ति), ३ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि निषेध दोनों धर्मोंसे कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व दोनों रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति), ४ प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि, निषेध धर्मोंसे कथंचित् अवक्तव्य ही है (स्यादवक्तव्य), ५ प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधि निषेध धर्मोंसे कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्ति अवक्तव्य), ६ प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यान्नास्ति अवक्तव्य), ७ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य) ।

(१) प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तित्व रूप ही हैं, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तित्व रूप ही है । जैसे, घडा द्रव्यकी अपेक्षा पार्थिव रूपसे विद्यमान है, जल रूपसे नहीं, क्षेत्र (स्थान) की अपेक्षा पटना नगरकी अपेक्षा मौजूद है, कन्नौज आदिकी अपेक्षासे नहीं, काल (समय) की अपेक्षा शीत ऋतुकी दृष्टिसे है, वसन्त ऋतु आदिकी दृष्टिसे नहीं, तथा भाव (स्वभाव) की अपेक्षा काले रूपसे मौजूद है, लाल आदि रूपसे नहीं । यदि पदार्थोंका अस्तित्व स्व चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव) की अपेक्षाके विना ही स्वीकार किया जाय, तो पदार्थोंका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि जब तक वस्तुके एक स्वरूपकी दूसरे स्वरूपसे व्यावृत्ति न की जाय, तब तक वस्तुका स्वरूप नहीं बन सकता । इसलिए यहां अनिष्ट पदार्थोंका निराकरण करनेके लिए 'एव' (अवधारण) का प्रयोग किया है । यदि 'एव' का प्रयोग न किया जाय, तो अनिच्छित वस्तुका प्रसंग मानना पडे । कहा भी है—

"वाक्यमें अवधारणार्थक 'एव' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ निराकरण करनेके लिए करना चाहिए, क्योंकि अवधारणार्थक शब्दके प्रयोगके अभावमें वह उक्त वाक्य अनुक्त वाक्यके समान बन जाता है ।"

शंका—वाक्यमें अवधारणार्थक प्रयोग करने पर भी 'घट अस्तित्व रूप ही है' (अस्त्येव कुम्भ),

---

१. तत्वार्थश्लोकवार्तिके १-६-५३ ।

प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये स्याद् इति शब्दः प्रयुज्यते । स्यात् कथंचिद् स्वद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः । यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्—

"सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः"[1] ॥

इति प्रथमो भङ्गः ।

स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात् । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम्, कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत्, न हि क्वचिद् अनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्व विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्माद् वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेनेति ।

यह कहनेसे प्रयोजन सिद्ध हो जाता हैं, फिर 'स्यात्' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है । **समाधान**—'घट अस्तित्व रूप ही है' यह कहनेसे घटके सर्वथा अस्तित्वका ज्ञान होता है । किन्तु 'स्यात्' शब्दके लगानेसे मालूम होता है कि घट पररूप स्तम्भ आदिकी अपेक्षासे सर्वथा अस्तित्व रूप न होकर केवल अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह सदा नास्ति रूप ही है । अतएव प्रत्येक वस्तु स्व चतुष्टयकी अपेक्षा ही कथंचित् अस्ति रूप है, पर चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिए 'स्यात्' (कथंचित्) शब्दका प्रयोग किया गया है । प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' अथवा 'कथंचित्' शब्दके न रहनेपर भी बुद्धिमान लोग उसका अभिप्राय जान लेते हैं । कहा भी है---

"जिस प्रकार अयोगव्यवच्छेदक 'एव' शब्दके प्रयोग किये बिना बुद्धिमान प्रकरणसे अर्थ समझ लेते हैं, उसी तरह 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके बिना भी बुद्धिमान अभिप्राय जान लेते हैं।"

यह प्रथम भंग है।

(२) घट आदि प्रत्येक वस्तु कथंचित् नास्ति रूप ही है। यदि पदार्थको स्व चतुष्टयकी तरह पर चतुष्टयसे भी अस्ति रूप माना जाय, तो पदार्थका कोई भी निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव एक वस्तुके दूसरे रूप हो जानेसे, वस्तुका कोई निश्चित स्वरूप नहीं कहा जा सकेगा। वस्तु अस्तिरूप होती है, नास्तिरूप कदापि नही—यह ऐकान्तिक कथन करनेवालोंके मतमे वस्तुके नास्तित्व धर्मकी सिद्दि नहीं हो सकती। क्योंकि जिस प्रकार साधन (हेतु) के पक्ष और सपक्षमें अस्तिरूप और विपक्षमें नास्तिरूप होनेसे, उसमे अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंका (युगपद्) सद्भाव होता है, उसी प्रकार वस्तुमे कथंचित् नास्तित्व युक्तिसे सिद्ध होता है। क्वचित् (शब्द आदिमे) अनित्यत्व आदिको सिद्ध करनेके लिये सत्त्व आदि साधनके पक्ष और सपक्षमे अस्तित्व और विपक्षसे नास्तित्व सिद्ध किये बिना (जहा अनित्य नही वहा सत्त्व नही) सिद्धि नहीं की जा सकती। क्योंकि सत्त्व आदि साधनका विपक्षमे नास्तित्व न हो तो उसके साधनत्वके अभाव होनेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। अतएव वस्तुका अस्तिधर्म उसके नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभावसे सम्बद्ध है—पर चतुष्टयरूपकी अपेक्षासे वस्तुके नास्तिरूप न होनेपर स्व चतुष्टयकी अपेक्षा उसके अस्तित्व धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार वस्तुका अस्तित्व धर्म नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभूत है, उसी प्रकार उसका नास्तित्व धर्म अस्तित्व धर्मके साथ अविनाभूत है। अस्तित्वधर्म और नास्तित्व धर्मका प्रधानोपसर्जन भाव विवक्षाके कारण होता ह। (जब अस्तित्व धर्मको ही कहनेकी वक्ता की इच्छा होती है तब अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और नास्तित्व धर्मकी गौणता, तथा जब नास्तित्व धर्मको ही कहनेकी इच्छा होती है तब

१ 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके १ ६-५६ ।

विवक्षावशाच्चानयोः प्रधानोपसर्जनभावः । एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्, "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात् । इति द्वितीयः ॥

तृतीयः स्पष्ट एव । द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयार्पिताभ्याम् एकस्य वस्तुनोऽभिधित्साया तादृशस्य शब्दस्यासम्भवाद् अवक्तव्यं जीवादिवस्तु । तथाहि—सद-सत्त्वगुणद्वयं युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम्, तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात् । तथा-ऽसदित्यनेनापि, तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याभावात् । न च पुष्पदन्तादिवत् साङ्केतिकमेकं पदं तद्वक्तुं समर्थम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानयोः संकेतित-सच्छब्दवत् । अतएव द्वन्द्वकर्मधारयवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम् । इति सकलवाचक-रहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु युगपत्सत्त्वासत्त्वाभ्या प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते । न च सर्वथाऽवक्तव्यम्, अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात् । इति चतुर्थः । शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः ॥

न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गी-

---

नास्तित्व धर्मकी प्रधानता और अस्तित्व धर्मकी गौणता होती है। प्रथम भगमे अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और नास्तित्व धर्मकी गौणता, तथा द्वितीय भगमे नास्तित्व धर्मकी प्रधानता और नास्तित्व धर्मकी गौणता होती है। जो धर्म गौण होता है उसका अभाव नहीं होता।) इस प्रकार उत्तरभगोंमे भी समझना चाहिये। उमास्वाति वाचकने कहा भी है--"प्रधान और गौणकी अपेक्षासे पदार्थोंकी विवेचना होती है।" यह दूसरा भग है।

(३-७) तीसरा भग स्पष्ट है जब हम क्रमसे वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा अस्ति, और पररूपकी अपेक्षासे नास्ति कहते हैं, उस समय वस्तुका अस्तिनास्तिरूपसे ज्ञान होता है। यह स्यादस्तिनास्ति नामका तीसरा भग है। (४) हम वस्तुके अस्ति और नास्ति धर्मको एक साथ नहीं कह सकते। जिस समय जीवको सत् कहते हैं, उस समय असत्, और जिस समय असत् कहते हैं, उस समय सत नहीं कह सकते। क्योंकि अस्ति और नास्ति दोनों परस्पर विरुद्ध है। शंका—जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य दोनो वस्तुकाओंका ज्ञान 'पुष्पदत, शब्दसे हो जाता है, उसी तरह अस्ति और नास्ति दोनोंका एक साथ ज्ञान किसी एक सांकेतिक शब्दसे मानना चाहिये।

समाधान—पहले तो कोई ऐसा शब्द नहीं, जिससे अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान किया जा सके। यदि दोनों धर्मोको कहनेवाला कोई एक शब्द मान भी लिया जाय, तो अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंका क्रमसे ही ज्ञान हो सकता है। व्याकरणमें 'सत्' शब्दसे शतृ और शान दोनोंका क्रम-पूर्वक ज्ञान होता है, एक साथ नहीं। अतएव द्वन्द्व, कर्मधारय अथवा किसी एक वाक्यसे सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। परस्पर विरुद्ध अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका ज्ञान किसी एक शब्दसे नहीं होता। अतएव प्रत्येक वस्तु एक साथ अस्ति और नास्ति भावकी प्रधानता होनेसे कथंचित् अवक्तव्य है। यदि हम पदार्थको सर्वथा अवक्तव्य माने, तो हम पदार्थको अवक्तव्य शब्दसे भी नहीं कह सकते, अतएव प्रत्येक पदार्थको कथंचित अवक्तव्य ही मानना चाहिये। यह स्यादवक्तव्य नामका चौथा भग है। (५) जब हम वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा सत् कह कर उसकी एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते है, उस समय वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य नामसे कही जाती है। (६) जब हम वस्तुकी नास्तित्व धर्मकी विवक्षासे एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचन करना चाहते है, उस समय वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य कही जाती है। (७) प्रत्येक वस्तु क्रमसे स्व और पर रूपकी अपेक्षा अस्ति-नास्ति होनेपर भी एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य होनेके कारण स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य रूप है।)

शंका—एक वस्तुमे जिनका विधान और निषेध किया जाता है, ऐसे अनंत धर्मोंका अस्तित्व स्वीकार

प्रसङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति, विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात। यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात। तथाहि। स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद् विशेषावक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यमिति। न चात्र विधिनिषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्, सामान्यस्य विधिरूपत्वाद् विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथवा प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता। एवं सर्वत्र योज्यम्। अतः सुष्ठूक्तं अनन्ता अपि सप्तभङ्गय एव संभवेयुरिति, प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात, तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्, तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्, तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति ॥

इयं च सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च। तत्र सकलादेशः प्रमाणवाक्यम्। तल्लक्षणं चेदम्—प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। अस्यार्थः—कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात् कालादिभिर्भिन्नात्म-

---

किये जानेसे अनंत भंगोंके समूहका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा तो फिर वस्तुमें केवल सात ही भंगोंकी कल्पना आप क्यों करते हैं? समाधान—प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म होनेके कारण वस्तुमें अनेक भंग होते हैं, परन्तु ये अनंत भंग विधि और निषेधकी अपेक्षासे सात ही हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार सत्त्व धर्म (अस्तित्व धर्म) और असत्त्व धर्म (नास्तित्व धर्म) से एक ही सप्तभंगी (सात भंगोंका एक समूह) होती है, उसी तरह सामान्य धर्म और विशेष धर्मकी अपेक्षासे भी एक ही सप्तभंगी बनती है। तथाहि—सामान्य और विशेष से स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् उभय, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् सामान्यअवक्तव्य, स्यात् विशेषअवक्तव्य, और स्यात् सामान्य-विशेष अवक्तव्य ये सात भंग होते है। शंका—आपने ऊपर विधि और निषेध धर्मोंके विचार पूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचनरचनाको सप्तभंगी कहा था। यह विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना सामान्य-विशेषकी सप्तभंगीमें कैसे बन सकती है? समाधान—सामान्य-विशेषकी सप्तभंगी मे भी विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना की जा सकती है। क्योंकि सामान्य विधि रूप है, और विशेष व्यवच्छेदक होनेसे निषेध रूप है। अथवा, सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव जब सामान्य की प्रधानता होती है, उस समय सामान्यके विधिरूप होनेसे विशेष निषेध रूप कहा जाता है और जब विशेषकी प्रधानता होती है, उस समय विशेषके विधिरूप होनेसे सामान्य निषेध रूप कहा जाता है। इस प्रकार सर्वत्र योजना करनी चाहिये। अतः ठीक ही कहा है कि अनन्त भंगोंमें भी सात भंगोंकी ही कल्पना सिद्ध है। प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा प्रतिपाद्य संबंधी सात प्रकारके ही प्रश्न किये जा सकते हैं अतएव सात ही भंग होते हैं। प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा सात प्रकारकी ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है इसलिये सात प्रकार के ही प्रश्न होते है। संदेहके सात ही प्रकार हो सकते हैं, इसलिये सात ही प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है। तथा प्रत्येक वस्तुके सात ही धर्मोंका होना संभव है, अतएव संदेह भी सात प्रकारके ही होते है।

यह सप्तभंगी प्रत्येक भंगमें सकल और विकल आदेश रूप होती है। प्रमाणवाक्यको सकल आदेश कहते हैं। प्रमाणसे जानी हुई अनन्त धर्म स्वभाववाली वस्तुको काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षासे अभेद वृत्तिकी अथवा अभेदोपचारकी प्रधानतासे सम्पूर्ण धर्मोंको एक साथ प्रतिपादन करनेवाले वाक्यको सकलादेश कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म मौजूद हैं। इन धर्मोंका एक साथ और क्रम-क्रमसे शब्दों द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। जिस समय वस्तुमें काल आदिकी अपेक्षा

नामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद् वा समकालमभिधायकं वाक्यं सकलादेशः। तद्विपरीतस्तु विकलादेशो नयवाक्यमित्यर्थः। अयमाशयः—यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदप्राधान्यवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् ' विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते, तस्य नयात्मकत्वात् ॥

कः पुनः क्रमः किं च यौगपद्यम्। यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम् ॥

के पुनः कालादयः। कालः आत्मरूपम् अर्थः सम्बन्धः उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्दः। १ तत्र स्याद् जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। २ यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेव अन्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। ३ य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। ४ य एव चाविष्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽ-

---

अभिन्न रूपसे रहेनेवाले सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंमें अभेद भावकी प्रधानता रख कर, अथवा काल आदिसे भिन्न धर्म और धर्मीमें अभेदका उपचार मानकर सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंका एक साथ कथन किया जाता है, उस समय सकलादेश होता है। सकलादेशसे काल आदिकी अभेद दृष्टि अथवा अभेदोपचारकी अपेक्षा वस्तुके सम्पूर्ण धर्मोका एक साथ ज्ञान होता है। जैसे अनेक गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं, इसलिये गुणोंको छोड कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, अतएव द्रव्यका निरूपण गुणवाचक शब्दके बिना नहीं हो सकता। अतएव अस्तित्व आदि अनेक गुणोंके समुदाय रूप एक जीवका निरंश रूप समस्तपनेसे अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न है) और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नयसे समस्त धर्मो के परस्पर भिन्न होनेपर भी उनमें एकताका आरोप है) से एक गुणके द्वारा प्रतिपादन होना है। इसलिये एक गुणके द्वारा अभिन्न स्वरूपके प्रतिपादन करनेको सकलादेश कहते हैं। यह सकलादेश प्रमाणके आधीन होता है। जिस समय काल आदिसे अस्तित्व आदि धर्मोंका भेदप्राधान्य अथवा भेदोपचार होता है, उस समय एक शब्दसे अनेक धर्मोंका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, इसलिये पदार्थोका निरूपण क्रमसे होता है। इसे विकलादेश अथवा नय वाक्य कहते हैं। विकलादेशमे भेदवृत्ति अथवा भेदोपचारकी प्रधानता रहती है। विकलादेश नयके आधीन होता है।

जिस समय अस्तित्व आदि धर्मोंका काल आदिसे भेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे अनेक धर्मोंका ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव सम्पूर्ण धर्मोंका एक-एक करके ही कथन किया जा सकता है, इसे क्रम कहते हैं। इसी क्रमसे विकलादेशसे ज्ञान होता है। तथा, जिस समय वस्तुके अनेक धर्मोका काल आदिसे अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे यद्यपि वस्तुके एक धर्मका ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्दसे ज्ञात इस एक धर्मके द्वारा ही पदार्थोंके अनेक धर्मो का ज्ञान होता है। इसे वस्तुओंका एक साथ (युगपत्) ज्ञान होना कहते है, यह ज्ञान सकलादेशसे होता है।

(१) काल—'जीव आदि पदार्थ कथंचित् अस्ति रूप ही है' यह कहनेपर जिस समय जीवमे अस्तित्व आदि धर्म मौजूद रहते है, उस समय जीवमें और भी अनन्त धर्म पाये जाते है, अतएव कालकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म एक है (२) आत्मरूप (स्वभाव)—जिस प्रकार जीवका अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार और धर्म भी जीवके स्वभाव है। इसलिये स्वभावकी अपेक्षा अस्तित्व आदि अभिन्न हैं। (३) अर्थ (आधार)—जिस प्रकार द्रव्य अस्तित्वका आधार है, वैसे ही और धर्म भी द्रव्यके आधार है। अतएव आधारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है। (४) सम्बन्ध—जिस प्रकार कथंचित्

स्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः। ५ य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः। ६ य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। ७ य एव चैकवस्त्वात्मनास्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। अविष्वग्भावेऽभेदः प्रधानम् भेदो गौणः, संसर्गे तु भेदः प्रधानम् अभेदो गौण इति विशेषः। ८ य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्याद् उपपद्यते ॥

तादात्म्य सम्बन्ध अस्तित्वमे रहता है, उसी तरह उक्त सम्बन्ध अन्य धर्मोमे भी रहता है, इसलिये सम्बन्धकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है (५) उपकार—जो उपकार अस्तित्वके द्वारा अपने स्वरूपमे अनुराग उत्पन्न करता है, वही उपकार अन्य धर्मोके द्वारा भी अनुराग पैदा करता है, अतएव उपकारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोमे अभेद है। (६) गुणिदेश—(द्रव्यका आधार)—जो क्षेत्र द्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले अस्तित्वका है, वही क्षेत्र अन्य धर्मोका है, अतएव अस्तित्व आदि धर्मोमें अभेद भाव है। (७) संसर्ग—एक वस्तुकी अपेक्षासे जो ससर्ग अस्तित्वका है, वही ससर्ग अन्य धर्मोका भी है, इसलिये ससर्गकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोमे अभेद है। सम्बन्धमें अभेदकी प्रधानता और भेदकी गौणता तथा ससर्गमे भेदकी प्रधानता और अभेदकी गौणता होती है। (८) शब्द—जिस 'अस्ति' शब्दसे अस्तित्व धर्मका ज्ञान होता है, उसी 'अस्ति' शब्दसे अन्य धर्म भी जाने जाते है, अतएव शब्दकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म परस्पर अभिन्न है। जिस समय पर्यायार्थिक नयकी गौणता और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता होती है, उस समय पदार्थोके धर्मोमे अभेद भावका ज्ञान होनेसे अभेदवृत्ति होती है।

[स्पष्टीकरण (१) काल—जीव आदि पदार्थ 'कथचित् अस्तित्वरूप ही है'—इस उदाहरणमे जीव आदि रूप पदार्थमें जितने काल तक अस्तित्व गुण विद्यमान रहता है, उतने काल तक और भी अनन्त धर्म पाये जाते है। इस प्रकार जीव आदि एक पदार्थमे अस्तित्व एव अन्य धर्मोकी स्थिति कालकी दृष्टिसे अभेद रूप है। इसी तरह घटका उदाहरण लिया जा सकता है। जितने काल तक घटमें अस्तित्व धर्म रहता है, उतने काल तक घटके अन्य धर्म भी विद्यमान रहते हैं। जिस कालमें घटका अस्तित्व नष्ट हो जाता है उस कालमे घटके अन्य धर्मोका भी अभाव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि पदार्थके अस्तित्व धर्मके साथ उसके अन्य धर्मोका अविनाभाव—तादात्म्य-अभेद-सिद्ध हो जाता है। जीव द्रव्यमें रहनेवाला अस्तित्व गुण अनादिनिधन है इसलिये उसका ज्ञान सामान्यरूप धर्म भी अनादि निधन होता है, क्योंकि जीवके अस्तित्वसे ज्ञानगुण कालकी दृष्टिसे अभिन्न है। अतएव पदार्थके अस्तित्व धर्मका जितना काल होता है, उतना ही काल उसके अन्य धर्मोका उस पदार्थमें अस्तिरूप रहनेका होता है। इसलिये पदार्थके अस्तित्व धर्म और उसके शेष धर्मोमें कालकी दृष्टिसे अभेद है। (२) आत्मरूप—जिस प्रकार अस्तित्व गुणका पदार्थका स्वभाव है, उसी प्रकार अन्य अनन्त गुण भी पदार्थके स्वभाव हैं। इस प्रकार एक पदार्थमे पदार्थके गुण होना रूप स्वभावसे पदार्थका अस्तित्व धर्म एव शेष अनन्त धर्म भी रहते है। अतएव एक पदार्थमे अस्तित्व आदि सभी धर्मोकी स्वस्वरूप (आत्मस्वरूप) की दृष्टिसे अभेदवृत्ति रहती है। जिस प्रकार अस्तित्व गुणका जीव पदार्थका गुण होना स्वस्वरूप है, उसी प्रकार अन्य ज्ञान आदि रूप अनन्त गुणोंका जीव पदार्थका गुण होना भी स्वस्वरूप है। अत जीवरूप एक पदार्थमें अस्तित्व और अन्य शेष ज्ञान आदि रूप अनन्त धर्मकी आत्मस्वरूप दृष्टिसे अभेद वृत्ति होती है। जिस प्रकार घटका गुण होना अस्तित्वका स्वरूप है, उसी प्रकार उसके अन्य शेष अनन्त धर्मोका भी घटका गुण होना स्वस्वरूप है। अत. घटरूप एक पदार्थमे अस्तित्व और अन्य शेष अनत धर्मोकी आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे अभेद वृति है। (३) अर्थ—जो पदार्थ अस्तित्व गुणका आधार होता है, वही अन्य अक्रमभावी पर्यायों-गुणोंका-आधार होता है। इस प्रकार एक द्रव्यका अस्तित्व धर्म और उसके अन्य अनन्त गुणोंका जब एक ही पदार्थ आधार

होता है, तब अर्थकी दृष्टिसे उन गुणोंमें अभेद होता है। जिस प्रकार अस्तित्व गुणका जीव पदार्थ आश्रय होता है उसी प्रकार अन्य शेष अनन्त धर्मोंका भी जीवद्रव्य आश्रय होता है। अत अस्तित्व धर्म और अन्य शेष ज्ञान आदिरूप अनन्त धर्मका एक जीव पदार्थके अभिन्न होनेसे अर्थकी दृष्टिसे उन धर्मोंमे अभेद है। (४) सम्बन्ध—जिस प्रकार अस्तित्व धर्मका पदार्थके साथ कथचित् तादात्म्यरूप सम्बन्ध होता है, वैसे ही कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध अन्य समस्त धर्मोंका उस पदार्थके साथ रहता है। इस प्रकार पदार्थके अस्तित्व धर्मका और उसके अन्य शेष धर्मोंका उसी पदार्थके साथ कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् अभेद होनेसे, उन सभी धर्मोंमें सम्बन्धकी दृष्टिसे अभेद होता है। इस प्रकार अस्तित्व धर्मका जीव पदार्थके साथ कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे अस्तित्व धर्म तथा अन्य शेष ज्ञान आदि रूप अनन्त धर्ममें सम्बन्धकी दृष्टिसे अभेद होता है। (५) उपकार—पदार्थका अस्तित्व गुणके द्वारा स्वस्वरूपसे युक्त किया जाना पदार्थका अस्तित्व गुणकृत उपकार होता है। इसी प्रकार उस पदार्थके शेष अन्य गुणोंके द्वारा स्वस्वरूपसे युक्त किया जाना, उसी पदार्थका शेष गुणकृत उपकार होना है। पदार्थके अस्तित्व गुणकृत तथा उस पदार्थके आश्रित अन्य शेष गुणों द्वारा किये जानेवाले उपकारके एक होनेसे अस्तित्व गुण तथा उसके अन्य शेष गुणोंमे उपकारकी दृष्टिसे अभेद है। आचार्यप्रवर **श्रीविद्यानन्दने** उपकार शब्दका अर्थ 'स्वानुरक्तत्वकरण' किया है—अर्थात् अपनी विशेषताको पदार्थमें निर्माण करना। उदाहरणार्थ, नीलवर्ण, पुद्गलका गुण है, वह गुण पुद्गलमें अपने वैशिष्ट्यका निर्माण करता है। पदार्थमें अस्तित्व गुण अपने वैशिष्ट्यको निर्माण करता है। यदि अस्तित्व गुणका वैशिष्ट्य पदार्थमे न हो तो पदार्थका अभाव हो जायेगा। इस वैशिष्ट्यको पदार्थमे निर्माण करना ही पदार्थका गुणकृत उपकार है। जिस प्रकार अस्तित्वगुण पद्गल पदार्थमे अपने वैशिष्ट्यको निर्माण कर पदार्थका उपकार करता है—उसे स्वानुरक्त करता है, उसी प्रकार नीलत्व आदि रूप अन्य गुण भी पुद्गल पदार्थमे अपने वैशिष्ट्यको निर्माण कर उसी पदार्थका उपकार करता है—उसे स्वानुरक्त करता है। अत अस्तित्व धर्म और अन्य शेष नीलत्व आदि धर्म, पुद्गल पदार्थमें अपने वैशिष्ट्यके निर्माणकर्ता होनेके कारण उपकारकी दृष्टिसे अभिन्न है। (६) गुणिदेश—जो अस्तित्व धर्मका गुणिदेश होता है वही अन्य धर्मोंका भी होता है। इस प्रकार गुणिदेशकी दृष्टिसे अस्तित्व धर्म तथा अन्य शेष धर्मो मे अभेद है। गुणी अर्थात् गुणवान् पदार्थके जितने प्रदेशोंमें अस्तित्व धर्म होता है, उतने ही प्रदेशोमे अन्य शेष गुणोंका होना ही अस्तित्व गुण तथा अन्य शेष गुणोंमें गुणिदेशकी दृष्टिसे अभेद सिद्ध करता है। पदार्थके सभी प्रदेशोमे अस्तित्व गुण होता है। इस अस्तित्व गुणके समान पदार्थके सभी प्रदेशोमे उसके अन्य शेष गुण भी होते है। अस्तित्व गुण जीवके कुछ प्रदेशोमे हो, और कुछमे न हो—ऐसा कभी नही होता। यह गुण जीवके सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है। जिस प्रकार अस्तित्व गुण जीवके सभी प्रदेशोमे होता है, उसी प्रकार जीवके शेष अन्य ज्ञान आदि अनत गुण भी होते है। अत जीवका अस्तित्व गुण और उसके शेष ज्ञान आदि गुणमें गुणिदेशकी दृष्टिसे अभेद है। (७) ससर्ग—एक पदार्थके रूपसे अस्तित्व धर्मका पदार्थके साथ जो ससर्ग होता है, वही एक वस्तुके स्वभावरूपसे उसी पदार्थके अन्य शेष धर्मोंका उसी पदार्थके साथ ससर्ग होता है। इस प्रकार एक पदार्थके साथ एक वस्तुके स्वभावके रूपसे अस्तित्व धर्मका ससर्ग होनेसे, तथा उसी पदार्थके अन्य शेष धर्मोंका एक वस्तुके स्वभावरूपसे उसी पदार्थके साथ ससर्ग होनेसे, उस पदार्थका अस्तित्व धर्म और उसी पदार्थके अन्य शेष धर्मो मे ससर्गकी दृष्टिसे अभेद होता है। ससर्ग दो भिन्न पदार्थो मे होता है। लोकव्यवहारमे पर्यायार्थिक-नयकी दृष्टिसे गुण-गुणीमे भेद समझकर व्यवहार किया जाता है। गुण और गुणीमे द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे भेदका अभाव होता है—अर्थात् अभेद होता है, फिर भी 'यह अग्निकी उष्णता है'—यहा अग्नि और उष्णतामे वस्तुत अभेद होने पर भी उनमें भेद समझकर व्यवहार किया जाता है। इस व्यवहारसे उनके भेदका सस्कार जो दृढ हो गया होता है, उसका अभाव द्रव्यार्थिक नयकी सहायतासे किया जाता है कथचित् तादात्म्य सम्बन्धमे अभेद मुख्य होता है और भेद गौण, तथा ससर्गमे भेद मुख्य होता है और अभेद गौण। यही तादात्म्य सबध तथा ससर्ग (सयोग) सबधमें भेद है। कथचित् तादात्म्य कथचित् भेदाभेद रूप होता

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवाद् । समकाल-मेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात् । नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाभेदे तेषा भेदस्य विरोधात् । स्वाश्रयस्यार्थ-स्यापि नानात्वाद्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनाद् नानासम्बन्धिभिरेकत्र सम्भवाघटनात् । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियत-रूपस्यानेकत्वात् अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः ।

है। भेद विशिष्ट अभेदको संबंध तथा अभेद विशिष्ट भेदको संसर्ग कहते हैं। (८) जो 'अस्ति' शब्द अस्तित्वधर्मसे युक्त पदार्थका वाचक होता है, वही 'अस्ति' शब्द अनंत धर्मोंसे युक्त पदार्थका वाचक होता है। इस प्रकार अस्तित्व धर्मयुक्त पदार्थ तथा शेष अन्य अनंतधर्मोंसे युक्त वही पदार्थ, 'अस्ति' शब्दका वाच्य होनेसे, शब्दकी दृष्टिसे अभिन्न है। जिन गुणोंमें पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भेद होता है, उन गुणोंमें पर्यायार्थिक नयकी गौणता[1] और द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यता होनेपर अभेद घटित होता है)[1]

द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर पदार्थाश्रित गुणोंकी अभेद रूपसे स्थिति नहीं होती (१) विभिन्न गुण एक कालमें एक स्थान पर नहीं रह सकते। यदि विभिन्न गुण एक कालमें, एक वस्तुमें, एक साथ रहे तो गुणोंके आश्रित द्रव्योंमें भी उतने ही भेद मानने चाहिये। (२) विभिन्न गुणोंका अपने-अपने स्वरूप (आत्मरूप) वाले स्वभिन्न गुणके स्वरूपसे भेद है, क्योंकि वे एक दूसरेके स्वरूपमें नहीं रहते, इसलिये गुणोंमें अभेद नहीं है। यदि गुणोंमें परस्पर भेद न हो, तो गुणोंको भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिये। (३) गुणोंके आश्रयभूत पदार्थ (अर्थ) भी अनेक हैं, यदि गुणोंके आधार अनेक न हों तो वे नाना गुणोंके आश्रित नही कहे जा सकते। (४) संबंधियोंके भिन्न-भिन्न होने कारण संबंधका भेद दिखाई देनेसे भी गुणोंमें अभिन्नता संभव नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न संबंधियोंके साथ संबंध नहीं बन सकता। (५) उपकारकी अपेक्षा भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं। अनेक उपकारियोंमेंसे प्रत्येक उपकारी द्वारा किये जानेवाले उपकारमें तथा अन्य उपकारी द्वारा किये जानेवाले उपकारमें विरोध है। (६) गुणिदेशकी अपेक्षासे भी गुण अभिन्न नहीं हैं। अन्यथा प्रत्येक गुणका आश्रयभूत गुणिरूप देश तथा स्वभिन्न गुणके आश्रयभूत गुणिरूप देशमें भेद न होनेपर, भिन्न पदार्थोंके गुणोंके भी जो गुणिरूप देश है, उनका पूर्वोक्त गुणिरूप देशके साथ अभेदका प्रसंग आ जायेगा। (७) संसर्गकी अपेक्षा भी गुण भिन्न हैं। अन्यथा एक पदार्थके साथ जितने संसर्ग करनेवाले होते हैं, उतने ही संसर्गोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी, उन संसर्गोंको अभिन्न मानने पर, संसर्ग करनेवालोंमें भेद उपस्थित हो जायेगा। (८) तथा शब्दकी अपेक्षासे भी गुण भिन्न नहीं है। अन्यथा सभी गुणोंकी एक शब्दके द्वारा वाच्यता होनेपर, उनके आश्रयभूत सभी पदार्थोंकी एक शब्द द्वारा वाच्यता होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे उन सभी पदार्थोंमेंसे प्रत्येक पदार्थके वाचक शब्दोंकी निष्फलताका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

(स्पष्टीकरण : जब द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होती है, तब एक पदार्थका अस्तित्व धर्म और उसी पदार्थके अन्य शेष अनंत धर्मोंमें काल आदिकी दृष्टिसे अभेदकी संभाव्यता नहीं होती। (१) एक समयमें पदार्थकी एक ही पर्याय होती है—अनेक नहीं। उत्तर पर्यायसे युक्त उसी पदार्थका पूर्व पर्यायसे युक्त पदार्थसे भेद होता है। यदि पूर्व पर्याययुक्त और उत्तर पर्याययुक्त पदार्थमें भेद स्वीकार न किया तो बाल्यावस्था और कुमारावस्थामें भेद नहीं होगा, तथा बालक कभी कुमारावस्थाके रूपमें

१. प्रोफेसर एम० जी० कोठारीके सौजन्यसे।

परिणत नहीं हो सकेगा। पदार्थमे प्रतिसमय अर्थपर्याये जन्म लेती रहती है, अत प्रतिक्षण पदार्थकी भिन्नता घटित होती रहती है। इस अर्थपर्यायके भी प्रतिक्षण भिन्न रूप होनेसे अर्थपर्याययुक्त पदार्थकी प्रतिक्षण भिन्नता सिद्ध होती है। एक समयमें एक ही अर्थपर्याय होती है—अनेक अर्थपर्याये नहीं। पदार्थकी अर्थपर्यायके कारण व्यक्त होनेवाली भिन्नता, उन अर्थपर्यायोंके काल भिन्न-भिन्न होनेसे होती है। प्रत्येक समयमे होनेवाली पदार्थकी भिन्नताके कारण अर्थपर्यायोंके कालोंकी भिन्नता होनेसे, एक पदार्थमें, एक समयमें, अनेकविध गुणोंके अस्तित्वका होना असभव है। ऐसी अवस्थामें भी यदि एक पदार्थमें, एक समयमें अनेकविध गुणोंका होना सभव माना तो पदार्थमें एक समयमें जितने गुण होगे उतने ही प्रकार एक पदार्थके एक समयमें होंगे। अत पदार्थकी विविधता कालभेद-निमित्तक होनेसे, कालकी दृष्टिसे द्रव्याश्रित अनेक गुणोंमे अभेद सिद्ध नहीं होता, अपितु भेद ही सिद्ध होता है। (२) एक पदार्थके आश्रित अनेक गुणोंका द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे एक ही पदार्थका आश्रय करनेका स्वरूप एक होनेसे, उन सभी गुणोंमें अभेद होता है, फिर भी द्रव्यार्थिक नयके गौण और पर्यायार्थिक नयके मुख्य होनेपर एक पदार्थके आश्रित अनेक गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती, किन्तु भेदको ही सिद्धि होती है। क्योंकि अनेक गुणोंमेसे प्रत्येक गुणका स्वरूप स्वभिन्न अन्य गुणके स्वरूपसे भिन्न होता है, और उन गुणोके स्वरूपमें भेद नहीं होता—ऐसा माननेसे उनकी परस्पर भिन्नताका अभाव हो जाता है। स्पर्श, रस, गध और वर्ण—ये चार गुण पुद्गलके आश्रित है। ये सभी गुण द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे परस्पर भिन्न नहीं होते-अपितु अभिन्न होते हे। क्योंकि पुद्गलका आश्रय ग्रहण करनेका उनका एक ही स्वभाव होता है। द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर उन गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकी चारों गुणोंका एक स्वभाव नहीं होता-वह भिन्न होता है। यदि इन चारों गुणों का स्वभाव एक होता तो उनमें होनेवाले भेदका अभाव हो जाता और उनकी चारकी संख्या न रह पाती। अत पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर एक द्रव्याश्रित अनेक गुणोंमें स्वरूपकी दृष्टिसे अभेद सिद्ध नहीं होना। (३) अक्रमभावि पर्याय रूप अनेक गुणोंके आश्रयभूत एक पदार्थकी दृष्टिसे भी उन अनेक गुणोंमे अभेदकी सिद्धि नही होती। क्योंकि गुणोंकी अनेकताके कारण उनके आश्रयभूत पदार्थका भी अनेकरूपत्व सिद्ध हो जाता है। गुणोंमे भेद होनेसे उनके आश्रयभूत गुणी का-पदार्थका—भी भेद होता जाता है। एक समयमें एक ही गुणरूप अक्रमभावी पर्याय होती हे। एक पदार्थमे अनेक गुण होनेसे अक्रमभावी पर्याय भी अनेक होती है। अक्रमभावी पर्यायोंकी अनेकताके कारण गुणाश्रयभूत पदार्थकी भी अनेकता सिद्ध हो जाती है। जव गुणाश्रयभूत पदार्थकी अनेकता पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे सिद्ध होती हैं, तव पदार्थकी दृष्टिसे पदार्थके गुणोंमें अभेदकी सिद्धि होना असभव हे। यदि गुणाश्रयभूत पदार्थकी अनेकता नहीं होती-ऐसा स्वीकार करे तो पदार्थके अनेक गुणोंका आश्रय होनेमें विरोध उपस्थित होता हैं। यद्यपि आम्लरस गुणयुक्त कच्चे आममे और मधुररस युक्त पके हुए आममे एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे एकत्वकी सिद्धि होती हैं, अथवा द्रव्यर्थिक नयकी दृष्टिसे उभयवस्थापन्न आमका एकत्व सिद्ध हो जाता है, फिर भी आम्लरस गुणयुक्त आम्रफलसे मधुररस गुणयुक्त पके हुए आम्रफलका पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भिन्नत्व ही सिद्ध होता हैं। यदि भिन्न-भिन्न रसगुणोंसे युक्त आम्रफलमें कथञ्चित् भी भेद नहीं होता-सर्वथा अभेद ही होता है, ऐसा स्वीकार किया जाये तो कच्चे आम्रफलमे और पके हुए आम्रफलमें सर्वथा अभेदकी सिद्धि हो जानेसे, आम्लरस गुणसे मधुररस गुणके भेदका अभाव सिद्ध हो जायेगा, तथा आम्रफलका नाना गुणाश्रयत्व भी न रहेगा और यह आम कच्चा है और यह पका हुआ है, यह व्यवहार न बन सकेगा। अत· रसगुणके भेदके कारण उन भिन्न रसोंके आश्रयमें भी भिन्नता होती है--यह स्वीकार करना पडेगा। अत अर्थकी दृष्टिसे भी नाना गुणाश्रयभूत पदार्थका द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे एकत्व सिद्ध हो जानेपर भी, पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे, उस पदार्थका अनेकत्व सिद्ध हो जाता है, तो अनेक गुणोंमें अर्थकी दृष्टिसे अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। (४) प्रत्येक पदार्थ अनेक या अनत गुणोंका आश्रय होता है। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे यद्यपि पदार्थका एकत्व होता है, फिर भी पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे पदार्थाश्रित

जितने गुण होते हैं उतने ही उसके भेद होते हैं। एक गुणके आश्रयभूत पदार्थका भेद दूसरे गुणके आश्रयभूत पदार्थके भेदसे पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भिन्न होता है। पदार्थका भेद और तदाश्रित गुणमे तादात्म्य सब ध होता है। पदार्थका भेद और तदाश्रित गुण दोनों सबधी हैं। पदार्थके जितने भेद होते है, और तदाश्रित जितने गुण होते है, उतने ही सबधी होते है। पदार्थके भेदोंमे परस्पर भिन्नत्व होनेसे और तदाश्रित गुणोंमे व्यवहार नयकी दृष्टिसे भेद होनेसे, एक सम्बन्धियुगलसे अन्य सबधियुगलका भेद होता है सॅबधियुगलोंमे परस्पर भेद होनेसे उनमे होनेवाले सबधोंमे भी भेद होता है। सबंधियोंमें भेद होनेसे सब धोमे भेद होनेके कारण, अनेक सबंधियोंके होनेसे, एक पदार्थमे एक ही सबधका सद्भाव घटित नही होता–अनेक सब धोका सद्भाव घटित होनेके कारण एक पदार्थके आश्रित अनेक गुणोंमे अभेदकी सिद्धि घटित नहीं होती। आम्र-फलरूप पदार्थके एक होनेपर भी, जिसके साथ आम्लरसगुणका तादात्म्य होता है, वह आम्ररसकी अवस्था और आम्लरसगुण तथा जिसके साथ मधुररस गुणका तादात्म्य होता है वह आम्रफलकी अवस्था और मधुररसगुण--इन दोनोंमे परस्पर भिन्नता होती है। इन सबंधियुगलोंमे परस्पर भिन्नता होनेसे उन युगलोंमे होनेवाले तादात्म्य स्वरूप सब धोमे भिन्नता होती है। अत अनेक सब धियोंके कारण एक आम्रफलमे होनेवाले सब धोका एकत्व सिद्ध न होनेसे, आम्रफलके आम्लरसगुण और मधुररसगुणमे अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। यहा सबंधोंकी भिन्नता पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे सिद्ध की गई है। (५) गुणोंकी अपनी विशेषतासे—अपने विशेष स्वरूपसे—अपने आश्रयभूत पदार्थको युक्त करना ही पदार्थका गुणकृत उपकार है। एक पदार्थमें अनेक–अनत–गुण होते है। प्रत्येक गुण अपने आश्रयभूत पदार्थको अपने स्वरूपसे युक्त बनाकर उस पदार्थका उपकार करता है। प्रत्येक गुणका स्वरूप निश्चित होनेसे उस गुणके द्वारा किया जानेवाला उपकार भी निश्चित स्वरूप वाला होता है। भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा किये जाने वाले उपकारोंके निश्चित स्वरूपवाले होनेसे, अन्योन्यव्यावर्तक होनेके कारण परस्पर भिन्न होनेसे तथा अनेक होनेके कारण, पदार्थका उपकार करनेवाले गुणोंमे भेदकी सिद्धि होती है। जब कच्चे आमको आम्लरसगुण अपने स्वरूपसे युक्त करता है—व्याप्त करता है—तब आम्रफल क्रमसे खट्टा और मीठा कहा जाता है। आम्लरसगुण कृत उपकार और मधुररसगुण कृत उपकारमे परस्पर भेद होता है। यदि उपकारोंमे भेद न हुआ तो 'खट्टा आम' और 'मीठा आम'—आमकी ये अवस्थाये ही न रहेगी। अतः विभिन्न गुणकृत उपकारोंमे भेद होनेसे एक पदार्थके गुणोंमें भेदकी सिद्धि हो जाती है। अथवा यदि पदार्थके सभी गुणोंमे भेद न होता तो एक ही इन्द्रियके सभी गुणोंका ग्रहण हो जाता। यदि आम्रफलके स्पर्श, रस, गंध और वर्णमें सर्वथा अभेद होता तो नेत्र इन्द्रिय द्वारा सभी गुणोंका युगपत् ग्रहण हो जाता। जब नेत्र इन्द्रिय द्वारा सभी गुणोंका युगपत् ग्रहण नहीं होता और जब प्रत्येक गुणका उपकार भिन्न है, तब आम्रफलके सभी गुण पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे, अन्योन्य-भिन्न हैं। (६) गुणोंके भेदसे ही पदार्थोमे भेद पाया जाता है। क्योंकि गुण ही पदार्थोकी अन्योन्य-भिन्नताका कारण होते हैं। अतः गुणीकी—अनेक गुणाश्रित पदार्थकी—द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे, पदार्थ जितने गुणोंका आश्रय होता है, उतने ही उसके भेद हो जाते है। आम्रफलके सभी प्रदेशोंके आम्लरसगुणसे युक्त होनेसे कच्चा आम, पके हुए आम्रफलसे भिन्न होता है। क्योंकि पके हुए आम्रफलके सभी प्रदेश मधुररसगुणसे, युक्त होते है। आम्लरसगुण और मधुररसगुणके परस्पर भिन्न होनेसे उनके आश्रयभूत आम्रफलमें, उनके द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे एक होनेपर भी पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे उनमे विभिन्नता होती है। अतः गुणोंके भेदके कारण द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे पदार्थका एकत्व निर्बाध होनेपर भी, पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे उस पदार्थमे भेदोंकी—अनेक रूपत्वकी–सिद्धि होती है। अत पदार्थके जितने गुण होते है, उतने उसके भेद होनेसे, उनके भेदोंसे गुणोंमे भी भेदकी सिद्धि हो जानेसे, एक द्रव्याश्रित गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं होती। यदि गुणोंके भेद होनेपर गुणिदेशमें अभेद ही स्वीकार किया जाय तो ज्ञानगुण और स्पर्श आदि गुणोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी तदाश्रयभूत पदार्थोमे अभेदकी सिद्धि हो जायेगी—अर्थात् जीव और पुद्गल द्रव्यमे एक द्रव्यत्वकी सिद्धिका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। किन्तु

तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । तदेताभ्यमभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्या कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्यायः, नयविषयी-

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य एक रूप नहीं है क्योंकि उनके असाधारण धर्म–गुण–परस्पर व्यावर्तक है। इससे स्पष्ट है कि जीवरूप गुणी और पुद्गलरूप गुणीके परस्पर भिन्न होनेसे उनके गुणोंकी परस्पर भिन्नता सिद्ध होती है। अत प्रत्येक गुणके गुणिदेशके भिन्न होनेसे, एक पदार्थाश्रित अनत गुणोंमें गुणिदेशकी दृष्टिसे अभेदकी सिद्धि नहीं होती। (७) दो विभिन्न पदार्थोंमे होनेवाले सयोगको ससर्ग कहते हैं, गुण और गुणीमें तथा परिणाम और परिणामीमें, यद्यपि द्रव्यार्थिक या निश्चय नयकी दृष्टिसे अभेद होता है, फिर भी पर्यायार्थिक या व्यवहार नयकी दृष्टिसे भेद ही होता है। व्यवहार नयकी दृष्टिसे उनमे भेद होनेसे, परिणाम और परिणामी तथा गुण और गुणीका जो सबध होता है, वह सयोगरूप–ससर्गरूप होता है। परिणाम और परिणामी तथा गुण और गुणी दोनों ससर्गी है। गुणीके जितने भी गुण होते है वे ससर्गी है। गुणरूप ससर्गीके भेदसे गुण और गुणीके सभी ससर्ग भिन्न होते है। यदि गुणोंमें भेद न होता तो ससर्गोमे भी भेद न होता। प्रति समय पदार्थकी पर्यायरूपसे परिणति होती है। उस पर्यायके साथ गुणका ससर्ग होता है। अतः द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायरूप संसर्गी और गुणरूप ससर्गी स्वभिन्न ससर्गियुगलसे भिन्न होता है। अत. ससर्गिभेदसे ससर्गभेदकी सिद्धि हो जाती है। ससर्गभेदके कारण गुणोंमें अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। दण्डग्रहण कालमे होनेवाली देवदत्तकी पर्याय तथा दण्ड इन दोनोंमें जो ससर्ग होता है, वह छत्रग्रहण कालमे होनेवाली देवदत्तकी पर्याय और छत्र—इनमें होनेवाले संसर्गसे भिन्न होनेके कारण, जिस प्रकार दण्ड और छत्रमें अभेद सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार ससर्ग भेदके कारण पदार्थके अनेक गुणोंमें भेद नहीं होता। (८) वाच्यभूत अर्थके अनेक और भिन्न होनेसे उनके वाचक शब्द अनेक और भिन्न होते है। एक पदार्थगत अनेक वाच्यभूत धर्मो के वाचक शब्द अनेक और भिन्न भिन्न होते है। धर्मो के वाचक शब्दके भिन्न भिन्न होनेसे—एक शब्दके द्वारा वाच्य न होनेसे—शब्दकी दृष्टिसे भी, एक पदार्थाश्रित धर्मो—गुणों—में अभेदकी सिद्धि नहीं होती। यदि एक पदार्थके आश्रित अनन्त धर्मोका वाचक एक ही शब्द होता है—ऐसा स्वीकार किया गया, तो सभी पदार्थोंका वाचक एक ही शब्दके होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे, अन्य शब्दोंकी विफलता होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार व्यवहार नय या पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अस्तित्व आदि धर्मोका एक वस्तुमें अभेद रूपसे आश्रित रहना असभव होनेके कारण, काल आदि की दृष्टिसे भिन्न स्वरूप होनेवाले धर्मोमें अभेदका उपचार किया जाता है— अर्थात् 'इनमें भेद नहीं होता', ऐसा उपचारसे कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नयकी दृष्टिसे पदार्थाश्रित अनत धर्मोंमें, तथा पदार्थ और उसके अनत धर्मोमें अभेद होता है, तथा पर्यायार्थिक नय, या व्यवहार नयकी दृष्टिसे उनमें भेद होता है। जब पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अनत गुणोंमें, तथा गुण और गुणीमे भेदकी प्रधानता होती है, तब अभेदका उपचार किया जाता है, तथा जब द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे अनत गुणोंमें तथा गुण और गुणीमें अभेदकी प्रधानता होती है, तब भेदका उपचार किया जाता है)।[१]

द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर काल आदिसे परस्पर भिन्न होनेवाले अस्तित्व आदि गुणोंकी एक पदार्थमे, वस्तुतः इस प्रकार अन्योन्य भेद रूपसे स्थितिकी सभाव्यता न होनेपर, 'अस्तित्व आदि गुणोंकी एक पदार्थमे अभेदसे—अन्योन्य भेद रूपसे—स्थिति होती है'—ऐसा अभेदका उपचार किया जाता है। अतएव अभेदवृत्ति और अभेदोपचार—इन दोनोंसे, प्रमाणद्वारा प्रतिपन्न अनन्त धर्मोसे युक्त वस्तुका युगपत् प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सकलादेश अथवा प्रमाणवाक्य है। तथा, नयके

१ प्रोफेसर एम० जी० कोठारीके सौजन्यसे।

कृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद् वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेशो नयवाक्यापरपर्यायः। इति स्थितम्। ततः साधूक्तम् आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम्॥ इति काव्यार्थः॥ २३॥

द्वारा विषयीकृत वस्तुधर्मका पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे उस वस्तुधर्मकी, उस वस्तुके अन्य धर्मोंसे भिन्न रूपसे वस्तुमे स्थितिकी प्रधानता होनेसे, तथा द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तुधर्मके, उस वस्तुके अन्य धर्मोंसे अभिन्न रूपसे स्थिति होनेके कारण, उस वस्तुधर्मका उस वस्तुके अन्य धर्मोंसे भेदका उपचार होनेसे, क्रमसे प्रतिपादन करनेवाला वाक्य विकलादेश अथवा नयवाक्य है। यह सिद्ध हो गया। अतएव सकलादेश और विकलादेशके भेदसे जिसके सात भग प्रतिपादित किये गये है, वह ठीक ही है॥ यह श्लोकका अर्थ है॥२३॥

भावार्थ—इस श्लोकमे जैन दर्शनके सात भगोंका प्ररूपण किया गया है। 'सप्तभगी' अनेकान्तवाद का समर्थन करनेवाली युक्तिविद्या है। जैन सिद्धांतके अनुसार प्रत्येक पदार्थमे अनन्त धर्म विद्यमान है। इन अनन्त धर्मोका कथन एक समयमें किसी एक शब्दसे नहीं किया जा सकता। इसलिये जैन विद्वानोंने नयवाक्यका निर्देश किया है। इसी प्रमाणवाक्य और नयवाक्यको क्रमसे सकलादेश और विकलादेश कहते है। पदार्थके धर्मोका काल, आत्मरूप, अर्थ, सबध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेद रूपसे एक साथ कथन करनेवाले वाक्यको सकलादेश, अथवा प्रमाणवाक्य कहते है तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेद विवक्षासे पदार्थोके धर्मोको क्रमसे कहनेवाले वाक्यको विकलादेश, अथवा नयवाक्य कहते हैं। सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभगीके भेदसे सात-सात वाक्योंमे विभक्त हैं।

(१) स्यादस्ति जीवः—किसी अपेक्षासे जीव अस्ति रूप ही है। इस भगमे द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता, और पर्यायार्थिक नयकी गौणता है। इसलिये जब हम कहते है कि 'स्यादस्त्येव जीव', तो इसका अर्थ होता है कि किसी अपेक्षासे जीवके अस्तित्व धर्मकी प्रधानता, और नास्तित्व धर्मकी गौणता हैं। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान हैं, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नही। यदि जीव अपने द्रव्य आदिकी अपेक्षा अस्ति रूप, और दूसरे द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्ति रूप न हो, तो जीवका स्वरूप नही बन सकता। (२) स्यान्नास्ति जीवः—किसी अपेक्षासे जीव नास्ति रूप ही है। इस भगमे पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता, और द्रव्यार्थिक नयकी गौणता हैं। जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षाको मुख्य करके नास्ति रूप है, तथा स्वसत्ताके भावकी अपेक्षाको गौण करके अस्ति रूप है। यदि पदार्थोमे परसत्ताका अभाव न माना जाय, तो समस्त पदार्थ एक रूप हो जाय। यह परसत्ताका अभाव अस्तित्व रूपकी तरह स्वसत्ताके भावकी अपेक्षा रखता है इसलिये जिस प्रकार स्वसत्ताका भाव अस्तित्व रूपसे है, और नास्तित्व रूपसे नहीं, उसी तरह परसत्ताका अभाव भी स्वसत्ताके भावकी अपेक्षा रखता है। कोई भी वस्तु सर्वथा भाव अथवा अभाव रूप नहीं हो सकती, इसलिये भाव और अभावको सापेक्ष ही मानना चाहिये। (३) स्यादस्ति च नास्ति च जीवः—जीव कथचित् अस्ति और नास्ति स्वरूप है। इस नयमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी प्रधानता है। जिस समय वक्ताके अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोके कथन करनेकी विवक्षा होती है, उस समय इस भगका व्यवहार होता है। यह नय भी कथचित् रूप हैं। यदि वस्तुके स्वरूपको सर्वथा वक्तव्य मानकर किसी अपेक्षासे भी अवक्तव्य न माने, तो एकान्त पक्षमे अनेक दूषण आते हैं। (४) स्यादवक्तव्य जीवः—जीव कथचित् अवक्तव्य ही है। इस भगमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अप्रधानता है। ऊपर कहा चुका है कि जिस समय वस्तुका स्वरूप एक नयकी अपेक्षा कहा जाता है, उस समय दूसरा नय सर्वथा निरपेक्ष नहीं रहता। किन्तु जिस नयकी जहाँ विवक्षा होती है, वह नय वहाँ प्रधान होता है, और जिस नयकी जहाँ विवक्षा नहीं होती, वह नय वहाँ गौण होता है। प्रथम भगमें जीवके

अनन्तर भगवद्दर्शितस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति सापि निरूपिता । तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति तेषां प्रमाणमार्गात् च्यवनमाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु असत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम् । अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम् किंतु सदवाच्यते च । सच्चावाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते । अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुध्यते । अथवा अवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्वहति । अनेन च नास्तित्वा-

---

अस्तित्वकी मुख्यता है, दूसरे भगमे नास्तित्व धर्मकी मुख्यता है । अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की मुख्यतासे जीवका एक साथ कथन करना सभव नहीं है, क्योंकि एक शब्दसे अनेक गुणोंका निरूपण नहीं हो सकता । इसलिये एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी अपेक्षासे जीव कथचित् अवक्तव्य ही हैं । (५) **स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथचित् अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप है । इस नयमे द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिककी अप्रधानता है । किंचित् द्रव्यार्थ अथवा पर्यायार्थ विशेषके आश्रयसे जीव अस्ति स्वरूप है, तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्य अथवा द्रव्यविशेष और पर्यायविशेषकी अेक साथ अभिन्न विवक्षासे जीव अवक्तव्य स्वरूप है । जैसे, जीवत्व अथवा मनुष्यत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तित्व स्वरूप है, तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्यकी अपेक्षा वस्तुके भाव और अवस्तुके अभावके एक साथ अभेदकी अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है । (६) **स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथचित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है । इस भगमे पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी अप्रधानता है । जीव पर्यायकी अपेक्षासे नास्तिरूप है, तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी एक साथ अभेद विवक्षासे अवक्तव्य स्वरूप है । (७) **स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथचित् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है । जीव द्रव्यकी अपेक्षा अस्ति, पर्यायकी अपेक्षा नास्ति और द्रव्य-पर्याय दोनोंकी एक साथ अपेक्षासे अवक्तव्य रूप है । इस भगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी प्रधानता और अप्रधानता है ।

जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक वस्तु पडितों द्वारा जानने योग्य है, यह कहा जा चुका है । सप्तभगीके प्ररूपणके द्वारा वस्तुके अनेकान्तात्मक होनेका ज्ञान सुखपूर्वक होता ह, इसलिये उस सप्तभगीका भी प्ररूपण कर दिया गया है । वस्तुको विरुद्धधर्माध्यासित रूपमें देखनेवाले एकातवादी अज्ञानी लोग उस सप्तभगीमें विरोधकी उद्भावना करते है । ये एकान्तवादी सन्मार्गसे च्युत होते है ।—

श्लोकार्थ—पदार्थोंमें अशोंके अनेकत्वसे व्यक्त हुआ नास्तित्व अस्तित्वका, अस्तित्व नास्तित्वका तथा अवक्तव्य वक्तव्यका विरोधी नहीं होता । ऐसा जाने विना ही वस्तुगत धर्मोंमें विरोध होनेके भयसे व्याकुल, सत्त्व आदि रूप एकान्तोंसे आहत मूर्ख लोग न्यायमार्गसे च्युत होते हैं ।

व्याख्यार्थ—जिस तरह चेतन और अचेतन पदार्थोंमें अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर कोई विरोध नहीं, उसी तरह विरोध और निषेध रूप अवक्तव्यका भी अस्तित्व और नास्तित्वसे विरोध नहीं है । अथवा, अवक्तव्यका वक्तव्यके साथ कोई विरोध नहीं, इसलिये अवक्तव्यका अस्तित्व और नास्तित्वसे भी विरोध नहीं है । अतएव अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य इन तीन मूल भगोंमे परस्पर विरोध न होनेसे

स्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोधता उपलक्षिता । अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति ॥

नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह उपाधिभेदोपहितम् इति । उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकाराः तेषां भेदो नानात्वम्, तेनोपहितमर्पितम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे ।

अयमत्राभिप्रायः । परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः । न चात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणापि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते, स्वरूपेणाप्य-

---

सम्पूर्ण सप्तभगीमे कोई विरोध नही आता क्योंकि आदिके तीन भग ही मुख्य भंग है, शेष भग इन्हीं तीनोंके सयोगसे बनते हैं, अतएव उनका इन्हींमें अंतर्भाव होता है।

शंका—अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य परस्पर विरुद्ध है, अतएव ये किसी वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते। समाधान—वास्तमे अस्तित्व आदिमे विरोध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व आदि किसी अपेक्षासे स्वीकार किये गये हैं। पदार्थोंमे अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। जिस समय हम पदार्थोमे अस्तित्व धर्म सिद्ध करते हैं, उस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और अन्य धर्मोकी गौणता रहती है। अतएव अस्तित्व और नास्तित्व धर्ममे परस्पर विरोध नहीं है। इसी तरह अस्तित्व और अवक्तव्य भी अपेक्षाके भेदसे माने गये हैं। इसलिये इनमें विरोध नहीं आता।

यहा अभिप्राय है—जिस प्रकार उष्णका परिहार करके शीत अस्तिरूप होता है, और शीतका परिहार करके उष्ण अस्ति रूप होता है-अर्थात् शीत और उष्ण एक पदार्थमें एक साथ नही रहते—उसी प्रकार जो एक दूसरेका परिहार करके स्वयं अस्तिरूप होता हैं, उसीमे सहानवस्थारूप विरोध होता हैं। लेकिन यहा यह बात नही है। क्योंकि सत्त्व अर्थात् अस्तित्व धर्म और असत्त्व अर्थात् नास्तित्व धर्म परस्पर तादात्म्य सबधको प्राप्त होकर एक दूसरेका परिहार न करते हुए एक वस्तुमें एक साथ रहते है। घट आदि पदार्थमे होनेवाला घट स्वरूपसे सत्त्व (अस्तित्व), उस घट आदि पदार्थमे होनेवाले घटभिन्न पदार्थके स्वरूपसे असत्व (नास्तित्व) का परिहार करके घट आदि पदार्थोमें नहीं रहता—अर्थात् दोनों धर्म घट आदि पदार्थमे रहते है। क्योंकि यदि घट आदि पदार्थमे होनेवाले घटस्वरूपसे सत्त्वके द्वारा उस घट आदि पदार्थके होनेवाले घट आदि भिन्न पदार्थके स्वरूपसे असत्व (नास्तित्व) का परिहार किया गया तो घट आदि पदार्थसे भिन्न पदार्थके स्वरूपसे असत्त्वका घट आदि पदार्थमें अभाव हो जानेसे, घट आदि पदार्थके घट आदि पदार्थ-भिन्न पदार्थके स्वरूपसे युक्त बन जाने अथवा पररूपसे भी सद्रूप होनेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। तथा, घट आदि पदार्थकी घट आदि पदार्थ-भिन्न पदार्थके स्वरूपसे भी सद्रूपता होनेपर, घट आदि पदार्थ भिन्न पदार्थ निरर्थक बन जायेगे। क्योंकि तीनों लोकोंके पदार्थके द्वारा सिद्ध की जानेवाली अर्थक्रियाओंकी सिद्धि उसी घट पदार्थसे हो जायेगी। तथा असत्त्व—घट आदि पदार्थ भिन्न पदार्थके स्वरूपसे घट आदि पदार्थका नास्तित्त्व—घट आदि पदार्थमे घट आदि पदार्थके स्वरूपसे होनेवाले सत्त्व (अस्तित्व) का परिहार करके घट आदि पदार्थमे नहीं रहता। यदि ऐसा हो तो घट आदि पदार्थके स्वरूपसे घट आदि पदार्थमे होनेवाले सत्त्व (अस्तित्व)का घट आदि पदार्थ भिन्न पदार्थके स्वरूपसे घट आदि पदार्थमें होनेवाले असत्व (नास्तित्व) द्वारा परिहार किया जानेसे, घट आदि पदार्थमें होनेवाले स्वरूपसे सत्त्व (अस्तित्व) का अभाव हो जानेके कारण, घट आदि पदार्थके स्वरूपसे भी असत्त्व (नास्तित्व) हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। घट आदि पदार्थ-

सत्त्वप्राप्तेः । तथा च निरुपाख्यत्वात् सर्वशून्यतेति । तदा हि विरोधः स्याद् यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम् । यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि । किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम् ॥

दृष्टं ह्येकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वम्, अन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि । एवं मेचकरत्ने[1]ऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम् । न चैभिर्दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः चित्रपटाद्यवयविन एकत्वात् तत्रापि भिन्नदेशत्वासिद्धेः । कथंचित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः । एवमप्यपरितोषश्चेद् आयुष्मतः, तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात् पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम् । एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्या इति ॥

उक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमप्रबुध्यैवाज्ञात्वैव । एवकारोऽवधारणे । स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । ततस्ते विरोधभीताः सत्त्वासत्त्वादिधर्माणां वहिर्मुखशेमुष्या संभावितो यो विरोधः सहानवस्थानादिः, तस्माद् भीतास्त्रस्तमानसाः । अत एव जडाः तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवद् भीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनः । तदेकान्तहताः तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिप्रेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयस्तेन हता इव हताः । पतन्ति स्खलन्ति पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमणे न समर्थाः । न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः । यद्वा पतन्तीति प्रमाणमार्गतः च्यवन्ते । लोके हि सन्मार्गच्युताः पतित इति परिभाष्यते । अथवा यथा वज्रा-

---

का स्वरूपसे भी अस्तित्व न रहा तो सभी पदार्थोंके निरुपाय बन जानेसे—सभी पदार्थोंके स्वस्वरूपसे अस्तित्वका अभाव हो जानेसे—सर्व शून्यताका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । सत्त्व और असत्त्वमें विरोध तभी उपस्थित हो सकता है जब कि स्वरूप अथवा पररूपसे ही सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्मका पदार्थमें सद्भाव हो । किन्तु सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्मका स्वरूप अथवा पररूपसे पदार्थमें सद्भाव नहीं है । क्योंकि पदार्थमें जिस अंशसे सत्त्व होता है उसी अंशसे असत्त्व नहीं होता, किन्तु पदार्थमें होनेवाले सत्त्वका कारण (स्वरूप) जुदा होता है और असत्त्वका कारण (पररूप) जुदा । वस्तुमें होनेवाला सत्त्व स्वरूपसे और असत्त्व पररूपसे (पर रूपके कारणसे) होता है ।

इसी प्रकार एक चित्रपट (अनेक रंगोंसे रंगा हुआ वस्त्र) में जो नीला रंग दीख पड़ता है, वह दूसरी वस्तुके सम्बन्धसे होता है, और दूसरे रंग अपनी जुदी-जुदी सामग्रियोंसे होते हैं । मेचक रत्नमें भी इसी प्रकार भिन्न भिन्न वर्णके पुद्गलोंकी अपेक्षा विचित्रता पायी जाती है । यदि कहो कि चित्रपट और मेचकके दृष्टान्तसे सत्त्व और असत्त्वका भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहना सिद्ध होता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि चित्रपट और मेचक रत्न अनेक रंगोंके आश्रित होकर भी स्वयं अखंड है, अतएव भिन्न भिन्न रंगोंका एक ही आधार माना जाता है अतएव जिस प्रकार स्याद्वादियोंके मतमें भिन्न भिन्न रंग और उनके आधारभूत वस्त्र परस्पर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं, उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्वके आश्रित पदार्थ भी परस्पर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं । जिस प्रकार एक ही पुरुषमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे पिता पुत्र, मामा, भानजा, चाचा, भतीजा आदि परस्पर विरुद्ध धर्म मौजूद रहते हैं, उसी तरह एक ही वस्तुमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य धर्म विद्यमान हैं ।

इस प्रकार सप्तभंगीवादमें नाना अपेक्षाकृत विरोधाभावको न समझकर, अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें स्थूल रूपसे दिखाई देनेवाले विरोधसे भयभीत होकर अस्तित्व आदि धर्मोंमें नास्तित्व आदि धर्मोंका

---

१ पञ्चवर्ण रत्न ।

दिप्रकारेण हतः पतितो मूर्च्छामतुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति, एवं तेऽपि वादिनः स्वाभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणीमननुसरता वज्राशनिप्रायेण निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति ।

अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वात् वैयधिकरण्यम् अनवस्था संकरः व्यतिकरः संशयः अप्रतिपत्तिः विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः । तथाहि—सामान्यविशेषात्मकं वस्तु इत्युपन्यस्ते परे उपालम्भधारो भवन्ति । यथा—सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राभिन्ने वस्तुनि असंभवात् शीतोष्णवदिति विरोधः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः, ततो वैयधिकरण्यमपि[1] भवति । अपरं च येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य तावप्यात्माना एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम्? एकेनैव चेत् तत्र पूर्ववद् विरोधः । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति तदानवस्था[2], तावपि

निषेध करके अपने मतको स्थापित करनेके लिये एकान्त पक्षका अवलम्बन लेनेवाले युक्तिमार्गका अनुसरण करनेमें असमर्थ मूर्ख एकान्तवादी एकान्तवादके वज्रप्रहारसे स्याद्वादियोंके समक्ष निस्तेज होकर न्यायमार्गसे च्युत होकर अवाक् हो जाते हैं ।

शंका—इस श्लोकमें 'विरोधभीता' इस सामासिक पदमें पाये जानेवाले 'विरोध' शब्दके उपलक्षण होनेसे दूसरोंके द्वारा प्रतिपादित विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और विषयव्यवस्थाहानि—ये आठ दोष आते हैं (१) जिस प्रकार एक अभिन्न वस्तुमें शीत और उष्ण इन विरुद्ध धर्मोंके सद्भावका संभव न होनेसे उन दोनोंमें विरोध होता है, उसी प्रकार एक अभिन्न वस्तुमें विधिरूप (अस्तित्व रूप) सामान्य धर्म तथा प्रतिषेध रूप (नास्तित्व रूप) विशेष धर्म - इन विरुद्ध धर्मोंके सद्भाव न होनेसे उन दोनोंमें **विरोध** होता है। (२) जो विधि (विधिरूप सामान्य अर्थात् अस्तित्व) का अधिकरण होता है, वही प्रतिषेध (प्रतिषेधरूप विशेष अर्थात् नास्तित्व) का अधिकरण होने योग्य नहीं। अन्यथा उन दोनोंके एक रूप होनेसे विधि और प्रतिषेध, इन दोनोंकी एकरूपताका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। विधि धर्म और प्रतिषेध धर्म (अस्तित्व और नास्तित्व धर्म) का अधिकरण एक होनेसे दोनोंका अभेद सिद्ध हो जानेका प्रसंग उपस्थित होनेके कारण उन दोनोंके अधिकरणोंमें भी भेद सिद्ध होता है—**वैयधिकरण्य**। (३) जिस रूप—स्वरूप—से पदार्थ (विधिरूप—अस्तित्वरूप) सामान्यका अधिकरण होता है और जिस रूपसे (पररूपसे) वही पदार्थ (प्रतिषेध रूप—नास्तित्व रूप) विशेषका अधिकरण होता है, उन दोनों रूपों (स्वरूप और पररूप) को एक ही रूपसे (स्वरूप और पररूप—इन दोनों रूपोंमेंसे किसी एक रूपसे) वह पदार्थ धारण करता है, अथवा उन दोनों रूपोंसे धारण करता है? (स्वरूप और पररूप) इन दोनों रूपोंमेंसे किसी एक ही रूपसे (स्वरूप और पररूप इन रूपोंको) धारण करता हो तो एक अभिन्न पदार्थमें इन दोनों रूपोंका सद्भाव होनेमें विरोध उपस्थित हो जाता है—एक ही स्वभावसे एक ही अभिन्न पदार्थमें स्वरूप और पररूपका सद्भाव होनेमें विरोध उपस्थित होता है। स्वरूप और पररूप इन दोनों स्वभावोंसे सामान्यरूप और विशेषरूप इन दोनों स्वभावों (पदार्थों) को धारण करता है, यदि ऐसा स्वीकार किया जाये तो **अनवस्था** दोष उपस्थित होता है। क्योंकि वे दोनों स्वरूप और पररूप स्वभावोंको अन्य स्वरूप और पररूप—इन दो स्वभावोंसे, फिर इन स्वरूप और पररूप स्वभावोंको अन्य स्वरूप और पररूप—इन दो स्वभावोंसे धारण करनेकी अप्रमाणिक अनंत कल्पनायें करनी पड़ती है। (४) जिस स्वरूपसे पदार्थ सामान्य (अस्तित्वका) का अधिकरण होता है, उसी रूपसे सामान्य (अस्तित्व) और विशेष (नास्तित्व)

---

१ विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वम् ।

२ अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावश्चानवस्था ।

स्वभावान्तराभ्याम् तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति । येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च, विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति संकरदोषः[१] । येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः[२] । ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः । ततश्चाप्रतिपत्तिः । ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति ॥

एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वाद् निरवकाशा एव । अतः स्याद्वादमर्मवेदिभिरुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात् । अथवा विरोधशब्दोऽत्र दोषवाची यथा विरुद्धमाचरतीति दुष्टमित्यर्थः । ततश्च विरोधेभ्यो विरोधवैयधिकरण्यादिदोषेभ्यो भीता इति व्याख्येयम् । एवं च सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्तयः संगृहीता भवन्ति ॥ इति काव्यार्थः ॥२४॥

का अधिकरण हो जानेसे, तथा जिस रूपसे पदार्थ विशेष (नास्तित्व) का अधिकरण होता है, उसी रूपसे विशेष (नास्तित्व) और सामान्य (अस्तित्व) का अधिकरण हो जानेसे **संकर** दोष आता है। अर्थात् जिस रूपसे (स्वरूप चतुष्टयसे) पदार्थमें अस्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी रूपसे (स्वरूप चतुष्टयसे) उसी पदार्थमे नास्तित्व धर्मका सद्भाव होनेका प्रसग आ जानेके कारण, तथा जिस रुपसे (पररुप चतुष्टयसे) पदार्थमें नास्तित्व धर्मका सद्भाव होता हैं, उसी रूपसे (पररूप चतुष्टयसे) उसी पदार्थमें अस्तित्व धर्मका सद्भाव होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। (५) जिस स्वरूपसे पदार्थमे सामान्य–अस्तित्व–का सद्भाव होता है, उसी स्वरूपसे, उसी पदार्थमें विशेष–नास्तित्व–का सद्भाव होनेसे, तथा जिस स्वरूपसे पदार्थमें विशेष–नास्तित्व–का सद्भाव होता हैं, उसी स्वरूपसे, उसी पदार्थमें सामान्य–अस्तित्व–का सद्भाव होनेसे **व्यतिकर** नामक दोष आता है। (६) व्यतिकर दोप आ जानेसे वस्तुका सत्त्वरूप या असत्त्वरूप असाधारण धर्मके द्वारा निश्चय करनेकी शक्तिका अभाव होनेके कारण **संशय** नामक दोष उपस्थित होता है। (७) सशय होनेसे वस्तुका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकना, अतएव स्याद्वादमे **अप्रतिपत्ति** दोष आता हैं। (८) तथा, वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती, अतएव स्याद्वादमें **विषयव्यवस्थाहानि** (अभाव) दोष आता है।

(उक्त आठ दोषोका परिहार—(१) किसी न किसी प्रकारसे प्रतीतिका—ज्ञानका—विषय बननेवाले पदार्थमें स्वरूपकी अपेक्षासे विपरीत भासमान विवक्षित सत्त्वधर्ममें, और पररूपकी अपेक्षासे भासमान विवक्षित असत्त्वधर्ममे विरोध नहीं होता। दो धर्मोमेसे एक धर्मका एक पदार्थमे सद्भाव होनेपर जब दूसरे धर्मकी उपलब्धि नहीं होती, तब अनुपलब्धिसे उपलभ्यमान धर्म और अनुपलभ्यमान धर्ममें विरोधकी सिद्धि होती हैं। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावके रूपसे पदार्थका जब अस्तित्व होता है, तब परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावके रूपसे (अर्थात् जिस पदार्थमे स्वरूपादिचतुष्टयसे अस्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी पदार्थमे पररूपचतुष्टयका अभाव होनेसे) उसी पदार्थके नास्तित्व धर्मका उपलम्भ (प्राप्ति) नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार स्वरूपादिसे अस्तित्व धर्मका सद्भाव अनुभवसे सिद्ध है, उसी प्रकार पररूपादिसे नास्तित्व धर्मका सद्भाव भी अनुभवसे सिद्ध है। वस्तुका सर्वथा अर्थात् स्वरूप और पररूपसे अस्तित्व ही वस्तुका स्वरूप नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार स्वरूपसे अस्तित्व वस्तुका स्वरूप होता है, उसी प्रकार पररूपसे भी अस्तित्व वस्तुका धर्म बन जायगा। वस्तुका सर्वथा अर्थात् स्वरूप और पररूपसे नास्तित्व भी वस्तुका स्वरूप नही हैं, क्योंकि जिस प्रकार पररूपसे नास्तित्व वस्तुका स्वरूप होता है, उसी प्रकार स्वरूपसे भी नास्तित्व वस्तुका धर्म बन जायगा।

१ येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वस्यापि प्रसग । येन रूपेण चासत्त्व तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसग इति सकर । "सर्वेषा युगपत्प्राप्तिस्स कर " इत्यभिधानात् ।

२ येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु सत्त्व । येन रूपेण चासत्त्व तेन सत्त्वमेव स्यान्नत्वसत्त्वम् इति व्यतिकर.। "परस्परविषयगमन व्यतिकर " इति वचनात्। सप्तभंगीतरगिण्या पृ ८२।

शंका—पररूपसे वस्तुका जो नास्तित्व धर्म है, उसका अर्थ वस्तुमे उस वस्तुसे भिन्न वस्तुके स्वरूपका अभाव ही है। घटमे पटके स्वरूपका अभाव होनेपर 'घट नही है', ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भूतलमे घटका अभाव होनेपर 'भूतलमे घट नहीं है' इस वाक्यकी जिस प्रकार प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार घटमे पटके स्वरूपका अभाव होनेपर 'घटमे पट नही है', ऐसा ही कहना उचित है। **समाधान**—यह कथन ठीक नही है, क्योंकि वह विचारको सहा नहीं है। घट आदिमे जो घट आदिसे भिन्न पटके स्वरूपका अभाव होता है, वह पट आदिका धर्म होता है या घटका धर्म होता है? घट आदिमे पटके स्वरूपका अभाव पटका धर्म नही हो सकता, क्योंकि उसके पटका धर्म होनेसे व्याघात होता है—विरोध उपस्थित हो जाता है। पटके स्वरूपका अभाव पटमे नहीं होता, क्योंकि पटके स्वरूपका पटमे अभाव होनेसे पटका अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। पदार्थका अपना धर्म उसी पदार्थमे नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उस धर्मका, पदार्थका अपना धर्म होनेमे विरोध आता है और घटका पटके धर्मका आधार होना घटित नही होता। क्योंकि पटके धर्मका आधार घट होता है, ऐसा माननेसे घटके आतान-वितान-आकारका आधार हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। पटके स्वरूपका अभाव-नास्तित्व—घटका धर्म है, इस पक्षको स्वीकार करनेसे विवादकी ही समाप्ति हो जाती है। क्योंकि पदार्थके साथ अस्तित्व धर्मका तादात्म्यसंबंध होनेसे जिस प्रकार पदार्थ अस्तित्वधर्मात्मक होता है, उसी प्रकार पदार्थके साथ (पररूपसे) नास्तित्व धर्मका तादात्म्यसंबंध होनेसे पदार्थ नास्तित्वधर्मात्मक होता है। इस प्रकार 'घट नही है' यह प्रयोग ठीक है। यदि 'घट नहीं है' यह प्रयोग ठीक न हो तो जिस प्रकार पदार्थका नास्तित्व धर्मके साथ तादात्म्यसंबंध होनेपर भी पदार्थ असत्—नास्तिरूप—नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसी पदार्थका अस्तित्व धर्मके साथ तादात्म्यसंबंध होनेपर भी वह पदार्थ सत्—अस्तित्वरूप—नहीं हो सकेगा।

शंका—घटमे पटके रूपके अभावका अर्थ है—घटमे रहने वाले पररूपके अभावका प्रतियोगित्व (जिसका अभाव बताया जाता है वह प्रतियोगी कहा जाता है। घटके अभावका प्रतियोगी घट होता है।) वह पटके रूपके—धर्मके-अभावका प्रतियोगी पटका रूप या धर्म है। उदाहरण—'भूतलमें घट नहीं है' इस वाक्यमे भूतलमे जो घटका नास्तित्व है, वह भूतलमें होनेवाले घटके अभावका प्रतियोगित्व ही है। वह घटके रूपके—धर्मके—अभावका प्रतियोगी घटका रूप या धर्म है। **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस तरह भी जैसे घटके अभावका भूतलका धर्म होनेमें विरोध उपस्थित नहीं होता, वैसे ही पटके रूपके अभावका घटका धर्म होनेमे विरोध उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार घटका भावाभावात्मकत्व—अस्तित्वनास्तित्वधर्मात्मकत्व या विधिप्रतिषेधात्मकत्व—सिद्ध हो जाता है। क्योंकि कथंचित्तादात्म्यरूप संबंधसे जिसका पदार्थके साथ संबंध होता है वही पदार्थका अपना धर्म होता है।

शंका—इस प्रकार घटमे स्वरूपसे भावधर्मके—अस्तित्वधर्मके—और पररूपाभावसे अभाव धर्मके—नास्तित्व धर्मके—सद्भावकी सिद्धि होनेपर भी 'घट है, पट नहीं है' ऐसा ही कहना चाहिये। क्योंकि पटके अभावका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यकी उक्त प्रकारसे—'पट नहीं है' इस प्रकारसे—प्रवृत्ति होती है, जिस प्रकार 'भूतलमे घट नहीं है' इस प्रकार घटके अभावका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य प्रवृत्त होता है, 'भूतल नहीं है' इस प्रकारका वाक्य प्रवृत्त नही होता, उसी प्रकार प्रकृत विषयमे घटमे पटका अर्थात् पटके स्वरूपका अभाव घटका धर्म होनेपर भी, 'पट नहीं है' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग करना उचित है। क्योंकि अभावका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यमे अभावके प्रतियोगीका प्राधान्य होता है (घटमे पटके अभावका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यमे पटरूप प्रतियोगीका प्राधान्य होता है)। जिस प्रकार घटरूप परिणामकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें जो घटका अभाव होता है, वह अभाव कपालरूप होनेपर भी कपालकी अवस्थामें 'घट उत्पन्न होगा' इस प्रकारके ही घटकी उत्पत्ति कालके पूर्वकालमे होनेवाले घटके अभावका

प्रतिपादन करनेवाले वाक्यका प्रयोग देखा जाता है, 'कपाल उत्पन्न होगा' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग नहीं। और जिस प्रकार घटका नाश होनेपर जो घटका अभाव होता है, वह अभाव घटके नाशके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले कपालके स्वरूपका होनेपर भी, 'घट नष्ट हुआ' इस प्रकारके वाक्यका ही प्रयोग देखा जाता है, इसी प्रकार प्रकृत विषयमे भी 'पट नही है' इस वाक्यका प्रयोग करना ही उचित है, 'घट नहीं है' इस वाक्यका प्रयोग करना उचित नहीं। समाधान—इसका परिहार निम्न प्रकार है घटके भावाभावात्मकत्व—विधिनिषेधात्मकत्व—अस्तित्वनास्तित्वधर्मयुक्तत्व—की सिद्धि हो जानेपर हमारा विवाद ही समाप्त हो गया। क्योंकि हमारा अभीष्ट जो घटका भावाभावात्मकत्व है, उसकी सिद्धि हो गयी है। शब्दका—वाक्य—का प्रयोग तो पूर्व पूर्व प्रयोगके अनुसार ही होगा। शब्दका प्रयोग पदार्थकी सत्ताके अधीन नहीं होता। स्पष्टीकरण—'देवदत्त पकाता है' इस वाक्यमें प्रश्न होता है कि क्या देवदत्तका अर्थ देवदत्तका शरीर है या देवदत्तकी आत्मा है या देवदत्तके शरीरसे युक्त देवदत्तकी आत्मा है ? यदि देवदत्तका अर्थ देवदत्तका शरीर हो तो 'देवदत्तका शरीर पकाता है' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग करनेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। यदि देवदत्तका अर्थ देवदत्तकी आत्मा हो तो 'देवदत्तकी आत्मा पकाती है' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग करनेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। 'देवदत्तके शरीरसे युक्त देवदत्तकी आत्मा पकाती है' इस प्रकारके वाक्यके प्रयोगका अभाव होनेसे तीसरे पक्षमें भी उपपत्ति घटित नहीं होती। इस प्रकार प्रतिपादन प्रयोगके अभावमें पूर्व पूर्व प्रयोगका अभाव ही शरण है और इस प्रकार पूर्व पूर्व प्रयोगके अनुसार वाक्यके प्रयोगकी प्रवृत्ति होनेसे शब्दप्रयोगके आधारपर प्रश्न करना ठीक नहीं हैं।

दूसरी बात—घट आदिमें रहनेवाला पटादिरूप पर पदार्थके स्वरूपका जो अभाव होता है वह घटसे भिन्न होता है या अभिन्न ? घटमें जो घटभिन्न पदार्थके स्वरूपका अभाव होता है, यदि वह घटसे भिन्न हो तो उस अभावके भी घटसे भिन्न होनेसे, उस घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावके अभावकी उस घटमे कल्पना करना चाहिये। क्योंकि घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावके अभावकी घटमें कल्पना न की जाये तो घटभिन्न पदार्थके स्वरूपसे अभावका घटसे भिन्नत्व घटित होनेसे घटके कथंचित् असद्रूपत्वकी—नास्तित्वकी—सिद्धि नहीं होती, और घटमे घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावके अभावकी कल्पना की जानेपर अनवस्था नामक दोष आता है। क्योंकि घटभिन्न पदार्थके स्वरूपके अभावका अभाव भी घटसे भिन्न होता है और घट आदिमें घटभिन्न पटरूप पदार्थके आतान-वितानरूप स्वरूपके अभावके अभावकी घटमें कल्पना की जानेपर घटभिन्न सभी पदार्थोंके स्वरूपोंके घटरूप हो जानेकी—घटके स्वरूप बन जानेकी—आपत्ति उपस्थित हो जाती है। क्योंकि दो अभावरूप दो निषेधोंसे प्रकृतकी—विधिकी—सिद्धि हो जाती है। (द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयत' ऐसा नियम है।) घटमें रहनेवाला घटभिन्न पटके स्वरूपका अभाव घटसे भिन्न न हो तो घटसे भिन्न न होनेवाले अस्तित्व धर्मसे जिस प्रकार घटादिमें अस्तित्व धर्मका सद्भाव होता है, उसी प्रकार घटसे भिन्न न होनेवाले नास्तित्वधर्मसे घटादिमें सिद्ध हुए नास्तित्वधर्मके सद्भावको भी स्वीकार करना चाहिये।

शंका—स्वरूपसे पदार्थका अस्तित्व ही पदार्थका पररूपसे नास्तित्व होता है और पररूपसे पदार्थका नास्तित्व ही पदार्थका स्वरूपसे अस्तित्व होता है, इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व इन धर्मोंमे एक वस्तुमें भेद न होनेसे—दोनों धर्मोंकी एकरूपता होनेसे—पदार्थकी अस्तित्वनास्तित्वधर्मयुक्तता कैसे हो सकती है ? समाधान—ऐसा कहना हो तो हम कहते है कि भावके—अस्तित्वके—द्वारा अपेक्षणीय निमित्त और अभावके—नास्तित्वके—द्वारा अपेक्षणीय निमित्तमे भेद होनेसे पदार्थकी अस्तित्वनास्तित्वधर्मयुक्तता हो जाती है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भावरूप निमित्तकी अपेक्षासे पदार्थ ज्ञातामें अपने अस्तित्व धर्मका ज्ञान उत्पन्न कराता है, तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावरूप निमित्तकी अपेक्षासे ज्ञातामे अपने नास्तित्व धर्मका ज्ञान उत्पन्न कराता है। इस तरह एक पदार्थमें जैसे एकत्व, द्वित्व आदि संख्याओंमे जिस प्रकार भेद होता है, उसी प्रकार एक पदार्थमें अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्ममें होता है। एक द्रव्यमे अन्य द्रव्यकी अपेक्षासे प्रकट होनेवाली द्वित्वादि संख्या, जिसके अपने एक द्रव्यकी ही अपेक्षा होती है, ऐसी एकत्व संख्यासे

भिन्नरूपसे प्रतीत नहीं होती—यह बात नहीं है। एकत्वरूप और द्वित्वरूप यह उभयरूप सख्या सख्यावान पदार्थसे भिन्न ही नहीं होती, क्योंकि उसके उभयरूप सख्यावान पदार्थसे भिन्न होनेसे, उस पदार्थके असख्येय—अगणनीय—हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। द्रव्यके साथ सख्याका समवायसबध होनेसे द्रव्य सख्येय—गणनीय—बन जाता है, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कथचित् तादात्म्यसबधको छोडकर अन्य समवायका होना असभव है। इस प्रकार अपेक्षणीय स्वरूप और पररूपमे भेद होनेसे पदार्थके अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्ममे भेदकी सिद्धि हो जाती है। परस्पर भिन्न अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्म इन दो धर्मोंकी सत्ताका एक पदार्थमे ज्ञान हो जानेसे इन दोनों धर्मोमे कौनसा विरोध हो सकता है?

शका—अस्तित्व धर्मके और नास्तित्व धर्मके सद्भावका एक वस्तुमे होनेवाला ज्ञान मिथ्या होता है। समधान—यह ठीक नही है। क्योंकि एक वस्तुमे रहनेवाले अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्मके सद्भावके ज्ञानको बाधित करनेवालेका अभाव है। उस ज्ञानको बाधित करनेवाला विरोध है, यह कहना ठीक नही। क्योंकि विरोधका सद्भावका होनेपर उस विरोधसे उक्त ज्ञानके बाधित होनेसे उक्त ज्ञानके मिथ्यापनकी सिद्धि, तथा उक्त ज्ञानके मिथ्यापनकी सिद्धि होनेपर अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्ममे विरोधके सद्भावकी सिद्धि होनेसे अन्योन्याश्रय नामका दोष उपस्थित हो जाता है। वध्य-घातकभावरूपसे, सहानवस्थानरूपसे और प्रतिवध्य-प्रतिबन्धकभावरूपसे विरोध तीन प्रकारका होता है। उन तीनोंमेसे प्रथम विरोधमे सर्प और नकुल, अग्नि और जल आदि विषय आते है। यह वध्यघातकभावरूप विरोध एक कालमे विद्यमान होनेवाले पदार्थोका सयोग होनेपर होता है, क्योंकि जिस प्रकार द्वित्व अनेकोंके अर्थात् दो पदार्थोके आश्रयसे होता है, उसीप्रकार सयोग दो या अनेक पदार्थोके आश्रयसे होता है—एक पदार्थके आश्रयसे नही। अग्निका नाश जल नही करता, क्योंकि जलका अग्निके साथ सयोग न होनेपर भी यदि जल अग्निका नाश करता है, ऐसा माना जाये तो सर्वत्र अग्निका अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। अतएव सयोग होनेपर उत्तर कालमें बलवानके द्वारा दूसरा बाधित किया जाता है। इसी प्रकार एक ही कालमे एक पदार्थमे अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्मका क्षणमात्रके लिये भी सद्भाव होता है, ऐसा प्रतिपक्षीके द्वारा नहीं माना जाता जिससे कि उन दोनों धर्मोमे वध्यघातकभावरूप विरोधकी कल्पना की जा सके। यदि अस्तित्व और नास्तित्व धर्मकी स्थिति आपके द्वारा एक पदार्थमे मानी गयी तो अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्म इन दोनोंके समान बलवाले होनेसे, उनसे वध्य-घातकभावरूप विरोधका सद्भाव नही हो सकता। उन अस्तित्वरूप और नास्तित्वरूप दोनों धर्मोमे सहानवस्थानरूप विरोध भी नही हो सकता। यह सहानवस्थानरूप विरोध—एक साथ एक पदार्थमे स्थित न होना रूप विरोध—भिन्न-भिन्न कालोंमे एक पदार्थमे या स्थानमे होनेवाले दोनोंमे, आम्रफलमे श्यामत्व और पीतत्वके समान होता है। अर्थात् जिस प्रकार आम्रफलमे भिन्न-भिन्न कालोंमे होनेवाले श्यामत्व और पीतत्वके आम्रफलमे समान कालमे रहनेमे विरोध होता है, उसी प्रकार एक पदार्थमे भिन्न-भिन्न कालोमे रहनेवाले दोनोंमें सहानवस्थानरूप—एक साथ एक पदार्थमे स्थित न होना रूप—विरोध होता है। आम्रफलमे उत्पन्न होनेवाला पीतत्व पूर्वकालमे उत्पन्न हुए श्यामत्वको (हरेपनको) नष्ट करता है। श्यामत्व और पीतत्व जिस प्रकार पूर्वकाल और उत्तरकालमे उत्पन्न होनेवाले होते है, उसी प्रकार पदार्थमे रहनेवाले अस्तित्व और नास्तित्व पूर्वकाल और उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले नही होते, यदि अस्तित्व और नास्तित्व पूर्वकाल और उत्तरकालमे उत्पन्न होनेवाले हों तो अस्तित्वके कालमे नास्तित्वका अभाव होनेसे जीवका केवल अस्तित्व सभीकी प्राप्ति कर लेगा—सभी पदार्थ जीवरूप बन जायेगे। जीवके नास्तित्व पररूपसे होनेवाले नास्तित्व—के कालमे यदि जीवके स्वरूपसे अस्तित्वका अभाव हो गया तो बन्ध-मोक्षादि व्यवहारके विषयमे विरोध उपस्थित हो जायगा। जिसका सर्वथा अभाव होता है, उसके पुन. आत्मलाभका—उत्पत्तिका—अभाव होनेसे और जिसका सर्वथा सद्भाव होता है उसका पुन अभावको प्राप्त होना घटित न होनेसे, इन अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोकी एक पदार्थमें एक साथ होनेवाली स्थितिका अभाव होना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्वमे प्रतिवध्य-प्रतिबन्धकभावरूप विरोधका भी सभव नहीं है।

उदाहरण—चन्द्रकान्तमणि रूप दाहके प्रतिबंधका सद्भाव होनेपर अग्निमें पदार्थमें दहन क्रिया उत्पन्न नहीं होती इसलिये चन्द्रकान्तमणि और पदार्थगत अग्निजन्य दहनक्रियामें प्रतिबध्य प्रतिबंधक भावरूप विरोधका होना युक्त है। जिस प्रकार चंद्रकांतमणिके अस्तित्वकालमें पदार्थगत अग्निजन्य दहनक्रियाका प्रतिबंध होता है, उसी प्रकार पदार्थके स्वरूपसे अस्तित्व होनेके कालमें पररूपसे नास्तित्व होनेमें प्रतिबंध नहीं होता। क्योंकि स्वरूपसे अस्तित्वकालमें भी पररूप आदिसे नास्तित्व अनुभवसिद्ध है। एक पदार्थमें अस्तित्व धर्म और नास्तित्व धर्म नहीं रहते इसकी सिद्धि करते हुए शीत और उष्ण इन धर्मोंके एक पदार्थमें न रहनेका जो दृष्टांत दिया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि एक धूपपात्र आदिमें अवच्छेदकके भेदसे शीत और उष्णका उपलम्भ होनेसे शीत और उष्णमें विरोधकी सिद्धि नहीं होती। (धूप जलानेसे गर्म बना हुआ धूपपात्र वर्फकी दृष्टिसे गर्म होता है और प्रखर अग्निकी दृष्टिसे शीत होता है। अतः धूपपात्रमें एक साथ शीत धर्मकी और उष्ण धर्मकी प्राप्ति होनेसे उन दोनों धर्मोंमें विरोध नहीं हो सकता।) जिस प्रकार एक वृक्ष आदिमें चलत्व और अचलत्वकी, एक घट आदिमें रक्तत्व और अरक्तत्वकी और एक शरीर आदिमें आवृतत्व और अनावृतत्वकी उपलब्धि होनेसे, उन युगलधर्मोंमें विरोधका अभाव होता है, उसी प्रकार सत्त्व (अस्तित्व) और असत्त्व (नास्तित्व) इन दोनों धर्मोंके एक पदार्थमें पाये जानेमें उनमें भी विरोधका अभाव होता है। (२) इस पूर्वोक्त युक्तिसिद्ध कथनसे सत्त्व धर्मके और असत्त्व धर्मके भिन्नाधिकरणत्वका—अर्थात् उनके अधिकरण भिन्न भिन्न होते हैं, इस कथनका—परिहार हो गया, क्योंकि सत्त्व धर्म और असत्त्व धर्मकी एकाधिकरणता अनुभवमें सिद्ध है। (३) जो अनवस्था नामक दोष स्याद्वादमें बताया गया है, वह दोष भी अनेकान्तवादियोंके नहीं है। क्योंकि पदार्थका अनन्तधर्मात्मकत्व प्रमाणोंसे ज्ञात होनेके कारण, अनन्तधर्मात्मक पदार्थको स्वयं स्वीकार करनेसे अप्रामाणिक पदार्थपरंपराकी परिकल्पनाका अभाव होता है। कहनेका अभिप्राय यह है स्वरूपसे अस्तित्व धर्मका और पररूपसे नास्तित्व धर्मका पदार्थके साथ जब कथंचित् तादात्म्य है, तब अस्तित्व धर्म स्वरूपसे अस्तिरूप है और पररूपसे नास्तिरूप है। तथा पररूपसे नास्तित्व अपने रूपसे अस्तिरूप है और पररूपसे नास्तिरूप है, यह कहनेकी, और ये दोनों स्वरूप भी स्वरूपसे अस्तिरूप और पररूपसे नास्तिरूप हैं, यह कहनेकी आवश्यकता न होनेसे अप्रामाणिक पदार्थपरंपराकी परिकल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। (४) स्वरूपसे अस्तित्व धर्मका और पररूपसे नास्तित्व धर्मका एक पदार्थके साथ कथंचित्तादात्म्यसंबंध होनेसे पदार्थका अस्तित्व जिस रूपसे होता है, उसी रूपसे नास्तित्वके होनेका, और नास्तित्व जिस रूपसे होता है उसी रूपसे अस्तित्वके होनेका प्रसंग उपस्थित न होनेसे संकर दोष नहीं आता। (५) स्वरूपसे अस्तित्व धर्मका और पररूपसे नास्तित्व धर्मका एक पदार्थके साथ कथंचितादात्म्यसंबंध होनेसे पदार्थका अस्तित्व धर्म जिस रूपसे होता है उस रूपसे नास्तित्व ही होगा, अस्तित्व नहीं, और नास्तित्व धर्म जिस रूपसे होता है उस रूपसे अस्तित्व ही होगा, नास्तित्व नहीं, इस प्रकारसे व्यतिरेक दोष नहीं आता। (६) स्वरूपसे अस्तित्वका और पररूपसे नास्तित्वका एक ही पदार्थमें सद्भाव होनेके कारण वस्तु सदसदात्मक होनेसे पदार्थ सद्रूप है या असद्रूप है? इस प्रकार उभयकोटिक ज्ञानका अभाव होनेसे अनेकान्तवादमें संशय नामक दोष भी नहीं आता। (७) संशयका अभाव होनेसे अर्थात् पदार्थ सदसदात्मक ही है इस प्रकारसे निश्चयका सद्भाव होनेसे अनिश्चयरूप अप्रतिपत्ति नामक दोष भी नहीं होता, और (८) अप्रतिपत्ति नामक दोषका अभाव होनेसे अर्थात् वस्तुके सदसदात्मकरूप स्वरूपके निश्चयके सद्भावसे अनेकांतवादमें वस्तुव्यवस्थाहानि नामक दोष भी नहीं आता। जिस पदार्थकी अनुभवसे सिद्धि होती है उसके विषयमें कोई भी दोष नहीं आता। जिस पदार्थकी सिद्धि अनुभवसे नहीं होती, उसमें दोष आते हैं।)[1]

एकान्तवाद जातिसे स्याद्वादकी जाति भिन्न है, अतएव स्याद्वादमें इन दोषोंके लिये स्थान नहीं है, अतः स्याद्वादके मर्मज्ञोंको उन उपपत्तियोंके द्वारा उन दोषोंको दूर कर देना चाहिये। क्योंकि स्वतन्त्र

१. प्रोफेसर एम० जी० कोठारीके सौजन्यसे।

अथानेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह—

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम् । तदेव अधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात् कथञ्चिद् नाशि विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः । स्यान्नित्यम् अविनाशिधर्मीत्यर्थः । एतावता नित्यानित्यलक्षणमेकं विधानम् । तथा स्यात् सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम् । स्याद् विरूपं विविधरूपम् विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः । अनेन सामान्य-

होनेके कारण निरपेक्ष विधिरूप सामान्य तथा प्रतिषेध रूप विशेषमे ही उन दोषोंको स्थान मिलता है। अथवा 'विरोध, शब्द यहा दोषका वाचक है। जैसे, विरुद्ध आचरण करता है, यहा 'विरुद्ध' शब्दका अर्थ 'दुष्ट' है। अतएव विरोधी—विरोध, वैयधिकरण्य आदि दोषों-से भयभीत, यह अर्थ करना चाहिये। इस प्रकार 'विरोध' इस सामान्य शब्दसे सभी दोषोंका ग्रहण हो जाता है। यह श्लोकका अर्थ है ॥२४॥

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुमे अनत धर्म मौजूद है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् रूप, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् रूप है। वस्तुके अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंका एक साथ कथन नहीं कहा जा सकता, इसलिये प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे अवक्तव्य भी है। किसी वस्तुमे अविरोध भावसे अस्तित्व और नास्तित्वकी कल्पना करनेको सप्तभगी कहते है (प्रश्नवशा-देकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी[1])। वस्तुमे अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्मोकी कल्पना किसी अपेक्षाको लेकर ही की जाती हैं। अतएव स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथंचित् अस्ति है, और परद्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथचित् नास्ति है। इसलिये सप्तभगीवादमे विरोध, वैयधि-करण्य, अनवस्था, सकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोषोंके लिये कोई अवकाश नही है। विरोध आदि दोषोंके निराकरण करनेसे शांकर भाष्य और सर्वदर्शनसंग्रहमे शंकर और माधव आचार्यो द्वारा प्रतिपादित विरोध, संशय आदि दोषोंका भी परिहार हो जाता है। क्योंकि वस्तुमे अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंको लेकर ही माने गये ह। कारण कि जिस अपेक्षासे वस्तु अस्ति है, उसी अपेक्षासे स्याद्वादियोंने वस्तुको नास्ति स्वीकार नही किया है।

अनेकान्तवाद सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमे रहता है। परन्तु मुख्य भेदोंकी अपेक्षा स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् वाच्य, स्यात् अवाच्य, स्यात् सत्, स्यात् असत्के भेदसे अनेकातके चार भेद बताये गये हैं—

श्लोकार्थ—हे विद्वानोंके शिरोमणि। अपने अनेकान्त रूपी अमृतको पीकर प्रत्येक वस्तुको कथंचित् अनित्य, कथचित् नित्य, कथचित् सामान्य, कथचित् विशेष, कथचित् वाच्य, कथचित् अवाच्य, कथचित् सत् और कथंचित् असत् प्रतिपादन किया है।

व्याख्यार्थ—'स्यात्' शब्द अनेकातका सूचक है। उसे नित्य, अनित्य आदि आठों वचनोंके साथ लगाना चाहिये। (१) प्रत्येक वस्तु विनाशी होनेके कारण कथचित् अनित्य, और अविनाशी होनेके कारण कथंचित् नित्य है। (२) प्रत्येक वस्तु सामान्य रूप होनेसे कथचित् सामान्य, और विशेष रूप होनेसे कथचित् विशेष है। (३) प्रत्येक पदार्थ वक्तव्य होनेसे कथचित् वाच्य, और अवक्तव्य होनेसे कथचित्

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ. २४।

विशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः। तथा स्याद् वाच्यं वक्तव्यम्। स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः। एतेनाभिलाप्यानभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः। तथा स्यात्सद् विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः। स्याद् असत् तद्विलक्षणमिति। अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा॥

हे विपश्चितां नाथ संख्यावतां मुख्य इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गारपरम्परा। तवेति प्रकरणात् सामर्थ्याद्वा गम्यते। तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः। तदेव जरामरणापहारित्वाद् विबुधोपभोग्यत्वाद् मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वाद् आन्तराह्लादकारित्वाच्च सुधा पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरिवेत्यर्थः। यथा हि कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः॥

अथवा यैरेकान्तवादिभिर्मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहृत्य पीतम्, तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्। एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः। तथाहि—'आदीपमाव्योम समस्वभावम्' इति वृत्ते नित्यानित्यवादः प्रदर्शितः। 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' इति काव्ये सामान्यविशेषवादः संसूचितः। सप्तभङ्ग्यामभिलाप्यवादः सदसद्वादश्च चर्चितः। इति न भूयः प्रयासः॥ इति काव्यार्थः॥२५॥

अवाच्य है। लोकमें अवाच्य शब्द योनि आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है, अतएव स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्यने श्लोकमें 'अवाच्य' शब्द न कह कर 'न वाच्य' पद प्रयोग किया है। (४) तथा प्रत्येक पदार्थ अस्ति रूप है, इसलिये कथंचित् 'सत्' नास्ति रूप है, इसलिये कथंचित् असत् है।

हे विद्वानोंके शिरोमणि! जिस प्रकार कोई मनुष्य अमृतका खूब पान करके पीछेसे बार बार डकार लेता है, उसी प्रकार अपने जन्म और मरणके नाश करनेवाली, विद्वानोंके उपभोग्य, मिथ्यात्व विषकी निर्विष करनेवाली, और आल्हाद उत्पन्न करनेवाले तत्त्व सुधाका असाधारण रूपसे पान करके अनेकान्तवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्गारपरम्पराको उपदेशके द्वारा प्रगट किया है।

अथवा, जिन एकान्तवादियोंने मिथ्यात्वरूपी विष-भोजनका खूब तृप्त होकर भक्षण किया है, उनके वचनरूपी उद्गारोंका वर्णन कर चुके हैं। जिन पुण्यात्मा लोगोंने संसारके स्वामी आपके मुख-चन्द्रसे झरते हुए अमृतका तृप्त होने तक पान किया है, उन यथार्थ वक्ता विद्वानोंके मुखसे अनेकान्तवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्गारपरम्परा प्रगट हुई हैं। इन चार वादोंमें 'आदीपमाव्योम समस्वभावं' श्लोकमें नित्यानित्यवाद, 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' श्लोकमें सामान्य विशेषवाद, तथा सप्तभंगीवादमें वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादका वर्णन किया गया है। यह श्लोकका अर्थ है॥२५॥

भावार्थ—स्याद्वादियोंके मतमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य-अनित्य, किसी अपेक्षासे वाच्य-अवाच्य, और किसी अपेक्षासे सत्-असत् है। इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश हो जाता है। अतएव प्रत्येक पदार्थको द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य, सामान्य, अवाच्य और सत्, तथा पर्यायार्थिक नयसे अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् मानना ही न्यायसंगत है। वस्तुमें एकान्त रूपसे नित्य, अनित्य आदि धर्मोंके माननेसे विरोध आता है। अतएव प्रत्येक वस्तुको अनेकातात्मक मानना चाहिये।

इदानी नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबद्धलक्षतया वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसंनिपातसंजातविनिपातयोरयत्नसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य सर्वोत्कर्षमाह—

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥

किलेति निश्चये । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोपा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्त्यादयः, त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समाः तुल्याः, नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः ॥

तथाहि—नित्यवादी प्रमाणयति । सर्वं नित्यं सत्त्वात् । क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते । तथाहि—क्षणिकोऽर्थः सन्वा कार्यं कुर्याद् असन्वा ? गत्यन्तराभावात् । न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात् सकलभावानां परस्पर कार्यकारणभावप्राप्त्यातिप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते, असतः कार्यकारणशक्तिविकलत्वात्, अन्यथा शशविपाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेपाभावात् इति ॥

अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति । सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । अक्षणिके

एकान्त नित्य और एकान्त अनित्यवादके माननेवाले एक दूसरेके दोष दिखाकर परस्पर लडते हैं, और एक दूसरेके सिद्धातोंका खंडन करनेके लिये नाना प्रकारके हेतुरूपी शस्त्रोंके प्रहारसे गिर पडते हैं, अतएव प्रयत्नके विना ही भगवान्‌के शासनकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है—

श्लोकार्थ—नित्य एकान्तवादमे जो दोष आते हैं, वे ही दोष अनित्य एकातवादमें समान रूपसे आते है । जब क्षुद्र शत्रु एक दूसरेका विध्वंस करनेमें लगे रहते हैं तब जिनेन्द्र भगवान्‌का अजेय शासन विजयी होता है ।

व्याख्यार्थ—यहा 'किल' शब्द निश्चय अर्थमे है । 'नित्यवादियोंके मतमे क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती' इस प्रकार जो अनित्यवादियोंने एकान्त नित्य पक्षमें दूषण दिये थे, वे सब दोष अनित्यवादियोंके पक्षमे भी आते हैं ।

नित्यवादी—'समस्त पदार्थ नित्य हैं, सद्रूप होनेसे ।' क्षणिक पदार्थोंकी भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें मे कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि अपने प्रयोजन (कार्य) की उत्पत्ति करनेमे विरोध उपस्थित होनेसे, क्षणिक पदार्थ (कार्यकी उत्पत्तिके लिये) स्थिरत्वको—एक क्षणसे अधिक काल तककी स्थितिको—धारण नहीं करता । अत॰ वह क्षणिकत्वसे निवृत्त होता हुआ, अन्य किसीकी शरण प्राप्ति न होनेसे नित्यत्वमे आकर मिल जाता हे । तथाहि—प्रश्न होता है कि क्षणिक पदार्थ अस्तिरूप होता हुआ अपना कार्य करता है या अपना अभाव होनेपर अपना कार्य करता है ? 'क्षण मात्र रूप अपने अस्तित्व कालमे वह अपना कार्य करता है' यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं । क्योंकि जिस कालमे क्षणिक पदार्थ उत्पन्न होने जाता है,' उसी कालमें उत्पन्न होनेवाले कार्यकी उत्पत्तिके लिये क्षणिक पदार्थमें उत्पत्ति क्रियाका होना घटित नहीं होता, तथा एक-एक कालमे होनेवाले पदार्थोंमे कार्यकरण भाव होनेसे, समकालवर्ती सभी पदार्थोंमे परस्पर कार्यकरण भाव होनेका अतिप्रसग उपस्थित हो जाता है । 'क्षणिक पदार्थका अभाव होनेपर वह पदार्थ अपना कार्य करता है', यह दूसरा पक्ष भी खरा नहीं उतरता । क्योंकि जिसका सद्भाव नहीं होता उसमें अपना कार्य करनेकी शक्तिका अभाव होता है । यदि ऐसी बात न हो तो शशविषाण आदि भी कार्य करनेके लिये उत्साही हो जायँगे क्योंकि असत् पदार्थ और शशविषाणमे भेद नहीं है ।

अनित्यवादी—(नित्य एकातवादीका खंडन करते हुए) 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक है, सद्रप होनेसे ।'

क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्त्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः। न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरणस्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाविरामप्रसङ्गात्। तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थ्यस्यानित्यतालक्षणत्वात्। अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत्। न। सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियाः कुरुते अध्यक्षविरोधात्। न ह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते। करोतु वा। तथाप्याद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेषु अकुर्वाणस्यानित्यया बलाद् आढौकते, करणाकरणयोरेकस्मिन् विरोधाद् इति॥

तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ध्यं[1] चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणोऽनैकान्तिका

अर्थक्रियाकारित्व (प्रयोजनभूतता) ही सत्का लक्षण है। पदार्थोंको अक्षणिक-कूटस्थ नित्य—माननेमें उनमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया होनेमें विरोध उपस्थित होनेसे तथा अर्थक्रियाका कर्ता होना, पदार्थका स्वरूप होनेसे, उस नित्य पदार्थसे पृथक् होनेवाली अर्थक्रिया अपने द्वारा व्याप्त नित्य पदार्थकी सत्ताको उस पदार्थसे पृथक् कर देगी—अर्थक्रियाका पदार्थमें अभाव हो जानेसे पदार्थका अस्तित्व ही न रहेगा। इस प्रकार क्षणिक पदार्थके—पदार्थके क्षणिकत्वके—अनित्यत्वकी सिद्धि होती है। नित्य पदार्थ अपनी अर्थक्रियाको क्रमसे करनेमें समर्थ नहीं होता। क्योंकि पदार्थके प्रयोजनभूत पूर्वकालवर्ती कार्यको करनेके स्वभावके विनाश द्वारा पदार्थके प्रयोजनभूत उत्तरकालवर्ती कार्यको उत्पन्न करनेकी क्रिया करनेकी पदार्थकी प्रवृत्ति होती है। पूर्व कार्योत्पादन क्रिया करनेके स्वभावका यदि विनाश न किया गया तो पूर्वकालवर्ती कार्य करनेकी क्रियाका अत न होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। पूर्व कार्योत्पादन क्रिया करनेके स्वभावका नाश होनेपर पदार्थकी नित्यता नष्ट हो जाती है, क्योंकि पदार्थकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका क्रमसे अभाव होते रहना ही अनित्यताका लक्षण है। यदि कहो कि 'पदार्थ नित्य होनेपर भी क्रमवर्ती सहकारिकारणभूत अर्थकी अपेक्षा करता हुआ रहता है और बादमे उस सहकारिकारणभूत पदार्थको प्राप्त करके क्रमसे कार्य करता है' तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि नित्य पदार्थके विषयमें-नित्य पदार्थको अपनी अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त करनेके विषयमें-सहकारिकारणभूत पदार्थकी अपेक्षा करने पर, वह सहकारिकारणभूत पदार्थ भी नित्य होनेसे अकिंचित्कर होनेके कारण, उसे किंचित्कर बनानेके लिये, अन्य सहकारिकारणभूत पदार्थकी अपेक्षा करनी होगी। इस प्रकार अन्य अन्य सहकारिकारणभूत पदार्थोंकी अपेक्षा करनेसे अनवस्था नामक दोष आता है। नित्य पदार्थ एक साथ (युगपत्) भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध आता है। कारण कि अर्थक्रिया सदा क्रमसे होती है, कभी एक समयमे होती हुई नहीं देखी जाती। यदि सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका एक क्षणमें होना स्वीकार करो तो सम्पूर्ण क्रियाओंके प्रथम क्षणमे समाप्त हो जानेसे द्वितीय क्षण आदिमें न करनेवाली अनित्यता जबरन आकर उपस्थित हो जायेगी, क्योंकि क्रिया और अक्रिया दोनों एक नित्य पदार्थमें नहीं रह सकते।

इस प्रकार उक्त दोनों पक्षोंमें नित्य और अनित्यवादको सिद्ध करनेके लिये जो 'सत्व' हेतु दिया गया है, वह विरुद्ध हेतु है। इस प्रकारके हेतु, जब तक उनका विचार नहीं किया जाता, तभी तक सुन्दर मालूम होते है, इसलिये ये हेतु भोले लोगोंकी बुद्धिमें जडता पैदा करनेवाले होनेसे अनैकान्तिक हेतु है। यहा नित्य और

---

१. धिय. मान्द्यम्।

इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्षप्रतिक्षेप एवोक्तः । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतूनुपस्पृशन्तीति परिभावनीयम् ॥

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते । परस्परेत्यादि । एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः सुन्दोपसुन्दवदिति[1] परस्परध्वंसिनः । तेषु हे जिन ते तव शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिपुणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनैवाभावाद् अधृष्यमपराभवनीयम् । "शक्तार्हे कृत्याश्च[2]" इति कृत्यविधानाद् धर्षितुमशक्यम् धर्षितुमनर्हं वा । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवति एवं त्वच्छासनमपि ॥ इति काव्यार्थः ॥२६॥

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानी कतिपयतद्विशेषान् नामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्वृत्ततथाविधरिपुजनजनितोप-

अनित्य पक्षका हो खंडन किया गया है। सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादी भी परस्पर एक जैसे दोष देते हैं, इसलिये इन एकान्तवादोंको भी विरुद्ध समझना चाहिये।

एक दूसरेका नाश करनेवाले सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस भाइयोंके समान क्षुद्र शत्रु एकान्तवादी रूप कष्टकोंका परस्पर नाश हो जानेपर स्याद्वादका प्ररूपण करनेवाला आपका द्वादशांग प्रवचन किसीके द्वारा भी पराभूत नहीं किया जा सकता। (सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस भाई थे। उनको ब्रह्माका वरदान था कि उनकी मृत्यु एक दूसरेके द्वारा होगी। इस वरदानसे मस्त होकर दोनों भाइयोंने प्रजाको पीडा देना आरम्भ कर दिया। यह देखकर देवोंने स्वर्गसे तिलोत्तमाको भेजा। तिलोत्तमाको देखकर दोनो भाई अपनी सुध भूलकर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगे। दोनोंमे परस्पर लडाई हुई, और अन्तमे दोनों भाई एक दूसरेके हाथसे मारे गये)। यहा "शक्तार्हे कृत्याश्च" सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होनेपर 'अधृष्य' का अर्थ होता है कि जिसका किसीसे पराभव न किया जा सके। जिस प्रकार कोई पुण्यशाली महाराजा अपने शत्रुओंके परस्पर लडकर मर जानेपर बिना प्रयत्नके ही निष्कटक राज्यका उपभोग करता है, उसी प्रकार आपका शासन एकान्तवादियोंके परस्पर लडकर नष्ट हो जानेपर विजयी होता है॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥२६॥

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुण्यशाली राजा अपने शत्रुओंके आपसमे लडकर नष्ट हो जानेपर अखण्ड राज्यका उपभोग करता है, उसी तरह एकान्तवादी लोग एक दूसरेके सिद्धातोंमे दोष देकर एक दूसरेके मतोका खण्डन कर देते है, इसलिये मिथ्यादर्शन रूप समस्त एकान्तवादोंका समन्वय करनेवाला जैन शासन ही सर्वमान्य हो सकता है।

ऊपरके श्लोकोंमे सामान्य रूपसे नित्य, अनित्य आदि एकान्तवादोमे दोष दिखाये गये हैं। अब एकान्तवादियोंके कुछ विशेष दोषोंका दिग्दर्शन कराते है। जिस प्रकार प्रजाको पीडित करनेवाले शत्रुओंसे

१ सुन्दोपसुन्दनामानौ राक्षसौ द्वौ भ्रातरौ ब्रह्मण सकाशात् वरं लब्धवन्तौ यत् आवयोर्मृत्युः परस्परादस्तु नान्यस्मात्। तथेत्युक्ते ब्रह्मणा मत्तौ तौ त्रिलोकीं पीडयामासतु । अथ देवप्रेषिता तिलोत्तमामुपलभ्य तदर्थं मिथो युध्यमानावम्रियेताम्। एवमेकान्तवादिन स्वतत्त्वसिद्ध्यर्थं परस्पर विवदमाना विनश्यन्ति । ततश्चानेकान्तवादो जयति।

२. हैमसूत्रे ५-४-३५ ।

द्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते । न च पुण्यपापे घटेते । न च बन्धमोक्षौ घटेते । पुनः पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थः । तथाहि— एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते । नित्यस्य हि लक्षणम् अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम् । ततो यदा आत्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभावभेदाद् अनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः । एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथ अवस्थाभेदाद् अयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः । सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु इति चेत् । न । तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ? व्यतिरेके, तास्तस्येति संबन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु, तद्धानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति ॥

किंच, सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ । तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया । सा च कूटस्थनित्यस्य

प्रजाकी रक्षा करनेवाला राजा महान् उपकारक कहा जाता है, उसी प्रकार एकान्तवादियोंके उपद्रवसे तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् ससारके महान् उपकारक है—

श्लोकार्थ—एकान्तवादमे सुख-दुखका उपभोग, पुण्य-पाप, और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इस प्रकार परतीर्थिक लोग नयाभासोंके द्वारा प्रतिपादित करनेवाले आग्रह रूप खड्गसे सम्पूर्ण जगतका नाश करते हैं।

व्याख्यार्थ—(१) वस्तुको एकान्त नित्य माननेसे आत्मामे सुख और दुखकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूपको नित्य कहते है। अतएव यदि आत्मा अपनी कारण सामग्रीसे सुखको भोग कर दुखका उपभोग करने लगे, अथवा दुखका उपभोग करके सुखको भोगने लगे, तो अपने नित्य और एक स्वभावको छोडनेके कारण आत्मामें स्वभावभेद होनेसे आत्माको अनित्य मानना पडेगा। शंका—वास्तवमें आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होना है, स्वय आत्मामें भेद नहीं होता। जिस प्रकार सर्पकी सरल अथवा कुण्डलाकार अवस्थाओंमें भेद होनेसे सर्पमे भेद होना कहा जाता है, उसी प्रकार सुख और दुख रूप आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होनेसे यह भेद आत्माका कहा जाता हैं। समाधान—यह ठीक नहीं। आप लोग आत्माकी अवस्थाको आत्मासे भिन्न मानते हैं, या अभिन्न? यदि सुख-दुख अवस्थाये आत्मासे भिन्न है, तो इन अवस्थाओं और आत्मामें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि इन अवस्थाओंको आत्मासे अभिन्न मानो, तो सुख दुख अवस्थाओंको ही आत्मा मानना चाहिये। अतएव सुख-दुखका भोग करते समय अपने नित्य स्वभावको छोडनेके कारण आत्माको अनित्य मानना पडेगा। अतएव एकान्तवादमें आत्माका अवस्था-भेद भी नहीं बन सकता।

(२) पुण्य पापसे होनेवाले सुख-दुख भी नित्य एकान्तवादमें नहीं बन सकते। सुखानुभव रूप क्रियात्मक परिणाम पुण्य कर्मके निमित्तसे तथा दुखानुभव रूप क्रियात्मक परिणाम पाप कर्मके निमित्तसे उत्पादित किया जाता है। इन दोनों परिणामोंकी उत्पत्ति करना ही—इन दोनों परिणामोंके रूपसे परिणत होना ही–कर्मबद्ध आत्माकी अर्थक्रिया है। यह पुण्य-पापसे होनेवाली अर्थक्रिया कूटस्थ नित्य आत्मामें नहीं

क्रमेण अक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तं न पुण्यपापे इति । पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म, पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म । ते अपि न घटेते, प्रागुक्तनीतेः ॥

तथा न बन्धमोक्षौ । बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्ययःपिण्डवद् अन्योऽन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः । तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम् । बन्धो हि संयोगविशेषः । स च "अप्राप्तानां प्राप्तिः" इतिलक्षणः । प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था, उत्तरकालभाविनी प्राप्तिश्चान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः । कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः । बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत् । किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा ? अनुभवति चेत्, चर्मादिवदनित्यः । नानुभवति चेत्, निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्याद् नित्यमुक्त एव स्यात् । ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति—

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः" ॥

बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वाद् मुक्तिशब्दस्येति ॥

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम् । तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूत-

---

हो सकती । पदार्थोंके नित्य माननेमे उनमे क्रम-क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती, यह पहले कहा जा चुका है । इसीलिये कहा है कि दान आदिसे होनेवाले शुभ कर्म रूप पुण्य, और हिंसा आदिसे होनेवाले अशुभ कर्म रूप पाप—दोनो एकान्त नित्य पक्षमें नहीं बन सकते ।

(३) अग्नि और लोहेकी तरह आत्माके प्रदेशोंके कर्म पुद्गलोंके साथ परस्पर सम्मिश्रण हो जानेको बध और सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। यह बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी एकान्त नित्यवादमे नहीं बन सकती । सयोगविशेषको बन्ध कहते हैं । "अप्राप्त पदार्थोंकी प्राप्तिको" सयोग कहते है । यह सयोग एक अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करनेमे ही सभव हो सकता है । अतएव नित्य आत्मामे अवस्था भेद होनेसे बध और मोक्ष नहीं बन सकते । तथा, एकान्त नित्य माननेपर उसके साथ बधक कर्मोंका बध नहीं हो सकता। अतएव बधक कर्मोंके साथ होनेवाले सयोगके पहले आत्माको मुक्त मानना चाहिये । तथा बधक कर्मके कारण आत्मामे कोई विकार होता है, या नही ? यदि बध होनेसे आत्मामे कोई विकार होता है, तो आत्माको चमडेकी तरह अनित्य मानना चाहिये । यदि बंध होनेपर भी आत्मा अविकृत रहती है, तो निर्विकार आकाशकी तरह बधके होने अथवा न होनेसे आत्मामें कोई भी विकार नहीं आ सकता, अतएव बधके निष्फल होनेके कारण आत्माको सदा मुक्त मानना चाहिये । अतएव सर्वथा एकान्तवादमे बध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती । कहा भी है—

"वर्षा और गरमीके कारण चमडेमें ही परिवर्तन होता है, आकाशमें कोई परिवर्तन नही देखा जाता । अतएव यदि आत्मा चमडे के समान है, तो उसे अनित्य मानना चाहिये, यदि आत्मा आकाशकी तरह है, तो उसमे बध नहीं मानना चाहिये ।"

आत्माके बन्ध न होनेसे आत्माके मोक्ष भी नही हो सकता। क्योंकि बन्धनके नष्ट होनेको ही मोक्ष कहते है ।

(१) एकान्त अनित्यवाद माननेसे भी सुख-दुख नहीं बन सकते । सर्वथा रूपसे नष्ट होनेको अनित्य कहते है । अनित्य आत्मामे पुण्योपार्जन करनेवाली क्रिया करनेवाले आत्माका निरन्वय नाश होनेसे

सुखानुभवः । एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरन्वयनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु । एवं चान्यः क्रियाकारी अन्यश्च तत्फलभोक्ता इति असमञ्जसमापद्यते ।

अथ— "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा" ॥

इति वचनाद् नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रम्, सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात् ॥

तथा पुण्यपापे अपि न घटेते । तयोर्हि अर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः । तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता । ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात् तयोरप्यघटमानत्वम् । किंचानित्यः क्षणमात्रस्थायी । तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम् ? द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते । पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतः, निर्मूलत्वात् ? तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कथंचिदेतत् । तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानानुरूपत्वाद् उपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितात् उत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्यते, कथं च सुखितात् ततः स दुःखितः स्यात्, विसदृशभागतापत्तेः ? एवं पुण्यपापादावपि । तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ॥

फल रूप सुखका अनुभव, तथा पापोपार्जन करनेवाली क्रिया करनेवाले आत्माका निरन्वय विनाश होनेसे दुखका अनुभव नहीं हो सकता । तथा पदार्थोंका निरन्वय विनाश माननेसे एकको कर्ता और दूसरेको भोक्ता मानना पडेगा ।

शंका—"जिस प्रकार कपासके बीजमे लाल रंग लगानेसे बीजका फल भी लाल रंगका होता है, उसी तरह जिस संतानमें कर्मवासना रहती है, उसी सन्तानमें कर्मवासनाका फल रहता है।"

अतएव सन्तानके प्रवाह माननेसे काम चल जाता है, इस तरह आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती । **समाधान**—यह ठीक नहीं । सन्तान और वासना अवास्तविक हैं, यह हम (१८ वे श्लोककी व्याख्यामें) प्रतिपादन कर चुके हैं ।

(२) एकान्त अनित्यवादमें पुण्य-पाप भी नहीं बन सकते । सुख और दुखका भोग क्रमसे पुण्य और पापकी अर्थक्रियायें हैं । यह पुण्य-पापकी अर्थक्रिया एकान्त क्षणिक पक्षमे नहीं बन सकती, यह हम पहले कह आये है । अतएव क्षणिकवादमें अर्थक्रियाकारित्वके अभावमे पुण्य-पाप भी सिद्ध नहीं होते । तथा, क्षणिकवादियोंके मतमे प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षणके लिये ठहरता है । इस क्षणमे पदार्थ अपनी उत्पत्तिमें लगे रहते है, इसलिये पुण्य और पापको उपार्जन नहीं कर सकते । यदि दूसरे, तीसरे आदि क्षणमें पुण्य और पापका उपार्जन स्वीकार करो, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें प्रथम क्षणके बाद पदार्थोंका स्थित रहना ही संभव नही । अतएव, पुण्य कर्म और पाप कर्मके उपार्जन करनेकी शुभ और अशुभ परिणति रूप क्रियाओंके अभावमें पुण्यरूप और पापरूप द्रव्यकर्मोका सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि शुभाशुभ परिणामरूप निमित्तोंका अभाव होता है, और पापरूप द्रव्यकर्मके अभावमे सुखदुखका अनुभव कैसे हो सकता है ? यदि किसी प्रकार क्षणिकवादियोंके मतमें सुख-दुखके अनुभवका सद्भाव मान भी लिया जाय, फिर भी (उनके मतमें पूर्वक्षण उत्तरक्षणका उपादान कारण होनेसे) उत्तरक्षण उपादानभूत पूर्वक्षणके सदृश होना चाहिये, क्योंकि उपादेय-परिणाम-उपादान-परिणामी-के सदृश होता है । उपादेयके उपादानके सदृश होनेसे दुखी आत्मरूप पूर्वक्षणसे सुखी आत्मरूप उत्तरक्षणकी, तथा सुखी आत्मरूप पूर्वक्षणसे दुखी आत्मरूप उत्तरक्षणकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि उत्तरक्षणरूप परिणामका अपने उपादानसे विसदृश होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है ।

एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवः । लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते । निरन्वय-नाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात् सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्र-मपि ? ॥

परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते ।

"परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥"

इति वचनात् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह—"अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः[१]" इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्य-भावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्य ॥

अथोत्तरार्द्धव्याख्या । एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः । परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति । दुर्नीतिवादव्यसनासिना । नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः । दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः । तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः । तत्र यद् व्यसनम् अत्यासक्तिः औचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वाद् असिरिव असिः कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनासिः । तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपण-हेवाकखड्गेन । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह । अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् अशेषमपि जगद्

(३) क्षणिक एकांतवादमें बंध और मोक्ष भी नहीं बन सकते । लोकमें भी जो बंधता है वही बंधनमुक्त होता हुआ देखा जाता है । प्रत्येक क्षणमें निरन्वय विनाश स्वीकार करनेपर आत्माका जो क्षणबद्ध होता है, उसका क्षणमात्रमें विनाश होनेसे, वही आत्माका क्षण मुक्त नहीं कहा जा सकता । अतएव बंध और मोक्षका एकाधिकरण न होनेसे तथा क्षणसन्तानके वास्तविक न होनेसे क्षणिक एकांतवादमें बंध और मोक्षकी कल्पना भी कैसे की जा सकती है ।

अतएव आत्माको परिणामी मानना चाहिये । आत्माको परिणामी माननेमें कोई भी बाधा नहीं आती । कहा भी है—

"एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करनेको परिणाम कहते हैं । परिणाम न सर्वथा अवस्थानरूप होता है और न सर्वथा विनाशरूप—ऐसा विद्वानोंने माना है ।"

पातंजल टीकाकारने—भी कहा है—"अवस्थित द्रव्यमें पहले धर्मका नाश होनेपर दूसरे धर्मकी उत्पत्तिको परिणाम कहते हैं ।" इसी प्रकार एकान्त सामान्य-विशेष, एकान्त सत्-असत्, और एकान्त वाच्य-अवाच्य वादोंमें भी सुख-दुखका अभाव आदि दोष स्वयं जान लेने चाहिये ।

इस प्रकार एकान्तवादियोंके मतमें सुख, दुखके भोग आदिका व्यवहार सिद्ध न होनेपर भी परवादी-शत्रुओंने दुर्नयवादमें अत्यासक्ति रूप खड्गसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भावप्राणोंका विच्छेद करके सम्पूर्ण जगतका नाश कर रक्खा है । जिस प्रकार शत्रु लोग खड्गके द्वारा समस्त संसारका संहार करते हैं उसी प्रकार परवादियोंने दुर्नयवादका प्ररूपण करके सत् ज्ञानका नाश कर दिया है । इसलिये हे भगवन्, आप परवादी-शत्रुओंसे संसारकी रक्षा करो । वस्तुके एकदेश जाननेको नय, और खोटे नयोंको दुर्नय कहते हैं । श्लोकमें 'अपि' शब्दको 'अशेष' के साथ लगाना चाहिये । जिस प्रकार 'मंच रोते हैं' (मंचाः क्रोशन्ति) इस वाक्यका अर्थ होता है कि मंचपर बैठे हुए पुरुष रोते हैं, उसी तरह यहाँ 'सम्पूर्ण

१. पातञ्जलयोगसूत्रे ३–१३ व्यासः ।

निखिलमपि त्रैलोक्यम् । " तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः " इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातम् । विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम् । तत् त्रायस्व इत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः[1] प्रावचनिकैर्गीयन्ते । अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थे[2]ऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राणधारणाभावाद् अजीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात् संसारिणो दशविधद्रव्यप्राण[3]धारणाद् जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावधारणाद् इति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः ॥ इति काव्यार्थः ॥२७॥

साम्प्रतं दुर्नयप्रमाणरूपणद्वारेण " प्रमाणनयैरधिगमः[4] " इति वचनाद् जीवाजीवादितत्त्वाधिगमनिबन्धनानां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुः स्वामिनः स्याद्वादविरोधिदुर्नयमार्गनिराकरिष्णुरनन्यसामान्यं वचनातिशयं स्तुवन्नाह—

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥ २८ ॥

अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थः । त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः । मीयते परिच्छिद्यते । विधौ सप्तमी । कैस्त्रिभिः प्रकारैः इत्याह दुर्नीतिनयप्रमाणैः । नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशि-

लोक' (अशेषमपि त्रैलोक्यम्) का अर्थ सम्पूर्ण लोकके प्राणी समझना चाहिये । पूर्व आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको भावप्राण कहा है। अतएव सिद्धोंमें भी जीवका व्यपदेश होता हैं । जीव् धातु प्राण धारण करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है । यदि दस द्रव्यप्राणोंको [देखिये परिशिष्ट (क)] धारण करना ही जीवका लक्षण किया जाय, तो सिद्धोंको अजीव कहना चाहिये, क्योंकि सिद्धोंके द्रव्यप्राण नहीं होते। अतएव संसारी जीव द्रव्यप्राणोंकी अपेक्षासे, और सिद्ध जीव भावप्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं । दुर्नयका स्वरूप आगेके श्लोकमे कहा जायगा ॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥२७॥

भावार्थ—पदार्थोंको सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य माननेसे एकान्तवादियोंके मतमें सुख-दुख, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बन सकती । अतएव प्रत्येक वस्तुको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है। भाव अभाव, द्वैत अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि एकान्तवादोंमें दोषोंका दिग्दर्शन समंतभद्रने अपने आप्तमीमांसा नामक ग्रंथमें विस्तारसे किया है ।

अब दुर्नय, नय, और प्रमाणका लक्षण कहते हुए "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रसे जीव अजीव आदि तत्त्वोंको जाननेमें कारण प्रमाण और नयका प्रतिपादन करनेवाले और स्याद्वादके विरोधी दुर्नयोंका निराकरण करनेवाले भगवान् वचनोंकी असाधारणता बताते है—

श्लोकार्थ—दुर्नयसे 'पदार्थ सर्वथा सत् है,' नयसे' पदार्थ सत् है,' और प्रमाणसे 'पदार्थ कथंचित् सत् है'—इस तरह तीन प्रकारोंसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप देखनेवाले आपने ही नय और प्रमाण मार्गके द्वारा दुर्नयरूप मार्ग निराकरण किया है।

व्याख्यार्थ—जो जाना जाता है वह अर्थ है—पदार्थ है। पदार्थोंका दुर्नय, नय और प्रमाणसे ज्ञान किया जाता है। जिसके द्वारा पदार्थोंके एक अंश को जाना जाता हो, उसे नय कहते है। जो नय दूषित

१ सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनसम्यक्चारित्रेत्यादयो ये जीवस्य गुणास्ते भावप्राणाः । इदं प्रज्ञापनासूत्रे प्रथमपदे ।

२ जीवू प्राणधारणे हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा ४६५ ।

३ पञ्चेन्द्रियाणि श्वासोच्छ्वासआयुष्यमनोबलवचनबलशरीरबलानीति दश द्रव्यप्राणाः ।

४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे १–६ ।

ष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः। नया नैगमादयः। प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम् स्याद्वादात्मकं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम्। दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीतिनयप्रमाणानि तैः॥

केनोल्लेखेन मीयते इत्याह सदेव सत् स्यात्सद् इति। सदिति अव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम् यथा किं तस्या गर्भे जातमिति। सदेवेति दुर्नयः। सदिति नयः। स्यात्सदिति प्रमाणम्। तथाहि—दुर्नयस्तावत्सदेव इति ब्रवीति। 'अस्त्येव घटः' इति। अयं वस्तुनि एकान्तास्तित्वमेव अभ्युपगच्छन् इतरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति। दुर्नयत्वं चास्य मिथ्यारूपत्वात्। मिथ्यारूपत्वं तत्र धर्मान्तराणां सतामपि निह्नवात्। तथा सदिति उल्लेखनात् नयः। स हि 'अस्ति घटः' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमिलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वं। धर्मान्तरातिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वं। स्याच्छब्देन अलाञ्छितत्वात्। स्यात्सदिति 'स्यात्कथञ्चित् सद् वस्तु' इति प्रमाणम्। प्रमाणत्वं चास्य दृष्टेष्टाबाधितत्वाद् विपक्षे बाधकसद्भावाच्च। सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत् पररूपेण चासद् इति असकृदुक्तम्। सदिति दिङ्मात्रदर्शनार्थम्। अनया दिशा असत्त्वनित्यत्वानित्यत्ववक्तव्यत्वावक्तव्यत्वसामान्यविशेषादि अपि बोद्धव्यम्॥

इत्थं वस्तुस्वरूपमाख्याय स्तुतिमाह यथार्थदर्शी इत्यादि। दुर्नीतिपथं दुर्नयमार्गम्। तुशब्दस्य अवधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् त्वमेव आस्थः त्वमेव निराकृतवान्। न तीर्थान्तरदैवतानि। केन कृत्वा। नयप्रमाणपथेन। नयप्रमाणे उक्तस्वरूपे। तयोर्मार्गेण प्रचारेण। यतस्त्वं यथार्थदर्शी। यथार्थोऽस्ति तथैव पश्यतीत्येवंशीलो यथार्थदर्शी। विमलकेवलज्योतिषा यथा-

---

होते है, वे दुर्नय है। नैगम, सग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। जिसके द्वारा अनंत धर्मात्मक पदार्थ जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते है। प्रमाण स्याद्वादरूप होता हैं। इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं।

यहा 'सत्' शब्द अव्यक्त है, इसलिये वह नपुंसक लिंगमे प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार गर्भस्थ बच्चेके लिंगका ठीक ज्ञान न होनेसे 'किं तस्या गर्भे जातम्' इस वाक्यमें नपुसक लिंगका प्रयोग हुआ है, उसी तरह 'सत्' शब्द भी नपुसक लिंगमे प्रयुक्त हुआ है। (१) किसी वस्तुमे अन्य धर्मोंका निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्वको सिद्ध करनेको दुर्नय कहते हैं, जैसे यह घट ही है (अस्त्येव घट)। वस्तुमे अभीष्ट धर्मकी प्रधानतासे अन्य धर्मोंका निषेध करनेके कारण दुर्नयको मिथ्या कहा गया है। (२) किसी वस्तुमे अपने इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमे उदासीन हो कर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते है। जैसे यह घट हैं (अस्ति घटः)। नयमे दुर्नयकी तरह एक धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, इसलिये नयको दुर्नय नहीं कहा जा सकता। तथा, नयमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न होनेसे इसे प्रमाण भी नहीं कह सकते। (३) वस्तुके नाना दृष्टियोंकी अपेक्षा कथंचित् सत् रुप विवेचन करनेको प्रमाण कहते है, जैसे घट कथंचित् सत् है (स्यात्कथंचित् घट)। प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होनेसे और विपक्षका बाधक होनेसे इसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे सत्, और दूसरे स्वभावसे असत् है, यह पहले कई बार कहा चुका हैं। यहाँ वस्तुके एक 'सत्' धर्मको कहा गया है। इसी प्रकार असत्, नित्य, अनित्य, अवक्तव्य, सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्म समझने चाहिये।

श्लोकमें 'तु' शब्द निश्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'तु' शब्दका 'त्व' के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये। इसलिये केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंको यथार्थ रीतिसे जानने वाले आपने ही नय और प्रमाणके द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है। अन्य तैर्थिक लोग राग, द्वेष आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थदर्शी नहीं है, इसलिये दुर्नयोंका निराकरण नहीं कर सकते। क्योकि जो लोग स्वयं अनीतिके मार्गमें

वस्थितवस्तुदर्शी। तीर्थान्तरशास्तारस्तु रागादिदोषकालुष्यकलङ्कितत्वेन तथाविधज्ञानाभावाद् न यथार्थदर्शिनः। ततः कथं नाम दुर्नयपथमथने प्रगल्भन्ते ते तपस्विनः। न हि स्वयमनयप्रवृत्तः परेषामनयं निषेद्धुमुद्धुरतां धत्ते। इदमुक्तं भवति। यथा कश्चित् सन्मार्गवेदी परोपकार-दुर्ललितः पुरुषश्चौरश्वापदकण्टकाद्याकीर्णं मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदोषोभयविकलं दोषास्पृष्टं गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति, एवं जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नय-प्रमाणमार्गं प्ररूपयतीति। आस्थः इति अस्यतेरद्यतन्यां "शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्"[1] इत्यङि "श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम्"[2] इति अस्थादेशे "स्वरादेस्तासु"[3] इति वृद्धौ रूपम्॥

मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम्। अत्र नयाना प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापन तन् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम्। चत्वारि हि प्रवचनानुयोग[4]महानगरस्य द्वाराणि उपक्रमः निक्षेपः अनुगमः नयश्चेति। एतेषा च स्वरूपमावश्यकभाष्या[5]देर्निरूपणीयम्। इह तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयात्। अत्र चैकत्र कृतसमासान्तः पथिन्शब्दः। अन्यत्र चाव्युत्पन्नः पथशब्दोऽदन्त इति पथशब्दस्य द्विःप्रयोगो न दुष्यति॥

अथ दुर्नयनयप्रमाणस्वरूपं किञ्चिन्निरूप्यते। तत्रापि प्रथमं नयस्वरूपं। तदनधिगमे दुर्नयस्वरूपस्य दुष्परिज्ञानत्वात्। अत्र च आचार्येण प्रथमं दुर्नयनिर्देशो यथोत्तरं प्राधान्याव-बोधनार्थः कृतः। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शी नयः। अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभि-

---

पडे हुए हैं, वे दूसरोंके अनीतिसे नहीं निकाल सकते। अतएव जिस प्रकार यथार्थ मार्गका जाननेवाला कोई परोपकारी पुरुष पथिकोंको कुमार्गसे बचानेकी इच्छासे चोर, व्याघ्र, कण्टक आदिसे आकीर्ण मार्गसे छुडा कर उन्हे निर्दोष ठीक-ठीक मार्गका प्रदर्शन करता हैं, इसी प्रकार त्रिलोकके स्वामी अरहंत भगवान् भी भव्योंके लिए नय और प्रमाणका उपदेश देते है। श्लोकमें 'आस्थ' पद निराकरण करने के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अस् धातुसे अद्यतन (लुङ् लकार) मे "शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्" सूत्रसे अङ प्रत्यय होकर "श्वयत्यसूवचपत श्वास्थवोचपप्तम्" सूत्रसे अस्के स्थानमें अस्थ आदेश होकर "स्वरादेस्तासु" सूत्रसे 'अ' के स्थानमें वृद्धि होकर 'आस्थ' रूप बनता हैं।

वास्तवमें केवल प्रमाणको ही सत्य कहा जा सकता है। नयोसे वस्तुके सम्पूर्ण अशोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिये नयको सत्य नहीं कह सकते। अनुयोगद्वारसे प्रज्ञापना तक पहुचनेके लिये नय अनु-योगके द्वार है, इसलिये नयोंको प्रमाणके समान कहा गया है। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोग-महानगरमे पहुंचनेके दरवाजे है। इनका स्वरूप विशेषावश्यकभाष्य (गाथा ९११-४, १५०५ के आगे) आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। यहा ग्रन्थके बढ जानेके भयसे सबका स्वरूप नहीं लिखा जाता। एक जगह श्लोकमें 'पथिन्' शब्द समासान्त है, और दूसरी जगह अव्युत्पन्न अकारात है, इसलिये 'पथ' शब्दका दो बार प्रयोग करनेमे दोष नहीं है।

दुर्नय, नय और प्रमाणमेंसे पहले नयका स्वरूप कहा जाता है। क्योंकि नयको बिना जाने दुर्नयका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाणसे निश्चित किये हुए पदार्थोके एक अश ज्ञान करनेको नय कहते है। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते है, इन अनन्त धर्मो में अपने इष्ट धर्मको जाननेको नय कहते है। वस्तुका प्रमाण द्वारा

---

१. हैमसूत्रे ३-४-६०।

२. हैमसूत्रे ४-३-१०३।

३ हैमसूत्रे ४ ४-३१।

४. अणुओगद्दाराइ महापुरस्सेव तस्स चत्तारि।

५. विशेषावश्यकभाष्ये ९११, ९१२, ९१३, ९१४, १५०५ तत परम्।

प्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति प्रापयति संवेदनकोटिमारोहयति इति नयः। प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः। नयाश्चानन्ताः, अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणा च नयत्वात्। तथा च वृद्धाः—"जाइआ वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया"[1] इति। तथापि चिरन्तनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिताः। तद्यथा—नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता इति। कथमेषां सर्वसंग्राहकत्वमिति चेत्। उच्यते। अभिप्रायस्तावद् अर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते, गत्यन्तराभावात्। तत्र ये केचनार्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्रभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचादचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति॥

तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यम्, अवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि, तथान्त्यान् विशेपान् सकलासाधारणरूपलक्षणान्, अवान्तरविशेपांश्चापेक्षया पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्यान् अत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपानभिप्रैति। इदं च स्वतन्त्रसामान्यविशेपवादे क्षुण्णमिति न पृथक्प्रयत्नः प्रवचनप्रसिद्धनिलयनप्रस्थदृष्टान्तद्वय[2]गम्यश्चायम्।

निश्चय होनेपर उसका नयसे ज्ञान होता है। वस्तुओंमें अनन्त धर्म होते है, अतएव नय भी अनन्त होते है। वस्तुके अनन्त धर्मो मेंसे वक्ताके अभिप्रायके अनुसार एक धर्मके कथन करनेको नय कहते हैं। वृद्धोंने कहा भी है—"जितनेप्रकारसे वचन वोले जा सकते है, उतने ही नय होते है।" फिर भी पूर्व आचार्योने सबका सग्रह करनेवाले सात वचनोंकी कल्पना करके नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत इन सात नयोंका ही प्रतिपादन किया है। अर्थ अथवा शब्दसे अपने अभिप्राय प्रगट किये जा सकते है। नैगम सग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र ये चार अर्थका निरूपण करते है, इसलिये अर्थनय कहे जाते हैं, तथा शब्द, समभिरूढ और एवभूत नय शब्दका प्ररूपण करते हैं, इसलिये शब्दनय कहे जाते हैं, अतएव ये सात नय सर्वसग्राहक हैं।

(१) नैगम नय सत्तारूप महा सामान्यको, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व रूप अवान्तर सामान्यको, असाधारण रूप विशेषको, तथा पररूपसे व्यावृत और सामान्यसे भिन्न अवान्तर विशेषोंको जानता है। यह नय सामान्य-विशेषको ग्रहण करता है। नैगम नयका स्वरूप (चौदहवे श्लोकमे) सामान्य-विशेषका निरुपण करते समय वताया गया हे, अतएव यहाँ अलग नही लिखा जाता। निलयन और प्रस्थ ये नैगम नयके दृष्टात शास्त्रोंमे प्रसिद्ध है। (निलयन शब्दका अर्थ निवास स्थान होता है। जैसे किसीने किसीसे पूछा, 'आप कहाँ रहते है?' उसने जबाब दिया, कि मे लोकमें रहता हूँ।' लोकमें भी जम्बूद्वीप—भरतक्षेत्र—[illegible]मुक देश—अमुक नगर—अमुक घरमे रहता हूँ। नैगम नय इन सब विकल्पोंको जानता है। [illegible]स्थका है। धान्यको मापनेके पाच सेरके परिमाणकी प्रस्थ कहते है। किसीने किसी आदमीको जगलमें जाते [illegible] देखकर पूछा, 'आप कहाँ जाते है?' उस आदमीने जवाब दिया, कि 'मैं' [illegible] नयके उदाहरण है।)

[1] [illegible]न एव भवन्ति नयवादाः। सन्मतितर्कप्रकरणे ३-४७।

[2] [illegible]। तद्दृष्टान्तो यथा—कश्चित् केनचित् पृष्ट क्व वसति भवान्? स[illegible], तत्रापि भरतक्षेत्रे, तत्रापि मध्यखण्डे, तत्राप्येकस्मिन् जनपदे नगरे गृहे [illegible]गम इच्छति॥ प्रस्थको धान्यमानविशेषः। तद्दृष्टान्तो यथा—तद्योग्य काष्ठ[illegible] स्कन्धे कृत गृहमानीतमित्यादिसर्वास्वप्यवस्थासु नैगम[illegible] [illegible]चक[illegible]।

संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते । एतच्चसामान्यैकान्तवादे प्राक् प्रपञ्चितम् ॥

व्यवहारस्त्वेवमाह यथा—लोकग्राह्यमेव वस्तु अस्तु, किमनया अदृष्टाव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया । यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते नेतरस्य । न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाभिमतं प्रमाणभूमिः, तथानुभवाभावात् । सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गाच्च । नापि विशेषाः परमाणुलक्षणाः क्षणक्षयिणः प्रमाणगोचराः, तथा प्रवृत्तेरभावात् । तस्माद् इदमेव निखिललोकाबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्कालभाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम् । पूर्वोत्तरकालभावितत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी, तत्र प्रमाणप्रसराभावात् । प्रमाणमन्तरेण विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यालोचनेन । तथाहि—पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति । तन्न ते वस्तुरूपाः । लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात् । अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्ति इत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम् । तथा च वाचकमुख्यः—"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः"[1] इति ॥

ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते—वर्तमानक्षणविवर्त्येव वस्तुरूपम् । नातीतमनागतं च । अतीतस्य विनष्टत्वाद् अनागतस्यालब्धात्मलाभत्वात् खरविषाणादिभ्योऽविशिष्यमाणतया

(२) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्यसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं । इसका निरूपण (चौथे, पाँचवे श्लोकमें) सामान्य एकान्तका प्ररूपण करते समय किया जा चुका है ।

(३) जितनी वस्तु लोकमें प्रसिद्ध है, अथवा लोकव्यवहारमें आती है, उन्हींको मानना, और अदृष्ट और अव्यवहार्य वस्तुओंकी कल्पना निष्प्रयोजन है । संग्रह नयसे जाना हुआ अनादि निधन रूप सामान्य व्यवहार नयका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि इस सामान्यका सर्व साधारणको अनुभव नहीं होता । यदि इस सामान्यका सब लोगोंको अनुभव होने लगे, तो सब लोग सर्वज्ञ हो जायें । इसी प्रकार क्षण-क्षणमे नष्ट होने वाले परमाणु रूप विशेष भी प्रमाणके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके वाह्य होनेसे हमारी प्रवृत्तिके विषय नहीं हैं । अतएव व्यवहार नयकी अपेक्षा कुछ समयके तक रहनेवाली स्थूल पर्यायको धारण करनेवाला और जलधारण आदि क्रियाओंके करनेमे समर्थ घट आदि वस्तु ही पारमार्थिक और प्रमाणसे सिद्ध है, क्योंकि इनके माननेमें कोई लोक विरोध नहीं आता । इसलिये घटका ज्ञान करते समय घटकी पूर्व और उत्तर कालकी पर्यायोंका विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय प्रमाणसे नहीं जानी जाती । तथा, ये पूर्वोत्तर पर्याय अवस्तु हैं । पूर्व और उत्तर क्रमे होनेवाली द्रव्यकी पर्याय अथवा क्षण-क्षणमें नाश होनेवाले विशेष रुप परमाणु लोकव्यवहारमें उपयोगी न होनेसे अवस्तु है । क्योंकि जो लोकव्यवहारमे उपयोगी होता है, उसे ही वस्तु कहते है । अतएव 'रास्ता जाता है, कुंड बहता है, पहाड जलता है, मच रोते हैं' आदि व्यवहार भी लोकोपयोगी होनेसे प्रमाण हे । **वाचकमुख्यने** कहा भी है—"लोकव्यवहारके अनुसार उपचरित अर्थको बतानेवाले विस्तृत अर्थको व्यवहार कहते है ।"

(४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायोंको छोडकर वर्तमान क्षणकी पर्यायोंको जानना ऋजुसूत्र नयका विषय है । वस्तुकी अतीत पर्याय नष्ट हो जाती है, और अनागत पर्याय उत्पन्न नही होती, इसलिये अतीत और अनागत पर्याय खरविषाणकी तरह सम्पूर्ण सामर्थ्यसे रहित होकर कोई अर्थक्रिया नहीं कर

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये १–३५ ।

सकलशक्तिविरहरूपत्वात् नार्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्वम् तदभावाच्च न वस्तुत्वं । "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्" इति वचनात् । वर्तमानक्षणालिङ्गितं पुनर्वस्तुरूपं समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम् । तदपि च निरंशमभ्युगन्तव्यम् अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात् । एकस्य अनेकस्वभावतामन्तरेण अनेकस्यावयवव्यापनोयोगात् अनेकस्वभावता एवास्तु इति चेत् । न । विरोधव्याघ्राघ्रातत्वात् । तथाहि—यदि एकः स्वभावः कथमनेकः अनेकश्चेत्कथमेकः एकानेकयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् । तस्मात् स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथंचिन्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाज इति त एव स्वलक्षणं न स्थूलता धारयत् पारमार्थिकमिति । एवमस्याभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु न परकीयम्, अनुपयोगित्वादिति ॥

शब्दस्तु रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते, यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः सुरपतौ तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल, प्रतीतिवशात् । यथा शब्दाद्व्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते तथैव तस्यैकत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम् । न च इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचि तया कदाचन प्रतीयन्ते । तेभ्यः सर्वदा एकाकारपरामर्शोत्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात् । तस्माद् एक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति शब्यते आहूयतेऽनेनाभिप्रायेणार्थः इति निरुक्तात् एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीनां प्रयोगात् । यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा तटस्तटी तटम् इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसम्बन्धाद् वस्तुनो भेदं चाभिधत्ते । न हि विरुद्धधर्मकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः । एवं सङ्ख्याकालकारकपुरुषादिभेदाद् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः । तत्र सङ्ख्या एकत्वादिः कालोऽतीतादिः कारकं कर्त्रादि पुरुषः प्रथमपुरुषादिः ॥

सकती, इसलिये अवस्तु है । क्योंकि "अर्थक्रिया करनेवाला ही वास्तवमे सत् कहा जाता है ।" वर्तमान क्षणमे विद्यमान वस्तुसे ही समस्त अर्थक्रिया हो सकती है, इसलिये यथार्थमे वही सत् है । अतएव वस्तुका स्वरूप निरंश मानना चाहिये, क्योंकि वस्तुको अंश सहित मानना युक्तिसे सिद्ध नहीं होता । **शंका**—एक वस्तुके अनेक स्वभाव माने विना वह अनेक अवयवोंमे नहीं रह सकती, इसलिये वस्तुमे अनेक स्वभाव मानने चाहिये । **समाधान**—यह ठीक नही । क्योंकि यह माननेमे विरोध आता है । तथाहि—एक और अनेकमे परस्पर विरोध होनेसे एक स्वभाववाली वस्तुमे अनेक स्वभाव, और अनेक स्वभाववाली वस्तुमें एक स्वभाव नही बन सकते । अतएव अपने स्वरूपमे स्थित परमाणु ही परस्परके संयोगसे कथंचित् समूह रूप होकर सम्पूर्ण कार्योमें प्रवृत्त होते हैं । इसलिये ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा स्थूल रूपको धारण न करनेवाले स्वरूपमे स्थित परमाणु ही यथार्थमें सत् कहे जा सकते हैं । अतएव ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा निज स्वरूप वस्तु है, पर स्वरूपको अनुपयोगी होनेके कारण वस्तु नहीं कह सकते ।

(५) रूढिसे सम्पूर्ण शब्दोंके एक अर्थमें प्रयुक्त होनेको शब्द नय कहते है । जैसे शुक्र, पुरन्दर-इन्द्र, आदि सब शब्द एक अर्थके द्योतक हैं । जैसे, शब्द और अर्थका अभेद होता है, वैसे ही उसके एकत्व और अनेकत्वका भी प्रतिपादन करना चाहिये । इन्द्र, शुक्र और पुरन्दर आदि पर्यायवादी शब्द कभी भिन्न अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि उनसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है । अतएव इन्द्र आदि पर्यायवाची शब्दोंका एक ही अर्थ है । जिस अभिप्रायसे अर्थ कहा जाय, उसे शब्द कहते हैं । अतएव सम्पूर्ण पर्यायवाची शब्दोंसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है । जैसे इन्द्र, शुक्र और पुरन्द्रर परस्पर पर्य्यायवाची शब्द एक अर्थको द्योतित करते है, वैसे ही 'तट, तटी, तटम्' परस्पर विरुद्ध लिंगवाले शब्दोंसे पदार्थोके भेदका ज्ञान होता है । इसी प्रकार सख्या—एकत्व आदि, काल—अतीति आदि, कारक—कर्ता आदि, और पुरुष-प्रथम पुरुष आदिके भेदसे शब्द और अर्थमे भेद समझना चाहिये ।

समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते । तद्यथा इन्दनात् इन्द्रः । पारमैश्वर्यम् इन्द्रशब्दवाच्यं परमार्थतस्तद्वत्यर्थे, अतद्वत्यर्थे पुनरुपचारतो वर्तते । न वा कश्चित् तद्वान्, सर्वशब्दाना परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यसिद्धेः । एवं शकनात् शक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्वं सर्वशब्दानां दर्शयति । प्रमाणयति च—पर्यायशब्दा अपि भिन्नार्थाः, प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात् । इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकास्ते ते भिन्नार्थकाः, यथा इन्द्रपशुपुरुपशब्दा । विभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा अपि । अतो भिन्नार्था इति ।।

एवभूतः पुनरेवं भाषते—यस्मिन् अर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्ययुत्पत्तिनिमित्तम् । अर्थो यदैव प्रवर्तते तदैव तं शब्दं प्रवर्तमानमभिप्रैति, न सामान्येन । यथा उदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकारूढो विशिष्टचेष्टावान् एव घटोऽभिधीयते न शेपः, घटशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात, पटादिवद् इति । अतीता भाविनी वा चेष्टामङ्गीकृत्य सामान्येनैवोच्यत इति चेत् । न । तौर्विनष्टानुत्पन्नतया शशविपाणकल्पत्वात् तथापि तद्द्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यः, विशेषाभावात् । किंच यदि अतीतवर्त्स्यच्चेष्टापेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्यपि प्रयुज्येत

(६) समभिरुढ नय पर्यायवाची शब्दोंमें भिन्न अर्थको द्योतित करता है। जैसे इन्द्र शक्र और पुरन्दर शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी इन्द्रसे परम ऐश्वर्यवान (इन्द्रनात् इन्द्र) शक्रसे सामर्थ्यवान (शकनात् शक्र) और पुरन्दरसे नगरोंको विदारण करनेवाले (पूर्दारणात् पुरन्दरः) भिन्न भिन्न अर्थोका ज्ञान होता हे। वास्तवमें इन्द्र शब्दके कहनेसे इन्द्र शब्दका वाच्य (परम ऐश्वर्यवाले) मे ही मिल सकता है। जिसमे परम ऐश्वर्य नहीं ह, उसे केवल उपचारसे ही इन्द्र कहा जा सकता है। इसलिये वास्तवमे जो परम ऐश्वर्यसे रहित है, उसे इन्द्र नहीं कह सकते। अतएव परस्पर भिन्न अर्थको प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंमे आश्रय और आश्रयी सबध नहीं बन सकता। इसी तरह शक्र और पुरन्दर शब्द भी भिन्न अर्थको द्योतित करते हैं। अतएव भिन्न व्युत्पत्ति होनेसे पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न अर्थोके द्योतक है। जिन शब्दोंकी व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न होती है, वे शब्द भिन्न भिन्न अर्थोके द्योतक होते है, जैसे इन्द्र, पशु और पुरुष शब्द। पर्यायवाची शब्द भी भिन्न व्युत्पत्ति होनेके कारण भिन्न अर्थको सूचित करते हैं।

(७) एवभूत नय ऐसा कहता हैं—जिस अर्थको लेकर शब्दकी व्युत्पत्ति की जाती हे, वही अर्थ उस शब्दकी व्युत्पत्ति–प्रवृत्ति–का निमित्त होता है। जिस समय अर्थ प्रवृत्त होता हे, उस समय प्रवृत्त होता हुआ उसे अभिप्रेत होता है, सामान्य नही। जैसे, जल लानेके समय स्त्रियोंके सिरपर रक्खे हुए विशिष्ट क्रिया युक्त घडेको ही 'घट' कह सकते है, दूसरी अवस्थामे घड़ेको 'घट' नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस तरह पटको घट नहीं कहा जा सकता, उसी तरह घडा भी जल लाने आदिकी क्रिया रहित अवस्थामे घट शब्दकी व्युत्पतिका निमित्त नहीं हो सकता। 'स्त्रियोंके सिर पर न रक्खे हुए और विशिष्ट क्रियासे रहित पदार्थकी अतीत और अनागत विशिष्ट चेष्टा–क्रिया–को स्वीकार कर, वह दूसरा पदार्थ सामान्य घट कहा जाता है'–यह कथन ठीक नहीं हे। क्योंकि उस दूसरे पदार्थकी अतीतकालीन चेष्टा नाश होने अथवा अनागतकालीन चेष्टाके अनुत्पन्न होनेसे, ये चेष्टाए शशविषाणके सदृश होती ह, अर्थात् उनका अभाव होता है। दूसरे पदार्थकी अतीत चेष्टाका नाश अथवा अनागतकालीन चेष्टाकी अनुत्पत्ति होनेसे, उन चेष्टाओंका अभाव होनेपर भी यदि उन चेष्टाओंके द्वारा उस दूसरे पदार्थको लेकर घट शब्द प्रवृत्त किया गया तो सभी पदार्थोको लेकर घट शब्दका व्यवहार करना चाहिये–सभी पदार्थोको घट कहना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार उस दूसरे पदार्थको अतीत या अनागत चेष्टाओंका (शब्दप्रवर्तन कालमें) अभाव होता ह, उसी प्रकार (शब्दप्रवर्तन कालमें) अन्य सभी पदार्थोकी अतीत या अनागत चेष्टाओंका अभाव होता है। (तात्पर्य यह है कि जब प्रवृत्तिनिमित्तका अभाव होनेपर भी, एक पदार्थको लेकर घट शब्दका व्यवहार

तदा कपालमृत्पिण्डादावपि तत्वप्रवर्तनं दुर्निवारं स्याद्, विशेषाभावात् । तस्माद् यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकलमस्ति तस्मिन् एव सोऽर्थस्तच्छब्दवाच्य इति ॥

अत्र संग्रहश्लोकाः—

"अन्यदेव हि सामान्यभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः ॥१॥
सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत ।
सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥२॥
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम् ।
तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः ॥३॥
तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याद् शुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः ॥४॥
विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं प्रत्यवतिष्ठते ॥५॥
तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवर्तिनः ।
ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥६॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते ।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते" ॥७॥

किया जाता है तो प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव होनेपर अन्य सभी पदार्थोंको लेकर घट शब्दका व्यवहार क्यों न किया जाये ?) यदि अतीत या अनागत चेष्टाओंकी अपेक्षासे वर्तमानकालीन चेष्टा रहित, उस दूसरे पदार्थको लेकर घट शब्द प्रयुक्त किया जाता है तो कपाल और मृत्पिंडमें भी घट शब्दका प्रयोग करना दुर्निवार हो जायेगा। क्योंकि जिस प्रकाह उस दूसरे पदार्थमे वर्तमानकालीन विशिष्ट चेष्टाका अभाव होना है तथा भूत अथवा भविष्य कालमें चेष्टाका सद्भाव होता है, उसी प्रकार कपालमें भूतकालमें तथा मृत्पिडमे भविष्य कालमें चेष्टाका सद्भाव और वर्तमानकालीन चेष्टाका अभाव होना है। अतएव जिस क्षणमें किसी शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्त कारण भूत पदार्थ सम्पूर्ण रुपसे विद्यमान हो, उसी क्षणमें वह पदार्थके द्वारा वाच्य होना हैं।

यहाँ सग्रह श्लोक है —

"नैगम नयके अनुसार विशेष रहित सामान्य ज्ञानका कारणभूत (वस्तुगत) सामान्य भिन्न होता है और विशेष भी भिन्न होता है ॥१॥

अपने अपने स्वभावमे स्थित सभी पदार्थ है अस्तित्व धर्मको नहीं छोडते हैं। इन सभी पदार्थोंका सत्तारुपसे जो सग्रह करता हें, उसे सग्रह नय कहते है ॥२॥

सत्ताके समान दिखाई देनेवाली होनेके कारण प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान रहनेवाली उस सत्ताके लिये — अवान्तर सत्तावाले पदार्थोंके लिये—प्राणियोंको व्यवहार नय प्रवृत्त कराता है ॥३॥

स्थिति—ध्रौव्य—का अभाव (गौणत्व) होनेसे केवल नश्वर पर्यायका सद्भाव होनेके कारण, अर्थ-क्रियाकारी होनेसे पारमार्थिक पर्यायका आश्रयी ऋजुसूत्र नय होता हैं ॥४॥

परस्पर विरोधी लिग, सख्या आदिके भेदसे भिन्न-भिन्न धर्मोंको माननेवाला शब्द नय होता है ॥५॥

क्षणस्थायी वस्तुको भिन्न-भिन्न सज्ञाओंके भेदसे भिन्न मानना समभिरुढ नय है ॥६॥

वस्तु अमुक क्रिया करनेके समय ही अमुक नामसे कही जा सकती है, वह सदा एक शब्दका वाच्य नहीं हो सकती, इसे एवभूत नय कहते है ॥७॥"

एत एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते । तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः । तथाहि—नैगमनयदर्शनानुसारिणौ नैयायिकवैशेषिकौ । संग्रहाभिप्रायवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः साख्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुपाति प्रायश्चार्वाकदर्शनम् । ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धयस्ताथागताः शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः ॥

उक्तं च सोदाहरणं नयदुर्नयस्वरूपं श्रीदेवसूरिपादैः । तथा च तद्ग्रन्थः—"नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः इति । स्वाभिप्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्नयाभासः । स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः । व्यासतोऽनेकविकल्पः[2] । समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च[3] । आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा । धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः । सत् चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः । वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः । क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः । धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः । यथा आत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः । सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च । अशेषविशेषेषु औदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्र-

जिस समय ये नय अन्य धर्मोका निषेध करके केवल अपने एक अभीष्ट धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं। एकान्तवादी लोग वस्तुके एक धर्मको सत्य मान कर अन्य धर्मोंका निषेध करते है, इसलिये वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं । तथाहि-न्याय-वैशेषिक लोग नैगम नयका अनुकरण करते हैं, अद्वैतवादी और साख्य सग्रह नयको मानते हैं । चार्वाक लोग व्यवहार नयवादी है, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्र नयको मानते हैं, तथा वैयाकरणी लोग शब्द आदि नयका ही अनुकरण करते है।

देवसूरि आचार्यने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमे नय और दुर्नयका स्वरूप उदाहरण सहित प्रतिपादित किया हैं–"श्रुतज्ञान प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंका एक अंश जान कर अन्य अंशोके प्रति उदासीन रहते हुए वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं । अपने अभीष्ट धर्मके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंके निषेध करनेको नयाभास (दुर्नय) कहते है । सक्षेप और विस्तारके भेदसे नय दो प्रकारका है। विस्तारके नयके अनेक भेद है। सक्षेपमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–ये नयके दो भेद है । द्रव्यार्थिक नयके नैगम, सग्रह और व्यवहार तीन भेद है। (१) दो धर्म अथवा दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधान और गौणताकी विवक्षाको नैकगम अथवा नैगम नय कहते है । (क) जैसे सत् और चैतन्य दोनों आत्माके धर्म हैं। यहा सत् और चैतन्य दोनों धर्मोंमे चैतन्य विशेष होनेसे प्रधान धर्म हैं, और सत् विशेषण होनेसे गौण धर्म है। (ख) पर्यायवान द्रव्यको वस्तु कहते हैं। यहा द्रव्य और वस्तु दो धर्मियोंमें द्रव्य मुख्य और वस्तु गौण है। अथवा पर्यायवान वस्तुको द्रव्य कहते है । यहा वस्तु मुख्य और द्रव्य गौण है। (ग) विषयासक्त जीव क्षणभरके लिये सुखी हो जाता है यहा विषयासक्त जीव रुप धर्मी मुख्य, और क्षणभरके लिये सुखी होना रूप धर्म गौण है। दो धर्म, दो धर्मी अथवा एक धर्म और धर्मोमें सर्वथा भिन्नता दिखानेको नैगमाभास कहते हैं। जैसे (क) आत्मामें सत् और चैतन्य परस्पर भिन्न है (ख) पर्यायवान वस्तु और द्रव्य सर्वथा भिन्न

१ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे सप्तमपरिच्छेदे १--५३ ।

२ अनन्तांशात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावन्तो नयः । ते च नियतसंख्यया संख्यातुं न शक्यन्त इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्तम् ।

३. द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं तदेवार्थः । सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः । पर्येति उत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः, स एवार्थः । सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः ।

मभिमन्यमानः परसंग्रहः । विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा । सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः । यथा सत्तैव तत्त्वम् ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः । धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदात् इत्यादिर्यथा । तद्द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभासः । यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम् ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेरित्यादिः । संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः । यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः । यः पुनरपारमार्थिकं द्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः । यथा चार्वाकदर्शनम् ॥

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढः एवंभूतश्च । ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः । यथा सुखविवर्तः सम्प्रति अस्तीत्यादिः । सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः । यथा तथागतमतम् । कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः । तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेव अर्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवद् इत्यादिः । पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन

है । (ग) सुख और जीव परस्पर भिन्न है । (२) विशेष रहित सामान्य मात्र जाननेवालेको संग्रह नय कहते है। पर और अपर सामान्यके भेदसे संग्रहके दो भेद है । सम्पूर्ण विशेषोंमे उदासीन भाव रखकर शुद्ध सत् मात्रको जानना पर संग्रह है, जैसे सामान्यसे एक विश्व ही सत् है। सत्ताद्वैतको मानकर सम्पूर्ण विशेषोंका निषेध करना परसंग्रहाभास है, जैसे सत्ता ही एक तत्त्व है, क्योंकि सत्तासे भिन्न विशेष पदार्थों की उपलब्धि नहीं होती। द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि अवान्तर सामान्योंको मानकर उनके भेदोंसे मध्यस्थ भाव रखना अपर संग्रह नय है, जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव एक है। (इसी प्रकार पर्यायत्वकी अपेक्षा चेतन और अचेतन पर्याय एक है)। धर्म, अधर्म आदिको केवल द्रव्यत्व रूपसे स्वीकार करके उनके विशेषोंके निषेध करनेको अपर संग्रहाभास कहते है, जैसे द्रव्यत्व ही तत्त्व है, क्योंकि द्रव्यत्वसे भिन्न द्रव्योंका ज्ञान नहीं होता। (३) संग्रह नयसे जाने हुए पदार्थोंमे योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते है । जैसे जो सत् है, वह द्रव्य या पर्याय है। (यद्यपि संग्रह नयकी अपेक्षा द्रव्य और पर्याय सत्से अभिन्न है, परन्तु व्यवहार नयकी दृष्टिसे द्रव्य और पर्यायको सत्से भिन्न माना गया है)। अपारमार्थिक द्रव्य और पर्यायके एकान्त भेद प्रतिपादन करनेको व्यवहाराभास कहते है, जैसे चार्वाकदर्शन। (चार्वाक लोग जीव द्रव्यके पर्याय आदि न मानकर केवलभूत चतुष्टयको मानते है, अतएव उनको व्यवहाराभास कहा गया है)।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नयके भेद है । (१) वर्तमान क्षणकी पर्याय मात्रकी प्रधानतासे वस्तुका कथन करना ऋजुसूत्र है, जैसे इस समय मैं सुखकी पर्याय भोगता हूँ। द्रव्यके सर्वथा निषेध करनेको ऋजुसूत्र नयाभास कहते है, जैसे बौद्धमत। (बौद्ध लोग क्षण क्षणमे नाश होनेवाली पर्यायोंको ही वास्तविक मानकर पर्यायोंके आश्रित द्रव्यका निषेध करते है, इसलिये उनका मत ऋजुसूत्र नयाभास है)। (२) काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्गके भेदसे शब्दके अर्थमे भेद माननेको शब्द नय कहते है, जैसे बभूव, भवति, भविष्यति (काल), करोति, क्रियते (कारक), तट, तटी, तटं (लिंग), दारा, कलत्रम् (संख्या), एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता (पुरुष), सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते (उपसर्ग)। काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा अलग माननेको शब्दाभास कहते हैं, जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, आदि भिन्न भिन्न कालके शब्द भिन्न कालके शब्द होनेसे भिन्न-भिन्न अर्थो का ही प्रतिपादन करते है, जैसे अन्य भिन्न कालके शब्द। (३) पर्याय शब्दोंमे

भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः । इन्दनाद् इन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः । यथेन्द्र शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवद् इत्यादिः । शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन् एवंभूतः । यथेन्दनमनुभवन् इन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते । क्रियानाविष्टं वस्तु न घटशब्दवाच्यम् घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवद् इत्यादिः ॥

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वाद् अर्थनयाः । शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः । पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः परः परस्तु परिमितिविषयः । सन्मात्रगोचरात् संग्रहात् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः । सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः । वर्तमानविषयाद् ऋजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वाद् अनल्पार्थः । कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वाद् महार्थः । प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढात् शब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः । प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थ प्रतिजानानाद् एवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वाद् महागोचरः । नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमान विधिप्रतिषेधाभ्या सप्तभङ्गीमनु-

निरुक्तिके भेदसे भिन्न अर्थको कहना समभिरूढ नय है, जैसे ऐश्वर्यवान् होनेसे इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र और नगरोंका नाश करनेवाला होनेसे पुरन्दर कहना । पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ नयाभास है, जैसे करि (हाथी) कुरंग (हरिण) और तुरंग शब्द परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना । (४) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय उस क्रियाके अनुरूप शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवंभूत नय कहते हैं, जैसे परम ऐश्वर्यका अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होनेके समय शक्र, और नगरोंका नाश करनेके समय पुरन्दर कहना। पदार्थमें अमुक क्रिया होनेके समयको छोड़कर दूसरे समय उस पदार्थको उसी शब्दसे नहीं कहना, एवंभूत नयाभास है, जैसे, जिस प्रकार जल लाने आदिकी क्रियाका अभाव होनेसे पटको घट नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जल लाने आदि क्रियाके अतिरिक्त समय घडेको घट नहीं कहना ।

सात नयोंसे नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण अर्थनय कहे जाते हैं। बाकीके शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय शब्दका प्रतिपादन करनेसे शब्दनय कहे जाते है । इन नयोंमें पहले-पहले नय अधिक विषयवाले हैं, और आगे आगेके नय परिमित विषयवाले है। संग्रह नय सत् मात्रको जानता है, और नैगम नय सामान्य और विशेष दोनोंको जानता है, इसलिये संग्रह नयकी अपेक्षा नैगम नयका अधिक विषय है। व्यवहार नय संग्रहसे जाने हुए पदार्थोको विशेष रूपसे जानता है, और संग्रह समस्त सामान्य पदार्थोको जानता है, इसलिये संग्रह नयका विषय व्यवहार नयसे अधिक है। व्यवहार नय तीनों कालोंके पदार्थोको जानता हैं, और ऋजुसूत्रसे केवल वर्तमानकालीन पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव व्यवहार नयका विषय ऋजुसूत्रसे अधिक है। शब्द नय, काल आदिके भेदसे वर्तमान पर्यायको जानता है, ऋजुसूत्रमें काल आदिका कोई भेद नहीं, इसलिये शब्द नयसे ऋजुसूत्र नयका विषय अधिक है। समभिरूढ नय इन्द्र, शक्र आदि पर्यायवाची शब्दोंको भी व्युत्पत्तिकी अपेक्षा भिन्न रूपसे जानता है, परन्तु शब्द नयमें यह सूक्ष्मता नहीं रहती, अतएव समभिरूढसे शब्द नयका विषय अधिक है । समभिरूढसे जाने हुए पदार्थोंमें क्रियाके भेदसे वस्तुमें भेद मानना एवंभूत है, जैसे समभिरूढकी अपेक्षा पुरन्दर और शचीपतिमें भेद होनेपर भी नगरोंका नाश करनेकी क्रिया न करनेके समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्रके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु एवंभूतकी अपेक्षा नगरोंका नाश करते समय ही इन्द्रको पुरन्दर नामसे कहा जा सकता है। अतएव एवंभूतसे समभिरूढ नयका विषय अधिक है। प्रमाणके सात भंगोंकी तरह अपने विषयमें विधि और

व्रजति ।" इति । विशेषार्थिना नयानां नामान्वर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु भाष्य-महोदधिगन्धहस्तिटीका[1]न्यायावतारादिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः ॥

प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकं । स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात् । तथा च श्रीविमलनाथस्तवे[2] श्रीसमन्तभद्रः—

"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥" इति

"तच्च द्विविधम् प्रत्यक्षं परोक्षं च । तत्र प्रत्यक्षं द्विधा सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च । सांव्यवहारिकं द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तभेदात् । तद् द्वितयम् अवग्रहेहावायधारणा-भेदाद् एकैकशश्चतुर्विकल्पम् । अवग्रहादीनां स्वरूपं सुप्रतीतत्वाद् न प्रतन्यते । पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम्" ।[3] तद्द्विविधम् । क्षायोपशमिकं[4] क्षायिकं च । आद्यम् अवधि-मनःपर्यायभेदाद् द्विधा । क्षायिकं तु केवलज्ञानमिति ॥

परोक्षं च स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमभेदात् पञ्चप्रकारम् । "तत्र संस्कारप्रबोध-सम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृतिः । तत् तीर्थकरबिम्बमिति यथा । अनुभव-स्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । यथा तज्जातीय

प्रतिषेधकी अपेक्षा नयके भी सात भंग होते हैं ।" नयोंका विशेष लक्षण और नयोंके ऊपर होनेवाले आक्षेपोंके परिहार आदिकी चर्चा तत्त्वार्थाधिगमभाष्यबृहद्वृत्ति गंधहस्तिटीका, न्यायावतार आदि ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये ।

सम्यक् प्रकारसे अर्थके निर्णय करने को प्रमाण कहते हैं । प्रमाण सर्वनय रूप होता है । नय वाक्योंमें स्यात् शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते हैं । श्री समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें विमलनाथका स्तवन करते हुए कहा है—

"जिस प्रकार रसोंके संयोग से लोहा अभीष्ट फलका देनेवाला बन जाता है, इसी तरह नयोंमें 'स्यात्' शब्द लगाने से भगवान्के द्वारा प्रतिपादित नय इष्ट फलको देते हैं, इसलिये अपना हित चाहने वाले लोग भगवान्के समक्ष प्रणत हैं ।"

"यह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है । साव्यवहारिक और पारमार्थिक—प्रत्यक्षके दो भेद हैं । साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे पैदा होता है । इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले साव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चार-चार भेद हैं । अवग्रह आदिका स्वरूप सुप्रतीत होनेसे यहाँ नही लिखा जाता । पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्माकी सहायता रहती है ।" यह क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है । अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान क्षायोपशमिकके भेद है । केवलज्ञान क्षायिकका भेद है ।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहा, अनुमान और आगम—परोक्षके पाच भेद हैं । "संस्कारसे उत्पन्न अनुभव किये हुए पदार्थमें 'वह है' इस प्रकारके स्मरण हेनेको स्मृति कहते हैं, जैसे वह तीर्थंकरका प्रतिबिम्ब है । वर्तमानमें किसी वस्तुके अनुभव करनेपर और भूतकालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्यक् सामान्य

१ सिद्धसेनगणिविरचिततत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्तिः । तदेव गन्धहस्तिटीका ।
२. बृहत्स्वयंभूस्तोत्रावल्यां विमलनाथस्तवे ६५ ।
३, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे २-१, ४, ५, ६, १८ ।
४ क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमे विष्कम्भितोदयत्व क्षयोपशम ।

एवायं गोपिण्डः गोसदृशो गवयः स एवायं जिनदत्त इत्यादिः। उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्कापरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा। अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्"।[1] "आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचाराद् आप्तवचनं च"[2] इति। स्मृत्यादीनां च विशेषस्वरूपं स्याद्वादरत्नाकरात् साक्षेपपरिहारं ज्ञेयमिति। प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्युपमानसंभवप्रातिभैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः। [3]सन्निकर्षादीनां तु जडत्वाद् एव न प्रामाण्यमिति। तदेवंविधेन नयप्रमाणोपन्यासेन दुर्नयमार्गस्त्वया खिलीकृत॥ इति काव्यार्थः॥२८॥

(वर्तमान कालवर्ती एक जातिके पदार्थोंमे रहनेवाला सामान्य) और ऊर्ध्वता सामान्य (एक ही पदार्थके क्रमवर्ती सम्पूर्ण पर्यायोंमे रहनेवाला सामान्य) आदिको जाननेवाले संकलनात्मक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, जैसे यह गोपिंड उसी जातिका है, यह गवय गौके समान है, यह वही जिनदत्त है, आदि। उपलंभ और अनुपलंभसे उत्पन्न, त्रिकालकलित, साध्य साधनके संबंध आदिसे होनेवाले, 'इसके होनेपर यह होता है,' इस प्रकारके ज्ञानको ऊह अथवा तर्क कहते है, जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नहीं होता। अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेद हैं। अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु-ग्रहण करनेके संबंधके स्मरणपूर्वक साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते है। पक्ष और हेतु कह कर दूसरेको साध्यके ज्ञान करनेको परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमानको उपचारसे अनुमान कहा गया है।" "आप्तके वचनसे पदार्थोंके ज्ञान करनेको आगम कहते है।" उपचारसे आप्त वचनको प्रमाण कहा है। स्मृति आदिका विशेष स्वरूप और किये गये आक्षेपोंका परिहार स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। अर्थापत्ति, उपमान, संभव, प्रातिभ, आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जाता है। सन्निकर्ष आदिको जड होनेके कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आपने नय और प्रमाणका उपदेश देकर दुर्नयवादके मार्गका निराकरण किया है॥ यह श्लोक का अर्थ है॥२८॥

भावार्थ—(१) किसी वस्तुके सापेक्ष निरूपण करनेको नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म विद्यमान है। इन अनन्त धर्मोंमें किसी एक धर्मकी अपेक्षासे अन्य धर्मोंका निषेध न करके पदार्थोंका ज्ञान करना नय है। प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंमे ही नयसे वस्तुके एक अंशका ज्ञान होता है। शंका—नयसे पदार्थोंका निश्चय होता है, इसलिये नयको प्रमाण ही कहना चाहिये, नय और प्रमाणको अलग अलग कहनेकी आवश्यकता नही। समाधान—नयसे सम्पूर्ण वस्तुका नहीं, किन्तु वस्तुके एक देशका ज्ञान होता है। इसलिये जिस प्रकार समुद्रकी एक बूँदको सम्पूर्ण समुद्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि समुद्रकी एक बूंदको समुद्र कहा जाय, तो शेष समुद्रके पानीको असमुद्र कहना चाहिये, अथवा समुद्रके पानीकी अन्य बूँदको भी समुद्र कहकर बहुतसे समुद्र मानने चाहिये। तथा समुद्रकी एक बूँदको असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता। यदि समुद्रकी एक बूँदको असमुद्र कहा जाय, तो शेष अंशको भी समुद्र नहीं जा सकता। उसी प्रकार पदार्थोंके एक अंशके ज्ञान करनेको वस्तु नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके एक अंशके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंको अवस्तु मानना चाहिये, अथवा वस्तुके प्रत्येक अंशको अवस्तु मानना चाहिये। तथा पदार्थोंके एक अंशके ज्ञान करनेको अवस्तु भी नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके शेष अंशोंको भी अवस्तु मानना पडेगा। अतएव जिस प्रकार समुद्रकी एक बूँदको समुद्र अथवा असमुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी तरह वस्तुके एक

---

१ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे ३-३-२३।

२ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे ४—१, २।

३. प्रत्यक्षजनकः संबंध। यथा चाक्षुषप्रत्यक्षे चक्षुर्विषययोः संसर्गः।

अंशके जाननेको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इसलिये नयको प्रमाण और अप्रमाण दोनोंसे अलग मानना चाहिये।

(२) जितने तरहके वचन है, उतने ही नय हो सकते हैं। इसलिये नयके उत्कृष्ट भेद असख्यात हो सकते हैं। इसलिये विस्तारसे नयोंका प्ररूपण नही किया जा सकता। एकसे लेकर नयोंके असख्यात भेद किये गये हैं। (क) सामान्यसे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा नयका एक भेद[२] है (ख) सामान्य और विशेष की अपेक्षा द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) ये नयके दो भेद हैं। सामान्य और विशेषको छोडकर नयका कोई दूसरा विषय नहीं होता, अतएव सम्पूर्ण नैगम आदि नयोंका इन्हीं दो नयोंमे अन्तर्भाव हो जाता है[३]। (ग) सग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र इन तीन अर्थनयोंमे शब्द नयको मिलाकर नयके चार भेद होता हैं।[४] (घ) नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द नयके भेदसे नय पॉच प्रकारके होते हैं। यहा भाष्यकारने साप्रत, समभिरूढ और एवभूतको शब्द नयके भेद स्वीकार किये है।[५] (च) जिस समय नैगम नय सामान्यको विषय करता हे, उस समय वह सग्रह नयमे गर्भित होता है, और जिस समय विशेषको विषय करता है, उस समय व्यवहारमे गर्भित होता है। अतएव नैगम नयका सग्रह और व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके सिद्धसेन दिवाकरने छह नयोंको माना है।[६] (छ) नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एव भूतके भेदसे नयके सात भेद होते हैं। यह मान्यता श्वेताम्बर आगम परपरामे और दिगम्बर ग्रन्थोंमें पायी जाती हैं।[७] (ज) नैगम, सग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र तथा साप्रत,

---

१ नायं वस्तु चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषाशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुता वा स्यात् तत्वे क्वास्तु समुद्रवित् ॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६-५, ६।

२ (अ) सामान्यादेशतस्तावदेक एव नय स्थित।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जनात्मक ॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-२।
(आ) यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवल सदिति ॥ राजमल्ल-पंचाध्यायी १-२१६।

३ (अ) दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सि।
(द्रव्यास्तिकश्च पर्यायनयश्च शेषा विकल्पास्तयो) सन्मतितर्क १-३।
परस्परविविक्तसामान्यविशेषविषयत्वात् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावेव नयौ, न च तृतीय प्रकारान्तर-मस्ति यद्विषयोऽन्यस्ताभ्या व्यतिरिक्तो नय स्यात्। अभयदेव टीका।
(आ) सक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यर्यायगोचरौ। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-३।

४. नैगमनयो द्विविधः सामान्यग्राही विशेषग्राही च। तत्र य सामान्यग्राही स सग्रहेऽन्तर्भूतः विशेषग्राही तु व्यवहारे। तदेवं सग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दादित्रय चैक इति चत्वारो नया। समवायाग टीका।

५. नैगमसगहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दा नय। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १-३४।

६. जो सामन्नगाही स नेगमो सगह गओ अहवा।
इयरो ववहारमिओ जो तेण समाणनिद्देसो ॥ विशेषावश्यक भाष्य ३९।
सिद्धसेनीया, पुन षडेव नयानभ्युपगतवन्त। नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात्। विशेषावश्यक भाष्य ४५।

७. से किं तं णए? सत्तमूलणया पण्णता। त जहा—णेगमे सगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवभूए। अनुयोगद्वारसूत्र। तथा स्थानाग सू० ५५२, भगवती सू० ४६९।

समभिरूढ और एवंभूत ये शब्दके तीन विभाग करनेके नयोंके आठ भेद होते हैं।[१] (झ) नैगम संग्रह आदि सात प्रसिद्ध नयोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मिला देनेसे नयोंकी संख्या नौ हो जाती है। इन नयोंके माननेवाले आचार्योंका खंडन द्रव्यानुयोगतर्कणामें मिलता है।[२] (ट) नैगमके नौ भेद करके संग्रह आदि छह नयोंको मिलानेसे नयोंके १५ भेद होते हैं।[३] (ठ) निश्चय नयके २८ और व्यवहार नयके ८ भेद मिलाकर नयोंके ३६ भेद होते हैं।[४] (ड) प्रत्येक नयके सौ सौ भेद करनेपर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पांच नयोंके माननेसे नयोंके पांच सौ, और सात नय माननेसे नयोंके सात सौ भेद होते हैं।[५] (ढ) जितने प्रकारके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं, इसलिये नयके असंख्यात भेद हैं।

(३)—(१) (क) सामान्य और विशेष पदार्थोंको ग्रहण करना नैगम नय है। यह लक्षण **मल्लिषेण, सिद्धर्षि, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, अभयदेव** आदि श्वेताम्बर आचार्योंके ग्रन्थोंमें मिलता है।[६] (ख) दो धर्म, अथवा दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधान और गौणताकी विवक्षा करनेको नैगम कहते हैं। नैगम नयका यह लक्षण **देवसूरि, विद्यानन्दि, यशोविजय** आदिके ग्रन्थोंमें पाया जाता है।[७] (ग) जिसके द्वारा लौकिक अर्थका ज्ञान हो, उसे नैगम कहते हैं। यह लक्षण **जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि** आदि आचार्योंके ग्रन्थोंमें मिलता है।[८] (घ) संकल्प मात्रके ग्रहण करनेको नैगम कहते हैं।[९] किसी पुरुषको प्रस्थ (पांच सेरका परिमाण) बनानेके लिये जंगलमें लकड़ी लेने जाते हुए देखकर किसीने पूछा, तुम कहां जा रहे हो? उस आदमीने उत्तर दिया कि वह प्रस्थ लेने जा रहा है। **पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंदि** आदि दिगम्बर आचार्योंको यही लक्षण मान्य है। (प्रस्थका उदाहरण नैगम नयके वर्णनमें **हरिभद्रके आवश्यकटिप्पणमें** भी दिया गया है)। नैगमके नौ भेद हैं। अर्थ-पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम, द्रव्य-पर्याय नैगम—ये नैगमके तीन भेद हैं। इनमें अर्थ-पर्याय नैगम, व्यंजन पर्याय नैगम और अर्थ व्यंजन-पर्याय नैगम—ये पर्याय नैगमके तीन भेद हैं। शुद्ध द्रव्य नैगम और अशुद्ध द्रव्य नैगम—ये द्रव्य नैगमके दो भेद हैं। तथा शुद्ध द्रव्यार्थ-पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्य व्यंजन-पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थ द्रव्य व्यंजन-पर्याय नैगम—ये चार द्रव्य-पर्याय नैगमके भेद हैं। इन सबको मिलानेसे नैगमके नौ भेद होते हैं। न्याय-वैशेषिकोंका नैगमाभासमें अन्तर्भाव होता है। (२) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्य रूपसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं, जैसे जीव कहनेसे त्रस, स्थावर आदि सब प्रकारके जीवोंका ज्ञान होता है। संग्रह नय पर संग्रह और अपर संग्रहके भेदसे दो प्रकारका है। सत्ताद्वैतको मानकर सम्पूर्ण

१, तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १-३४, ३५।

२ यदि पर्यायद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु स्युर्नैकादश तत्कथम्॥ द्रव्यानुयोगतर्कणा ८-११।

३ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-४८।

४ देवसेनसूरि, नयचक्रसंग्रह १८६, १८७, १८८।

५. इक्किक्को य सयविहो सत्तनयसया हवंति एमेव।
अन्नो वि य आएसो पंचेव सया नयाणं तु॥ विशेषावश्यक भाष्य २२६४।

६ ये परस्परविशकलितौ सामान्यविशेषाविच्छन्ति तत् समुदायरूपो नैगमः। सिद्धर्षि, न्यायावतार टीका।

७ यद्वा नैकं गमो योऽत्र सतां नैगमो मतः।
धर्मयोर्धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-२१।

८ निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति लौकिका अर्था तेषु निगमेषु भवो योऽध्यवसाय ज्ञानाख्यः स नैगमः।
सिद्धसेनगणि, तत्त्वार्थ टीका।

९. अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि पृ ७८।

विशेषोंके निषेध करनेको सग्रहाभास कहते है । अद्वैत वेदान्तियों और साख्योंका सग्रहाभासमें अन्तर्भाव होता है । (३) सग्रह नयसे जाने हुए पदार्थोंके योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं, जैसे जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय है । इसके सामान्य भेदक और विशेष भेदकके भेदसे दो भेद हैं । द्रव्य और पर्यायके एकान्तभेदको मानना व्यवहारभास है । इसमे चार्वाक दर्शन गर्भित होता है । (४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायको छोडकर वर्तमान क्षणकी पर्यायको जानना ऋजुसूत्र नय है, जैसे इस समय मै सुखकी पर्याय भोग रहा हूँ। सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्रके भेदसे ऋजुसूत्रके दो भेद है । केवल क्षण-क्षणमे नाश होनेवाली पर्यायोंको मानकर पर्यायके आश्रित द्रव्यका सर्वथा निषेध करना ऋजुसूत्र नयाभास है। बौद्ध दर्शन इसमे गर्भित होता है । (५) पर्यायवाची शब्दोंमे भी काल, कारक, लिंग, सख्या, पुरूष और उपसर्गके भेदसे अर्थभेद मानना शब्द नय है, जैसे 'आप्' जलका पर्यायवाची होनेपर भी जलकी एक बूँदके लिये 'आप' का प्रयोग नही करना, 'विरमते' और 'विरमति' पर्यायवाची होनेपर भी दूसरेके लिये 'विरमति' परस्मैपदका प्रयोग, और अपने लिये 'विरमते' आत्मनेपदका प्रयोग करना काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा भिन्न मानना शब्दाभास है (६) पर्यायवाची शब्दोंमे व्युत्पत्तिके भेदसे अर्थभेद मानना समभिरूढ नय है, जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी ऐश्वर्यवानको इन्द्र, सामर्थ्यवानको शक्र, और नगरोंका नाश करनेवालेको पुरन्दर कहना । पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढाभास है (७) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय क्रियाके अनुकूल शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवंभूत नय कहते है, जैसे पूजा करते समय पुजारी, और पढते समय विद्यार्थी कहना। जिस समय पदार्थमे जो क्रिया होती है, उस समयको छोडकर दूसरे समय उस पदाथको उस नामसे नहीं कहना एवभूत नयाभास है, जैसे जल लानेके समय ही घडेको घट कहना, दूसरे समय नही ।

(४) (क) सात नयोंको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो विभागोंमे विभक्त किया जा सकता है।[१] नैगम, सग्रह और व्यवहार नय ये तीन नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योंकि ये द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुका प्रतिपादन करते हैं । तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार नय पर्यायार्थिक है, क्योंकि ये वस्तुमे पर्यायकी प्रधानताका ज्ञान करते है । (ख) नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र—ये चार अर्थनय हैं। इनमे श दके लिंग आदि बदल जानेपर भी अर्थमे अन्तर नहीं पडता इसलिये अर्थकी प्रधानता होनेसे ये अर्थनय कहे जाते है । शब्द, समभिरूढ और अवभूत नयोंमे शब्दोंके लिंग आदि बदलनेपर अर्थमे भी परिवर्तन हो जाता है, इसलिये शब्दकी प्रधानतासे ये शब्दनय कहे जाते हैं । (ग) नय व्यवहार और निश्चय नयमे भी विभक्त हो सकते है । एवभूतका विषय सब नयोंकी अपेक्षा सूक्ष्म है, इसलिये एवभूतको निश्चय, और बाकीके छह नयोंको व्यवहार नय कहते हैं । (घ) सात नयोंके ज्ञाननय और क्रियानय विभाग भी हो सकते हैं । ये नय सत्यका विचार करते है, इसलिये ज्ञानदृष्टिकी प्रधानता होनेके कारण ज्ञाननय, और क्रियादृष्टिकी प्रधानता होनेसे क्रियानय कहे जाते है । नैगम आदि नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयको जानते है ।

---

१. तार्किकाणा त्रयो भेदा आद्या द्रव्यार्थिनो मता ।
सैद्धान्तिकाना चत्वार पर्यायार्थगता परे ॥ यशोविजय, नयोपदेश १८ ।

यहा जैन शास्त्रोंमे दो परम्पराये दृष्टिगोचर होती हैं। पहली परम्पराके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि चार और पर्यायास्तिकके शब्द आदि तीन भेद है । इस सैद्धानिक परम्पराके अनुयायी **जिनभद्रगणि, विनयविजय, देवसेन** आदि आचार्य है। दूसरी परम्परा तार्किक विद्वानोंकी है । इसके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि तीन, और पर्यायास्तिकके ऋजुसूत्र आदि चार भेद हैं । इसके अनुयायी **सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दि, वादिदेवसूरि, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, यशोविजय** आदि विद्वान् है ।

इदानीं सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो[1] लोक इति वावदूकानां तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वानां सम्भवात् परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीत जीवानन्त्यवादं निर्दोषतया-भिष्टुवन्नाह—

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवम् भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः ॥ २९ ॥

मितात्मवादे संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे दूषणद्वयमुपतिष्ठते । तत्क्रमेण दर्शयति । मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवमिति । मुक्तो निर्वृतिमाप्तः । सोऽपि वा । अपिर्विस्मये । वाशब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थः यथा देवो वा दानवो वेति । भवमभ्येतु संसारमभ्यागच्छतु । इत्येको दोषप्रसङ्गः । भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु । भवः संसारः स वा भवस्थशून्यः संसारि-जीवैर्विरहितोऽस्तु भवतु । इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः ॥

इदमत्र आकूतम् । यदि परिमिता एव आत्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाभ्यासप्रकर्षादि-क्रमेणापवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः । कालस्या-नादिनिधनत्वाद् आत्मनां च परिमितत्वात् संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्यताम् । समु-न्नीयते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरिते सरसि पवनतपनातपनजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता । न चायमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचित् प्रसिद्धः । संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । तत्स्वरूपं हि एतद् यत्र कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समासार्षुः संसरिष्यन्ति चेति । सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्वं हठादभ्युपगन्तव्यम् । मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम् ॥

सात द्वीप और सात समुद्र मात्रको लोक माननेवाले वादियोंके मतमें जीवोंकी संख्या भी परिमित ही हो सक्ती है । अतएव जीवों की परिमित संख्या माननेवाले वादियोंके मतको सदोष सिद्ध करके जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित जीवोंकी अनन्तताको निर्दोष सिद्ध करते हैं—

श्लोकार्थ—जो लोग जीवोंको अनन्त नहीं मान कर जीवोंकी संख्या परिमित मानते हैं, उनके मतमें मुक्त जीवोंको फिरसे संसारमें जन्म लेना चाहिये, अथवा यह संसार किसी दिन जीवोंसे खाली हो जाना चाहिये। हे भगवान, आपने छहकायके जीवोंको अनन्त माना है, इसलिये आपके मतमें उक्त दोष नहीं आते।

व्याख्यार्थ—जीवोंको संख्यात माननेमें दूषण द्वयका प्रसंग उपस्थित होता है—मुक्त जीवोंको संसारमें फिरसे लौट कर आना चाहिये, अथवा यह संसार किसी दिन संसारी जीवोंसे शून्य हो जाना चाहिये। श्लोकमें 'अपि' शब्द विस्मय अर्थमें है, और 'वा' शब्द उत्तर दोषोंका समुच्चय करता है।

यदि जीवोंको परिमित माना जाय, तो तत्त्वज्ञानके अभ्यासकी प्रकृष्टता होनेपर किसी समय सम्पूर्ण जीवोंको मोक्ष मिल जाना चाहिये, क्योंकि काल अनादिनिधन है और जीवोंकी संख्या परिमित है। अतएव अनादिनिधन होनेसे और जीवोंके संख्यात होनेसे किसी समय यह संसार जीवोंसे शून्य हो जाना चाहिये। संसारका जीवोंसे शून्य होना किसी भी प्रामाणिक पुरुषने नहीं माना है, क्योंकि इससे संसार नष्ट हो जाता है। जहां जीव कर्मोंके वश होकर परिभ्रमण करते हैं, अथवा परिभ्रमण करेंगे, उसे संसार कहते हैं। अतएव सम्पूर्ण संसारी जीवोंका मोक्ष माननेसे संसारको प्राणियोंसे शून्य मानना ही चाहिये, अथवा मुक्त जीवोंको फिरसे संसारमें जन्म लेना चाहिये।

---

१ वैदिकमते जम्बुप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करा इति सप्तद्वीपा, लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलार्णवाः इति सप्तसमुद्राश्च, बौद्धमते जम्बुपूर्वविदेहावरगोदानीयोत्तरकुरव इति चतुर्द्वीपाः सप्त सीताश्च, जैनमते असंख्याताः द्वीपसमुद्राः इति ।

न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः ।

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥"[1]

इति वचनात् । आह च पतञ्जलिः—"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"[2] इति । तट्टीका[3] च—"सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धा शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा । तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति । नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः" इति । अक्षपादोऽप्याह—"न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य"[4] इति ॥

एवं विभङ्गज्ञानिशिवराजर्षिमतानुसारिणो दूषयित्वा उत्तरार्द्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति । षड्जीवेत्यादि । त्वं तु हे नाथ तथा तेन प्रकारेण अनन्तसंख्यमनन्ताख्यसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम् । अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवा इन्द्रियादिज्ञानादिद्रव्यभावप्राणधारणयुक्ताः तेषां "सङ्घे वानूर्ध्वे ।"[5] इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे कायः समूह जीवकायः पृथिव्यादिः षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम् । पात्रादिदर्शनाद् नपुंसकत्वम् । अथवा षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं सङ्घातः षड्जीवकायस्तं षड्जीवकायम् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणषड्जीवनिकायम् । तथा तेन प्रकारेण ।

जिन जीवोंके कर्म नष्ट हो गये हैं, वे फिरसे ससारमे नही आते । कहा भी है—

"जिस प्रकार बीजके जल जानेपर बीजसे अकुर नहीं पैदा हो सकता, उसी तरह कर्मबीजके जल जानेपर संसार रूपी अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता ।"

पतंजलिने कहा है—"मूलके रहनेपर ही जाति, आयु और भोग होते हैं ।" टीकाकार व्यासने कहा है—"क्लेशोंके होनेपर ही कर्मो की शक्ति फल दे सकती हैं, क्लेशके उच्छेद होनेपर कर्म फल नहीं देते। जिस प्रकार छिलकेसे युक्त चावलोंसे अकुर पैदा हो सकते हैं, छिलका उतार देनेसे चावलोंमें पैदा होनेकी शक्ति नही रहती, उसी प्रकार क्लेशोंसे युक्त कर्मशक्ति फल देती है, क्लेशोंमे नष्ट हो जानेपर कर्मशक्तिमें विपाक नहीं होता। यह विपाक जाति, आयु और भोगके भेदसे तीन प्रकारका है ।" अक्षपाद ऋषिने भी कहा है—"जिसके क्लेशोंका क्षय हो गया है, उसको प्रवृत्ति बन्धका कारण नहीं होती ।"

इस प्रकार विभगज्ञानी शिवराज महर्षिके अनुयायियोंकी मान्यता सदोष सिद्ध करके जिन भगवानके कहे हुए अनन्त जीववादको निर्दोष सिद्ध करते हे । जो भूतकालमे जीते थे, वर्तमानमे जीते हैं, और भविष्यमे जीयेंगे, उन्हे जीव कहते हैं । ये जीव इन्द्रिय आदि दस द्रव्य प्राणोंको और ज्ञान आदि भाव प्राणोंको धारण करते हैं । जीवोंके समूहको जीवकाय कहते हैं । यहाँ "सघे वानूर्ध्वे" सूत्रसे 'चि' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होनेपर 'च' के स्थानमे 'क' हो जानेसे 'काय' शब्द बनता है । पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह प्रकारके जीवोको 'षट्काय जीव' कहा है । यहाँ 'पात्र' आदि शब्दोमें षड्-

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये १०–७ ।
२. पातञ्जलसूत्रे २–१३ ।
३ व्यासभाष्ये । २–१३ ।
४. गौतमसूत्रे ४–१–६४ ।
५ हैमसूत्रे ५–३–८० ।

आख्यः मर्यादा प्ररूपितवान् । यथा येन प्रकारेण न दोषो दूषणमिति । जात्यपेक्षमेकवचनम् । प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुःष्यन्ति तथा त्वं जीवानन्त्यमुपदिष्टवानित्यर्थः । आख्यः इति आङ्पूर्वस्य ख्यातेरङि सिद्धिः । त्वमित्येकवचनं चेदं ज्ञापयति यद् जगद्गुरोरेव एकस्यैदृक्प्ररूपणसामर्थ्यं, न तीर्थान्तरशास्तृणामिति ॥

पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्[1] । यथा सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानात्, अर्शोऽङ्कुरवत् । भौममम्भोऽपि सात्मकम्, क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात, शालूरवत् । आन्तरिक्षमपि सात्मकम्, अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात, मत्स्यादिवत । तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात, पुरुषाङ्गवत । वायुरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्वाद् गोवत । वनस्पतिरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गमत्वाद् गोवत् । वनस्पतिरपि सात्मकः, छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात्, पुरुषाङ्गवत् । केषाञ्चित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च[2] । अपकर्षतश्चैतन्याद् वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः । आप्तवचनाच्च । त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषाञ्चित सात्मकत्वे विगानमिति ।

यथा च भगवदुपक्रमे जीवानन्त्ये न दोषस्तथा दिङ्मात्रं भाव्यते । भगवन्मते हि

जीवकाय शब्दको मान कर समासमें 'षड्जीवकाय' नपुंसक लिंग बनाया है। अथवा समूह अर्थमें समास न करके 'छह प्रकारके जीवोंका संघात' अर्थ करके 'षड्कायजीव' पुल्लिंगान्त समास बनाना चाहिये। अतएव जिन भगवान्ने ही निर्दोष रीतिसे जीवोंको अनन्त स्वीकार किया है, दूसरे वादियोंने नहीं। आङ् पूर्वक 'ख्या' धातुसे अङ् प्रत्यय लगानेपर 'आख्य' क्रियापद बनता है।

(१) मूगा पाषाण आदिरूप पृथिवी सजीव हैं, क्योंकि अर्शके अंकुरकी तरह पृथिवीके काटनेपर वह फिरसे उग आती है। (२) पृथिवीका जल सजीव है, क्योंकि मेंढककी तरह जलका स्वभाव खोदी हुई पृथिवीके समान है। आकाशका जल भी सजीव है, क्योंकि मछलीकी तरह बादलके विकार होनेपर वह स्वतः ही उत्पन्न होता है। (३) अग्नि भी सजीव है। क्योंकि पुरुष के अंगोंकी तरह आहार आदिके ग्रहण करनेसे उसमें वृद्धि होती है। (४) वायुमें भी जीव है, क्योंकि गौकी तरह वह दूसरेसे प्रेरित होकर गमन करती है। (५) वनस्पतिमें भी जीव है, क्योंकि पुरुषके अंगोंकी तरह छेदनेसे उसमें मलिनता देखी जाती है। कुछ वनस्पतियोंमें स्त्रियों के पादाघात आदिसे विकार होता है, इसलिये भी वनस्पतिमें जीव है। अथवा जिन जीवोंमें चेतना घटती हुई देखी जाती है, वे सब सजीव हैं। सर्वज्ञ भगवान्ने पृथिवी आदिको जीव कहा है। (६) कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि त्रस जीवोंमें सभी लोगोंने जीव माना है।

जिनमतमें छहनिकायके जीवोंमें सबसे कम त्रस जीव हैं। त्रस जीवों में सख्यात गुणे अग्निकायिक,

१. ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमताना भूतेन्द्रियाणा श्रूयते । यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६-१-३-२-४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६-२-३,४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुति । ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये २-१-४ । वनस्पत्यादीना चैतनत्व महाभारते (शान्ति० मो० अ० १८२ श्लोक ६-१८) मनुस्मृतौ (अ० १ श्लो० ४६-४९) च समर्थितम् ।

२ तथा मत्तकामिनीसनूपुरसुकुमारचरणताडनादशोकतरो पल्लवकुसुमोद्भव । तथा युवत्यलिंगनात् पनसस्य । तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्बकुलस्य । तथा सुरभिनिर्मलजलसेकाच्चम्पकस्य । तथा कटाक्षवीक्षणात्तिलकस्य । तथा पञ्चमस्वरोद्गाराच्छिरीषस्य विरहकस्य पुष्पविकिरणम् ।

षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्न टीका पृ० ६३ ।

षण्णां जीवनिकायानामेतद् अल्पबहुत्वम् । सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः । तेभ्यः संख्यातगुणाः तेजस्कायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिकाः पृथिवीकायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः । तेभ्योऽपि विशेषाधिका वायुकायिकाः । तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकाः । ते च व्यवहारिका अव्यवहारिकाश्च ।[1]

"गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोअ गोलओ भणिओ ।
इक्किक्कम्मि णिगोए अणन्तजीवा मुणेअव्वा ॥ १ ॥
सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ ।
एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि ॥ २ ॥"[2]

इति वचनाद् यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति । न च तावता तस्य काचित् परिहाणिर्निगोदजीवानन्त्यस्याक्षयत्वात् । निगोदस्वरूपं च समयसागराद् अवगन्तव्यम् । अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृताः निर्वान्ति निर्वा-

अग्निकायसे विशेष अधिक पृथिवीकायिक, पृथिवीकायसे जलकायिक जलकायसे वायुकायिक और वायुकायसे अनतगुणे वनस्पतिकायिक जीव हैं । व्यवहारिक और अव्यवहारिकके भेदसे वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते है—

"गोल असंख्यात होते है, एक गोलमे असख्यात निगोद रहते हैं और एक निगोदमे अनन्त जीव रहते हैं । जितने जीव व्यवहारराशिसे निकल कर मोक्ष जाते है, उतने ही जीव अनादि वनस्पति राशिसे निकल कर व्यवहारराशि में आ जाते हैं ।"

इसलिये जितने जीव मोक्ष जाते है, उतने प्राणी अनादि निगोद [देखिये परिशिष्ट (क)] वनस्पति राशिमेंसे आ जाते है । अतएव निगोद राशिमेसे जीवोके निकलते रहनेके कारण ससारी जीवोका कभी सर्वथा क्षय नहीं हो सकता । निगोदका स्वरूप समयसागर से जानना चाहिये । जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, और आगे जानेवाले हैं, वे निगोद जीवोके अनन्तवे भाग भी न है न हुए है और न होगे । अतएव हमारे मतमे न तो मुक्त जीव ससारमें लौटकर आते है, और न यह ससार जीवोसे शून्य होता है । इसे दूसरे वादियोंने भी माना है । वार्तिककारने भी कहा है—

"इस ब्रह्माण्डमे अनन्त जीव हें, इसलिये संसारसे ज्ञानी जीवोकी मुक्ति होते हुए यह ससार जीवोसे खाली नहीं होता । जिस वस्तुका परिमाण होता है, उसीका अत होता है, वही घटती और समाप्त होती

१. द्विविधा जीवा साव्यवहारिका असाव्यवहारिकाश्चेति । तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्त पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका उच्यन्ते । ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथापि ते साव्यवहारिका एव, सव्यवहारे पतितत्वात् । ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसाव्यवहारिका । प्रज्ञापनाटीकाया सू० २३४ ।

२. छाया—गोलाश्च असख्येयाः असंख्यनिगोदो गोलको भणितः ।
एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्या ॥१॥
सिध्यन्ति यावन्त खलु इह सव्यवहारजीवराशित· ।
आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितस्तावन्तस्तस्मिन् ॥२॥

स्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि[1] न वर्तन्ते नावर्तिषत न वर्त्स्यन्ति। ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः, कथं च संसारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति। अभिप्रेतं चैतद् अन्ययूथ्यानामपि। यथा चोक्तं वार्तिककारेण—

"अत एव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम्।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता॥ १॥
अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्।
वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसम्भवः॥ २॥"

इति काव्यार्थः॥ २९॥

है। अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न वह घटती और न समाप्त होती है।"

यह श्लोकका अर्थ है॥२९॥

भावार्थ—(१) यदि संसारी जीवोंको बराबर मोक्ष मिलता रहे (जैन शास्त्रोंके अनुसार छह महीने और आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं) तो कभी यह संसार जीवो से खाली हो जाना चाहिये। आजीविक मतानुयायी मस्करी[2] (गोशाल) आदिका मत था कि मुक्त जीव फिरसे संसारमें जन्म लेते है। अश्वमित्रने भी इस प्रश्नको लेकर जैन संघमें वाद खड़ा किया था। स्वामी दयानन्दके अनुसार जीव महाकल्प काल्पर्यंत मुक्तिके सुखको भोग कर फिरसे संसारमें उत्पन्न होते हैं। इस कथनकी पुष्टिके लिये दयानन्द स्वामीने ऋग्वेद[3] तथा मुण्डक उपनिषद्के[4] प्रमाण उद्धृत किये हैं।[5]

जैन विद्वानोंकी मान्यता है कि जिस प्रकार बीजके जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेपर जीव फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेते। पतंजलि, व्यास, अक्षपाद आदि ऋषियोंकी भी यही मान्यता है। जैन सिद्धान्तमें द्वीप और समुद्रोंका असंख्यात परिमाण स्वीकार किया गया है। इन द्वीप-समुद्रोंमें अनन्तानन्त जीव रहते है। सबसे कम त्रस जीव है, त्रस जीवोंसे संख्यात गुणे अग्निकायिक, अग्निकायिक जीवोंसे अधिक पृथिवीकायिक, पृथ्वीसे जलकायिक, जलसे वायुकायिक और वायुकायिकसे अनन्तगुणे वनस्पतिकायिक जीव है। वनस्पतिकायिक जीव व्यावहारिक और अव्यावहारिकके भेदसे दो प्रकारके होते है। जो जीव निगोदसे निकल कर पृथिवीकाय आदि अवस्थाको प्राप्त करके फिरसे निगोद अवस्थाको प्राप्त करते हैं, वे जीव व्यवहारिक कहे जाते हैं। तथा जो जीव अनादि कालसे निगोद अवस्थामें ही पड़े हुए हैं, उन्हे अव्यवहारिक कहते है। जैन सिद्धांतके अनुसार असंख्यात

---

१. एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥
छाया—एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टा।
सिद्धैरनन्तगुणा सर्वेण व्यतीतकालेन॥
गोम्मटसारे जीव० १९५।

२. कर्माजनसंश्लेषात् संसारसमागमोऽस्तीति मस्करिदर्शनं। गोम्मटसार जीवकांड ६९ टीका। तथा, 'ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य' आदि, देखिये पीछे, स्याद्वादमंजरी पृ० ४।

३ १-२४-१-२।

४. ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डक उ० ३-२-६।

५. देखिये सत्यार्थप्रकाश सं० १९८३ पृ० १५५।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञ-सिद्धान्तस्यान्योन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति—

गोल होते हैं, प्रत्येक गोलमे असख्यात निगोद रहते है, और एक निगोदमे अनन्त जीव रहते है। जितने जीव व्यवहारराशिसे निकल कर मोक्ष जाते हे, उतने ही वनस्पतिराशिसे व्यवहारराशिमें आ जाते है, अतएव यह ससार जीवोंसे कभी खाली नहीं हो सकता। मोक्ष जाते रहते हुए भी ससार खाली नहीं होगा, इसका दूसरी प्रकारसे समर्थन करते हुए जैन विद्वानोंने जीवोंको भव्य और अभव्य[१] दो विभागोंमें विभक्त किया है। जो मोक्षगामी जीव हैं, वे भव्य हैं, तथा जो अनत काल वीतनेपर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, वे अभव्य[२] है। अतएव भव्य जीवोंके मोक्ष जाते रहते हुए भी यह ससार जीवोंसे शून्य नहीं हो सकता। **सिद्धसेन दिवाकरने** आगमके हेतुवाद और अहेतुवाद दो विभाग करते हुए भव्य-अभव्यके विभागको अहेतुवादमे गर्भित किया है[३]।

(२) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे जीव छह प्रकारके होते है। **महीदास**[४] आदि वैदिक ऋषियोंने, **महाभारत** और **मनुस्मृतिकार** तथा **गोशाल**[५] प्रभृतिने भी पृथिवी, जल आदिमे जीव स्वीकार किया है। आधुनिक साइसके अनुसार वनस्पतिके सचेतने होनेमें कोई विवाद नहीं है। भारतीय वैज्ञानिक सर जे सी० बोसने टिन, शीशा,[६] प्लैटिनम आदि धातुओंमे भी प्रतिक्रिया (Response) सिद्ध की है।[७]

परस्पर विरुद्ध अर्थको प्रतिपादन करनेवाले अन्य दर्शन एक दूसरेसे ईर्ष्या करते है, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप होनेसे भगवानका सिद्धान्त ही मात्सर्य रहित हो सकता है—

---

१ सम्यग्दर्शनचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। तत्त्वार्थराजवार्तिक २–७, ७, ८, देखिये भव्याभव्यविभाग०—व्याख्याप्रज्ञप्ति। बौद्धोंके महायान सम्प्रदायमें भव्याभव्यका विभाग नहीं माना गया है।

२ योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यति असौ अभव्य। त० राजवार्तिक २–७-९।

३. सन्मतितर्क ३–४३।

४ देखिये ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक।

५ महीदास, गोशाल और महावीरकी प्राणिशास्त्र सबंधी मिलती जुलती मान्यताओंके लिये देखिये प्रो० बरूआकी Pre-Buddhist Indian Philosophy, नामक पुस्तकका २१ वा अध्याय।

६. मिलाइये—तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम्। तद्यथा। शुद्धपृथिवीशर्करावालुकोपलशिलालवणायस्त्रपुताम्रसीसकरूप्यसुवर्णवज्रहरतालहिङ्गुलकमनःशिलासस्यकाचनप्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिकाजातिनामादि। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पृ० १५८।

७ It Will thus be seen that as in the case of animal tissues and of plants, so also in metals, the electrical responses are exalted by the action of stimulants, lowered by depressants, and completely abolished by certain other reagents, देखिये जे० सी० बोसकी 'Response in the Living and Non-living' पृ० १४१ तथा पृ० ८०-१९१।

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

प्रकर्षेण उद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः । यथा येन प्रकारेण । परे भवच्छासनाद् अन्ये । प्रवादा दर्शनानि । मत्सरिणः अतिशायने मत्वर्थीयविधानात्[1] सातिशयासहनताशालिनः क्रोधकषायकलुषितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिनः, इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यस्थापनप्रवणा वर्तन्ते । कस्माद् हेतोर्मत्सरिणः इत्याह । अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् । पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः । कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः । तस्य प्रतिकूलः प्रतिपक्षः । पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः प्रतिपक्षः । तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः । अन्योऽन्यं परस्पर यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात् ॥

तथाहि । य एव मीमासकाना नित्यः शब्द इति पक्षः स एव सौगतानां प्रतिपक्षः । तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमासकानां प्रतिपक्ष । एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम् । तथा तेन प्रकारेण ते तव । सम्यक् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेन इति "पुन्नाम्नि घः ।[2]" समयः संकेतः । यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते ज्ञायन्ते जीवाजीवादयोऽर्था अनेन इति समयः सिद्धान्तः । अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठा प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगमः । न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी । पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषु उक्तम् । त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाभावाद् न पक्षपातित्वम् । पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्, व्यापकं च निवर्तमानं

श्लोकार्थ—अन्यवादी लोग परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण एक दूसरेसे ईर्ष्या करते है, परन्तु सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखनेवाले आपके शास्त्रोंमें पक्षपात नहीं है ।

व्याख्यार्थ—जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उत्तमतासे प्रतिपादन किया जाय, उसे प्रवाह कहते हैं । आपके शासनके अतिरिक्त अन्य दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्षका दुराग्रह रखनेके कारण एक दूसरेके पक्षका तिरस्कार करके अपने सिद्धान्तको स्थापित करते हैं, अतएव वे लोग अत्यन्त असहनशील होनेके कारण क्रोध कषायसे युक्त होकर अपने दर्शनोंमें पक्षपात करते है । 'मत्सरी' शब्दमे मत्वर्थमें इन् प्रत्यय सातिशय अर्थको द्योतन करनेके लिए किया गया है। जो साध्यसे युक्त होकर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाय, उसे पक्ष कहते हे । जो पक्षके विरुद्ध हो, उसे प्रतिपक्ष कहते हैं ।

तथाहि—जैसे मीमासकोंके मतमें 'शब्द नित्य है,' यह पक्ष बौद्धोंका प्रतिपक्ष है, क्योंकि बौद्धोंके मतमे शब्द अनित्य हे, इसी तरह 'शब्द अनित्य है' यह बौद्धोंका पक्ष मीमासकोंका प्रतिपक्ष है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। परन्तु आपके समयमें किसी एक पक्षके प्रति अनुराग नहीं देखा जाता। अन्य वादोंमें ईर्ष्या करना ही पक्षपातका कारण ह । आपके समयमे ईर्ष्याका अभाव होनेसे पक्षपात नहीं है। व्यापकके न होनेपर व्याप्य भी नहीं होता, अतएव आपके समयमें ईर्ष्या न होनेसे पक्षपातका भी अभाव हैं । यहा समय शब्दका चार प्रकारसे अर्थ किया गया है (१) जिससे शब्दका अर्थ ठीक-ठीक मालूम हो—सकेत । यहा सम्-इ धातुसे "पुंन्नाम्नि घ" सूत्रसे समय शब्द बनता है, (२) जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थोंका भले प्रकारसे ज्ञान हो—सिद्धान्त, (३) जिसमें जीव आदि पदार्थोंका ठीक प्रकारसे वर्णन हो—आगम,

१ भूमिनिन्दाप्रशसासु नित्ययोगेऽतिशायने । ससर्गेऽस्तिविवक्षाया भवन्ति मतुबादय ।

२. हैमसूत्रे ५-३-१३० ।

व्याप्यमपि निवर्तयति इति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भावः। तव समय इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी। सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्य अर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद् वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते। "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं"[1] इति वचनात्। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः। तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाभिधानात्। तथा चार्षम्—"उपन्ने वा विगमे वा धुवेति वा" इत्यदोषः॥

मत्सरित्वाभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति। नयानशेषानविशेषमिच्छन् इति। अशेषान् समस्तान् नयान् नैगमादीन्, अविशेषं निर्विशेषं यथा भवति एवम् इच्छन् आकाङ्क्षन् सर्वनयात्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः एवं पृथगभिसन्धीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति। ननु प्रत्येकं नयनां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता उच्यते। यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति। एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपित्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयावतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम्॥

न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति। समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तासु अनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

---

(४) तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके सिद्धान्तको समय कहते हैं। उत्पाद आदिको जिन भगवान्ने 'अष्ट प्रवचनमाता' कहा है। आर्षवाक्य भी है—"उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है, और स्थिर भी रहता है। यद्यपि आगमोंके सूत्र गणधरोंके बनाये हुए होते है, परन्तु "अर्हत अर्थका व्याख्यान करते हैं, और गणधर उसे सूत्रमे उपनिबद्ध करते हे"—इस वचनसे अर्थकी अपेक्षासे भगवान् ही समयके रचयिता है। अतएव आपके साथ आगमका वाच्य-वाचक भाव बन सकता है।

आपका सिद्धान्त ईर्ष्यासे रहित है, क्योंकि आप नैगम आदि सम्पूर्ण नयोको एक समान देखते है। अनेकात वादमे सर्वनयोका समावेश होता है। जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियोंको एक सूतमे पिरो देनेसे मोतियों का सुन्दर हार बन कर तैयार हो जाता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न नयोंको स्याद्वाद रूपी सूतमे पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय 'श्रुत प्रमाण' कहे जाते हैं। शङ्का—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्व है, तो उन नयोंके एकत्र मिलानेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता हैं। समाधान—जैसे परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायीके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमे मिल जाते है, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवान्के शासनकी शरण लेकर 'स्यात्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर परस्पर अत्यन्त सुहृद् भावसे एकत्र रहने लगते हैं। अतएव भगवान्के शासनके सर्व नय स्वरूप होनेसे भगवान्का शासन सम्पूर्ण दर्शनोंसे अविरुद्व है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन नय स्वरूप है।

शङ्का—यदि भगवान्का शासन सर्व दर्शन स्वरूप है, तो यह शासन सब दर्शनोंमे क्यों नहीं पाया जाता? समाधान—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न नदियोंमे समुद्र नहीं पाया जाता, उसी तरह भिन्न भिन्न दर्शनोंमें जैन दर्शन नहीं पाया जाता। वक्ता और उसके वचनोंमें अभेद मान कर सिद्धसेन दिवाकरने कहा है—

---

१. छाया—अर्थं भाषतेऽर्हन् सूत्रं ग्रथ्नन्ति गणधरा निपुणम्। विशेषावश्यकभाष्ये १११९।

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः" ॥[१]

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते । तथा अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् परे प्रवादा मत्सरिणस्था तव समयः सर्वनयान् मध्यस्थतयाङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी । यतः कथंभूतः । पक्षपाती पक्षमेकपक्षाभिनिवेशम् पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती । रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात् । अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदम् पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः । अत्र च क्लिष्टाक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्यः ॥ इति काव्यार्थः ॥३०॥

"हे नाथ, जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें जा कर मिलती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृष्टियों (दर्शन) का आपमें समावेश होता है। जिस प्रकार भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं रहता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें आप नही रहते।"

कुछ लोग इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते है । अन्य दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण ईर्ष्यालु है, परन्तु आप सम्पूर्ण नय रूप दर्शनोंको मध्यस्थ भावसे देखते हैं, अतएव ईर्ष्यालु नहीं है। क्योकि आप एक पक्षका आग्रह करके दूसरे पक्षका तिरस्कार नहीं करते हैं। पहली व्याख्यामे 'पक्षपाती' विधेय पद था, और दूसरी व्याख्यामें 'मत्सरी' विधेय पद है। इन दोनों व्याख्याओंमें सरल और कठिन व्याख्याका विवेक बुद्धिमानोंको कर लेना चाहिये ॥ यह श्लोक का अर्थ है ॥३०॥

भावार्थ—जैन दर्शन सब दर्शनोका समन्वय करनेवाला हैं। जितने वचनोके प्रकार हो सकते है, उतने ही नयवाद होते है । अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयवादमें गर्भित हो जाते हैं । जिस समय ये नयवाद एक दूसरेसे निरपेक्ष होकर वस्तुका प्रतिपादन करते है, उस समय ये नयवाद परसमय अर्थात् जैनेतर दर्शन कहे जाते है । इसलिये अन्य धर्मोका निषेध करनेवाले वक्तव्यको प्रतिपादन करनेवालेको अजैन दर्शन, और सम्पूर्ण दर्शनोका समन्वय करनेवालेको जैन दर्शन कहते है । उदाहरणके लिये, नित्यत्ववादी साख्य और अनित्यत्व वादी बौद्ध परसमय है, क्योंकि ये दोनो दर्शन एक दूसरेसे निरपेक्ष होकर वस्तुतत्वका प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन इन दोनोका समन्वय करता है, इसलिये जैन दर्शन स्वसमय है । जिस समय परस्पर निरपेक्ष वचनोंके प्रकार नयवादोंमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, उस समय ये नय सम्यक्त्व रूप होते हैं। जिस प्रकार धन, धान्य आदिके कारण परस्पर विवाद करनेवाले लोग किसी निष्पक्ष आदमीसे समझाये जानेपर शात होकर परस्पर मिल जाते हैं, अथवा जिस प्रकार कोई मंत्रवादी विषके टुकड़ोंको विष रहित कर कोढके रोगीको अच्छा कर देता हैं, अथवा जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मणियोंसे एक सुन्दर रत्नोंकी माला तैयार हो जाती हैं, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष परसमयोंका जैन दर्शनमें समन्वय होता है।[२] इसी

---

१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकास्तोत्रे ४-१५ । यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ इति मुण्डक उ ३-८। तथा—बहुधाप्यागमैभिन्ना पन्थान सिद्धिहेतव । त्वय्येव निपतन्त्योधा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ रघुवंशे १०-२६ ।

२ परस्परविरुद्धा अपि सर्वे नयाः समुदिता सम्यक्त्व भजन्ति । एकस्य जिनसाधोर्वशवर्तित्वात् यथा नाना-भिप्राय भृत्यवर्गवत् । यथा धनधान्यभूम्याद्यर्थं परस्पर विवदमाना बहवोऽपि सम्यग्न्यायवता केनाप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते । तथेह परस्परविरोधिनोऽपि नयान् जैनसाधुर्विरोध भक्त्वा एकत्र मील्यति । तथा प्रचुरविषलवा अपि प्रौढमन्त्रवादिना निर्विषीकृत्य कुष्ठादिरोगिणे दत्ता अमृतरूपत्व प्रति-पद्यन्त एव । यशोविजयकृत नयप्रदीपे । तथा विशेषावश्यकभाष्य २२६५-७२ ।

इत्थङ्कारं कतिपयपदार्थविवेचनद्वारेण स्वामिनो यथार्थवादाख्यं गुणमभिष्टुत्य समग्रवचनातिशयव्यावर्णने स्वस्यासामर्थ्यं दृष्टान्तपूर्वकमुपदर्शयन् औद्धत्यपरिहाराय भङ्ग्यन्तरतिराहितं स्वाभिधानं च प्रकाशयन् निगमनमाह—

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेद् महनीयमुख्य ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥३१॥

विभव एव वैभवं । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् । विभोर्भावः कर्म चेति वा वैभवम् । वाचां वैभवं वाग्वैभवं वचनसंपत्प्रकर्षम् । । विभोर्भाव इति पक्षे तु सर्वनयव्यापकत्वम् । विभुशब्दस्य व्यापकपर्यायतया रूढत्वात् । ते तव संबन्धिनं निखिलं कृत्स्नं विवेक्तुं विचारयितुं चेद् यदि वयमाशास्महे इच्छामः । हे महनीयमुख्य महनीया पूज्याः पञ्च परमेष्ठिनस्तेषु मुख्यः प्रधानभूतः, आद्यत्वात् तस्य संबोधनम् ॥

ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वाद् अर्हतां कथं वागतिशयशालिनामपि तेषां मुख्यत्वम् । न च हीनगुणत्वमसिद्धम् । प्रव्रज्यावसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रवणात् । "काऊण नमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे"[१] इति श्रुतकेवलिवचनात् । मैवम् । अर्हदुपदेशेनैव सिद्धाना-

लिये जैन विद्वानोंने कहा है कि अनेकांतवादका मुख्य ध्येय सम्पूर्ण दर्शनोंको समान भावसे देखकर माध्यस्थ भाव प्राप्त करनेका है। यही धर्मवाद है, और यही शास्त्रोंका मर्म है। अतएव जिस प्रकार पिता अपने सम्पूर्ण पुत्रोंके ऊपर समभाव रखता है, उसी तरह अनेकान्तवाद सम्पूर्ण नयोंको समान भावसे देखता हैं।[२] इसलिये जिस प्रकार सम्पूर्ण नदिया एक समुद्रमे जाकर मिलती है, उसी तरह सम्पूर्ण दर्शनोंका अनेकात दर्शनमे समावेश होता है। अतएव जैन दर्शन सब दर्शनोंका समन्वय करता है।

इस प्रकार कुछ पदार्थोंके विवेचनसे भगवानके यथार्थवाद गुणकी स्तुति करनेके पश्चात् भगवानके सम्पूर्ण वचनातिशयोंका वर्णन करनेमें अपनी असमर्थता वतलाकर प्रकारान्तरसे औद्धत्यको दूर करनेके लिये अपने वक्तव्यका उपसंहार करते हैं—

श्लोकार्थ—हे पूज्य शिरोमणि ! आपके सम्पूर्ण गुणोंकी विवेचना करना वेगसे समुद्रको लाघने, अथवा चन्द्रमाकी चादनीका पान करनेकी तृष्णाके समान हैं।

व्याख्यार्थ—प्रज्ञा आदिसे स्वार्थमे अण् प्रत्यय होकर विभवसे वैभव शब्द वनता है। अथवा विभुके भाव और कर्मको वैभव कहते है। वचनके वैभवको 'वाग्वैभव' अर्थात् वचनोंकी उत्कृष्टता कहते हैं। विभु शब्दका व्यापक अर्थ करनेपर 'वाग्वैभव' शब्दका 'सम्पूर्ण नयोंमे व्यापक' अर्थ करना चाहिये। पाचों परमेष्ठियोंमे अर्हत भगवान् मुख्य है, अतएव भगवानको पूज्य शिरोमणि कहकर सबोधन किया है।

शङ्का—अर्हत भगवानमे सिद्धोंकी अपेक्षा कम गुण हैं, अर्हत दीक्षाके समय सिद्धोंको नमस्कार करते हैं। श्रुतकेवलियोंने कहा भी है—"अर्हत सिद्धोंको नमस्कार करके दीक्षा ग्रहण करते है।" अतएव अर्हतोंको मुख्य नहीं कहना चाहिये। **समाधान**—अर्हत भगवान्के उपदेशसे ही सिद्धोंकी पहचान होती

१. छाया–कृत्वा नमस्कारं सिद्धेभ्योऽभिग्रहं तु सोऽग्रहीत् ।

२ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकातवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यता ।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥
यशोविजय—अध्यात्मोपनिषद् ६१, ७० ।

मपि परिज्ञानात् । तथा चार्षम्—"अरहन्तुवएसेणं सिद्धा णज्जंति तेण अरराई"[1] इति । ततः सिद्धं भगवत एव मुख्यत्वम् । यदि तव वाग्वैभवं निखिलं विवेक्तुमाशास्महे ततः किमित्याह लङ्घेम इत्यादि । तदा इत्यध्याहार्यम् । तदा जङ्घालतया जाङ्घिकतया वेगवत्तया समुद्रं लङ्घेम किल समुद्रमिव अतिक्रमामः । तथा वहेम धारयेम । चन्द्रद्युतीनां चन्द्रमरीचीनां पानं चन्द्रद्युतिपानम् । तत्र तृष्णा तर्षोऽभिलाप इत यावत् चन्द्रद्युतिपानतृष्णा ताम् । उभयत्रापि सम्भावने सप्तमी । यथा कश्चिच्चरणचङ्क्रमणवेगवत्तया यानपात्रादि अन्तरेणापि समुद्रं लङ्घितुमीहते यथा च कश्चिच्चन्द्रमरीचीरमृतमयीः श्रुत्वा चुलुकादिना पातुमिच्छति, न चैतद् द्वयमपि शक्यसाधनम् । तथा न्यक्षेण भवदीयवाग्वैभववर्णनाकाङ्क्षापि अशक्यारम्भप्रवृत्तितुल्या । आस्तां तावत् तावकीनवचनविभवाना सामस्त्येन विवेचनविधानम्, तद्विपयाकाङ्क्षापि महत् साहसमिति भावार्थः ॥

अथवा 'लघु शोषणे'[2] इति धातोर्लङ्घेम शोषयेम समुद्रं जङ्घालतया अतिरंहसा । अतिक्रमणार्थलङ्घेस्तु प्रयोग दुर्लभं परस्मैपदमनित्यं वा आत्मनेपदमिति । अत्र च औद्धत्यपरिहारेऽधिकृतेऽपि यद् आशास्महे इत्यात्मनि बहुवचनमाचार्यः प्रयुक्तवांस्तदिति सूचयति यद् विद्यन्ते जगति मादृशा मन्दमेधसो भूयांसः स्तोतारः, इति बहुवचनमात्रेण न खलु अहङ्कारः स्तोतरि प्रभौ शङ्कनीयः । प्रत्युत निरभिमानताप्रासादोपरि पताकारोप एवावधारणीयः ॥ इति काव्यार्थः ॥३१॥ एषु एकत्रिंशतिवृत्तेपु उपजातिच्छन्द ॥

एवं विप्रतारकैः परतीर्थिकैर्व्यामोहमये तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽव्यभि-

हैं, अतएव अर्हत ही मुख्य है । आगममें कहा भी है—अर्हनके उपदेशसे सिद्धोंकी पहचान होती है, अतएव अर्हत मुख्य है।" जिस प्रकार जहाजके विना ही पैदल चलकर समुद्रको लाघना असम्भव हैं, अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाकी अमृतमय किरणोंको केवल चुल्लूसे पान करना असभव हैं, उसी तरह आपके वचनोंके वैभवके वर्णनकी इच्छा करना भी असभव हैं । अतएव आपके समस्त वचन-वैभवका वर्णन तो दूर रहा, उस वर्णन करनेकी इच्छा करना भी महान साहस है । श्लोकमें 'तदा' शब्दका अध्याहार करना चाहिये।

अथवा 'लघु' धातुका अर्थ शोषण करके 'समुद्रं जघाल्तया लंघेम' का अर्थ करना चाहिये—जो शीघ्रतासे समुद्रका शोषण करना चाहते है । अतिक्रमण अर्थमें 'लङ्घि' धातु परस्मैपदो नहीं होती, अतएव यहा शोषण अर्थमें 'लघु' धातुसे परस्मैपदमें 'लघेम' रूप वनाना चाहिये । अथवा यदि आत्मनेपदको अनित्य माना जाय, तो अतिक्रमण अर्थमें प्रयुक्त 'लघि' धातुसे भी यह रूप वन सकता है। श्लोकमें 'आशास्महे' वहुवचनके प्रयोगसे स्तुतिकारका अहकार प्रगट नहीं होता। इस प्रयोगसे स्तुतिकारका यही अभिप्राय है। कि ससारमें मेरे समान और भी मन्द वुद्धिवाले स्तुति करनेवाले है। अतएव इससे आचार्यका निरभिमान ही सिद्ध होता है॥ यह श्लोकका अर्थ है ॥३१॥ इन इक्तीस श्लोकोंमें उपजाति छन्दका प्रयोग किया गया है।

भावार्थ—हेमचन्द्र आचार्य लघुता वताते हुए कहते है, कि जिस प्रकार पैदल चल कर समुद्रको लाघना अथवा चुल्लूसे चन्द्रमाकी चादनीका पान करना असम्भव है, उसी तरह आपके समस्त गुणोंका वर्णन करना असम्भव है।

वचक अन्य तैर्थिक लोगोंके उपदेशसे व्यामोह रूप अन्धकारमे डूवे हुए जगत्का उद्धार करनेके लिये

---

१. छाया–अर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्ते तेनार्हदादिः । विशेषावश्यकभाष्ये ३२१३ ।

२. हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. १८ ।

चारिवचनतासाध्येनान्ययोगव्यवच्छेदेन भगवत एव सामर्थ्यं दर्शयन् तदुपास्तिविन्यस्तमानसानां पुरुषाणामौचितीचतुरतां प्रतिपादयति—

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥३२॥

इदं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं जगद् विश्वम् उपचाराद् जगद्वर्ती जनः । हतपरैः हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीया हतपरे तैः । मायाकारैरिव ऐन्द्रजालिकैरिव शाम्बरीय[1]प्रयोगनिपुणैरिव इति यावत् । अन्धतमसे निविडान्धकारे । हा इति खेदे । विनिहितं विशेषेण निहितं स्थापितं पातितमित्यर्थः । अन्धं करोतीत्यन्धयति, अन्धयतीत्यन्धं तच्च तत्तमश्चेत्यन्धतमसम् । "समवान्धात् तमसः[2]" इत्यत्प्रत्ययः, तस्मिन् अन्धतमसे । कथंभूतेऽन्धतमसे इति द्रव्यान्धकारव्यवच्छेदार्थमाह तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराले । तत्त्वं चातत्त्वं च तत्त्वातत्त्वे तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता व्यामिश्रता स्वभावविनिमयस्तत्त्वातत्त्वव्यतिकरस्तेन कराले भयङ्करे । यत्रान्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशः अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपो व्यतिकरः संजायत इत्यर्थः । अनेन च विशेषणेन परमार्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमेव अन्धतमसम्, तस्यैव ईदृक्षलक्षणत्वात् । तथा च ग्रन्थान्तरे प्रस्तुतस्तुतिकारपादाः—

"अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्"[3] ॥

ततोऽयमर्थः । यथा किल ऐन्द्रजालिकास्तथाविधसुशिक्षितपरव्यामोहनकलाप्रपञ्चाः तथाविधमौषधीमन्त्रहस्तलाघवादिप्रायं किञ्चित्प्रयुज्य परिषज्जनं मायामये तमसि मज्जयन्ति तथा

दूसरे मतोंका व्यवच्छेद करनेवाले निर्दोष वचनोंकी आपमें ही सामर्थ्य है, अतएव आपकी उपासनामें लगे हुए मनुष्य ही चतुर है—

श्लोकार्थ—इन्द्रजालियोंकी तरह अधम अन्य दर्शनवालोंने इस जगत्‌को तत्त्व और अतत्त्वके अज्ञानसे भयानक गाढ अन्धकारमें डाल रक्खा हैं । अतएव आप ही इस जगत्‌का उद्धार कर सकते है, क्योंकि आपके वचन विसंवादसे रहित है । अतएव हे जगत्‌के रक्षक ! बुद्धिमान लोग आपकी सेवा करते है ।

व्याख्यार्थ—खेद है कि इन्द्रजालियोंके समान अधम अन्य तीर्थिकोंने प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर होनेवाले इस जगत्‌को तत्त्व और अतत्त्वके अभेदसे भयानक गाढ अंधकारमें डाल रक्खा है । 'अन्धतमसे' में "समवान्धात् तमस" सूत्रसे अत् प्रत्यय होता है । यहाँ मिथ्यात्व मोहनीयको अन्धतमस कहा गया है । प्रस्तुत स्तुतिकारपाद हेमचन्द्र आचार्यने योगशास्त्रमें कहा है—

"अदेवको देव, अगुरुको गुरु, और अधर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है ।"

अतएव जिस प्रकार दूसरोंको व्यामोहित करनेकी कलामें निपुण इन्द्रजाली लोग औषधि, मन्त्र, हाथकी सफाई आदिसे दर्शक लोगोंको मायामय अन्धकारमें डाल देते है, वैसे ही अन्य वादी अपनी

१. माया तु शाम्बरी । शम्बराख्यस्यासुरस्य इयं शाम्बरी । अभिधानचिन्तामणौ ।
२ हैमसूत्रे ७-३-८० ।
३. हेमचन्द्रकृतयोगशास्त्रे २-३ ।

परतीर्थिकैरपि तादृक्प्रकारदुरधीतकुतर्कयुक्तीरुपदर्श्य जगदिदं व्यामोहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति । तज्जगदुद्धर्तु मोहमहान्धकारोपप्लवात क्रष्टुम् नियतं निश्चितम् त्वमेव नान्यः शक्तः समर्थः । किमर्थमित्थमेकस्यैव भगवतः सामर्थ्यमुपवर्ण्यते इति विशेषणद्वारेण कारणमाह । अविसंवादिवचनः । कपच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयविशुद्धत्वेन फलप्राप्तौ न विसंवदतीत्येवंशीलमविसंवादि । तथाभूतं वचनमुपदेशो यस्यासावविसंवादिवचनः । अव्यभिचारिवागित्यर्थः । यथा च पारमेश्वरी वाग् न विसंवादमासादयति तथा तत्र तत्रो स्याद्वादसाधने दर्शितम् ॥

कषादिस्वरूपं चेत्थमाचक्षते प्रावचनिकाः—

"पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो ॥१॥
वज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा ।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति ॥२॥
जीवाइभाववाओ वंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥३॥"[1]

तीर्थान्तरीयाप्ता हि न प्रकृतपरीक्षात्रयविशुद्धवादिन इति ते महामोहान्धतमस एव जगत् पातयितुं समर्थाः, न पुनस्तदुद्धर्तुम् । अतः कारणात् । कुतः कारणात् ? कुमतध्वान्तार्णवान्तःपतितभुवनाभ्युद्धारणासाधारणसामर्थ्यलक्षणात् । हे त्रातस्त्रिभुवनपरित्राणप्रवीण । त्वयि काक्वाव-

कुतर्क पूर्ण युक्तियोंसे इस ससारको भ्रममे डाल देते हैं। इसलिये मोह महा अन्धकारसे जगत्को बचानेके लिये आप ही समर्थ हे, दूसरा कोई नही। क्योंकि आपके वचनोंमे कोई विसवाद नहीं है। कारण कि आपके वचन कष, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे विशुद्ध हैं, अतएव फलकी प्राप्तिमे आपके वचनोंमे कोई विरोध न होनेसे आपके वचन निर्दोष हैं। आपके वचनोंमें विरोधका अभाव स्याद्वादकी सिद्धि करते समय प्रदर्शित किया जा चुका है।

धर्मशास्त्रके पडितोंने कष आदिका स्वरूप निम्न प्रकारसे कहा है—

"प्राणवध आदि पाप स्थानोंके त्याग, और ध्यान, अध्ययन आदिकी विधिको कष कहते है। जिन बाह्य क्रियाओंसे धर्ममें बाधा न आती हो, और जिससे निर्मलताकी वृद्धि हो, उसे छेद कहते है। जीवसे सम्बद्ध दुःख और बन्धको सहन करना ताप है। कष आदिसे शुद्ध धर्म कहा जाता है।"

अन्य तैर्थिक लोग कष, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे शुद्ध वचनोंको नहीं बोलते, अतएव वे लोग ससारको महा मोहांधकारमें गिरानेवाले होते है, इसलिये उनके द्वारा संसारका उद्धार नहीं हो सकता। अतएव हे भगवान्! आपमे कुमतरूप समुद्रमे पडे हुए लोगोंका उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है, इसलिये

१ छाया—प्राणवधादीना पापस्थाना यस्तु प्रतिषेध ।
ध्यानाध्ययनादीना यश्च विधिरेष धर्मकष ॥१॥
बाह्यानुष्ठानेन येन न बाध्यते तन्नियमात् ।
सभवति च परिशुद्ध स पुनर्धर्मे छेद इति ॥२॥
जीवादिभाववादो बन्धादिप्रसाधक इह ताप ।
एभि परिशुद्धो धर्मो धर्मत्वमुपैति ॥३॥
हरिभद्रसूरिकृतपञ्चवस्तुकचतुर्थद्वारे ।

धारणस्य गम्यमानत्वात् त्वय्येव विषये न देवान्तरे । कृतधियः । करोतिरत्र परिकर्मणि वर्तते यथा हस्तौ कुरु पादौ कुरु इति । कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेलतत्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां । ते कृतधियश्चिद्रूपाः पुरुषाः । कृतसपर्याः । प्रादिकं विनाप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात् । कृता कर्तुमारब्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्याः । आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वय्येव सेवाहेवाकिता परिशीलयन्ति ।। इति शिखरिणीच्छन्दोऽलंकृतकाव्यार्थः ।।३२।।

।। समाप्ता चेयमन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका ।।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः ।

येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिरः प्रामाणिकाध्वस्पृशां
हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थः समर्थः सखा ।
तेषा दुर्नयदस्युसम्भवभयास्पृष्टात्मनां सम्भव-
त्यायासेन विना जिनागमपुरप्राप्तिः शिवश्रीप्रदा ।।१।।
चातुर्विद्यमहोदधेर्भगवतः श्रीहेमसूरेर्गिरा
गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टिः प्रकृष्टा मम ।
द्राघीयः समयादराग्रहपराभूतप्रभूतावमं
तन्नूनं गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ।।२।।

आप तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं । अतएव तत्त्वोपदेश और शास्त्राभ्याससे प्रकृष्ट बुद्धिवाले विद्वान् लोग आपकी ही सेवा करते हैं, अन्य देवोंकी नहीं । जैसे 'हाथोंको कर' (हस्तौ कुरु), 'पैरोंको कर' (पादौ कुरु) यहा 'कृ' धातु परिकर्म अर्थमें प्रयुक्त हुई है, वैसे ही 'कृतधिय' पदमे 'कृ' धातुका परिकर्म अर्थ है । 'प्र' आदि उपसर्गके विना भी 'कृ' धातुका अर्थ प्रारम्भ करना होता है, इसलिये 'कृतसपर्या' मे कृतका अर्थ प्रारम्भ करना है ।। यह शिखरिणी छन्द श्लोकका अर्थ है ।।३२ ।।

भावार्थ—वस्तुका सर्वथा एकान्त रूपसे प्रतिपादन करनेवाले एकान्तवादियोंने इस जगत्को अज्ञान-अन्धकारमे डाल रक्खा हैं । अतएव सम्पूर्ण एकान्तवादोंका समन्वय करनेवाले अनेकान्तवादसे ही इस जगत्का उद्धार हो सकता है । इसलिये अनेकान्तवादका प्रतिपादन करनेवाले जिन भगवान्मे ही जगतके उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है ।

इति अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका टीका

टीकाकारकी प्रशस्ति

प्रामाणिक मार्गको अनुकरण करनेवाले जिन लोगोंके उज्ज्वल हेतुरूपी शास्त्रोंसे सुन्दर हेमचन्द्राचार्यकी स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाले अर्थरूपी समर्थ मित्र विद्यमान हैं, वे लोग दुर्नयरूपी लुटेरोंसे नहीं डरते, और वे विना प्रयत्नके ही मोक्ष सुखके देनेवाले जिनागमरूपी नगरको प्राप्त करते हैं ।।१।।

चारों विद्याओंके समुद्र भगवान् श्री हेमचन्द्राचार्यकी वाणीके गम्भीर अर्थको अवलोकन करने मे जो मेरी प्रकृष्ट बुद्धि हुई है, और सतत बहुत समयके आदरसे जो विघ्नोंका नाश हुआ है, वह सब गुरु महाराजके चरणोंकी धूलिरूप सिद्धांजनका फल है ।।२।।

अन्यान्यशास्त्रतरुसंगतचित्तहारिपुष्पोपमेयकतिचिन्निचितप्रमेयैः ।
दृब्धां मयान्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेना मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥३॥
प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥४॥

उर्व्यामेष सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणी
यत्रेयं प्रतिभाभरादनुमिति निर्दम्भमुज्जृम्भते ।
किं चामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गारं यदीयं मुदा
शंसन्तः प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदस्विनीम् ॥५॥
नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः ।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः ॥६॥ युग्मम् ॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे[1] दीपमहसि[2] शनौ ॥७॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥८॥
बिभ्राणे कलिनिर्जयाज्जिनतुलां श्रीहेमचन्द्रप्रभौ
तद्दृब्धस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषाद् भक्तिर्मया विस्तृता ।
निर्णेतुं गुणदूषणे निजगिरा तन्नार्थये सज्जनान्
तत्यास्तत्त्वमकृत्रिमं बहुमतिः सास्त्यत्र सम्यग् यतः ॥९॥
इति टीकाकारस्य प्रशस्तिः समाप्ता ॥

समाप्तम्

बहुतसे शास्त्ररूपी वृक्षोंके मनोहर पुष्पोंके समान कुछ प्रमेयोंको लेकर मैंने मालाकी तरह यह अन्तिम भगवान्‌की स्तुतिकी टीकाको रचा है। निर्मल हृदयवाले पुरुष इसे अपने मनमें धारण करें ॥३॥

यहाँ यदि मैंने बुद्धिके प्रमादसे कुछ सिद्धान्तके विरुद्ध कहा हो, तो सज्जन लोग मात्सर्य भावको छोड़ कर प्रसन्नतापूर्वक संशोधन कर लें ॥४॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेवाली जिसकी प्रतिभाको देख कर लोगोंका अनुमान है कि यह पृथ्वीपर देवताओंका गुरु जन्मा है, जिसके वचनोंको अमृत समझ कर प्रशंसा करते हुए पण्डित लोग जिसकी अविरुद्ध वाणीका विस्तार करते हैं, तथा विष्णुके वक्षस्थलमें कौस्तुभ मणिके समान नागेन्द्र गच्छको शोभित करनेवाले, ऐसे विश्वमें वन्दनीय उदयप्रभसूरि महाराज समृद्धिको प्राप्त हों ॥५-६॥

उदयप्रभसूरिके पदरूपी आकाशमें सूर्यके समान श्री मल्लिषेणसूरिने दीपमालिकाके दिन शनिवारको १२१४ शक संवत्‌में यह टीका समाप्त की ॥७॥

श्री जिनप्रभसूरिकी सहायतासे सुगन्धित यह स्याद्वादमञ्जरी सज्जन पुरुषोंके कानोंके आभूषण रूप हो ॥८॥

कलिकालके ऊपर विजय प्राप्त करनेसे जिन भगवान्‌के समान श्री हेमचन्द्रप्रभुकी बनायी हुई स्तुति की टीका बनानेके बहाने मैंने हेमचन्द्र आचार्यके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। अतएव अपनी वाणीके गुण और दोषोंका निर्णय करनेके लिये मैं सज्जनोंसे प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि इस वाणीमें बहुतसे अकृत्रिम स्वतः उत्पन्न विचार विद्यमान हैं ॥९॥

॥ टीकाकारकी प्रशस्ति समाप्त ॥

समाप्त

---

१ अङ्कानां वामतो गतिः १२१४ मिते शाके। चतुर्दश मनवः द्वादश आदित्याः।
२. दीपावल्याम्।

हेमचन्द्राचार्यविरचिता

अयोगव्यवच्छेदिका

महावीर भगवानकी स्तुति—

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि[1] ॥१॥

अर्थ—मैं (हेमचन्द्र) अध्यात्मवेत्ताओके अगम्य, पंडितोंके अनिर्वचनीय, इन्द्रिय-ज्ञानवालोंके परोक्ष, और परमात्मस्वरूप ऐसे श्री वर्धमान भगवानको अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूं।

भगवानके गुणोंके स्तवन करनेकी असमर्थता—

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन्न वालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति[2] ॥२॥

अर्थ—हे भगवान्। आपकी स्तुति करनेमे योगी लोग भी समर्थ नहीं है। परन्तु असमर्थ होते हुए भी योगी लोगोंने आपके गुणोंमें अनुराग होनेके कारण आपकी स्तुति की हैं। इसी प्रकार मेरे मनमे भी आपके गुणोमे दृढ अनुराग है, इसीलिये मेरे जैसा मूर्ख मनुष्य आपकी स्तुति करता हुआ अपराधका भागी नहीं कहा जा सकता।

स्तुतिकार अपनी लघुता बताते हैं—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥३॥

अर्थ—कहा गम्भीर अर्थवाली सिद्धसेन दिवाकरकी स्तुतियां, और कहाँ अशिक्षित सभाषणकी मेरी यह कला! फिर भी जिस प्रकार बडे-बडे हाथियोंके मार्ग परसे जानेवाला हाथीका बच्चा मार्गभ्रष्ट होनेके कारण शोचनीय नही होता, उसी प्रकार यदि मैं भी सिद्धसेन जैसे महान् आचार्योका अनुकरण करते हुए कहीं स्खलित हो जाऊ, तो शोचनीय नही है।

आपने जिन दोषोंको नाश कर दिया है, उन्ही दोषोंको परवादियोंके देवोंने आश्रय दिया है—

जिनेन्द्र यानेव विबाधसे स्म दुरंतदोषान् विविधैरुपायैः[3] ।
त एव चित्रं त्वदसूययेव कृताः कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥४॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र। जिन कठिन दोषोंको आपने नाना उपायोंके द्वारा नाश कर दिया है, आश्चर्य है कि उन्हीं दोषोंको दूसरे मतावलम्बियोके गुरुओंने आपकी ईर्ष्यासे ही कृतार्थ कर लिया है।

---

१ कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमानं त्वा वर्धमानं स्तुतिगोचरत्वं ।
निनीषव स्मो वयमद्य वीर विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम् ॥ युक्त्यनुशासन १ ।

२. गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डल स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥ स्वयंभूस्तोत्र ३०, १५ ।
तथा भक्तामर ३-६, कल्याणमन्दिर ३-६, द्वा. द्वात्रिंशिका ५-३१ ।

३. को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ भक्तामर २७।

भगवान्‌की यथार्थवादिता—

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरंगश्रृंगाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥५॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपने पदार्थोंका जैसेका तैसा वर्णन किया है, इसलिये आपने परवादियोंके समान कोई कौशल नहीं दिखाया । अतएव घोडेके सींगके समान असम्भव पदार्थोंको जन्म देनेवाले परवादियोंके नवीन पंडितोंको हम नमस्कार करते हैं ।

भगवानमें व्यर्थकी दयालुताका अभाव—

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसभं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः[1] ॥६॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! अपने उपकारके द्वारा जगतको सदा कृतार्थ करनेवाले ऐसे आपको छोडकर अन्य वादियोंने अपने मांसका दान करके व्यर्थ ही कृपालु कहे जानेवालेकी क्यों शरण ली है ? यह समझमें नहीं आता । (यह कटाक्ष बुद्धके उपर है)।[2]

असत्वादियोंका लक्षण—

स्वयं कुमार्गं लपता नु नाम प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गगं तद्विदमादिशन्तमसूययान्धा अवमन्वते च ॥७॥

अर्थ—ईर्ष्यासे अन्धे पुरुष स्वयं कुमार्गका उपदेश करते हुए दूसरोंके कुमार्गमें ले जाते हैं, तथा सुमार्गमें लगे हुओंका, सुमार्गके जानकारोंका और सुमार्गके उपदेष्टाओंका अपमान करते हैं, यह महान खेद है ।

भगवानके शासनका अजेयपना—

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः पराजयो यत्तव शासनस्य ।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य[3] ॥८॥

अर्थ—हे प्रभु ! वस्तुके अंशमात्रको ग्रहण करनेवाले अन्य दर्शनोंके द्वारा आपके मतकी पराजय करना एक छोटेसे जुगुनूके प्रकाशसे सूर्यमण्डलका पराभव करनेके समान है ।

भगवानके पवित्र शासनमें सन्देह अथवा विवाद करना योग्य नहीं—

शरण्य पुण्ये तव शासनेऽपि संदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥९॥

अर्थ—हे शरणागतको आश्रय देनेवाले ! जो लोग आपके पवित्र शासनमें संदेह अथवा विवाद करते है, वे स्वादु, अनुकूल और पथ्य भोजनमें ही संदेह और विवाद करते हैं ।

---

१ कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ द्वा० द्वात्रिंशिका १-१७ ।

२ मिलाइये— निपत्य ददतो व्याघ्रया स्वकायं कृमिसंकुलम् ।
देयादेयविमूढस्य दया बुद्धस्य कीदृशी ॥ हेमचन्द्र —योगशास्त्र २-१ वृत्ति ।

३, तावद्वितर्करचनापटुभिर्वचोभिर्मेधाविनः कृतमिति स्मयमुद्वहन्ति ।
यावन्न ते जिनवचःस्वभिचापलास्ते सिंहानने हरिणवालकवत् पतन्ति ॥
द्वा० द्वात्रिंशिका २-११ ।

अन्य आगमोंकी अप्रामाणिकता—

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः ।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१०॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपके आगमके अतिरिक्त अन्य आगमोंमे हिंसा आदि असत् कर्मोका उपदेश किया गया है । वे आगम असर्वज्ञके कहे हुए है, तथा निर्दय और दुर्बुद्धि लोगोंके द्वारा धारण किये जाते है, इसलिये हम उन आगमोंको प्रमाण नही मानते ।

भगवान्‌के आगमकी प्रमाणिकता—

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्तेर्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम्[1] ॥११॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका कहा हुआ आगम हितका उपदेश करता है, सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है, मुमुक्षु और साधु पुरुषोंके द्वारा सेवन किया जाता है, और पूर्वापर विरोधसे रहित है, अतएव आपका आगम ही सत्पुरुषोंके द्वारा माननीय हो सकता है ।

भगवान्‌के यथार्थवाद गुणकी महत्ता—

क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा तवाङ्घ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः ।
इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं परैः कथंकारमपाकरिष्यते[2] ॥१२॥

अर्थ—हे जिनेश्वर ! भले ही अन्यवादी आपके चरणकमलोंमे इन्द्रके लोटनेकी बात न माने, अथवा अपने इष्ट देवताओंमे भी इन्द्रके लोटनेकी कल्पना करके आपकी बराबरी करे, परन्तु वे लोग आप द्वारा वस्तुके यथार्थ रूपसे प्रतिपादन करनेके गुणका लोप नहीं कर सकते ।

भगवान्‌के शासनकी उपेक्षाका कारण—

तद्दुःषमाकालखलायितं वा पचेलिमं कर्मभवानुकूलम् ।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा[3] ॥१३॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो लोग आपके शासनकी उपेक्षा करते है, अथवा उसमे विवाद करते है, वे लोग पचम कालके कारण ही ऐसा करते है, अथवा इसमे उनके अशुभ कर्मोका उदय समझना चाहिये ।

केवल तपसे मोक्ष नहीं मिलता—

परःसहस्राः शरदस्तपांसि युगांतरं योगमुपासतां वा ।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम्[4] ॥१४॥

---

१. युक्त्यनुशासन ६ । आप्तमीमासा ६ ।

२ आप्तमीमासा १ से ६ कारिका ।

३. कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुर्प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु ॥ युक्त्यनुशासन ५ ।

४. तपोभिरेकान्तशरीरपीडनैर्व्रतानुबन्धैः श्रुतसपदापि वा ।
त्वदीयवाक्यप्रतिबोधपेलवैरवाप्यते नैव शिव चिरादपि ॥ द्वा द्वात्रिंशिका १ २३ ।
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगत स्वाभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिवाह्या वत विभ्रमति ॥ युक्त्यनुशासन ३७ ॥

अर्थ—हे भगवन्! चाहे अन्यवादी हजारों वर्ष तक तप तपे, अथवा युगांतरों तक योगका अभ्यास करें, फिर भी आपके मार्गका विना अवलम्ब लिये उन लोगोंको मोक्ष नहीं मिल सकता।

परवादियोंके उपदेश भगवान्के मार्गमे बाधा नहीं पहुँचा सकते—

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्वसंभावनासंभविविप्रलम्भाः।
परोपदेशाः परमाप्तक्लृप्तपथोपदेशे किमु संरभन्ते ॥१५॥

अर्थ—हे देवाधिदेव! अनाप्तोंकी मन्द बुद्धि द्वारा रचे हुए विसंवादरूप दूसरोंके उपदेश परम आप्तके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंमें क्या कुछ बाधा पहुँचा सकते है? अर्थात् नहीं।

भगवान्के शासनकी निरुपद्रवता—

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः।
न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभूदहो अधृष्या तव[1] शासनश्री[2] ॥१६॥

अर्थ—अन्य मतावलम्बियोंके गुरुओंने जो कुछ सरल भावसे अयुक्त कथन किया था, उसे उनके शिष्योंने अन्यथा प्रतिपादन किया। हे भगवन्! आश्चर्य है कि आपके शासनमे इस प्रकारका विप्लव नहीं हो सका, अतएव आपका शासन अजेय हैं।

परवादियोंके देवोंकी मान्यतामें परस्पर विरोध—

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं शरीरयोगादुपदेशकर्म।
परस्परस्पर्धि कथं घटेत परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु ॥१७॥

अर्थ—हे वीतराग! एक ही ईश्वर देहके अभावसे सदा आनन्दरूप है, और देहके सद्भावसे उपदेशका देनेवाला है—इस प्रकार परवादियोंके देवताओंमें परस्पर विरोधी गुण कैसे रह सकते है?

मोहका अभाव होनेसे भगवान् अवतार नहीं लेते—

प्रागेव देवांतरसंश्रितानि रागादिरूपाण्यवमांतराणि।
न मोहजन्या करुणामपीश समाधिमास्थाय युगाश्रितोऽसि (?) ॥१८॥

अर्थ—नीच वृत्तिवाले राग आदि दोषोंने पहले ही अन्य देवोंका आश्रय लिया है। इसलिये हे ईश! आप समाधिको प्राप्त करके मोहजन्य करुणाके वश होकर भी युग-युगमे अवतार धारण नही करते।[3]

अपने ही संसारके क्षय करनेका यथार्थ उपदेश दिया है—

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतयः प्रवादिनाम्।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षयक्षमोपदेशे तु परं तपस्विनः ॥१९॥

---

१. सच्छासनं ते त्वमिवाप्रधृष्यम्। द्वा० द्वात्रिंशिका ५ २६।

२ स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा यथान्यशिष्याः स्वरुचिप्रलापिनः।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो न तत्तथा यत्तव कोऽत्र विस्मयः॥
द्वा० द्वात्रिंशिका १ १७, ५ २७।

३ यहाँ 'युगाश्रितोऽसि' का अर्थ ठीक नही बैठता। श्लोकका यह अर्थ श्रीमद्विजयानंद (आत्मारामजी) विरचित तत्त्वनिर्णयप्रासादके आधारसे लिया गया है। मुनि चरणविजयजी द्वारा सम्पादित और आत्मानन्द जैन सभाद्वारा प्रकाशित (१९३४) अयोगव्यवच्छेदिकामें 'समाधिमास्थाय' के स्थानपर 'समाधिमाध्यस्थ्य' पाठ है।

अर्थ—हे भगवन् ! अन्य मतावलम्बियोंके इष्ट देवना चाहे जगतकी प्रलय करे, अथवा जगतका सर्जन, परन्तु वे ससारके नाश करनेका उपदेश देनेमे अलौकिक ऐसे आपकी बराबरीमे कुछ भी नही है ।

जिनमुद्राकी सर्वोत्कृष्टता—

वपुश्च पर्यंकशयं श्लथं च दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्रमुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥२०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके अन्य गुणोंका धारण करना तो दूर रहा, अन्यवादियोंके देवोंने पर्यंक-आसनसे युक्त शिथिल शरीर और नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टिवाली आपकी मुद्रा भी नही सीखी ।

भगवान्के शासनकी महत्ता—

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥२१॥

अर्थ—हे वीतराग ! जिसके सम्यग्ज्ञानके द्वारा हमलोग आप जैसोके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कर सके है, ऐसे कुवासनारूपी बन्धनके नाश करनेवाले आपके शासनके लिये नमस्कार हो ।

प्रकारान्तरसे भगवन्के यथार्थवाद गुणकी प्रशसा—

अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वयं द्वयस्याप्रतिमं प्रतीमः ।
यथास्थितार्थप्रथनं तवैतदस्थाननिर्बंधरसं परेषाम् ॥२२॥

अर्थ—हे भगवन् ! हमे जब निष्पक्ष होकर परीक्षा करते है, तो हमे एक तो आपका यथार्थरूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना, और दूसरे अन्यवादियोंकी पदार्थो के अन्यथा रूपसे कथन करनेमे आसक्तिका होना - ये दो बाते निरुपम प्रतीत होती हैं ।

अज्ञानियोंके प्रतिबोध करनेकी असामर्थ्य—

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैर्विशृंखलैश्चापलमाचरद्भिः ।
अमूढलक्ष्योऽपि[4] पराक्रिये यत्त्वत्किंकरः किं करवाणि देव ॥२३॥

अर्थ—हे देव ! अनादि विद्यामे तत्पर, स्वच्छदाचारी और चपल अज्ञानी पुरुषोंको लक्ष्यबद्ध करनेसे भी यदि वे नहीं समझते हे, तो आपका यह तुच्छ सेवक क्या करे ?[5]

---

१ स्याज्जघयोरघोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यंको नाभिमोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक ॥
"जानुप्रसारितबाहो॰ शयन पर्यंक" इति पातजला ।
योगशास्त्र ४ १२५ ।

२ तिष्ठन्तु तावदतिसूक्ष्मगम्भीरबाधा॰ ससारसस्थितिभिद श्रुतवाक्यमुद्रा ।
पर्याप्तमेकमुपपत्तिसचेतनस्य रागार्चिष शमयितु तव रूपमेव ॥
द्वा द्वात्रिंशिका २.१५ ।

३ निर्बन्धोऽभिनिवेश स्यात् । अभिधानचिन्तामणि ६.१३६ ।

४. 'अगुढलक्ष्योऽपि' पाठान्तर ।

५ इस अर्थमे खींचातानी करनी पड़ती है ।

देशनाभूमिकी स्तुति—

विमुक्तवैरव्यसनानुबंधाः श्रयंति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्यां तव योगिनाथ तां देशनाभूमिमुपाश्रयेऽहं ॥२४॥

अर्थ—हे योगियोंके नाथ ! स्वभावके वैरी प्राणि भी वैर भाव छोड़कर दूसरोंसे अगम्य आपके जिस समवशरणका आश्रय लेते है, उस देशनाभूमिका में भी आश्रय लेता हूँ।

अन्य देवोंके साम्राज्यकी व्यर्थता—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च संमदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ।२५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! मद, मान, काम क्रोध, लोभ और रागसे पराजित अन्य देवोंका साम्राज्य–रोग बिलकुल वृथा है ।

बुद्धिमान लोग राग मात्रसे भगवान्के प्रति आकर्षित नहीं होते—

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित् ।
मनीषिणां तु त्वयि वीतराग न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम्[1] ॥२६॥

अर्थ—वादी लोग अपने गलेमें तीक्ष्ण कुठारका प्रहार करते हुए कुछ भी कहे, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानोंका मन आपके प्रति केवल रागके कारण ही अनुरक्त नही है ।

अपनेको मध्यस्थ समझनेवाले लोगोंमें मात्सर्यका सद्भाव—

सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य न नाथ मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये मणौ च काचे च समानुबंधाः ॥२७॥

अर्थ—हे नाथ ! जो परीक्षक माध्यस्थ वृत्ति धारण करके काच और मणिमें समान भाव रखते हे, वे भी मत्सरी लेगोंकी मुद्राका अतिक्रमण नही करते—यह सुनिश्चित है ।

स्तुतिकारकी घोषणा—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥२८॥

अर्थ—मैं (हेमचन्द्र) प्रतिपक्षी लोगोंके सामने यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान्को छोड़कर दूसरा कोई देव, और अनेकातवादको छोड़कर वस्तुओंके प्ररूपण करनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

जिन भगवान्के प्रति स्तुतिकारके आकर्षणका कारण—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः[2] ॥२९॥

---

१. अन्ये जगत्सकथिका विदग्धा सर्वज्ञवादान् प्रवदन्ति तीर्थ्या ।
यथार्थनामा तु तवैव वीर सर्वज्ञता सत्यमिद न राग ॥ द्वा द्वात्रिंशिका ५ २३ ।

२ न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादर ॥ द्वा. द्वात्रिंशिका १ ४ ।
न रागान्न स्तोत्र भवति भवपासच्छिदि मुनौ ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ॥
किमु न्यायान्यायाप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासगगदित ॥ युक्त्यनुशासन ६४ ।
वृहत्स्वयभू स्तो ५१, हरिभद्र लोकतत्त्वनिर्णय ३२ ३३ ।

अर्थ—हे वीर ! केवल श्रद्धाके कारण न आपके प्रति हमारा कोई पक्षपात है, और न द्वेषके कारण अन्य देवताओंमे अविश्वास, किन्तु यथार्थ रीतिसे आप्तकी परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय ग्रहण किया है ।

भगवान्‌की वाणीकी महत्ता—

तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्रांशुदृशावदातास्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाचः[1] ॥३०॥

अर्थ—हे जगदीश ! जो वाणी अज्ञान-अंधकारमे फिरनेवाले पुरुषोंके अगोचर ऐसे आपको प्रगट करती है, उस चन्द्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ और तर्कसे पवित्र आपकी वाणीकी हम पूजा करते हैं ।

भगवान्‌के वीतराग गुणकी सर्वोत्कृष्टता—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते ॥३१॥

अर्थ—भगवन् ! जिस किसी शास्त्रमे, जिस किस रूपमे, और जिस किसी नामसे जिस वीतराग देवका वर्णन किया गया है, वह आप एक ही है, अतएव आपको नमस्कार है ।

उपसहार—

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो
विगाहन्तां हन्त प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर परीक्षाक्षमधिया-
मयं तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं[2] विधृतवान् ॥३२॥

अर्थ—कोमल बुद्धिवाले पुरुष इस स्तोत्रको श्रद्धासे बनाया हुआ समझें, वादशील पुरुष इसे परनिन्दा करनेके लिये रचा हुआ माने, परन्तु हे जिनवर ! परीक्षा करनेमें समर्थ राग-द्वेषसे रहित पुरुषोंको तत्त्वोंके प्रकाश करनेवाला यह स्तोत्र स्तुतिरूप धर्मके चिंतनमें कारण है ।

॥ समाप्त ॥

---

१. सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि वक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीत्वा ।
अद्धारक जिन समस्तमसो विशन्ति येषा न भान्ति तव वाग्द्युतयो मनस्सु ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका २. १७ ।

२ उपाधिर्धर्मचिन्तनम् । अभिधानचिन्तामणि ६. १७ ।

परिशिष्ट

जैन परिशिष्ट (क)

अवतरणिका पृष्ठ २, पंक्ति ६ दुःषमार —

पंचमकाल। जैन धर्मके अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो विभागोंमें विभक्त है। उत्सर्पिणी कालमें जीवोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी वृद्धि होती है। अवसर्पिणी कालमें जीवोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी हानि होती है। उत्सर्पिणीके छह भेद—१ दुःषमदुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमसुषमा, ४ सुषमदुःषमा, ५ सुषमा, ६ सुषमसुषमा। अवसर्पिणीके छह भेद—१ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदुःषमा, ४ दुःषमसुषमा, ५ दुःषमा ६ दुःषमदुःषमा।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालचक्र

अवसर्पिणी कालके छह आरे	स्थिति	जीवोंकी आयु	शरीरकी ऊँचाई	वर्ण	आहारका अंतर
१ सुषमसुषमा	४ कोडाकोडी सागर	३ पल्यसे २ पल्य	३ कोशसे २ कोश	सूर्यके समान	आठ वेला (३ दिन)
२ सुषमा	३ कोडाकोडी सागर	२ पल्यसे १ पल्य	२ कोशसे १ कोश	चन्द्रमाके समान	छह वेला
३ सुषमदुःषमा	२ कोडाकोडी सागर	१ पल्यसे कोटी पूर्व वर्ष	१ कोशसे ५०० धनुष	प्रियंगु	चार वेला
४ दुःषमसुषमा	४२००० वर्ष कम १ कोडाकोडी सागर	कोटी पूर्व वर्षसे १२० वर्ष	५०० धनुषसे ७ हाथ	पाचों वर्ण	प्रतिदिन एक वार
५ दुःषमा	२१००० वर्ष	१२० वर्षसे २० वर्ष	७ हाथसे २ हाथ	रूक्ष	अनेक वार
६ दुःषमदुःषमा	२१००० वर्ष	२० वर्षसे १५ वर्ष	२ हाथसे १ हाथ	श्याम	वार वार

सुषमसुषमा आदि प्रथमके तीन कालोंमे भोगभूमि रहती है। भोगभूमिकी भूमि दर्पणके समान मणिमय, और चार अगुल ऊचे स्वादु और सुगधित कोमल तृणोंसे युक्त होती है। यहाँ दूध, इक्षु, जल, मधु, और घृतसे परिपूर्ण वावडी और तालाव बने हुए है। भोगभूमिमे स्त्री और पुरुपके युगल पैदा होते है। ये युगलिये ४९ दिनमें पूर्ण यौवनको प्राप्त होकर परस्पर विवाह करते हैं। मरनेके पहले पुरुषको छीक और स्त्रीको जभाई आती है। सुषमदुःषमा नामके तीसरे कालमें पल्यका आठवा भाग समय वाकी रहनेपर क्षत्रिय कुलमे चोदह कुलकर उत्पन्न होते है। चौथे कालमें चोवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, और नौ बलभद्र—ये तरेसठ शलाकापुरुष जन्म लेते है। दु षमा नामका पॉचवॉ काल महावीरका तीर्थकाल कहा जाता है। उस कालमे कल्की नामका राजा उत्पन्न होता है। कल्की उन्मार्गगामी होकर जैनधर्मका नाश करता है। पचम कालके इक्कीस हजार वर्पके समयमे एक-एक हजार वर्प वाद इक्कीस कल्की पैदा होते है। अतिम जलमथन नामक कल्की जैनधर्मका समूल नाश करनेवाला होगा। धर्मका नाश होनेपर सब लोग धर्मसे विमुख हो जायेंगे। दु षमदुःषमा नामके छठे कालमें सवर्तक नामकी वायु पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदिको चूर्ण करेगी। इस वायुसे समस्त जीव मूर्छित होकर मरेंगे। इस समय पवन, अत्यत शीत, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूल और धूँएकी ४९ दिन तक वर्षा होगी, तथा विष और अग्निकी वर्षासे पृथ्वी भस्म हो जायेगी। इस समय दयावान विद्याधर अथवा देव, मनुष्य आदि जीवोंके युगलोंको निर्वाध स्थानमे ले जाकर रख देंगे। उत्सर्पिणी कालके आनेपर फिरसे इन जीवोंसे सृष्टिकी परम्परा चलेगी।[1]

ब्राह्मण ग्रथोंमें सत्य (कृत), त्रेता, द्वापर, और कलि ये चार युग वताये गये है। इन युगोंका पमाण क्रमसे १७२८००० वर्ष, १२९६००० वर्ष ८६४००० वर्ष और ४३२००० वर्ष है। कृतयुगमें ध्यान, त्रेतामें ज्ञान द्वापरमे यज्ञ और कलियुगमे दानकी श्रेष्ठता होती है। इन युगोंमे क्रमसे ब्रह्मा, रवि, विष्णु, और रुद्रका आधिपत्य रहना है। सत्ययुगमे धर्मके चार पैर होते है। इनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, और नृसिंह ये चार अवतार होते हैं। इस युगमें मनुष्य अपने धर्ममें तत्पर रहते हुए शोक, व्याधि, हिंसा, और दभसे रहित होते हैं। यहाँ इक्कीस हाथ-परिमाण मनुष्यकी देह और एक लाख वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगके निवासियोंकी इच्छा-मृत्यु होती है। इस युगमें लोग सोनेके पात्र काममे लाते हैं। त्रेतामें धर्म तीन पैरोंसे चलता है। इस समय वामन, परशुराम और रामचन्द्र ये तीन अवतार होते हैं। यहाँ चौदह हाथ-परिणाम मनुष्यकी देह और दस हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगमे चादीके पात्रोंसे काम चलता है। इस समय लोगोंका कुछ क्लेश बढ जाता है। ब्राह्मण लोग वेद वेदागके परगामी होते है। स्त्री पतिव्रता और पुत्र पिताकी सेवा करनेवाले होते है। द्वापरयुगमे धर्मके केवल दो पैर रह जाते है। इस युगमे कुछ लोग पुण्यात्मा और कुछ लोग पापात्मा होते है। कोई वहुत दुखी होते हैं और कोई वहुत धनी होते है। इस युगमे कृष्ण और बुद्ध अवतार लेते है। मनुष्योका देह सात हाथका और एक हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। लोग तावेके पात्रामे भोजन करते है। कलियुगके आनेपर धर्म केवल एक पैरसे चलने लगता है। इस युगमे सव लोग पापी हो जाते है। ब्राह्मण अत्यन्त कामी और क्रूर हो जाते हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कर्तव्यसे च्युत होकर पाप करने लगते है। कलियुगमें कल्किका अवतार होता है। मनुष्यका शरीर साढे तीन हाथका और उत्कृष्ट आयु एकसौ पाच वर्पकी होती है।[2]

वौद्ध लोगोंने अन्तरकल्प, सवर्तकल्प, विवर्तकल्प, महाकल्प आदि कल्पोंके अनेक भेद माने हैं। आदिके कल्पमे मनुष्य देवोंके समान थे। धीरे-धीरे मनुष्योंमें लोभ और आलस्यकी वृद्धि होती है, लोग वनकी औषध और धान्य आदिका सग्रह करने लगते है। वादमें मनुष्योंमें हिंसा, चोरी आदि पापोंकी

१ त्रिलोकसार ७७९–८६७, तथा लोकप्रकाश २८ वॉ सर्ग इत्यादि।

२. कूर्मपु. अ २८, मत्स्यपु. अ. ११८, गरूडपु. अ २२७।

वृद्धि होती है, और मनुष्योंकी आयु घटकर केवल दस वर्षकी रह जाती है। कल्पके अन्तमें सात दिन तक युद्ध, सात महीने तक रोग, तथा सात वर्ष तक दुर्भिक्ष पडनेके बाद कल्पकी समाप्ति हो जाती है। इस समय अग्नि, जल और महावायुसे प्रलय (संवर्तनी) होती है। प्रलयके समय देवता लोग पुण्यात्मा प्राणियोंको निर्बाध स्थानमे ले जाकर रख देते है।[1]

ग्रीक और रोमन लोगोंके यहा भी सुवर्ण, रजत, पीतल और लौह इस प्रकारसे चार युगोंकी कल्पना पायी जाती है।

श्लो, १ पृ. ६ प ६ केवली

चार घातिया कर्मोंके अत्यत क्षय होनेपर जो केवलज्ञानके द्वारा इन्द्रिय, क्रम, और व्यवधान रहित तीनों लोकोंके सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको साक्षात् जानते हे, उन्हे केवली कहते है। जैन शास्त्रोंमे अनेक तरहके केवलियोका उल्लेख पाया जाता है—

१ तीर्थंकर—जो चतुर्विध सघ अथवा प्रथम गणधरकी स्थापनापूर्वक जीवोंको ससार-समुद्रसे पार उतारते है, उन्हें तीर्थंकर कहते हे। तीर्थंकर ससारी जीवोंको उपदेश देकर उनका उपकार करते है। तीर्थंकर स्वयबुद्ध होते है। तीर्थंकर चौवीस है।

२ गणधर—तीर्थंकरके साक्षात् शिष्य और सघके मूल नायक होते हे। गणधर श्रुतकेवलि होते है। ये अन्य केवलियोंके भूतपूर्व गुरू होते ह, और अन्तमे स्वय भी केवली हो जाते है। महावीर भगवानके ग्यारह गणधर थे। इन ग्यारह गणधरोंमें अकम्पित और अचल, तथा मेतार्य और प्रभास नामक गणधरोंकी भिन्न-भिन्न वाचना न होनेसे भगवानके नौ गणधर कहे जाते है।

३ सामान्य केवली—तीर्थंकर और गणधरोंको छोडकर बाकी केवली सामान्यकेवली कहे जाते हैं।

४ स्वय बुद्ध—जो बाह्य कारणोंके विना स्वय ज्ञानी होते हैं, वे स्वयबुद्ध हैं। तीर्थंकर भी स्वय-बुद्धोंमे गर्भित है। इनके अतिरिक्त भी स्वय बुद्ध होते हैं। ये सघमे रहते है और नहीं भी रहते। ये पूर्वमे श्रुतकेवली होते है और नही भी होते। जिनको श्रुत नही होता, वे नियमसे सघसे बाह्य रहते है।

५ प्रत्येकबुद्ध—प्रत्येकबुद्ध परोपदेशके विना अपनी शक्तिसे बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर ज्ञान प्राप्त करते हे, और एकल विहार करते हे। प्रत्येकबुद्धको कमसे कम ग्यारह अग और अधिकसे अधिक कुछ कम दस पूर्वोंका ज्ञान होता है।

६ बोधितबुद्ध—गुरुके उपदेशसे ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये अनेक तरहके होते है।

७ मुण्डकेवली—ये मूक और अन्तकृत् केवलिके भेदसे दो प्रकारके है। मूक केवली अपना ही उद्धार कर सकते है, परन्तु किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश नहीं दे सकते, इसलिये मौन रहते है। ये केवली बाह्य अतिशयों से रहित होते हैं और किसी सिद्धातकी रचना नही कर सकते। अन्तकृतकेवलीका मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिये ये भी सिद्धातकी रचना करनेमें असमर्थ होते हैं।

८ श्रुतकेवली—श्रुतकेवली शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता होते है। श्रुतकेवली और केवली (केवलज्ञानी) ज्ञानकी दृष्टिसे दोनों समान है। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष होना है। केवली (केवलज्ञानी) जितना जानते हैं, उसका अनतवा भाग वे कह सकते है, और जितना वे कहते हे, उसका अनन्तवॉ भाग शास्त्रोंमे लिखा जाता है। इसलिये केवलज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान अनन्तवे भागका भी अनन्तवा भाग है। सामान्यत श्रुतकेवली छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती और केवली तेरहवे गुणस्थानवर्ती

१. अभिधर्मकोश ३. ९७ के आगे, विसुद्धिमग्ग अ. १३, हार्डी का Mannual of Buddhism अ. १।

होते हैं। श्रुतकेवलीको केवली पद पानेके लिये आठवे गुणस्थानसे बारहवे गुणस्थान तक एक श्रेणी चढनी पड़ती है। श्रुतकेवली चौदह पूर्वके पाठी होते है।[१]

योग सहित केवलियोंको सयोगकेवली, और योगरहित केवलियोंको अयोगकेवली कहते है। सयोगकेवली तेरहवे और अयोगकेवली चौदहवे गुणस्थानवर्ती होते हैं। सिद्धोंको भी केवली कहा जाता है।[२]

जैनेतर शास्त्रोंमे भी केवलीकी कल्पना पायी जाती है। जिन्होंने बन्धनसे मुक्त होकर कैवल्यको प्राप्त किया है, उन्हे योगसूत्रोंके भाष्यकार व्यासने केवली कहा है।[३] ऐसे केवली अनेक हुए है। बुद्धि आदि गुणोसे रहित ये निर्मल ज्योतिवाले केवली आत्मस्वरूपमे स्थित रहते हैं। महाभारत, गीता आदि वैदिक ग्रथोंमें भी जीवन्मुक्त पुरुषोंका उल्लेख आता हैं। ये शुक, जनक प्रभृति जीवन्मुक्त ससारमे जलमें कमलकी नाई रहते हुए मुक्त जीवोंकी तरह निर्लेप जीवन यापन करते हैं इसीलिये इन्हे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

बौद्ध ग्रथोंमे बुद्धके बत्तीस महापुरुषके[४] लक्षण, अस्सी अनुव्यजन और दोसौ सोलह मागल्य लक्षण बताये गये हैं। बुद्ध भगवान् अपने दिव्य नेत्रोंसे प्रति दिन ससारको छह बार देखते है। वे दश बल, ग्यारह बुद्धधर्म, और चार वैशारद्य सहित होते हैं। वर्तमान बुद्ध चौवीस होते[५] हे। इन बुद्धोंके अलग-अलग बोधिवृक्ष रहते हैं। बुद्ध दो प्रकारके होते हैं—प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्सबुद्ध। सम्यक्सबुद्ध अपने पुरुषार्थ द्वारा बोधि प्राप्त करके उसका ससारको उपदेश देते है। गौतम सम्यक्सबुद्ध थे। प्रत्येकबुद्ध भी अपने पुरूषार्थसे बोधि प्राप्त करते हैं, परन्तु वे ससारमें बोधिका उपदेश नहीं करते, वन आदि किसी एकात स्थानमें रहकर मुक्तिसुखका अनुभव करते हे। प्रत्येकबुद्ध बुद्धसे हरेक बातमें छोटे होते हैं, और वे बुद्धके समय नहीं रहते। जो पटिसभिदा, अभिज्ञा, प्रज्ञा आदिसे विभूषित होते ह, उन्हें अर्हत् कहते हे। अर्हत्को खीनासव (क्षीणाश्रव) कहा हैं। अर्हत् फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेते। गौतम स्वयं अर्हत् थे। बुद्ध स्वय अपने पुरूषार्थसे निर्वाण प्राप्त करते ह, और अर्हत् बुद्धके पास शिक्षण ग्रहण करके निर्वाण जाते हैं, यहीं दोनोंमें अन्तर है। जो अनेक जन्मोंके पुण्य-प्रतापसे आगे चलकर बुद्ध होनेवाले हैं, उन्हे बोधिसत्व कहते है। अर्हत् वीतराग होते हैं, और बोधिसत्वका हृदय करुणासे परिपूर्ण रहता है। बोधिसत्व प्रत्येक प्राणीके निर्वाणके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, और जब तक सम्पूर्ण जीवोंको निर्वाण नहीं मिल जाता, तब तक उनकी प्रवृत्ति जारी रहती हे। बोधिसत्व जीवोंके प्रति करुणा का प्रदर्शन करनेके लिये पाप करनेमे भी हिचकते, और नरकमें जाकर नारकी जीवोंका उद्धार करते है।[६]

---

१. महावीर भगवान्‌के निर्वाणके बाद गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। जम्बूस्वामीके बाद दिगम्बर परम्पराके अनुसार विष्णु, नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाच, तथा श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र ये छह श्रुतकेवली माने जाते है स्थूलभद्रको श्रुतकेवलियोंमें नहीं गिननेसे श्वेतावर परम्पराके अनुसार भी पाच श्रुतकेवली माने गये है। देखिये जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमे भारतीय समाज पृ० १७–२०।

२ गोम्मटसार जीव १० टीका।

३. पातजल योगसूत्र १–२४,५१ भाष्य।

४. मज्झिमनिकाय ब्रह्मायुसुत्त।

५. दीपकर, कोण्ड, मगल, सुमनस, रेवत, सोभित, अनोमदस्सिन्, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, सुमेध, सुजात, पियदस्सिन, अत्थदस्सिन्, धम्मदस्सिन्, सिद्धत्थ, तिस्स, पुस्स, विपस्सिन्, सिखिन्, वेस्सभू, ककुसघ, कोणागमन और कस्सप।

६ देखिये कर्न (Kern) की Mannual of Buddhism अ ३ पृ ६०, तथा सद्धर्मपुण्डरीक अ २४, बोधिचर्यावतार, बोधिचित्तपरिग्रह नामक तृतीय परिच्छेद।

श्लो. १ पृ. ६ प. ६ • अतिशय—

सहज अतिशय, कर्मक्षयज अतिशय और देवकृत अतिशय—ये भगवान्‌के तीन मूल अतिशय माने गये हैं। इन तीन अतिशयोंके उत्तरभेद मिलाकर अतिशयोंके कुल चौतीस[1] भेद होते हैं। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार सहज अतिशयके चार, कर्मक्षयज अतिशयके ग्यारह, और देवकृत अतिशयके उन्नीस भेद स्वीकार किये गये हैं—

सहज अतिशय	कर्मक्षयज अतिशय	देवकृत अतिशय
१ सुन्दर रूपवाला, सुगन्धित, नीरोग, पसीना और मल रहित शरीर।	१ योजन मात्र समवशरणमे कोडाकोडि मनुष्य, देव और तिर्यंचोंका समा जाना।	१ आकाशमे धर्मचक्रका होना।
२ कमलके समान सुगन्धित श्वासोच्छ्वास।	२ एक योजन तक फैलनेवाली भगवानकी अर्धमागधी वाणीका मनुष्य, तिर्यञ्च और देवताओं-द्वारा अपनी-अपनी भाषामे समझ लेना।	२ आकाशमे चमरोंका होना।
३ गौके दूधके समान स्वच्छ और दुर्गन्ध रहित मास और रुधिर।	३ सूर्यप्रभासे भी तेज सिरके पीछे भामडलका होना।	३ आकाशमे पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन।
४ चर्मचक्षुओसे आहार और नीहारका न दिखना।	४ सौ योजन तक रोगका न रहना।	४ आकाशमे तीन छत्र।
	५ वैरका न रहना।	५ आकाशमे रत्नमय धर्मध्वज।
	६ ईति अर्थात् धान्य आदिको नाश करनेवाले चूहों आदिका अभाव।	६ सुवर्ण कमलोंपर चलना।
	७ महामारी आदिका न होना।	७ समवशरणमे रत्न, सुवर्ण और चादीके तीन परकोट।
	८ अतिवृष्टि न होना।	८ चतुर्मुख उपदेश।
	९ अनावृष्टि न होना।	९ चैत्य अशोक वृक्ष।
	१० दुर्भिक्ष न पडना।	१० कण्टकोंका अधोमुख होना।
	११ स्वचक्र और परचक्रका भय न होना।	११ वृक्षोंका झुकना।
		१२ दुन्दुभि बजना।
		१३ अनुकूल वायु।
		१४ पक्षियोंका प्रदक्षिणा देना।
		१५ गधोदककी वृष्टि।
		१६ पाच वर्णों के पुष्पोंकी वृष्टि।
		१७ नख और केशोंका नहीं बढ़ना।
		१८ कमसे कम एक कोटि देवोंका पासमे रहना।
		१९ ऋतुओंका अनुकूल होना।

दिगम्बर मान्यताके अनुसार दस सहज अतिशय, दस कर्मक्षयज अतिशय और चौदह देवकृत अतिशय माने गये हैं। अतिशयोंकी मान्यतामे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओंके अनुसार पाठभेद पाया जाता है।

जैनेतर ग्रन्थोंमे भी इस प्रकारके विचार मिलते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्मे[2] लघुता, आरोग्य, स्थिरता, वर्णप्रसाद, स्वरकी सुन्दरता, शुभ गन्ध तथा मूत्र और मलका अल्प मात्रामे होना यह

१ समवायाग सूत्र और कुन्दकुन्दके नियमसारमे चौतीस अतिशयोंके नाम आते हैं। तथा देखिये जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमे भारतीय समाज, पृ० ३४३ आदि।

२. श्वेताश्वतर उ० २-१३।

योगकी प्रथम अवस्था कही गई है । पतंजलिके योगसूत्र और व्यासभाष्यमें भूत-भविष्यत् पदार्थोको जानना, अदृश्य हो जाना, योगी पुरुषकी निकटतामें क्रूर प्राणियोंका वैर भाव छोड देना, हाथीके समान बल, सम्पूर्ण भुवनका ज्ञान, भूख और प्यासका अभाव, एक शरीरका दूसरे शरीरमें प्रवेश, आकाशमें विहार, वज्रसहनन, अजरामरता आदि अनेक प्रकारकी विभूतिया बताई गई हैं ।[१]

बौद्ध ग्रन्थोंमें आकाशमें पक्षीकी तरह उडना, संकल्पमात्रसे दूरकी वस्तुओंको पासमें ले आना, मनके वेगके समान गति होना, दिव्य नेत्र और दिव्य चक्षुओंसे सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थोको जानना आदि ऋद्धियोंका वर्णन मिलता है ।[२] [३]जिस समय बोधिसत्व तुषित लोकसे च्युत होकर माताके गर्भमें आते हैं, उस समय लोकमें महान प्रकाश होता है, और दससाहस्रो लोकधातु कंपित होती है । बोधिसत्वके माताके गर्भमें रहनेके समय चार देवपुत्र उपस्थित होकर चारों दिशाओंमें बोधिसत्त्व और बोधिसत्वकी माताकी रक्षा करते हैं । बोधिसत्वकी माताको गर्भावस्थामें कोई रोग नहीं रहता । माता बोधिसत्वको अंग-प्रत्यंग सहित देखती है, और बोधिसत्वको खडे-खडे जन्म देती है । जिस समय श्लेष्म, रुधिर आदिसे अलिप्त बोधिसत्व गर्भसे बाहर निकलते हैं, उस समय उन्हें, पहले देव लोग ग्रहण करते हैं । बोधिसत्वके उत्पन्न होनेके समय आकाशसे गर्म और शीतल जलकी धाराएं गिरती है, जिनसे बोधिसत्व और उनकी माताका प्रक्षालन किया जाता है । उस समय आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होती है और मन्द, सुगंध वायु बहती है ।

ईसामसीहके जन्मके समय भी सम्पूर्ण प्रकृतिका स्तब्ध होना, देवोंका आगमन आदि वर्णन बाइबिलमें आता है ।

श्लोक ५ पृ १८ प ६ - एव व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक

जैनदर्शनके अनुसार जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त हो, उसे सत् अथवा द्रव्य कहते हैं। इसीलिए जैनदर्शनकारोंने अप्रच्युत, 'अनुत्पन्न और स्थिर रूप' नित्यका लक्षण स्वीकार न कर 'पदार्थके स्वरूपका नाश नही होना' (तद्भावाव्यय नित्य) नित्यका लक्षण माना है । इस लक्षणके अनुसार जैन आचार्योके मतसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं । आत्मा पूर्व भवको छोडकर उत्तर भव धारण करती है, और दोनों अवस्थाओंमें वह समान रूपसे रहती है । इसलिए आत्मामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध हो जाते हैं । पुद्गल और काल द्रव्यमें भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना स्पष्ट है । जीव, पुद्गल और कालकी तरह जैन सिद्धान्तके अनुसार धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त द्रव्योंमें भी स्वप्रत्यय और परप्रत्ययसे उत्पाद और व्यय माना गया है । स्वप्रत्यय उत्पादको समझनेके पहले कुछ जैन पारिभाषिक शब्दोंका ज्ञान आवश्यक है ।

१ प्रत्येक पदार्थमें अनंत गुण हैं । इन अनन्त गुणोंमें प्रत्येक गुणमें अनन्त अनन्त अविभागी गुणांश है । यदि द्रव्यमें गुणांश नहीं माने जाँय, तो द्रव्यमें छोटापन, बडापन आदि विभाग नहीं किया जा सकता । इन अविभागी गुणांशोंको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं । २ द्रव्यमें जो अनन्त गुण पाये जाते हैं, इन अनंत गुणोंमें अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व-ये छह सामान्य गुण मुख्य हैं । जिस शक्तिके निमित्तसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपमें अथवा एक शक्ति दूसरी शक्तिरूपमें नही बदलती, उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं । ३ अविभागी प्रतिच्छेदोंके छह प्रकारसे कम होने और बढनेको छहगुणी हानिवृद्धि कहते हैं । अनंत

---

१. पतंजलि—योगसूत्र विभूतिपाद, तथा देखिये यशोविजय-योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका ।

२ अभिधर्मकोश ७-४० से आगे ।

३ मज्झिमनिकाय-अच्छरियधम्मसुत्त, पृ० ५१० राहुल सांकृत्यायन, अश्वघोष-बुद्धचरित सर्ग १, तथा देखिये निदानकथा, ललितविस्तर आदि ।

भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, और अनत गुणवृद्धि, तथा अनत भागहानि, असख्यात भागहानि, सख्यात भागहानि, सख्यात गुणहानि, असख्यात गुणहानि और अनत गुणहानि-यह षट्स्थानपतित हानिवृद्धि[1] कही जाती है।

जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमे अपने-अपने अगुरुलघु गुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमे उक्त छह प्रकारकी हानि-वृद्धिके द्वारा परिणमन होता है, उस समय धर्म, अधर्म और आकाशमे उत्पाद और व्यय होता है। जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमे अगुरुलघु गुणकी पूर्व अवस्थाका त्याग होता है, उस समय व्यय, और जिस समय उत्तर अवस्थाकी उत्पत्ति होती है, उस समय उत्पाद होता है।[2] तथा द्रव्यकी अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाश सदा निष्क्रिय और नित्य है, इसलिये इनमे ध्रौव्य रहता है। धर्म आदि द्रव्योंमे उत्पाद और व्यय अपने-अपने अगुरुलघु गुणके परिणमनसे होता है, इसलिये इसे स्वप्रत्यय उत्पाद कहते है। जिस समय स्वय अथवा किसी दूसरेके निमित्तसे जीव और पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाशके एक प्रदेशको छोडकर दूसरे प्रदेशके साथ सबद्ध होते है, उस समय धर्म आदि द्रव्योंमें परप्रत्यय उत्पाद और व्यय कहा जाता है।

सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतितर्कमें उत्पाद और व्ययके प्रायोगिक (प्रयत्नजन्य) और वैस्रसिक (स्वाभाविक) दो भेद किये है। प्रयत्नजन्य उत्पादमे भिन्न-भिन्न अवयवोंके मिलनेसे पदार्थोंका समुदाय रूप उत्पाद होता है, इसलिये इसे समुदायवाद कहते है। यह उत्पाद किसी एक द्रव्यके आश्रयसे नहीं होता, इसलिये यह अपरिशुद्ध नामसे भी कहा जाता है। सामुदायिक उत्पादकी तरह व्यय भी सामुदायिक होता है। सामुदायिक उत्पाद और व्यय मूर्त द्रव्योंमें ही होते है। वैस्रसिक उत्पाद और व्ययके दो भेद है—सामुदायिक और ऐकत्विक। बादल आदिमे जो बिना प्रयत्नके उत्पत्ति और नाश होता है, उसे वैस्रसिक समुदयकृत उत्पाद व्यय कहते है। तथा धर्म, अधर्म और आकाश अमूर्त द्रव्योंमे दूसरे द्रव्योंके साथ मिलकर स्कध रूप धारण किये बिना जो उत्पाद और व्यय होता है, उसे वैस्रसिक ऐकत्विक उत्पाद-व्यय कहते है। धर्म, अधर्म और आकाशमे यह उत्पाद-व्यय अनेकातसे परनिमित्तक होता है।[3]

श्लोक ६ पृ ३१ प. १२ : अपुनर्बन्ध—

"जो जीव मिथ्यात्वको छोडनेके लिये तत्पर और सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये अभिमुख होता है," उसे अपुनर्बधक कहते है। अपुनर्बधकके कृपणता, लोभ याञ्चा, दीनता, मात्सर्य, भय, माया और मूर्खता—इन भवानन्दी दोषोंके नष्ट होनेपर शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान औदार्य दाक्षिण्य आदि गुणोंमे वृद्धि होती जाती है। अपुनर्बधकके गुरु, देव आदिका पूजन, सदाचार, तप और मुक्तिसे अद्वेष रूप 'पूर्वसेवा' मुख्य रूपसे होती है। अपुनर्बधक जीव, शान्तचित और क्रोध आदिसे रहित होते हैं, तथा जिस तरह भोगी पुरुष सदा अपनी स्त्रीका चिन्तन करता रहता है, उसी तरह वे सतत ससारके स्वभावका विचार करते रहते है। उसके कुटुम्ब आदिमें प्रवृत्ति करते रहनेपर भी उसकी प्रवृत्तिया बधका कारण नहीं होती।

---

१ षट्स्थानपतित हानिवृद्धिके स्पष्टीकरणके लिये गोम्मटसार जीवकाड, प्रवचनसारोद्धार गा ४३२ द्वा. २६०, प गोपालदासजी कृत जैनसिद्धातदर्पण आदि ग्रन्थ देखने चाहिये।

२ क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽपि एषा धर्मादीनामन्यथोत्पाद· कल्प्यते। तद्यथा द्विविध उत्पाद स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनतानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च वर्तमानाना स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च। सर्वार्थसिद्धि पृ० १५१।

३ देखिये सन्मतितर्क ३-३२,३३, द्रव्यानुयोगतर्कणा ९ २४,२५, शास्त्रवार्तासमुच्चय ७-१ यशोविजय-टीका; तत्त्वार्थभाष्य ५-२९ टीका पृ ३८३-५।

अपुनर्बंधक वितर्कप्रधान होता है, और इसके क्रमसे कर्म और आत्माका वियोग होकर इसे मोक्ष मिलता है ।[1]

श्लो० ९ पृ० ७१ पं० १० : प्रदेश—

पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी हिस्सेको परमाणु कहते हैं । यह परमाणु कारणरूप[2] अन्त्यद्रव्य कहा जाता है । परमाणु नित्य, सूक्ष्म और किसी एक रस, गंध, वर्ण और दो स्पर्शोंसे सहित होता है । परमाणु आकाशके जितने प्रदेशको घेरता है, उसे जैन शास्त्रोंमें प्रदेश कहा गया है । प्रदेशके दूसरे अंशोंकी कल्पना नहीं हो सकती । जैन सिद्धांतमें धर्म, अधर्म और जीव द्रव्योंमें असंख्यात, कालमें अनन्त पुद्गलमें संख्यात, असंख्यात, अनंत और कालमें एक प्रदेश माने गये हैं । पुद्गल द्रव्यके प्रदेश पुद्गल-स्कंधसे अलग हो सकते हैं, इसलिये पुद्गलके सूक्ष्म अंशोंको अवयव कहा जाता है । पुद्गल द्रव्यके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अंश अपने-अपने स्कंधोंसे पृथक् नहीं हो सकते, इसलिये अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अंशोंको प्रदेश नामसे कहा गया है ।[3] धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव सदा एक समान अवस्थित रहते हैं, इसलिये इनके प्रदेशोंमें अस्थिरता नहीं होती । पुद्गल द्रव्यके परमाणु और स्कंध अस्थिर, तथा अंतिम महास्कंध स्थिर और अस्थिर दोनों होते हैं ।

यद्यपि जीव द्रव्य अखंड है, फिर भी वह असंख्यात प्रदेशी है । जैन दर्शनकी मान्यता है कि जिस प्रकार गुड़के ऊपर बहुत-सी धूल आकर इकट्ठी हो जाती है, उसी प्रकार एक-एक आत्माके प्रदेशके साथ अनंतानंत ज्ञानावरण आदि कर्मोंके प्रदेशोंका संबंध होता है । संसारी जीवोंके प्रदेश चलायमान रहते हैं । ये प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं । विग्रह गतिवाले जीवोंके प्रदेश सदा चल होते हैं, अयोगकेवलीके प्रदेश सदा अचल होते हैं, और शेष जीवोंके आठ प्रदेश अचल और बाकी प्रदेश चल होते हैं । यदि जीवमें प्रदेशोंकी कल्पना न की जाय, तो जिस तरह निरंश परमाणुका किसी मूर्तमान द्रव्यके साथ संबंध नहीं हो सकता, उसी तरह आत्माका भी मूर्तिमान शरीरमें संबंध नहीं हो सकता । अतएव जिस समय अमूर्त आत्मा लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होकर भी मूर्त कर्मोंके संबंधमें कार्मांण शरीरके निमित्तसे सूक्ष्म शरीरको धारण करता है, उस समय सूखे चमड़ेकी[4] तरह आत्माके प्रदेशोंमें संकोच होता है, और जिस समय यह आत्मा सूक्ष्म शरीरसे स्थूल शरीरको प्राप्त करता है, उस समय जलमें तेलकी तरह आत्माके प्रदेशोंमें विस्तार होता है । अतएव आत्मा अमूर्त होकर भी संकोच और विस्तार होनेकी अपेक्षा शरीरके परिमाण[5] माना जाता है । यदि आत्माको अचेतन द्रव्योंके विकारसे रहित सर्वथा अमूर्त माना जाय, तो आत्मामें ध्यान, ध्येय आदिका व्यवहार नहीं हो सकता, तथा आत्माको मोक्ष भी नहीं मिल सकता । अतएव शक्तिकी अपेक्षा आत्माको

---

१ देखिये हरिभद्रकृत योगबिन्दु ११५ से आगे, तथा यशोविजय—अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका ।

२ अकलंक आदि दिगम्बर विद्वानोंने परमाणुको कथंचित् कार्यरूप भी माना है । देखिये तत्त्वार्थराजवर्तिक ५-२५-५ ।

३ अतएव च भेद प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते प्रदेशाः । ये तु विशकलिता परिकलितमूर्तय प्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवा इति । तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ५ ६ पृ० ३२८ ।

४, शुष्कचर्मवत् प्रदेशानां संहारः । तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणम् विसर्पः । तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक ५-१६ ।

५. तुलनीय—यथा क्षुर क्षुरधाने हित स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये ।
एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेद शरीरमनुप्रविष्ट आलोमेभ्य आनखेभ्य —
अर्थात् जिस प्रकार छुरा अपने घर (क्षुराधान) और अग्नि चूल्हा अंगीठी आदि अपने स्थानमें व्याप्त होकर रहते हैं, उसी तरह नखोंसे लगाकर बालों तक यह आत्मा शरीरमें व्याप्त है । कौषीतकी उ० ४-१९।

अमूर्त मानकर भी व्यक्तिको अपेक्षा आत्माको मूर्त ही मानना चाहिये।[१] इसलिये निश्चयनयसे आत्मा लोकके बराबर असख्यात प्रदेशोंका धारक है, और व्यवहार नयकी अपेक्षा सकोच और विस्तारवाला है।

इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए अन्य स्थलोंपर जैनशास्त्रामे आत्माको नैयायिक, मीमासक आदि दर्शनोंकी तरह प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक न मान ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक[२] माना गया है। इस सिद्धातकी रामानुजके सिद्धातसे तुलना की जा सकती है। रामानुज आचार्यके सिद्धान्तमे भी आत्माको ज्ञानकी अपेक्षा सकोच और विकासशील माना गया है। इस मतमे वास्तवमे अणु-परिमाण[३] आत्मामे सकोच-विकास नहीं होता, किन्तु आत्माके कर्मबधकी अवस्थामे सकोच और विकास होता है। विकासकी उत्कृष्ट सीमा कर्मबधसे रहित मोक्ष अवस्थामे ही हो सकती है। न्यायकन्दलीकार श्रीधर आचार्यने भी आत्माको सर्वव्यापक मानकर आत्माके बुद्धि आदि गुणोंका शरीरमें ही अस्तित्व माना है।[४]

श्लो ९ पृ ७५ प १ : केवलीसमुद्घात—

वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थितिसे आयु कर्मकी स्थिति कम रह जानेपर वेदनीय आदि और आयु कर्मोकी स्थिति बराबर करनेके लिए समुद्घात क्रिया की जाती है। समुद्घात करनेसे अन्तर्मुहुर्त पहले शुभोपयोग रूप 'आवर्जीकरण' नामकी एक दूसरी क्रिया होती है। इस क्रियाको श्वेताम्बर साहित्यमे 'आयोजिकाकरण' और 'आवश्यककरण' नामसे भी कहा गया है।[५] केवलीसमुद्घातके प्रथम समयमे आत्माके प्रदेश अपनी देहके बराबर स्थूल दण्डके आकार होते है। आत्मप्रदेशोंका यह आकार लोकके ऊपरसे नीचे तक चौदह रज्जूपरिमाण होता है। ये आत्मप्रदेश दूसरे समयमें पूर्व और पश्चिममे कपाट (किवाड) के आकारके हो जाते है। तीसरे समयमे इन प्रदेशोंका आकार फैलकर मन्थान (मथनी) के समान हो जाता है। चौथे समयमे ये समस्त लोकमे व्याप्त हो जाते है। इसके बाद पाँचवे, छठे, सातवे और आठवें समयमे आत्माके प्रदेश क्रमसे मन्थान, कपाट, दण्डके आकार होकर पूर्ववत् अपने शरीरके बराबर हो जाते है। जिस समय मोक्ष प्राप्त करनेमे एक अन्तर्मुहुर्तका समय बाकी रह जाता है, उस समय केवली समुद्घात करते हैं। रत्नशेखरसूरि आदि विद्वानोंके मतमे जिस जीवकी आयु छह महीनेसे अधिक है, यदि उसे केवलज्ञान हो जाय, तो वह जीव निश्चयसे समुद्घात करता है। तथा अन्य केवलियोंके समुद्घात करनेके सम्बन्धमे कोई नियम नहीं है।[६] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने इस मतका विरोध किया है।[७] समुद्घात करनेके पश्चात् केवली

---

१ शक्त्या विभुः स इह लोकमितप्रदेशो, व्यक्त्या तु कर्मकृतसौवशरीरमान।
यत्रैव यो भवति दृष्टगुण स तत्र कुम्भादिवद्विगदमित्यनुमानमत्र ॥
यशोविजय—न्यायखडखाद्य।

२ निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशप्रमाण। वा शब्देन तु स्वसवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षयाव्यवहारनयेन लोकालोकव्यापक। न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमासकसाख्यमतवत्। ब्रह्मदेव—द्रव्यसग्रहवृत्ति गा० १०।

३ स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञान सकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्याम। अत क्षेत्रज्ञावस्थाया कर्मणा सकुचित-स्वरूप तत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेन वर्तते। श्रीभाष्य १-१-१। प्रो० ध्रुव—स्याद्वादमजरी पृ० ११६ नोट्स।

४ पीछे देखिये, पृ० ६८।

५. प० सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ, पृ० १५५।

६. य. षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम्।
करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ गुणस्थानक्रमारोहण ९४।

७. कम्मलहुयाए समओ भिन्नमुहुत्तावसेसओ कालो ॥
अन्ने जहन्नमेय छम्मासुक्कोसमिच्छ ति ॥
त नाणतरसेलेसिवयणओ ज च पडिहेराण।
पच्चप्पणमेव सुए इहरा गहणपि होज्जाहि ॥ विशेषावश्यक भा.-३०४८, ३०४९।

मन, वचन, कायका निरोध करके शैलेशीकरण करता हुआ अयोगी होकर पाच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण करनेके समय मात्रमें मोक्ष प्राप्त करता है ।

हेमचन्द्र[1], यशोविजय आदि विद्वानोंने उपनिषद, गीता आदि वैदिक ग्रन्थोंमे आत्मव्यापकताका अपने सिद्धातसे समन्वय करके इसे आत्मगौरवका सूचक कहकर सम्मानित किया है ।[2]

कर्मोकी स्थितिको शीघ्र भोगनेके लिये जैनसिद्धातमे समुद्घात क्रियासे मिलती जुलती पातजल योगदर्शनमें[3] सोपक्रम आयुके विपाकमे वहुकायनिर्माण क्रिया मानी गई है । यद्यपि सामान्य नियमके अनुसार विना भोगे हुए कर्म करोडों कल्पोंमे भी क्षय नहीं हो सकते[4], परन्तु जिस प्रकार गीले वस्त्रको फैलाकर सुखानेमे वस्त्र वहुत जल्दी सूख जाता है, अथवा जिस प्रकार सूखे हुए घासमें अग्नि डालनेसे हवाके अनुकूल होनेपर घास वहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार जिस समय योगी एक शरीरसे कर्मके फलको भोगनेमें असमर्थ होता है, उस समय वह सकल्प मात्रसे वहुतसे शरीरोंका निर्माण कर ज्ञान-अग्निसे कर्मोका नाश करता है । इसीको योगशास्त्रमें वहुकायनिर्माणद्वारा सोपक्रम आयुका विपाक कहा है । इन वहुतसे शरीरोंमें कभी योग लोग एक ही अन्त करणसे प्रवृत्ति करते हैं । वायुपुराणमें भी जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको वापिस खींच लेता है, उसी प्रकार एक शरीरसे एक, दो, तीन आदि अनेक शरीरोंको उत्पन्न करके इन शरीरोंको पीछे खींचनेका उल्लेख है ।[5]

श्लो ९ पृ ७५ प. २ लोक—

जैनधर्मके अनुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक ये लोकके तीन विभाग किये गये है । यह लोक चौदह राजू ऊचा है । मूलसे सात राजूकी ऊचाई तक अधोलोक, और एक लाख चालीस योजन सुमेरु पर्वतकी ऊचाईके समान ऊंचा मध्यलोक है । मेरुकी जडके नीचेसे अधोलोक आरभ होता है । अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तमोप्रभा, महातमप्रभा नामके सात नरक है । इन नरकोंमे नारकी जीव रहते हैं । इनमें ४९ पटल हैं । नरकोंमे छेदन भेदन आदि महान् भयकर कष्ट सहने पडते है । नरकमे अकाल मृत्यु नहीं होती । अधोलोकसे ऊपर एक राजू लम्बा, एक राजू चौडा और एक लाख चालीस योजन ऊचा मध्यलोक है । मध्यलोकके वीचमे एक लाख योजनके विस्तारवाला जम्बूद्वीप है । जम्बूद्वीपको चारों ओरसे

---

१. देखिये योगशास्त्र । तथा, लोकपूरणश्रवणादेव हि परेषामात्मविभुत्ववाद समुद्भूतः । तथा चार्थवाद —"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो वाहुरुत विश्वत पात्" इत्यादि । तथा चासौ भवति समीकृतभवोपग्राहि कर्मा विरलीकृताद्र शाटिकादिन्यातेन क्षिप्र तच्छोषोपपत्तेः । शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ९—२१ टीका ।

२ देखिए प सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ पृ १५६ ।

३ पाद ४ सू २२, तथा पाद ४ सू ४, ५ का भाष्य और टीका, प सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ पृ १५६ । तथा तुलनीय-तत्त्वार्थभाष्य २–१५ ।

४. तुलनीय यशोविजय—क्लेशहानोपाय-द्वात्रिंशिका, तथा—समाधिसमृद्धिमाहात्म्यात्प्रारब्धकर्मव्यतिरिच्यमानानां कृत्स्नामेव कर्मणा विभिन्नविपाकसमयानामपि कायव्यूहेष्वेकदा भोगेन जीवात्ममहत्त्व साधयता क्षयाभ्युपगमेनैव व्याकुप्येत यतो निरुक्ता भगवती श्रुति "अचिन्त्यो हि समाधिप्रभाव" । प वालकृष्ण मिश्र प्रणीत न्यायसूत्रवृत्ति पर विषमस्थल तात्पर्यविवृत्ति पृ २१–२२ ।

५ एकस्तु प्रभुशक्त्या वै वहुधा भवतीश्वर ।
भूत्वा यस्मात्तु वहुधा भवत्येक पुनस्तु स ॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि । वायुपु ६६–१४३ ।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च वहुधा पुन ॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च ।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित् केश्चिदुग्र तपश्चरेत् ॥
सहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव । वायुपु ६६–१५२ ।

बेडे हुए लवणसमुद्र, लवणसमुद्रको धातकीखड, धातकीखडको कालोदधिसमुद्र, और कालोदधिको बेडे हुए पुष्करद्वीप है। इसी प्रकार आगे आगे एक दूसरेको बेडे हुए दूने-दूने विस्तारवाले असख्यात द्वीप और समुद्र है। अतमे स्वयभूरमण समुद्र है। जम्बूद्वीपमे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र है। इन क्षेत्रोंमे गगा, सिन्धू आदि चौदह नदिया वहती है। मनुष्यलोकमे पन्द्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमि है। ज्योतिष्क देव भी मध्य लोकमे ही निवास करते है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये ज्योतिष्क देवों के पॉच भेद है। मेरूसे ऊर्ध्वलोकके अन्त तक के क्षेत्रको ऊर्ध्वलोक कहते है। ऊर्ध्वलोकमे बारह स्वर्ग (दिगम्बरों की प्रचलित मान्यताके अनुसार सोलह स्वर्ग) होते हे। इन स्वर्गोंके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश[1] और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाच अनुत्तर विमान है। सर्वार्थसिद्धिके ऊपर लोकके अतमे एक राजू चौडी, सात राजू लम्बी, आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक पृथिवी है। इस पृथिवीके बीचमे पैंतालीस लाख योजन चौडी, मध्यमे आठ योजन मोटी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातवलयमे मुक्त जीव निवास करते है।

ब्राह्मण पुराणोमे भूलोक, अन्तरीक्षलोक और स्वर्गलोक ये तीन मुख्य लोक माने गये है। इनमे स्वर्गलोकके महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये चार भेद मिलानेसे सात लोक होते है। अवीचि नामके नरकसे लगाकर मेरुके पृष्ठभाग तक भूलोक कहा जाता है। अवीचि नरकके ऊपर महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अधतामिस्र ये छह नरक हे।[2] इन नरकोंके ऊपर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, और पाताल ये सात पाताल हे।[3] इस आठवीं भूमिपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, कौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हे। ये सात द्वीप लवण, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध, और स्वच्छ जल नामक सात समुद्रोंसे[4] परिवेष्टित है। मेरुके पृष्ठसे लेकर ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे युक्त अन्तरीक्षलोक हैं। इसके ऊपर पाच स्वर्गलोक है। पहला माहेन्द्र स्वर्ग है। इस स्वर्गमे त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित, वशवर्ती ये छह प्रकारके देव रहते हे, जो औपपातिक देहको धारण करते है। इसके ऊपर महर्लोक नामके दूसरे स्वर्गमे पाच प्रकारके देव रहते है, जो ध्यान मात्रसे तृप्त हो जाते हे और जिनकी हजार कल्पकी आयु होती हैं। तीसरा स्वर्ग ब्राह्म स्वर्ग कहा जाता है। इस स्वर्गके जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक तीन विभाग है। जनलोकमे चार प्रकारके, तपोलोकमे तीन प्रकारके, और सत्यलोकमे चार प्रकारके देव रहते है।[5]

बौद्धोंके शास्त्रोंमे नरकलोक, प्रेतलोक, तिर्यक्लोक, मानुषलोक, असुरलोक और देवलोक ये छह लोक माने गये है। ये लोक कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु इन तीन विभागोंमे विभक्त है। सबसे नीचे नरकलोक है। सजीव, कालसूत्र, सघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन और अवीचि ये आठ मुख्य नरक ह। इन नरकोंकी लबाई, चौडाई, और ऊँचाई दस हजार योजन है। अवीचि नामका नरक सबसे भयकर हैं। इस नरकमे अन्तकल्पकी आयु होती है। नरकोंमे गाढ अन्धकार रहता हे, और वहाके जीवोंको नाना प्रकारके दारुण दुख सहने पडते है। मानुषलोकमे जम्बू, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु ये चार महाद्वीप है। ये महाद्वीप मेरु, युगन्धर आदि आठ पर्वतोंको परिक्षेपण करते हे, और इन पर्वतोंके बीचमे सात

१ तत्त्वार्थभाष्य आदि ग्रथोंमे अनुदिशोंका उल्लेख नही।

२. नरकोके विस्तृत वर्णनके लिए देखिये मार्कण्डेयपु १२–३–३९। मार्कण्डेयपुराणमे सात नरकोंके नाम निम्न प्रकारसे है–रौरव, महारौरव, तम, निकृन्तन, अप्रतिष्ठ, असिपत्रवन और तप्तकुभ।

३ पातालोंके वर्णनके लिये देखिये पद्मपु. पातालखण्ड १, २, ३, विष्णुपुराण अ. २, ५।

४. द्वीप समुद्रोंके विशेष वर्णनके लिये देखिये भागवत ५–६, १७, १८, तथा पद्मपु. भूमिखण्ड, भूगोलवर्णन अ १२८।

५ स्वर्गके वर्णनके लिये देखिये नृसिहपु. अ. ३० पद्मपु. स्वर्गखण्ड। कौषीतकी उपनिषद्मे बताया गया है कि जीव अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोकमे से होकर ब्रह्मलोकमें जाता है। ब्रह्मलोकके वर्णन के लिये देखिये १–२ से आगे।

नदियाँ बहती हैं। कामधातुमें चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मित और वशवर्ती ये छह प्रकारके देव रहते हैं। इन देवोंमें पहले और दूसरे प्रकारके देव परस्परके संयोगसे और बाकीके देव क्रमसे आलिंगन, हाथका संयोग, हास्य और अवलोकन करनेसे कामका भोग करते हैं। रूपधातुके देवोंमें अहोरात्रिका व्यवहार नहीं होता। अरूपधातुके देव चार प्रकारके होते[1] हैं।

श्लो. ११ पृ ९० प. ५ भवतामपि जिनायतनादिविधाने—

राग-द्वेष युक्त असावधान प्रवृत्तिके द्वारा प्राणोंके नाश करनेको जैन शास्त्रोंमें हिंसा कहा है। संक्षेपमें हिंसाके द्रव्यहिंसा और भावहिंसा ये दो भेद हैं। किसी जीवके अत्यन्त यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करनेपर भी यदि उससे सूक्ष्म प्राणियोंका घात हो जाता है, तो वह जीव द्रव्यहिंसा करके भी हिंसक नहीं कहा जा सकता। तथा यदि कोई जीव कषाय आदिके वशीभूत होकर जीवोंको मारनेका संकल्प करता है, परन्तु वह जीवोंको द्रव्य रूपसे नहीं मारता तो भी उसे हिंसक कहा गया है। इसीलिये कहा है कि "यह जीव दूसरे जीवोंके प्राणोंको नाश करके भी पापसे युक्त नहीं होता," "तथा जीवोंका नाश हो, अथवा नहीं, लेकिन अयत्नाचारसे प्रवृत्ति करता हुआ यह जीव अवश्य ही हिंसक कहा जाता है।"[2] अतएव जैन शास्त्रोंमें गृहस्थको केवल संकल्पसे होनेवाली हिंसाको छोड़नेका उपदेश दिया है। इसलिये पाक्षिक श्रावकको अपनी श्रद्धाके अनुसार जिनमंदिर, जिनविहार आदि बनानेका विधान है। यद्यपि जिनमंदिर आदिके बनानेमें आरंभजन्य हिंसा होती है, परन्तु इसमें महान पुण्यका ही बंध होता है[3]। जिस प्रकार कोई वैद्य रोगीकी चिकित्सा करते समय रोगीको होनेवाले दुखके कारण पापका उपार्जन न करता हुआ पुण्यका ही भागी होता है, इसीतरह जैन मंदिर, जैन मठ जैन धर्मशाला, जैन वाटिकागृह आदि बनानेसे जीवोंका महान कल्याण होता है, इसलिये जैन मंदिर आदिके निर्माण करानेमें शास्त्रीय दृष्टिसे दोष नहीं है।

श्लो ११ पृ ९९ प १२ आधाकर्म—

जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिये निर्दोष आहार ग्रहण करनेका विधान किया गया है। साधारणतः यह आहार छियालीस प्रकारके दोषोंसे और आधाकर्म (अधःकर्म) से रहित होना चाहिए। आहार ग्रहण करनेके समय आधाकर्मको महान दोष कहा गया है। आधाकर्ममें प्राणियोंकी विराधना होती है, इसलिये अधोगतिका कारण होनेसे इसे आधाकर्म कहा जाता है। अथवा मुनिके निमित्तसे बनाये हुए भोजनमें पांच सूनाओंसे

---

१. विस्तृत विवरणके लिये देखिये अभिधर्मकोश 'लोकधातुनिर्देश' नामक तृतीय कोशस्थान, अभिधम्मत्थ संगहो, परि ५।

२. (अ) वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते ।
वधाय न यमभ्युपैति च परान्न निघ्नन्नपि ।
त्वयायमतिदुर्गमः प्रथमहेतुरुद्योतितः ॥ सिद्धसेन—द्वा द्वात्रिंशिका ३-१६ ।
(आ) मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥ सर्वार्थसिद्धि पृ २०५ ।
(इ) यत्नतो जीवरक्षार्थं तत्पीडापि न दोषकृत् ।
अपीडनेऽपि पीडैव भवेदयतनावतः ॥ यशोविजय—धर्मव्यवस्था द्वात्रिंशिका २९ ।

३. यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसंभवः ।
तथाप्यत्र कृतारंभो महत्पुण्यं समश्नुते ॥
निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्तत सताम् ।
मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः ॥ आशाधर—सागारधर्मामृत २-३५ टिप्पणी ।

प्राणियोंकी हिंसा होती है, इसलिये इसे आधाकर्म कहते हैं।[१] यह सामान्य नियम है। परन्तु यदि कोई मुनि रोग आदिके कारण अपने सयमका निर्वाह करनेमे असमर्थ हो गया है तो आपत्कालमे उस मुनिको शास्त्रमें उद्दिष्ट भोजन ग्रहण करनेकी भी आज्ञा दी गई है। यदि आधाकर्मको सर्वथा अधोगतिका कारण मानकर उससे एकान्त रूपसे कर्मबध[२] माना जाय, तो मुनिको भोजन न मिलनेके कारण मुनिका आर्तध्यानके द्वारा प्राणान्त होना सभव है। उदाहरणके लिये, जिस मुनिकी आख दुःख रही हैं, वह मुनि पृथ्वीको देखकर न चल सकनेके कारण त्रस जीवोंकी हिसा नहीं बचा सकता। वैसे ही यदि रोगादिके कारण साधु उद्दिष्ट भोजनका त्याग नही कर सकता तो वह दोषका भागी नहीं है। यदि आपत्कालमे भी इस प्रकारका अपवाद नियम न बनाया जाय तो क्लेशित परिणामोसे आर्तध्यानसे मरकर साधुको दुर्गतिमे जाना पडे, इससे और भी अधिक पापका वध हो। अतएव रोगादिके कारण असामान्य परिस्थितिके उत्पन्न होने पर साधुको आधाकर्म—उद्दिष्ट भोजन ग्रहण—करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमे दी गई है।[३] इसी प्रकार सामान्यत शास्त्रोंमे मुनिके लिये नवकोटिसे विशुद्ध आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा है, लेकिन यदि मुनि किसी आपदासे ग्रस्त हो जाय तो वह केवल पाच कोटिसे शुद्ध आहार ग्रहण करके अपना जीवन यापन कर सकता है।

श्लो. २३ पृ० २०४ प० ४: द्रव्यषट्क

जैन दर्शनकारोंने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य[४] स्वीकार किये हैं। इन छह द्रव्योंमे काल द्रव्यको छोडकर बाकीके पाच द्रव्योंको पच अस्तिकायके नामसे कहा जाता है। कुछ श्वेताम्बर विद्वान् काल द्रव्यको द्रव्योंमे नहीं गिनते। इसलिये उनके मतमे पाँच अस्तिकाय ही पाँच द्रव्य माने गये हैं।[५]

काल शब्द बहुत प्राचीन है। वैदिक विधान् अधमर्षण ऋग्वेदमे[६] काल शब्दको सवत्सर' के अर्थमे प्रयुक्त करते हे। यहाँ कालको सृष्टिका सहार करनेवाला कहा गया है। अथर्ववेदमे कालको नित्य पदार्थ माना है, और इस नित्य पदार्थसे प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है।[७] बृहदारण्यक[८], मैत्रायण[९] आदि उपनिषदोंमे भी काल शब्दको विविध अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। महाभारतमें कालका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।[१०] यहा काल शब्दको दिष्ट, दैव, हठ, भव्य भवितव्य, विहित, भागधेय आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है।

वैदिक और बौद्ध दर्शनोंमे काल सबधी दो प्रकारकी मान्यताये दृष्टिगोचर होती है (१) न्याय वैशेषिकोका मत है कि काल एक सर्वव्यापी अखड द्रव्य है। यह केवल उपाधिसे भिन्न–भिन्न क्षण, मुहूर्त आदिके रूप मे प्रतीत होता है। पूर्वमीमासकोंने भी कालको व्यापक और नित्य स्वीकार किया है। इनके मतमें जिस

१ अतएवाधोगतिनिमित्त कर्माध-कर्मेत्यन्वर्थोऽपि घटते। तदेतदध कर्म गृहस्थाश्रितो निकृष्टव्यापार.। अथवा सूनाभिरङ्गिहिसन यत्रोत्पाद्यमाने भक्तादौ तदध कर्मेत्युच्यते। आशाधर-अनगारधर्मामृत ५-३ वृत्ति।

२ आहाकम्माणि भुजति अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेत्ति जाणिज्जा णुवलित्तेत्ति वा पुणो॥ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग २ पृ० २४२।

३ विशेषके लिये देखिए अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग २ पृ २१९–२४२।

४ वैशेषिकों द्वारा मान्य छह पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

५ भगवती २५-४, उत्तराध्यन २८-७,८, प्रज्ञापना आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंमे काल द्रव्य सबधी दोनों पक्ष मिलते हैं।

६ १०-१९०।

७ १९–५३, ५४।

८ ४–४–१६।

९ ६–१५। २० देखिये।

१० डा० सिद्धेश्वर शास्त्री का कालचक्र पृ० ३९–४८। काल सबधी वैदिक मान्यताओंके विस्तृत विवेचनके लिए देखिये प्रोफेसर बरुआकी Pre-Buddhist Philosophy भाग ३ अ. १३। कालवादियोंके मतके खण्डनके लिए माध्यमिककारिका, सन्मतिटीका आदि ग्रथ देखने चाहिये।

प्रकार वर्ण नित्य और व्यापक होकर भी दीर्घ, ह्रस्व आदिके रूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी तरह काल भी उपाधिके भेदसे भिन्न मालूम देता है। सर्वास्तिवादी बौद्ध भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालका अस्तित्व मानते हैं (२) काल संबंधी दूसरी मान्यताको माननेवाले सांख्य, योग, वेदान्त, विज्ञानवाद और शून्यवाद मतके अनुयायी हैं। इन लोगोंके अनुसार काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। सांख्य विद्वान् विज्ञान-भिक्षुका कथन है कि नित्यकाल प्रकृतिका गुण है, और खण्डकाल आकाशकी उपाधियोंसे उत्पन्न होता है। योगशास्त्रमें कहा है कि काल कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, केवल लौकिक व्यवहारके लिये दिन, रात आदिका विभाग किया जाता है। यहां केवल क्षणको काल नामसे कहा गया है। यह क्षण उत्पन्न होते ही नाश हो जाता है, और फिर दूसरा क्षण उत्पन्न होता है। क्षणोंका समुदाय एक कालमें नहीं हो सकता, इस लिये क्षणों के क्रमरूप जो काल माना जाता है वह केवल कल्पित है। शांकर वेदान्ती केवल ब्रह्मको ही सत्य मानते हैं इसलिये इनके मतमें काल भी काल्पनिक वस्तु है। शंकरकी तरह रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ सम्प्रदायवालोंने भी कालको वास्तविक पदार्थ स्वीकार नहीं किया। शांतरक्षित[1] आदि बौद्ध आचार्य भी काल द्रव्यका पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। पाश्चात्य विद्वान भी उक्त काल संबंधी दोनों सिद्धांतों-को मानते है।

जैन ग्रन्थोंमें काल संबंधी उक्त दोनों प्रकारकी मान्यतायें उपलब्ध होती हैं। (१) एक पक्षका कहना है कि काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। जीव और अजीव द्रव्योंकी पर्यायके परिणमनको ही उपचारसे काल कहा जाता है, इसलिये जीव, अजीव द्रव्योंमें ही काल द्रव्य गर्भित हो जाता है[2]। (२) जैन विद्वानोंका दूसरा मत है कि जीव और अजीवकी तरह काल भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। इस पक्षका कहना है कि जिस प्रकार जीव और अजीवमें गति और स्थितिका स्वभाव होनेपर भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको पृथक् द्रव्य माना जाता है, उसी प्रकार कालको भी स्वतंत्र द्रव्य मानना चाहिये। यह मान्यता श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ग्रन्थोंमें मिलती है[3]।

जैन शास्त्रोंमें काल संबंधी मान्यता

सामान्य रूपसे जैन शास्त्रोंमें कालके दो भेद माने है— निश्चयकाल (द्रव्य रूप) और व्यवहार-काल (पर्यायरूप)। जिसके कारण द्रव्योंमें वर्तना होती है, उसे निश्चयकाल कहते हैं। जिस प्रकार धर्म और अधर्म पदार्थोंकी गति और स्थितिमें सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार काल भी स्वयं प्रवर्तमान द्रव्योंकी वर्तनामें सहकारी कारण है। जिसके कारण जीव और पुद्गलमें परिणामें, क्रिया, छोटापन, बडापन आदि व्यवहार हों, उसे व्यवहारकाल कहते हैं। समय, आवली, घडी, घंटा आदि सब व्यवहारकालका ही रूप है। व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है, और यह जीव और पुद्गलके परिणामसे ही उत्पन्न होता है, इसलिये व्यवहारकालको जीव और पुद्गलके आश्रित माना गया है।

---

१ तत्त्वसंग्रह पृ० २०९।

२ अत्राहु केऽपि जीवादिपर्याया वर्तनादयः।
काल इत्युच्यते तज्ज्ञैः पृथग् द्रव्यं तु नास्त्यसौ ॥ लोकप्रकाश २८-५।
दिगम्बर ग्रन्थोंमें काल द्रव्यको स्वीकार न करनेका पक्ष कहीं उपलब्ध नहीं होता। परन्तु ध्यान देने योग्य है कि यहां व्यवहारकालको निश्चय कालकी पर्याय स्वीकार करके व्यवहारकालको जीव और पुद्गलका परिणाम माननेका उल्लेख मिलता है—यस्तु निश्चयकालकी पर्यायरूपी व्यवहारकाल स जीव पुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्यमानत्वात्तदायत्त एवाभिगम्यत इति। अमृतचन्द्र-पंचास्तिकाय टीका गा २३।

३. इस पक्षकी चार मान्यताओंका उल्लेख पं० सुखलालजीने 'पुरातत्त्व' के किसी अंकमें किया है— (क) काल एक और अणुमात्र है, (ख) काल एक है, लेकिन वह अणुमात्र न होकर मनुष्य क्षेत्र लोकवर्ती है, (ग) काल एक और लोकव्यापी है, (घ) काल असंख्य है, और सब परमाणुमात्र है।

व्यवहारकाल मनुष्य क्षेत्रमे ही होता है। निश्चयकाल द्रव्य रूप होनेसे नित्य है, और व्यवहारकाल क्षण-क्षणमे नष्ट होनेके कारण पर्यायरूप होनेसे अनित्य कहा जाता है। कालद्रव्य अणुरूप है। पुद्गल द्रव्यकी तरह कालद्रव्यके स्कध नहीं होते। जितने लोकाकाशके प्रदेश होते है, उतने ही कालाणु होते है। ये एक एक कालाणु गति रहित होनेसे लोकाकाशके एक एक प्रदेशके ऊपर रत्नोंकी राशिकी तरह अवस्थित है। काल-द्रव्यके अणु होनेसे कालमें एक ही प्रदेश रहता है, इसलिये काल द्रव्यमे तिर्यक्-प्रचय न होनेसे कालको पाच अस्तिकायोंमें नहीं गिना[1]। आकाशके एक स्थानमे मन्द गतिसे चलनेवाला परमाणु लोकाकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक जितने कालमे पहुँचता है, उसे समय कहते है। यह समय बहुत सूक्ष्म होता है, और प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होनेके कारण इसे पर्याय कहते है। एक-एक कालाणुमे अनत समय होते है। ये कालाणुके अनत समय व्यवहार नयकी अपेक्षा समझने चाहिये, वास्तवमे कालद्रव्य (निश्चयकाल) लोकाकाशके बराबर असख्य प्रदेशोंका धारक[2] है, उसे आकाश आदिको तरह एक और पुद्गलकी तरह अनत नहीं मान सकते। यह मत दिगम्बर ग्रन्थोंमें और हेमचन्द्रके योगशास्त्रमे[3] मिलता है।

---

१. प्रो ए चक्रवर्तीने काल द्रव्यकी इस मान्यताकी आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तसे तुलना की है—

The author differentiates between relative time and absolute time The distinction is quite identical with Newtonian distinction between relative and absolute time The author not only admits the reality of time but also recognises its potency In this respect one is reminded of the great French philosopher Bergson Bergson has revealed to the world that time is a potent factor in the evolution of Cosmos It is also worth noticing that modern realist led by the mathematical Philosophers admits the doctrine that time is real and is made up of instants or moments Panchastikayasara पृ० १०५, १०९, २२।

२ श्वेताम्बर सम्प्रदायमे कालाणुके असख्य प्रदेश नहीं माने गये है। कालाणुओंके असख्यात प्रदेशोंका खडन युक्तिप्रबोध आदिमें किया गया है—

यत्तु कालाणूनामसख्यानत्व मतान्तरीयैः प्रपन्न तदनुपपन्न। द्रव्यत्वव्याहते। यद् यद् द्रव्य तदेकमनन्त वा। यदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे—

'धम्मो अहम्मो आगास दव्व एक्केक्कमाहिय।
अणताणि य दव्वाणि कालो पोग्गलजतुणो॥'

प्रत्याकाशप्रदेश तन्मते कालाणुस्वीकारे शेषद्रव्याणामिवैतदीयस्तिर्यक्प्रचयोऽपि स्यात्। स चानिष्टः। यतो गोम्मटसारवृत्तौ सूत्रे च—

दव्वच्छक्कमकाल पचत्थिकायसण्णिय होई।
काले पदेसए चउ जम्मा णत्थित्ति णिद्दिट्ठ॥ ६०६॥

कालद्रव्ये प्रदेशप्रचयो नास्तीत्यर्थ। न च अप्रदेशत्वान्न तिर्यक्प्रचय इति वाच्य। पुद्गलस्यापि तद्भावप्रसगात्। प्रदेशमात्रत्व अप्रदेशमिति तल्लक्षणस्य तत्रापि विद्यमानत्वात्। अथ पुद्गलस्यास्ति अप्रदेशत्व द्रव्येण पर पर्यायेण तु अनेकप्रदेशत्वमप्यस्ति। कालस्य तु नैतदिति चेत्। न। अनेनापि प्रसंगापराकरणात्। न हि निर्धूमत्वेन पर्वतेऽग्निमत्वे प्रसज्यमाने यत्किंचिद्धर्माभावे तदभाव प्रतीयते इति स्थित तिर्यक्प्रचयप्रसगेन। न चैतत् समयद्रव्याणामानन्त्येऽपि तुल्य। तदानन्त्यस्य अतीतानागतापेक्षया स्वीकारात्। यदुक्तमुत्तराध्ययने— 'एमेव सतई पप' इति। तद्वृत्तौ वादिवेतालापरनामधेया श्रीशातिसूरयोऽप्याहु.—'कालस्यानन्त्यमतीतानागतापेक्षया' इति। श्रीभगवतीवृत्तौ श्रीअभयदेवसूरयेऽपि-एको धर्मास्तिकायप्रदेशोऽद्धासमयै स्पृष्टश्चेन्नियमादनन्तै अनादित्वादाद्धसमयानाम्' इति। मेघविजयगणि-युक्तिप्रबोध गा २३ पृ १८९।

३. मेघविजयगणि योगशास्त्रमे वर्णन किये हुए काल द्रव्यके सिद्धातसे श्वेताम्बर मान्यताका समन्वय करते है—

एतेन योगशास्त्रावान्तरश्लोकेषु—"लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्ना: कालाणवस्तु ये ।

शंका—समय रूप ही निश्चयकाल है, इसको छोड़कर कालाणु द्रव्यरूप कोई निश्चयकाल नहीं देखा जाता। समाधान—समय कालकी ही पर्याय है, क्योंकि वह उत्पन्न और नाश होनेवाला है। जो पर्याय होता है, वह द्रव्यके बिना नहीं होता। जिस प्रकार घट रूप पर्यायका कारण मिट्टी है, उसी तरह समय, मिनिट, घड़ी आदि पर्यायोंके कारण कालाणु रूप निश्चय कालको मानना चाहिये।[1]

शंका—समय, मिनिट आदि पर्यायोंका कारण द्रव्य नहीं है, किन्तु समयकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे जाने वाले पुद्गल परमाणु ही समय आदिका कारण हैं। जिस प्रकार निमेषरूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें आखोंके पलकोंका खुलना और बन्द होना कारण है उसी तरह दिनरूप पर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्य कारण है। समाधान—हमेशा कारणके समान ही कार्य हुआ करता है। यदि आखोंका खुलना और बन्द होना तथा सूर्य आदि निमेष तथा दिन आदिके उपादान कारण होते, तो जिस प्रकार मिट्टीके बने हुए घड़ेमें मिट्टीके रूप, रस आदि गुण आ जाते हैं, उसी तरह आखोंका खुलना, बन्द होना आदि पुद्गल परमाणुओंके गुण निमेष आदिमें आ जाने चाहिये। परन्तु निमेष आदिमें पुद्गलके गुण नहीं पाये जाते। इसलिये समय आदिका कारण निश्चयकालको मानना चाहिये।

शंका—यदि आप कालाणु द्रव्योंको लोकाकाशव्यापी मानकर उन्हें लोकाकाशके बाहर अलोकाकाशमें व्याप्त नहीं मानते, तो आकाश द्रव्यमें किस प्रकार परिवर्तन होता है? समाधान—लोकाकाश और अलोकाकाश दो अलग अलग द्रव्य नहीं हैं। वास्तवमें आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, केवल उपचारसे लोकाकाश और अलोकाकाशका व्यवहार होता है। अतएव जिस प्रकार एक स्पर्शन इन्द्रियको विषयसुखका अनुभव होनेसे वह अनुभव सम्पूर्ण शरीरमें होता है, उसी तरह कालाणु द्रव्यके लोकाकाशमें एक स्थानपर रहकर सम्पूर्ण आकाशमें परिणमन होता है, इसलिये काल द्रव्यसे आलोकाकाशमें भी परिणमन सिद्ध होता है।[2]

शंका—कालद्रव्य धर्म, अधर्म आदि द्रव्योंकी तरह निरवयव अखंड क्यों नहीं? कालद्रव्यको अणु रूप क्यों माना है? समाधान—काल दो प्रकारका है—व्यवहार और मुख्य। मुख्यकाल अनेक हैं, कारण कि आकाशके प्रत्येक प्रदेशोंमें व्यवहारकाल भिन्न भिन्न रूपसे होता है। यदि व्यवहारकालको आकाशके प्रत्येक

भावानां परिवर्ताय मुख्य: काल: स उच्यते ॥
ज्योति:शास्त्रे यस्य मानमुच्यते समयादिकम् ।
स व्यावहारिक: काल: कालवेदिभिरामत: ॥
नवजीर्णादिभेदेन यदमी भुवनोदरे ।
पदार्था: परिवर्तन्ते तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥
वर्तमाना अतीता: स्यु: भाविनो वर्तमानताम् ।
पदार्था: प्रतिपद्यन्ते कालक्रीडाविडम्बिता: ॥"

इत्यादिना कालाणव: परस्परं विविक्ता: प्रतिपादितास्ते पर्यायरूपा इत्युक्तं । न तु तेषां द्रव्यरूपत्वं । अनंतसमयस्वरूपत्वेन तद्विशेषणस्य सूत्रणात् । आगमेऽपि अनंतद्रव्यत्वेन कथनाच्च । यद्यनंतसमया: द्रव्यसमया इत्यर्थं तदा व्याहतिः स्पष्टैव, कालाणूनां द्रव्यत्वे तेषामसंख्यातत्वात् । युक्तिप्रबोध गा २३ पृ १९५, द्रव्यानुयोगतर्कणा ११ १५ ।

---

१ द्रव्यतस्तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणकोऽसंख्येय एव कालो मुनिभि: प्रोक्तो न पुनरेक एवाकाशादिवत् । नाप्यनन्त: पुद्गलात्मद्रव्यवत् प्रतिलोकाकाशप्रदेशं वर्तमानानां पदार्थानाम् वृत्तिहेतुत्वसिद्धे: । त श्लोकवार्तिक ५-४० । तुलनीय-न च कालद्रव्यस्य समय इति परिभाषा न युक्ता, समयस्य पर्यायत्वादिति वाच्यं । श्वेताम्बरद्वयनयेऽपि साम्यात् । यदुक्तं तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीअमृतचन्द्रै: —'अनुत्पन्नविध्वस्तो द्रव्यसमय: उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमय:' । युक्तप्रबोध गा. २३ पृ १८९ ।

२. विशेष के लिये देखिये द्रव्यसंग्रह २१, २२, २५ गाथाकी वृत्ति, द्रव्यानुयोगतर्कणा ११-१४ से आगे, युक्तिप्रबोध, कालद्रव्यप्रकरण ।

प्रदेशमें भिन्न-भिन्न न माना जाय, तो कुरुक्षेत्र, लका आदिके आकाश-प्रदेशोंमें दिन आदिका व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहारकालके आकाशके प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न होनेसे निश्चयकाल भी कालाणु रूपसे भिन्न-भिन्न सिद्ध होता है। क्योंकि निश्चयकालके विना व्यवहारकाल नहीं होता।[1]

श्लोक० २३ पृ २०६, प ७ द्वादशाग—

श्रुतके दो भेद ह—अगप्रविष्ट और अगवाह्य। सर्वज्ञ भगवान्‌के कहे हुए प्रवचनके गणधरों द्वारा शास्त्र रूपमें लिखे जानेको अगप्रविष्ट कहते हैं। इसके वारह भेद हैं। इसे ही द्वादशाग[2] कहते हैं। द्वादशागको गणिपिटक भी कहा जाता है। जैन द्वादशागके मूल उपदेष्टा ऋषभदेव माने जाते हैं। द्वादशाग--आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दिगम्बरोंकी मान्यताके अनुसार आगम-साहित्य लुप्त हो गया है। श्वेताम्बर आम्नायमें दृष्टिवादको छोडकर ग्यारह अग आजकल भी उपलब्ध हे।

आचाराग—इसे सामयिक नामसे भी कहा गया है। इसमें निर्ग्रथ एव निर्ग्रंथिनियोंके आचारका वर्णन है। इसमे दो श्रुतस्कधहैं। प्रथम श्रुतस्कधमे आठ और द्वितीय श्रुतस्कधमें सोलह अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कधमें महावीरका जीवनचरित्र है। आचाराग सूत्र सव सूत्रोंसे प्राचीन है। इस अगको प्रवचनका सार भी कहा जाता है। इसके ऊपर भद्रवाहुकी निर्युक्ति, जिनदासगणि महत्तरकी चूर्णी, और शीलाककी टीका है।

सूत्रकृताग—सूत्रकृतागमें साधुओंकी चर्या और अहिंसा आदिका वर्णन हैं। इसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक, अज्ञानवादी आदि अनेक मतोंकी समीक्षाके साथ ब्राह्मणोंके यज्ञ याग आदिकी निन्दा की गई है, यह अग ऐतिहासिक महत्वका है। इसमें दो श्रुतस्कध हे। प्रथम श्रुतस्कध श्लोकोमे है, इसमें सोलह अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कध गद्यमें है, इसमें सात अध्ययन है। इसपर भद्रवाहुकी निर्युक्ति, जिनदासगणि महत्तरकी चूर्णी और शीलाककी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओंका वर्णन है।

स्थानाग—इसमे बौद्धोंके अगुत्तरनिकायकी तरह एकसे लेकर दस तक जीव आदिके स्थान वताये गये है। इसमें द्रव्योंके स्वरूप आदिका विस्तृत वर्णन है। स्थानागमे दश अध्याय हैं। इसपर नवाग-वृत्तिकार अभयदेवसूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इस अगमे दसकी मर्यादा नहीं है।

समवायाग—इसमें एकसे लगाकर कोटाकोडि स्थान तककी वस्तुओंका वर्णन है। यहाँ वारह अग और चौदह पूर्वोंका वर्णन मिलता है। इस अगमें अठारह प्रकारकी लिपि, उनतीस पापश्रुत उत्तराध्ययनके

---

१. प्रमेयकमलमार्तंड परि. ४ पृ १६९।

२. द्वादशागमें वारह उपाग, दस प्रकीर्णक, छह छेदसूत्र, दो चूलिकासूत्र और चार मूलसूत्रको मिलानेसे श्वेताम्बरोंके कुल ४५ आगम होते हैं। वारह उपाग—१ औपपातिक, २ राजप्रश्नीय, ३ जीवाजीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५, सूर्यप्रज्ञप्ति, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ७ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८ निरयावलिया, ९ कल्पावतसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका १२ वृष्णिदशा। दश प्रकीर्णक—१ चतुःशरण, २ आतुरप्रत्याख्यान, ३ भक्तपरिज्ञा, ४ सस्तार, ५ तदुलवैचालिक, ६ चदाविज्झय, ७ देवेन्द्रस्तव, ८ गणिविद्या ९ महाप्रत्याख्यान, १० वीरस्तव। छह छेदसूत्र—१ निशीथ, २ महानिशीथ, ३ व्यवहार, ४ आचारदशा, (दशाश्रुतस्कध अथवा दशा), ५ वृहत्कल्प, ६ पचकल्प (जीतकल्प)। चूलिकासूत्र—१ अनुयोगद्वार, २ नन्दिसूत्र। चार मूलसूत्र—१ उत्तराध्ययन, २ आवश्यक ३ दशवैकालिक ४ पिंडनिर्युक्ति (ओघनिर्युक्ति)। श्वेताम्बर स्थानकवासी ३२ आगम मानते हैं।

छत्तीस अध्ययन तथा नन्दिसूत्रका उल्लेख जान पडता है । कि यह सूत्र द्वादशागके सूत्रबद्ध होनेके बाद लिखा गया है । इसपर अभयदेवसूरिकी टीका है । दिगम्बरोंके अनुसार इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार पदार्थोंके सादृश्यका (समवाय) कथन है ।

भगवती—इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति भी कहते है । इस सूत्रमें ४१ शतक हैं । इसमें श्रमण भगवान् महावीर और गौतम इन्द्रभूतिके बीच होनेवाले प्रश्नोत्तरोंका वर्णन हैं । इस अंगमें महावीरका जीवन उनकी प्रवृत्ति उनके शिष्य, उनके अतिशय आदि विषयोंका विशद वर्णन है । भगवतीमें पार्श्वनाथ, जामालि और गोशाल मक्खलिपुत्तके शिष्योंका वर्णन हैं । षोडश जनपदोंका यहा उल्लेख है । इसपर अभयदेवसूरिकी टीका है । दिगम्बरोंके अनुसार इसमे जीव है या नहीं, वह अवक्तव्य है अथवा वक्तव्य, आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर है ।

ज्ञातृधर्मकथा—इसे सस्कृतमें ज्ञातृधर्मकथा, नाथधर्मकथा, तथा प्राकृतमें णायाधम्मकहा, णाणधम्मकहा और णाहधम्मकहा भी कहते हैं । इसमें उन्नीस अध्ययन और दो श्रुतस्कध है । इसमे ज्ञातृपुत्र महावीरकी कथाओंका उदाहरण सहित वर्णन है । प्रथम श्रुतस्कधके सातवे अध्यायमे उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लि-कुमारीकी और सोलहवे अध्यायमें द्रौपदीकी कथा है । इसपर अभयदेवसूरिने टीका लिखी है । दिगम्बरोंके अनुसार इसमे तीर्थंकरोंकी कथाये अथवा आख्यान–उपाख्यानोंका वर्णन है ।

उपासकदशा—इसके दस अध्ययनोंमें महावीरके दस उपासकों (श्रावकोंके) के आचारका वर्णन हैं । ये कथाये सुधर्मा जम्बूस्वामीसे कहते हैं । सातवें अध्यायमें गोशाल मक्खलिपुत्तके अनुयायी सद्दालपुत्तकी कथा आती हैं । सद्दालपुत्त आगे चलकर महावीरका अनुयायी हो गया था । उपासकदशामें अजातशत्रु राजाका उल्लेख आता हैं । इसपर अभयदेवकी टीका हैं । दिगम्बर ग्रन्थोंमें इसे उपासकाध्ययन कहा गया है ।

अन्तकृद्दशा—इसमे दस अध्यायोंमे मोक्षगामी साधु और साध्वियोंका वर्णन है । इसपर अभयदेवने टीका लिखी हैं । दिगम्बर ग्रन्थोंमें इस अगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दारुण उपसर्ग सहकर मोक्ष प्राप्त करनेवाले दस मुनियोंका वर्णन है ।

अनुत्तरोपपादिकदशा—इसमें अनुत्तर विमानोंको प्राप्त करनेवाले मुनियोंका वर्णन है । यहा कृष्णकी कथा मिलती है । इसपर भी अभयदेव की टीका है ।

प्रश्नव्याकरण—इसे प्रश्नव्याकरण दशा भी कहते हैं । इसमें दस अध्याय हैं । यहा पाच आश्रवद्वार और पाच सवरद्वारका वर्णन है । टीकाकार अभयदेवसूरि हैं । स्थानाग और नदिसूत्रमें जो इस आगमका विषयवर्णन किया है, उससे प्रस्तुत विषयवर्णन बिल्कुल भिन्न हैं । दिगम्बरोंके अनुसार इसमें आक्षेप और विक्षेपसे हेतु-नयाश्रित प्रश्नोंका स्पष्टीकरण है ।

विपाकसूत्र—इसे कम्मविवायदसाओ भी कहा गया है । इनमे बीस अध्ययन हैं । बहुतसे दुखी मनुष्योंको देखकर इन्द्रभूति महावीरसे उन मनुष्योंके पूर्वभवोंको पूछते है । महावीर मनुष्योंके सुख–दुखके विपाकका वर्णन करते हैं । इसमें दस कथा पुण्यफलकी, और दस कथाये पापफलकी पायी जाती है । इसपर अभयदेवसूरिकी टीका हैं ।

दृष्टिवाद—इनमे अन्य दर्शनोंके ३६३ मतोंका वर्णन था । यह सूत्र लुप्त हो गया है । इसके सबधमें अनेक परम्पराये जैन आगमोमें उपलब्ध होती है । दिगम्बर परम्पराके अनुसार, इस अगके कुछ अशोंका उद्धार षट्खंडागम और कषायप्राभृतमें उपलब्ध है । चौदह पूर्व इसीमें गर्भित हैं । इसके पाच भेद है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत अनुयोग और चूलिका । श्वेताम्बरोंके अनुसार परिकर्मके सात भेद हैं—सिद्ध सेणिआ, मणुस्सेणिआ, पुट्ठसेसणिआ, ओगाढसेणिआ, उपसपज्जणसेणिया, विप्पजहणसेणिआ, चुआचुअसेणिआ ।

इसमे पहले दोके चौदह चौदह, और बादके पाचके ग्यारह-ग्यारह अवान्तर भेद होनेसे परिकर्मके ८३ भेद होते हे। दिगम्बर सम्प्रदायमे परिकर्मके पाच भेद किये गये है—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्र बाईस है। बाईस सूत्रोंके चार-चार भेद होनेसे सब सूत्र अठासी होते है। पूर्वगतके चौदह भेद है—उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोक-बिन्दुसार। अनुयोगके दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। अनुयोगको दिगम्बर ग्रथोंमे प्रथमानुयोगके नामसे कहा हैं। चूलिका—श्वेताबरोंके अनुसार चौदह पूर्वोंमे ही चूलिका है। पहले पूर्वकी चार, दूसरे पूर्वकी बारह, तीसरेकी आठ और चौथे पूर्वकी दस चूलिकाये है। दिगम्बर ग्रथोंमे चूलिकाके पाच भेद मिलते है—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता। स्त्रियोंको दृष्टिवाद पढनेका निषेध है।

अगबाह्य—गणधरोके बादमें होनेवाले आचार्य अल्प शक्तिवाले शिष्योंके लिये अगबाह्यकी[1] रचना करते हैं। अगबाह्य अनेक प्रकारका है। श्वेताम्बर ग्रथोंमे अगबाह्यके दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकके छह भेद है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यकव्यतिरिक्तके दो भेद है—कालिक और उत्कालिक। उत्तराध्ययन आदि छत्तीस ग्रन्थ कालिक, और दशवैकालिक आदि अट्ठाइस ग्रन्थ उत्कालिक हैं। दिगम्बर ग्रथोंमे अगबाह्यके चौदह भेद है—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, बन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुडरीक, महापुडरीक और निषिद्धिका।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार सर्वप्रथम इन आगम-ग्रथों का सग्रह महावीर-निर्वाण (ई० पू० ५२७) के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के पूर्व ३६७), स्थूलभद्रके अधिपतित्वमे पाटलिपुत्रमे होनेवाली परिषद्मे किया गया था। उसके बाद लगभग ईसाकी छठी शताब्दिके आरभमे देवर्धिगणिने वलभीमें इन्हे व्यवस्थित कर लिपिबद्ध किया। आगम-ग्रन्थ एक समयमे नही लिखे गये है, भिन्न भिन्न आगमोंका भिन्न-भिन्न समय है। इसलिये आगमका प्राचीनतम भाग महावीर-निर्वाण के लगभग डेढ-सौ वरस बाद—ईसाके पूर्व चौथी शताब्दिके आरम्भमे, तथा आगमका सबसे अर्वाचीन भाग ईसाकी छठी शताब्दीके आरंभमे देवर्धिगणि क्षमाश्रमणके कालमे व्यवस्थित किया गया है।[2]

श्लोक २७ पृ० २४०, प० ५ प्राण—

प्राण शब्द वैदिक शास्त्रोंमे विविध अर्थोंमे प्रयुक्त किया गया हैं—कहीं प्राण शब्द का प्रयोग आत्माके अर्थमे, कही इन्द्रके अर्थमे, कही सूर्यके अर्थमे, और कहीं सामके अर्थमे। एक जगह उपनिषदोंमे प्राणको आत्माका कार्य कहा है, दूसरी जगह आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति बताई गई है। कही प्राणको प्रज्ञा कहा गया है, ओर कहीं प्राण शब्दको मृत्यु के पश्चात् जानेवाले सूक्ष्म शरीरका पर्यायवाची बताया हैं। वेदान्ति लोगोंने प्राणको ब्रह्मका पर्यायवाची माना है।

जैन सिद्धान्तमे 'प्राण' पारिभाषिक शब्द है। गोम्मटसार जीवकाण्डमे 'प्राण' अधिकार अलग है। जिसके द्वारा जीव जीता है, उसे प्राण कहा जाता है। प्राणके दो भेद हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। आँखोंका खोलना, बद करना, श्वासोच्छ्वास लेना, काय-व्यापार आदि बाह्य द्रव्यइन्द्रियोंके व्यापारको द्रव्यप्राण कहते है। तथा इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली चैतन्य रूप आत्माकी प्रवृत्तिको भावप्राण कहते हे। प्राण दस होते है—पाच इद्रिय, मन, वचन और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

१. तत्त्वार्थभाष्यमे ऋषियोंके कहे हुए कपिल आदि प्रणीत ग्रंथोंको भी अगबाह्य कहा गया है।

२. देखिये जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्यका इतिहास, पृ० ३३–१०४।

एकेन्द्रिय जीवके चार, और सज्ञी पचेन्द्रियके वारहवे गुणस्थान तक दसों प्राण होते हैं। तेरहवे गुणस्थानमें वचन, श्वासोछ्वास, आयु और कायवल ये चार प्राण होते हैं। आगे चलकर इसी गुणस्थानमें वचनवलका अभाव होनेसे तीन, और श्वासोछ्वासका अभाव होनेसे दो प्राण रह जाते हैं। चौदहवे गुणस्थानमें कायवलका भी अभाव होनेसे केवल एक आयु प्राण अवशेष रह जाता है। सिद्ध जीवोंके मोक्षावस्थामें शरीर नहीं रहता, अतएव सिद्धोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि भाव प्रमाण माने गये है। अतएव ससारी जीव द्रव्यप्राणोंकी अपेक्षा और सिद्ध जीव भावप्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं।

श्लोक २८ पृ० २५१, पं० ८ ज्ञानके भेद—

ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय आदि सहायता के विना केवल आत्माके अवलम्बनसे पदार्थोके स्पष्ट जाननेको प्रत्यक्ष और इन्द्रिय आदिकी सहायता से पदार्थोके अस्पष्ट ज्ञान करनेको परोक्ष ज्ञान कहते है[1]। प्रत्यक्ष ज्ञानके दो भेद है[2]—साव्यवहारिक और पारमार्थिक। बाह्य इन्द्रिय आदिके सहायता से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष[3] कहते ह। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—इन्द्रियोंसे होनेवाला और मनसे होनेवाला। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और अनिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष दोनोंके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार भेद हैं[५]। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे दर्शनके वाद होनेवाले ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। अवग्रहके जाने हुए पदार्थमें विशेष इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं, जैसे वगुलोंकी पक्ति और पताकाको देखकर यह ज्ञान होना कि यह पताका होनी चाहिये। ईहाके वाद विशेष चिह्नोंसे पताकाका ठीक-ठीक निश्चितरूप ज्ञान होना अवाय (अपाय) है। तथा जाने हुए पदार्थको कालान्तरमे नहीं भूलना, धारणा है। अवग्रहके दो

---

१ जैनेतर दर्शनकारोंने इन्द्रियजनित ज्ञानको प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहा है।

२ नन्दिसूत्रमे प्रत्यक्षके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ये दो भेद किये गये है। यहाँ पहले तो मतिज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अवधि आदि तीनको नोइन्द्रिय प्रत्यक्षमे शामिल किया गया है, लेकिन आगे, चलकर मतिज्ञानको श्रुतज्ञानकी तरह परोक्ष कहा गया है। अनुयोगद्वारसूत्रमे प्रत्यक्षके दो भेद करके एक भागमे मतिज्ञानको और दूसरेमें अवधि आदि तीनको गर्भित किया गया है। देखिये प० सुखलालजी-न्यायावतार-भूमिका (गुजराती)। तथा तुलनीय—अत्राह शिष्यः—"आद्ये परोक्षम्" इति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वय परोक्ष भणित तिष्ठति कथ प्रत्यक्ष भवति। परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्। इद पुनरपवादव्याख्यानम्। यदि तदुत्सर्गव्याख्यानम् न भवति तर्हि मतिज्ञान कथ तत्त्वार्थे परोक्ष भणित तिष्ठति। तर्कशास्त्रे साव्यावहारिक प्रत्यक्ष कथ जात। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञान परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञान तथा स्वात्माभिमुख भावश्रुतज्ञानमपि परोक्ष सत्प्रत्यक्ष भण्यते। ब्रह्मदेव-द्रव्यसंग्रहवृत्ति ५।

३ साव्यवहारिक प्रत्यक्ष वास्तवमे परोक्ष ही है—तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसपाद्यत्वात्परमार्थत परोक्षमेव धूमादग्निज्ञानवद् व्यवधानाविशेषात्। कि चासिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत्सशयविपर्ययानध्यवसायसभवात्सदनुमानवत्सकेतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसभवाच्च परमार्थ परोक्षमेवैतत्। यशोविजय—जैनतर्कपरिभाषा पृ० ११४, भावनगर।

४ यहाँ यशोविजयजीने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके मति और श्रुत दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह आदि चार और श्रुतज्ञानके चौदह भेद किये है—तदेवं सप्रभेद साव्यवहारिक मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्ष निरूपितम्। जैनतर्कपरिभाषा।

५. उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलक आदि आचार्योंने मतिज्ञानके इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रिजन्य ज्ञानके दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद किये है।

भेद है—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। दर्शनके बाद अव्यक्त ग्रहणको व्यंजनावग्रह और व्यक्त ग्रहणको अर्थावग्रह कहते है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता, इसलिए वह शेष चार इन्द्रियोंसे ही होता है। अर्थावग्रह पाच इन्द्रिय और मनसे होता है, इसलिए अर्थावग्रहके छह भेद, और व्यंजनावग्रहके चक्षु और मनको निकाल देनेसे चार भेद होते है। छह प्रकारके अर्थावग्रहकी तरह ईहा, अवाय और धारणाके भी छह-छह भेद है। इस प्रकार इन चौवीस भेदोंमे चार प्रकारका व्यंजनावग्रह मिला देनेसे मतिज्ञानके अठाईस भेद होते हैं। यह अठाईस प्रकारका मतिज्ञान बहु, एक बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिस्सृत, निस्सृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुवके भेदसे बारह बारह प्रकारका है। अतएव अठाईसको बारहसे गुणा करनेसे इन्द्रिय और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके कुल ३३६ भेद होते है।

जो ज्ञान केवल आत्माकी सहायतासे हो, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक (विकल) और क्षायिक (सकल) के भेदसे दो प्रकारका है। जो ज्ञान कर्मोंके क्षय और उपशमसे उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेमे असमर्थ हो, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। यह ज्ञान अवधि और मनपर्ययके भेदसे दो प्रकारका है। अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना सम्पूर्ण रूपी पदार्थोंको जाननेको अवधिज्ञान कहते है। अवधिज्ञानका विषय तीन लोक है। इसके दो भेद है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे अवधिज्ञानके छह भेद भी होते हैं। मनपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनके बिना मानुष क्षेत्रवर्ती जीवोंके मनकी बात जाननेको मनपर्याय ज्ञान कहते है। यह ज्ञान मुनियोंके ही होता है। इसके दो भेद है—ऋजुमति और विपुलमति। क्षायिक अथवा सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता है। इसे केवलज्ञान कहते है। केवलज्ञानके दो भेद है—भवस्थ केवलज्ञान और सिद्धस्थ केवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञानके दो भेद है—सयोग और अयोग। सिद्धस्थ केवलज्ञान दो भेद है—अनतरसिद्ध और परपरासिद्ध।

इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञानके पाच भेद है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम[1]।

श्लोक २९ पृ० २५९, प० ७ . निगोद—

जिन जीवोंके एक ही शरीरके आश्रय अनन्तानन्त जीव रहते हो, उसे निगोद कहते हैं[2]। निगोद जीवोंका आहार और श्वासोछ्वास एक साथ ही होता है, तथा एक निगोद जीवके मरनेपर अनन्त निगोद जीवोंका मरण और एक निगोदजीवके उत्पन्न होनेपर अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती हैं। निगोद जीव एक श्वासमे अठारह बार जन्म और मरण करते हैं, और अति कठोर यातनाको भोगते है। ये निगोद जीव पृथिवी, अप्, तेज, वायु, देव, नारकी, आहारक और केवलियोंके शरीरको छोडकर समस्त लोकमे भरे हुए है। असख्य निगोद जीवोंका एक गोलक होता है। इस प्रकारके असख्य निगोद जीवोंके असख्य गोलकोंसे तीनों लोक व्याप्त है। ये सूक्ष्म निगोदिया जीव व्यावहारिक और अव्यावहारिक भेदोंसे[3] दो प्रकारके है। जिन जिवोंने अनादि निगोदसे एक बार भी निकलकर उस पर्यायको प्राप्त किया हैं, उन्हे व्यवहारिक निगोद जीव कहा गया है। तथा जो जीव कभी भी सूक्ष्म निगोदसे बाहर निकलकर नहीं आये, उन्हे अव्यावहारिक निगोद कहते है। जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, अथवा भविष्यमें जायेगे, वे सम्पूर्ण जीव निगोद जीवोंके अनन्तवे भाग भी नहीं है। अतएव जितने जीव व्यवहारराशिसे निकलकर

१. स्मृति आदिके लक्षणके लिये देखिये, प्रस्तुत पुस्तकका पृ० २५१-२।

२ नि नियता गा भूमि क्षेत्र निवास अनतानतजीवाना ददाति इति निगोद। गोम्मटसार जीव० १९१ टीका।

३. गोम्मटसार जीव० आदि दिगम्बर ग्रन्थोंमें इन भेदोको इतर और नित्य निगोदके नामसे कहा गया है।

बौद्ध परिशिष्ट (ख)

(श्लोक १६ से १९ तक)

बौद्ध दर्शन

"बौद्ध दर्शनको सुगत दर्शन भी कहते है। बौद्ध लोगोंने विपश्यी, शिखी, विश्वभू, ककुच्छन्द काञ्चन, काश्यप और शाक्यसिंह ये सात सुगत माने है।[1] सुगतको तीर्थंकर, बुद्ध अथवा धर्मधातु नामसे भी कहा जाता हैं। बुद्धोंके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिन्हित होते है। अन्तिम बुद्धने मगध देशमे कपिलवस्तु नामक ग्राममे जन्म लिया था। इनकी माताका नाम मायादेवी और पिताका नाम शुद्धोदन था। बौद्ध लोग बुद्ध भगवान्को सर्वज्ञ कहते है। बुद्धने दुख, समुदय (दु.ख का कारण), मार्ग और निरोध (मोक्ष) इन चार आर्यसत्योंका उपदेश दिया है। बौद्ध मतमे पाच इन्द्रिया और, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच विषय मन और धर्मायतन (शरीर) ये सब मिलाकर वारह आयतन माने गये है। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको मानते है। बौद्ध लोग आत्माको न मानकर ज्ञानको ही स्वीकार करते है। इनके मतमे क्षण-क्षणमे नाश होनेवाली सतानको ही एक भवसे दूसरे भवमें जानेवाली मान गया है। बौद्ध साधु चमर रखते है, मुण्डन कराते हे, चमडेका आसन और कमण्डलु रखते है, तथा घुटी तक गेरुआ रगका वस्त्र पहिनते हैं। ये लोग स्नान आदि शौच क्रिया विशेष करते हे। बौद्ध साधु भिक्षा पात्रमे आये हुए मासको भी शुद्ध समझकर भक्षण कर लेते हे। ये लोग जीवोंकी दया पालनेके लिये भूमिको बुहारकर चलते है, और ब्रह्मचर्य आदि क्रियामे खूब दृढ होते है। बौद्ध मतमे धर्म, बुद्ध और संघ ये तीन रत्न, और सम्पूर्ण विघ्नोंको नाश करनेवाली ताराको देवी स्वीकार किया गया है। वैभाषिक, सौत्रातिक, योगाचार और माध्यमिक ये बौद्धोंके चार भेद है[2]।"

बौद्धोंके मुख्य सम्प्रदाय

बुद्धके निर्वाण जानेके बाद सघमे कलहका आरम्भ हुआ, और बुद्ध–निर्वाणके सो वर्ष पश्चात् ईसवी सन पूर्व ४०० मे वैशालीमे एक परिषद्की आयोजना की गई। इस परिषद्मे महासधिक मूल महासधिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादी कुकुल्लिक, वहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल और उत्तरशैल इन नौ शाखाओंमे विभक्त हो गये। इधर थेरवादी भी निम्न ग्यारह मुख्य शाखाओंमे वट गये—हैमवत, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सोत्रातिक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और छन्नागरिक[3]। थेरवादियों और महासघिकोंके उक्त सम्प्रदायोंके सिद्धातोके विषयमें वहुत कम ज्ञातव्य

१ पाली ग्रन्थोंमें कहीं आठ, कही सोलह, और कहीं पच्चीस बुद्धोंके नाम आते है। देखिये राजवाडे–दीघनिकाय भाग २, मराठी भाषातर, पृ० ४६।

२. देखिये गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय-टीका और राजशेखरका षड्दर्शनसमुच्चय।

३ वसुमित्रने इन वीस भेदोंको हीनयान सम्प्रदायकी शाखा कहकर उल्लेख किया है। परन्तु आगे चलकर ये महासघिक और थेरवाद सम्प्रदाय क्रमसे हीनयान और महायान कहे जाने लगे। हीनयानी केवल अपने ही निर्वाणके लिये प्रयत्न करते है और यहाँ अन्य मनुष्योंकी तरह बुद्धको भी मनुष्य ही माना गया है। यहाँ 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक है, पच स्कधोंका क्षय हो जाना निर्वाण है,' इसके आगे सिद्धान्तोंका दार्शनिक विकास दृष्टिगोचर नही होता। महायान सम्प्रदायके अनुयायी अनन्त काल तक प्राणियोंके मोक्षके लिये प्रयत्नशील रहते है। निर्वाणके वाद भी बुद्धकी प्रवृत्ति ससारके निर्वाणके लिये वरावर जारी रहती है। यहां गृहस्थमे रहकर भी विना किसी वर्णभेदके प्राणीमात्रके लिये निर्वाणका द्वार सदा

बातें मिलती हैं। वैदिक और जैन शास्त्रोंमें भी उक्त सम्प्रदायोंमें सर्वास्तिवादी, सौत्रांतिक और आर्यसमितीय (वैभाषिक) नामके बौद्ध सम्प्रदायोंको छोड़कर अन्य सम्प्रदायोंका उल्लेख नहीं मिलता।

सौत्रान्तिक

ये लोग टीकाओंकी अपेक्षा बुद्धके सूत्रोंको अधिक महत्त्व देनेके कारण सौत्रांतिक कहे जाते हैं। सौत्रांतिक लोग सर्वास्तिवादियों (वैभाषिकों) की तरह बाह्य जगतके अस्तित्वको मानते हैं और समस्त पदार्थोंको बाह्य और अन्तरके भेदसे दो विभागोंमें विभक्त करते हैं। बाह्य पदार्थ भौतिक रूप, और आन्तर पदार्थ चित्त चैत्त रूप होते हैं। "सौत्रांतिकोंके मतमें पांच स्कन्धोंको छोड़कर आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। पाँच स्कंध ही परलोक जाते हैं। अतीत, अनागत, सहेतुक विनाश, आकाश और पुद्गल (नित्य और व्यापक आत्मा) ये पाँच संज्ञामात्र, प्रतिज्ञामात्र, संवृतिमात्र, और व्यवहारमात्र हैं। सौत्रान्तिकोंके मतमें पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे न होकर ज्ञानके आकारकी अन्यथानुपपत्ति रूप अनुमानसे होता है। साकार ज्ञान प्रमाण होता है। सम्पूर्ण संस्कार क्षणिक होते हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्शके परमाणु तथा ज्ञान प्रत्येक क्षण नष्ट होते हैं। अन्यापोह (अन्य व्यावृत्ति) ही शब्दका अर्थ है। तदुत्पत्ति और तदाकारतासे पदार्थोंका ज्ञान होता है। नैरात्म्य भावनासे जिस समय ज्ञान-सन्तानका उच्छेद हो जाता है, उस समय निर्वाण होता है[1]।" वसुबंधुके अभिधर्मकोशके[2] अनुसार सौत्रांतिक लोग वर्तमान, और जिनसे अभी फल उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसी भूत वस्तुको अस्ति रूप, तथा भविष्य और जिनसे फल उत्पन्न हो चुका है, ऐसी भूत वस्तुको नास्ति रूप मानते हैं। सौत्रांतिक लोगोंके इस सिद्धांतको माननेवाले धर्मत्राता, घोष, वसुमित्र और बुद्धदेव ये चार विद्वान मुख्य समझे जाते हैं। ये लोग क्रमसे भावपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम और अपेक्षापरिणामको मानते हैं।

धर्मत्राता (१०० ई)—भाव-परिणामवादी धर्मत्राताका मत है कि जिस प्रकार सुवर्णके कटक, कुण्डल आदि गुणोंमें ही परिवर्तन होता है, स्वयं सुवर्ण द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता, इसी तरह वस्तुका धर्म भविष्य पर्यायको छोड़कर वर्तमान रूप होता है, और वर्तमान भावको छोड़कर अतीत रूप होता है, परन्तु वास्तवमें स्वयं द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता[3]। धर्मत्राताको कनिष्ककी परिषद्के मुख्य सदस्य वसुमित्रका मामा कहा जाता है। धर्मत्राताने बुद्ध भगवानके मुखसे कहे हुए एक हजार श्लोकोंका

खुला रहता है। इस सम्प्रदायके अनुयायी बुद्धको देवाधिदेव मानकर बुद्धकी भक्ति करते हैं। महायान सम्प्रदायमें प्रत्येक पदार्थको निःस्वभाव और अनिर्वाच्य कहकर तत्त्वोंका दार्शनिक रीतिसे तलस्पर्शी विचार किया गया है। सौत्रांतिक और वैभाषिक हीनयान, और विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान सम्प्रदायकी शाखायें हैं।

जापानी विद्वान् यामाकामी सोगेन (Yamakami Sogen) के मतानुसार बुद्धके निर्वाणके तीन सौ बरस बाद वैभाषिक, चार सौ बरस बाद सौत्रान्तिक, तथा पाँच सौ बरस बाद माध्यमिक और ईसाकी तीसरी शताब्दिमें विज्ञानवाद सिद्धान्तोंकी स्थापना हुई। प्रो ध्रुवका मत है, कि असंग और वसुबंधुके पूर्व भी विज्ञानवादका सिद्धान्त मौजूद था, इसलिये मध्यमवादके पहले विज्ञानवादको मानकर बादमें माध्यमिकवादकी उत्पत्ति मानना चाहिये। देखिये प्रोफेसर ध्रुव—स्याद्वादमञ्जरी पृ० ७० २५।

१ गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय-टीका।

२. इसका रशियन विद्वान प्रो. शर्वात्स्की (Stchertatsky) ने अंग्रेजीमें अनुवाद किया है।

३. धर्मस्याध्वसु वर्तमानस्य भावान्यथात्वमेव केवलं न तु द्रव्यस्येति। यथा सुवर्णद्रव्यस्य कटककेयूर-कुण्डलाद्यभिधाननिमित्तस्य गुणस्यान्यथात्वं न सुवर्णस्य तथा धर्मस्यानागतादिभावादन्यथात्वम्। तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ५०४।

धम्मपदमें तेंतीस अध्ययनोंमें संग्रह किया था। धम्मपदका चीनी अनुवाद मिलता है। धर्मत्राताको पंच-वस्तुविभाषाशास्त्र संयुक्ताभिधर्महृदयशास्त्र, अवदानसूत्र और धर्मत्रातध्यानसूत्र इन ग्रंथोंका प्रणेता कहा जाता है[१]।

घोष (१५० ई)—लक्षण-परिणामवादी घोषका सिद्धांत है कि जिस प्रकार किसी एक स्त्रीमें आसक्ति करनेवाला पुरुष दूसरी स्त्रियोंमें आसक्तिको नहीं छोड़ देता, उसी तरह भूत धर्म भूत धर्मसे संबद्ध होता हुआ वर्तमान और भविष्य धर्मोंसे संबंध नहीं छोड़ता, तथा वर्तमान धर्म वर्तमान धर्मसे संबद्ध होता हुआ भूत और भविष्य धर्मसे संबंध नहीं छोड़ता[२]। घोषने अभिधर्मामृतशास्त्रकी रचना की है। इस ग्रंथका चीनी अनुवाद उपलब्ध है।

बुद्धदेव (२०० ई)—अपेक्षा-परिणामवादी बुद्धदेवका कहना है कि जैसे एक ही स्त्री पुत्री माता आदि कही जाती है, उसी तरह एक ही धर्ममें नाना अपेक्षाओंसे भूत, भविष्य और वर्तमानका व्यवहार होता है। जिसके केवल पूर्व पर्याय है, उसे भविष्य, जिसके केवल उत्तर पर्याय है, उसे भूत, और जिसने पूर्व पर्यायको प्राप्त कर लिया है और जो उत्तर पर्यायको धारण करनेवाला है, उसे वर्तमान कहते हैं।[३]

वसुमित्र (१०० ई०)—अवस्था-परिणामवादी वसुमित्रका कहना है कि धर्म भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी अपेक्षा ही भूत, भविष्य और वर्तमान कहा जाता है। वास्तवमें द्रव्यमें परिवर्तन नहीं होता। इसलिये जिस समय किसी धर्ममें कार्य करनेकी शक्ति बन्द हो जाती है, उस समय उसे भूत, जिस समय धर्ममें क्रिया होती रहती है, उस समय वर्तमान, और जिस समय धर्ममें क्रिया होनेवाली हो, उस समय उसे भविष्य कहते है।[४] वसुमित्र कनिष्ककी परिषद्में उपस्थित होनेवाले पाँचसौ अर्हतोंमेंसे थे। वसुमित्रने अभिधर्मप्रकरणपाद, अभिधर्मधातुकायपाद, अष्टादशनिकायशास्त्र, तथा आर्यवसुमित्रबोधिसत्त्वसंगीतशास्त्र ग्रंथोंकी रचना की है।

धर्मत्राता, घोष, बुद्धदेव और वसुमित्रके सिद्धांतोंका प्रतिपादन और खण्डन तत्त्वसंग्रहमें त्रैकाल्य-परीक्षा नामक प्रकरणमें किया गया है। वसुबंधुने अभिधर्मकोश (५-२४-६)[५] में आदिके तीन विद्वानोंके मतोंका खण्डन करके वसुमित्रके अवस्था-परिणामको स्वीकार किया है।

वैभाषिक

वैभाषिक लोग अभिधर्मकी टीका विभाषाको सबसे अधिक महत्त्व देनेके कारण वैभाषिक कहे जाते हैं। ये लोग भूत, भविष्य और वर्तमानको अस्तित्वरूपसे मानते है। इनके मतमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं। वैभाषिक लोग प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व मानते है। "इनके मतमें प्रत्येक

---

१. तत्त्वसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका, पृ० ५६।

२. धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽनीतलक्षणयुक्तोऽनागतप्रत्युत्पन्नाभ्यां लक्षणाभ्यां अवियुक्त। यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तः शेषास्वविरक्त एवमनागतप्रत्युत्पन्नावपि वाच्ये। तत्त्वसंग्रहपंजिका।

३. धर्मोऽध्वसु वर्तमान पूर्वापरमपेक्ष्यान्योन्य उच्यते इति। यथैका स्त्री माता चोच्यते दुहिता चेति। त० संग्रहपंजिका।

४. धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽवस्थामवस्थां प्राप्यान्योऽन्यो निर्दिश्यतेऽवस्थान्तरतो, न द्रव्यत, द्रव्यस्य त्रिष्वपि कालेष्वभिन्नत्वात्। तत्त्वसंग्रहपंजिका।

५. देखिये प्रोफेसर शेर्बाट्स्कीका The Central Conception of Buddhism, परिशिष्ट १, पृ. ७६-९१।

पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति, जरा और मरण इन चार क्षणों तक अवस्थित रहता है । पुद्गल (आत्मा) में भी ये गुण रहते हैं । ज्ञान निराकार होता है, और यह पदार्थके साथ एक ही सामग्रीसे उत्पन्न होता है । वैभाषिक आर्यसमितीय नामसे भी कहे जाते हैं ।[1]"

वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) लोगोंका साहित्य आजकल चीनी भाषामें उपलब्ध है । मुख्य साहित्य निम्न प्रकारसे है—१ कात्यायनीपुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र । इसे महाविभाषा भी कहते हैं । २ शारीपुत्रका धर्मस्कंध । ३. पूर्णका धातुकाय । ४. मौद्गलायनका प्रज्ञप्तिशास्त्र । ५. देवक्षेमका विज्ञानकाय । ६. शारीपुत्रका संगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणपाद । इसके अतिरिक्त, ईसवी सन् ४२०-५०० में वसुबंधुने *अभिधर्मकोश (वैभाषिककारिका)* ग्रंथ लिखा और इस ग्रंथपर स्वयं ही अभिधर्मकोशभाष्य रचा । इसमें सौत्रांतिकोंके सिद्धांतोंका खण्डन किया गया है । आगे चलकर सौत्रांतिक विद्वान यशोमित्रने इस ग्रंथपर अभिधर्मकोशव्याख्या नामकी टीका लिखी । उसके अलावा, वैभाषिक विद्वान संघभद्रने समयप्रदीप और न्यायानुसार (इनका चीनीमें भाषांतर है) नामक ग्रन्थ लिखे । धर्मत्राता, घोष, वसुमित्र, आदिने भी वैभाषिक सम्प्रदायके अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । प्रसिद्ध तार्किक दिङ्नाग ने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रडमरु, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, आलंबनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा आदि न्याय ग्रंथोंकी रचना की है ।

सौत्रांतिक और वैभाषिक दोनों सम्प्रदायोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । इसीलिये वैदिक ग्रन्थकार इन दोनों सम्प्रदायोंके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंमें[2] में कोई भेद न समझकर सौत्रांतिक और वैभाषिकोंका सर्वास्तिवादीके नामसे उल्लेख करते हैं । परन्तु सौत्रांतिकोंने कभी अपने आपको सर्वास्तिवादी नहीं कहा कारण कि सर्वास्तिवादी और सौत्रांतिक दोनोंके ग्रंथ अलग-अलग थे[3] । सौत्रान्तिक और वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) दोनों बाह्य पदार्थोंके अस्तित्वको मानते हैं । ये लोग अठारह धातुओंको स्वीकार करते हैं । इन सम्प्रदायोंकी रुचि विशेष रूपसे क्षणिकवाद, प्रत्यक्ष और अनुमानकी परिभाषा, पदार्थोंका अर्थक्रियाकारित्व, अपोहवाद, अवयववाद, विशेषवाद आदि विषयोंको प्रतिपादन करनेकी ओर अधिक रही है । ये न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि वैदिक दर्शनकारोंके सिद्धांतोंका खण्डन करते थे । वसुबन्धु, यशोमित्र, धर्मकीर्ति (लगभग ६३५ ई.), विनीतदेव, शान्तभद्र, धर्मोत्तर (८४१ ई), रत्नकीर्ति, पण्डित अशोक, रत्नाकर शान्ति आदि विद्वान इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वान हैं ।

सौत्रान्तिक-वैभाषिकोंके सिद्धांत

१ प्रमाण और प्रमाणका फल भिन्न नहीं है—जिस समय किसी प्रमाणके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेपर उस पदार्थ सम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उस समय उस पदार्थके प्रति हेय अथवा उपादेयकी बुद्धि होती है । इसी बुद्धिका होना प्रमाणका फल (प्रमिति) कहा जाता है । नैयायिक, मीमांसक और सांख्य लोगोंकी मान्यता है कि जिस प्रकार काटनेकी क्रियाके विना कुठारको करण नहीं कहा जा सकता, उसी तरह प्रमिति क्रियाके विना प्रमाणको करण नहीं कह सकते । अतएव जिस प्रकार कुठारसे वृक्षको काटनेपर वृक्षके दो टुकडे हो जाना रूप फल कुठारसे भिन्न है, उसी तरह इन्द्रिय और पदार्थोंका ज्ञान होनेसे जो पदार्थोंका ज्ञान होना रूप फल होता है, उसे भी प्रमाणसे सर्वथा भिन्न मानना चाहिये । प्रत्यक्ष,

१. देखिये गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय टीका, पृ ४६, ४७ । सर्वास्तिवादके सिद्धान्तोंके विशेष जाननेके लिये यामाकामी सोगेनका Systems of Buddhistic Thought देखना चाहिये ।

२. सर्वदर्शनसंग्रहकार आदि विद्वानोंके अनुसार वैभाषिक पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे और सौत्रांतिक पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे मानते हैं ।

३. देखिये यामाकामी सोगेन का Systems of Buddhistic Thought. अध्याय ३ ।

अनुमान आदि प्रमाण साधकतम होनेसे करण है, और पदार्थोंका हेय-उपादेय रुप ज्ञान होना साध्य होनेसे क्रियारूप है, अतएव प्रमाणका फल प्रमाणसे सर्वथा भिन्न है। बौद्ध इस सिद्धान्तका खण्डन करते है। उनका कथन है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका स्वरूप पदार्थोंका जानना है, अतएव पदार्थोंको जाननेके सिवाय प्रमाणका कोई दूसरा फल नही कहा जा सकता, इसलिये प्रमाण और प्रमाणके फलको सर्वथा अभिन्न मानना चाहिये। जिस समय ज्ञान पदार्थोंको जानता है, उस समय ज्ञान पदार्थोंके आकारका होता है, यही ज्ञानकी प्रमाणता है। तथा ज्ञान पदार्थोंके आकारका होकर पदार्थोंको जानता हैं, यह ज्ञानका फल है। अतएव एक ही ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणका फल स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारमे भी देखा जाता है कि जो आत्मा प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान करती है, उसे ही फल मिलता है। इसलिये प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न है।

२. क्षणिकवाद—बौद्ध लोग प्रत्येक पदार्थको क्षणिक स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि संसारमें कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि नष्ट होना पदार्थोंका स्वभाव है। यदि पदार्थोंका स्वभाव नष्ट होना न माना जाय, तो घडे और लाठीका सघर्ष होनेपर भी घडेका नाश नहीं होना चाहिये। हमे पदार्थ नित्य दिखाई पडते है, परन्तु यह हमारा भ्रम मात्र है। वास्तवमे प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षणमे नाश हो रही है। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिके प्रतिक्षण बदलते रहनेपर भी समान आकारकी ज्ञान-परम्परासे 'यह वही दीपक हैं' इस प्रकारका ज्ञान होता हैं, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके क्षण-क्षणमें नष्ट होनेपर भी पूर्व और उत्तर क्षणोंमे सदृशता होनेके कारण वस्तुका प्रत्यभिज्ञान होता है।[१] यदि वस्तुको नित्य माना जाय तो कूटस्थ नित्य वस्तुमे अर्थक्रिया नहीं हो सकती[२], और वस्तुमे अर्थक्रिया न होनेसे उसे सत् भी नही कहा जा सकता। दसवी शताब्दिके बौद्ध विद्वान रत्नकीर्तिने क्षणिकवादकी सिद्धिके लिये 'क्षणभगसिद्धि' नामक स्वतन्त्र ग्रथ लिखा है।[३] इस ग्रथमे रत्नकीर्तिने शकर, त्रिलोचन, न्यायभूषण, वाचस्पति आदि विद्वानोंके मतका खण्डन करते हुए अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिसे क्षणभगवादकी सिद्धि की है। शान्तरक्षित आचार्यने तत्त्वसग्रहमे स्थिरभावपरीक्षा नामक प्रकरणमे भी नित्यवादकी मीमासा करते हुए क्षणिकवादको सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त, जैन[४] और वैदिक[५] ग्रथोंमे भी क्षणिकवादका प्रतिपादन मिलता है[६]।

३. अवयववाद—नैयायिक लोग अवयवीको अवयवोंसे भिन्न मानकर उन दोनोंका सम्बन्ध समवायसे स्वीकार करते हैं। परन्तु बौद्धोका कहना है कि अवयवोंको छोडकर अवयवी कोई भिन्न वस्तु नहीं है। भ्रमके कारण अवयव ही अवयवी रूप प्रतीत होते है। अवयव रूप परमाणु उत्पन्न होते है और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं, इसलिये अवयवोंको छोडकर अवयवी पृथक् वस्तु नहीं है। जिस समय परस्पर मिश्रित परमाणु ज्ञानसे जाने जाते हैं, उस समय ये परमाणु विस्तृत प्रदेशमे रहनेके कारण स्थूल कहे जाते है।[७]

१. जैन लोग भी पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा क्षणिकवाद स्वीकार करते है—स्याद्वादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरंपरोत्पत्तिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। देखिये पीछे, पृ. १८८

२, देखिये पीछे पृ. २३४

३. पडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा विब्लिओथिका इन्डिका कलकत्तामें सम्पादित।

४. देखिये षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नकी टीका, पृ. २९, ३०, ४०, चन्द्रप्रभसूरि, प्रमेयरत्नकोष पृ०. ३०।

५ न्यायमजरी; न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका आदि।

६. बौद्धोंके क्षणिकवादकी तुलना फ्रासके दार्शनिक बर्गसॉ (Bergson) के क्षणिकवादके साथ की जा सकती है।

७. परमाणव एव पररूपदेशपरिहारेणोत्पन्नाः परस्परसहिता अवभासमाना देशवितानवन्तो भासन्ते, विततदेशत्वञ्च स्थूलत्वम्। पंडित अशोक, अवयविनिराकरण, पृ. ७९।

इसलिये परमाणुओंको छोडकर अवयवीको भिन्न नहीं मानना चाहिये । पंडित अशोकने अवयववादकी पुष्टिके लिये 'अवयविनिराकरण' नामक ग्रंथ लिखा है ।

४. विशेषवाद—नैयायिक सामान्यको एक, नित्य और व्यापी मानते हैं । बौद्धोंका मत है कि विशेषको छोडकर सामान्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है । सम्पूर्ण क्षणिक पदार्थोंका ज्ञान उनके असाधारण रूपमें ही होता है, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ स्वलक्षण हैं, अर्थात् पदार्थोंका सामान्य रूपसे ज्ञान नहीं होता । जिस समय हम पांच उंगलियोंका ज्ञान करते हैं, उस समय पांच उंगलियोंरूप विशेषको छोडकर अंगुलित्व कोई भिन्न जाति नहीं मालूम होती ।[1] इसी प्रकार गौको जानते समय गौके वर्ण, आकार आदि विशेष ज्ञानको छोड़कर गोत्व सामान्यका भिन्न ज्ञान नहीं होता, अतएव विशेषको छोडकर सामान्यको भिन्न वस्तु नहीं मानना चाहिये । क्योंकि विशेषमें ही वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण ठीक-ठीक घटता है ।[2] वेदान्तियोंके मतमें भी जातिका प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे ज्ञान नहीं माना गया, अतएव सामान्य भिन्न-पदार्थ नहीं है ।

५ अपोहवाद—जिससे दूसरेकी व्यावृत्ति की जाय, उसे अपोह कहते हैं (अन्योऽपोह्यते व्यावर्त्यते अनेन) । बौद्ध लोग अत्यन्त व्यावृत्त परस्पर विलक्षण स्वलक्षणोंमें अनुवृत्ति प्रत्यय करनेवाले सामान्यको नहीं मानते, यह कहा जा चुका है । बौद्धोंकी मान्यता है कि जिस समय हमें किसी शब्दका ज्ञान होता है, उस समय उस शब्दसे पदार्थोंका अस्ति और नास्ति दोनों रूपसे ज्ञान होता है । उदाहरणके लिये, जिस समय हमें गौ शब्दका ज्ञान होता है, उस समय एक साथ ही गौके अस्तित्व और गौके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके नास्तित्व रूपका ज्ञान होता है । इसलिये बौद्धोंके मतमें अतद्व्यावृत्ति (अपोह) ही शब्दार्थ माना जाता है । पंडित अशोकने अपोहवादपर 'अपोहसिद्धि' नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है । मीमांसाश्लोकवार्तिकमें भी अपोहवादपर एक अध्याय है ।

शून्यवाद

शून्यवादको माध्यमिकवाद अथवा नैरात्म्यवाद भी कहते हैं । माध्यमिक लोगोंका कथन है कि पदार्थोंका न निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न पदार्थोंका उच्छेद होता है, न पदार्थ नित्य हैं, न पदार्थोंमें अनेकता है, न एकता है, और न पदार्थोंमें गमन होता है, और न आगमन होता है[3] । अतएव सम्पूर्ण धर्म मायाके समान होनेसे निस्स्वभाव हैं । जो जिसका स्वभाव होता है, वह उससे कभी पृथक् नहीं होता, और वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता । परन्तु हम जितने पदार्थ देखते हैं, वे सब अपनी-अपनी हेतुप्रत्यय-सामग्रीसे[4] उत्पन्न होते हैं, और अपनी योग्य सामग्रीके अभावमें नहीं होते । इसलिये जो लोग स्वभावसे पदार्थोंको भावरूप मानते हैं, वे लोग अहेतु-प्रत्ययसे पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करना चाहते हैं । अतएव सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं, कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता । अतएव हम

---

१ प्रत्यक्षभासि धर्म्मिसु न पंचस्वंगुलीषु स्थित
सामान्यं प्रतिभासते न च विकल्पाकारबुद्धौ तथा ।
ता एव स्फुटमूर्तयोऽत्र हि विभासन्ते न जातिस्ततः
सादृश्यभ्रमकारणो पुनरिमावेकोपलब्धध्वनी ॥
पंडित अशोक, सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता, पृ.

२ देखिये पीछे, पृ १२३–१२४ ।

३. अनिरुद्धमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतं ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥ माध्यमिकवृत्ति प्रत्ययपरीक्षा ।

४ हेतुप्रत्यय अपेक्ष्य वस्तुनः स्वभावता न इतरथा ।

पदार्थों का स्वभावकी अपेक्षा उत्पन्न होना नहीं मान सकते[१]। पदार्थ स्वभावसे भाव रूप नहीं है, इसलिये वे परभावकी अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होते, अन्यथा सूर्यसे भी अन्धकारकी उत्पत्ति माननी चाहिये। पदार्थ स्वभाव और परभावकी अपेक्षा उत्पन्न नहीं होते, इसलिये स्वभाव और परभाव दोनों (उभय रूप) से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा भाव, अभाव और भावाभावसे पदार्थों की उत्पत्ति न होनेसे अनुभय रूपसे भी पदार्थ उत्पन्न नही हो सकते[२]। अतएव जिस प्रकार असत् मायागज सत् रूपसे प्रतीत होता है, जिस प्रकार अपारमार्थिक माया परमार्थ रूपसे ज्ञात होती है, उसी तरह सम्पूर्ण अतात्त्विक धर्म अविद्याके कारण तत्त्व रूपसे दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तवमे न पदार्थ उत्पन्न होते है, न नष्ट होते हे, न कही लाभ है, न हानि है, न सत्कार हैं, न पराभव हैं, न सुख हे, न दुख है, न प्रिय है, न अप्रिय है, न कहो तृष्णा है, न कोई जीवलोक है, न कोई मरनेवाला हैं, न कोई उत्पन्न होगा, न हुआ है, न कोई किसीका बन्धु है और न कोई मित्र है।[३] जो पदार्थ हमे भाव अथया अभाव रूप प्रतीत होते हैं, वे केवल सवृति अथवा लोकसत्यकी दृष्टिसे ही प्रतीत होते हे। परमार्थ सत्यकी अपेक्षासे एक निर्वाण ही सत्य है, और वाकी सम्पूर्ण सस्कार असत्य हे। यह परमार्थ सत्य बुद्धिके अगोचर है, पूर्ण विकल्पोंसे रहित है, अनभिलाप्य है, अनक्षर है, और अभिधेय अभिधानसे रहित हैं। यद्यपि इस परमार्थ धर्मका उपदेश नहीं हो सकता, परन्तु जिस प्रकार किसी म्लेच्छको कोई बात समझानेके लिए म्लेच्छकी ही भाषाका उपयोग करना पडता है, उसी प्रकार ससारके प्राणियोंको निर्वाणका मार्ग प्रदर्शन करनेके लिये सवृति सत्यका उपयोग करना पडता है, क्योंकि

---

१. यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो
न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति।
य प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो।
य. शून्यता जानति सोऽप्रमत्त ॥ बोधिचर्यावतार पजिका पृ ३५५।

जैन दर्शनमे वस्तुको स्वभावसे अशून्य और परभावसे शून्य माना गया हैं—सर्वस्य वस्तुन स्वरूपादिना अशून्यत्वात्पररूपादिना शून्यत्वात्। अमृतचन्द्र-पचास्तिकाय १४ टीका। परन्तु पचाध्यायीकारने वस्तुको सर्वविकल्पातीत कहकर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे भी अस्तिरूप और परभावसे भी नास्तिरूप नहीं माना है—

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्व स्वरूपतोऽपि तत.।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिग यतो वस्तु ॥ पचाध्यायी १-७५८।

सिद्धसेन दिवाकर भगवानको शून्यवादी कहकर स्तुति करते है—
त्वमेव परमास्तिक परमशून्यवादी भवान्।
त्वमुज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादः पुन ॥
परस्परविरुद्धतत्त्वसमयश्च सुश्लिष्टवाक्।
त्वमेव भगवन्नकप्यसु (सु) नयो यथा कस्तथा ॥ द्वा द्वात्रिंशिका ३-२१।

२ न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मक। बोधिचर्यावतार पजिका, पृ २५९।

३ एव शून्येषु धर्मेषु किं लब्ध कि हृत भवेत्।
सत्कृत परिभूतो वा केन क सभविष्यति।
कुत. सुख वा दुःखं वा कि प्रियम् वा किमप्रियम्।
का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावत ॥
विचारे जीवलोकः क को नामात्र मरिष्यति।
को भविष्यति को भूत को बन्धु कस्य क सुहृत् ॥ बोधिचर्यावतार ९-१५२,३,४।

संवृति सत्यका विना अवलम्बन लिये परमार्थका उपदेश नहीं किया जा सकता।[१] इसलिए सम्पूर्ण धर्मोको निस्स्वभाव—शून्य—ही मानना चाहिये। क्योंकि शून्यतासे ही पदार्थोंका होना सभव है।[२]

शका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ शून्य है, और न किसी पदार्थका उत्पाद होता है और न निरोध होता है, तो फिर चार आर्यसत्योंको, अच्छे और बुरे कर्मोके फलको, बोधिसत्वकी प्रवृत्तिको और स्वय बुद्धको भी शून्य और मायाके समान मिथ्या मानना चाहिये। समाधान—बुद्धका उपदेश परमार्थ और सवृति इन दो सत्योंके आधारसे ही होता है। जो इन दोनों सत्योंके भेदको नहीं समझता, वह बुद्धके उपदेशोंके ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं है। बौद्ध दर्शनमें बाह्य और आध्यात्मिक भावोंका प्रतिपादन, इन्ही दो सत्योंके आधारसे किया गया है।[३] साधारण लोग विपर्यासके कारण सवृति सत्यसे स्कध, धातु, आयतन आदिको तत्त्व रूपसे देखते है। परन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर तत्त्वज्ञ आर्य लोगोंको स्कध आदि निस्स्वभाव प्रतीत होने लगते हे। इसलिये 'क्या अनन्त है, क्या अन्त अनन्त (उभय) है, क्या अनुभय (न अन्त और न अनन्त) है, क्या अभिन्न है, क्या भिन्न है, क्या शाश्वत है, क्या अनित्य है, क्या नित्य-अनित्य है, और क्या अनुभय (न नित्य और न अनित्य) है[४]' ये प्रश्न बुद्धिमानोंके मनमे नहीं उठते। स्वय निर्वाण भी भाव रूप हैं, या अभाव रूप है, यह हम नहीं जान सकते। क्योंकि निर्वाण न उत्पन्न होता है, न निरुद्ध होता है, न वह नित्य हैं, और न अनित्य है। निर्वाणमे न कुछ नष्ट होता है, और न कुछ उत्पन्न होता है[५]। जो निर्वाण है, वही ससार है और जो ससार है, वही निर्वाण है।[६] इसलिये भाव, अभाव, उभय, अनुभय इन चार कोटियोंसे रहित प्रपचोशमरूप निर्वाणको ही माध्यमिकोंने परमार्थ तत्त्व माना है। यद्यपि सर्व धर्मोके निस्स्वभाव होनेसे परमार्थ सत्य अनक्षर है, इसलिये तूष्णी भावको ही आर्योने परमार्थ सत्य[७] कहा है, परन्तु फिर भी व्यवहार सत्य परमार्थ सत्यका उपायभूत है।[८] जिस तरह सस्कृत धर्मोसे असस्कृत निर्वाणकी प्राप्ति होती है, उसी तरह सवृति सत्यसे परमार्थ सत्यकी उपलब्धि होती है। वास्तवमें न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको प्रमाण कहा जा सकता है, और न वास्तवमे पदार्थोको क्षणिक ही कह सकते है। किन्तु जिस तरह कोई पुरुष अपवित्र स्त्रीके शरीरमें पवित्र भावना रखता है, उसी तरह मूर्ख पुरुष मायारूप भावोंमे क्षणिक, अक्षणिक

---

१. तस्मात् सकलविकल्पाभिलापविकलत्वादनारोपितमसावृतमनभिलाप्य परमार्थतत्त्व कथमिव प्रतिपादयितु शक्यते। तथापि भाजनश्रोतृजनानुग्रहार्थं (परिकल्पमुपादाय) सवृत्या निदर्शनोपदर्शनेन किंचिदभिधीयते। बोधिचर्यावतार पजिका, पृ. ३६३।

२. सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते। माध्यमिककारिका २४-१४

३ द्वे सत्ये समुपश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं सत्य च परमार्थत'॥ माध्यमिककारिका २४-८।

४ माध्यमिककारिका, निर्वाणपरीक्षा।

५ अप्रहीणामसाप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वत।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमिष्यते॥ माध्यमिककारिका निर्वाणपरीक्षा।

६ निर्वाणस्य च या कोटि कोटि ससरणस्य च
न तयोरन्तर किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥ माध्यमिककारिका, निर्वाणपरीक्षा।

७. परमार्थो हि आर्याणा तूष्णींभावः। चन्द्रकीर्ति, माध्यमिकवृत्ति।

८ उपायभूत व्यवहारसत्य उपेयभूत परमार्थसत्य।
तयोर्विभागोऽवगतो न येन मिथ्याविकल्प स कुमार्गजान॥
चन्द्रकीर्ति, मध्यमकावतार ७-८०।

आदि धर्मोंका प्रतिपादन करते हैं[१]। और तो क्या परमार्थ सत्यसे बुद्ध और उसकी देशना भी मृगतृष्णाके समान है। इसलिये धर्मोंके निस्स्वभाव होनेपर भी प्राणियोंकी प्रज्ञप्तिके लिये ही बुद्धने इनका उपदेश किया है।[२]

शका—शून्यवादियोंके मतमे सम्पूर्ण भाव शून्य है, इसलिये शून्यताको भी शून्य मानना चाहिये। समाधान—वास्तवमे सम्पूर्ण पदार्थोके निस्स्वभावत्वके साक्षात्कार करनेके लिये ही बुद्धने शून्यताका उपदेश किया है। शून्यता भाव, अभाव, आदि चार कोटियोंसे रहित है, इसलिये शून्यताको अभाव (शून्य) रूप[३], नहीं कह सकते। हमारे मतमें भववासनाका नाश करनेके लिये ही शून्यताका उपदेश है, इसलिये शून्यतामें भी शून्यता बुद्धि रखनेसे नैरात्म्यवादका साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। अतएव हमें भाव-अभिनिवेशकी तरह शून्यतामे भी अभिनिवेश नहीं रखना चाहिये, अन्यथा भाव-अभिनिवेश और शून्यता-अभिनिवेश दोनोंमें कोई अन्तर न रहेगा।[४] जिस समय भाव, अभाव, शुद्धि, अशुद्धि रूप प्रपचवृत्ति नही रहती उस समय ईंधन रहित अग्निकी तरह सत् और असत्के आलम्बनसे रहित बुद्धि सम्पूर्ण विकल्पोंके उपशम होनेसे शात हो जाती है।

माध्यमिकवादके प्रधान आचार्य नागार्जुन (१०० ई०) माने जाते है। नागार्जुनने शून्यवादके स्थापन करनेके लिये चार सौ कारिकाओंमे माध्यमिककारिका नामक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रथके उपर नागार्जुनने अकुतोभया नामकी टीका लिखी है। इसका अनुवाद तिब्बती भाषा मे मिलता है। माध्यमिककारिकापर बुद्धपालित और भावविवेकने भी टीकाये लिखी हैं, जो तिब्बती भाषामे है। बुद्धपालित शून्यवादके अन्तर्गत प्रासगिक सम्प्रदायके जन्मदाता कहे जाते है। बुद्धपालित शून्यवादके सिद्धातोंको स्थापित करके अन्य मतवालोंका खण्डनकर नागार्जुनके सिद्धातोंकी रक्षा करना चाहते थे। भावविवेक शून्यवादके दूसरे सम्प्रदाय स्वातन्त्रिक मतके प्रतिष्ठाता है। ये आचार्य स्वतत्र तर्कोंसे शून्यवादकी सिद्धि करते थे। माध्यमिककारिकाके उपर चन्द्रकीर्तिने (५५० ई) प्रसन्नपदा नामकी सस्कृत टीका लिखी है। यह टीका उपलब्ध है। नागार्जुनने सुहृल्लेख, युक्तिषष्ठिका आदि अनेक ग्रथ लिखे है। शून्यवादके दूसरे महान् आचार्य आर्यदेव है। ये नागार्जुनके शिष्य थे। इन्होंने चतु शतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण आदि अनेक ग्रथ लिखे है।

---

१. अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥
लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः।
तत्त्वत क्षणिका नैते सवृत्या चेद् विरुध्यते ॥ बोधिचर्यावतार ९–६, ७।

२ शून्य इति न वक्तव्य अशून्य इति वा भवेत्।
उभय नोभय चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥
माध्यमिककारिका २२–११।

३. शून्यवादियोंके ग्रन्थोंमें शून्यताका अन्तद्वयरहितत्व, मध्यमप्रतिपदा, परस्परअपेक्षिता, धर्मधातु आदि शब्दोंसे उल्लेख किया गया है। रशियन विद्वान प्रोफेसर शेर्वात्स्की 'शून्यता' का अनुवाद 'Relativity'—अपेक्षिता शब्दसे करते है। उक्त विद्वान लेखकने यूरोपके हेगैल (Hegel), ब्रैडले (Bradley) आदि महान् विचारकोंके सिद्धान्तोंके साथ 'शून्यवाद' की तुलना की है, और सिद्ध किया है कि इस सिद्धान्तको Nihilism (सर्वथा अभाव रूप) नही कहा जा सकता। देखिये लेखककी Conception of Budhist Nirvana, पृ. ४९ से आगे।

४. सर्वसकल्पहानाय शून्यतामृतदेशना।
यस्य तस्यामपि ग्राहस्त्वयासाववसादित ॥ बोधिचर्यावतारपजिका, पृ. ३५९।

विज्ञानवाद

इसे योगाचार[1] भी कहते है । विज्ञानवादी भी शून्यवादियोंकी तरह सब धर्मोंको निस्सभाव[2] मानते है । विज्ञानवादियोंके मतमे विज्ञानको छोड़कर बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है । जिस प्रकार जलता हुआ काष्ठ (अलातचक्र) चक्र रूपसे घूमता हुआ मालूम होता है, अथवा जिस प्रकार तैमिरिक पुरुषको केशमें मच्छरका ज्ञान होता है, उसी तरह कुदृष्टिसे युक्त लोगोंको अनादि वासनाके कारण पदार्थोंका एकत्व, अन्यत्व, उभयत्व और अनुभयत्व रूप ज्ञान होता है, वास्तवमे समस्त भाव स्वप्न-ज्ञान, माया और गन्धर्व नगरकी तरह असत् रूप[3] है । इसलिये परमार्थ सत्यसे स्वयप्रकाशक विज्ञान ही सत्य है । यह सब दृश्य-मान जगत विज्ञानका ही परिणाम है, और यह सवृति सत्यसे ही दृष्टिगोचर होता है[4] । विज्ञानवादियोंके मतमें चित्त ही हमारी वासनाका मूल कारण है । इस चित्तमें सम्पूर्ण धर्म कार्यरूपसे उपनिबद्ध होते हैं, अथवा यह चित्त सम्पूर्ण धर्मोंमे कारणरूपसे उपनिबद्ध होता है, इसलिये इसे आलयविज्ञान कहते हैं । यह आलयविज्ञान सम्पूर्ण क्लेशोंका बीज है[5] । जिस प्रकार जलका प्रवाह तृण, लकडी आदिको बहाकर ले जाता है, उसी तरह यह आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार आदि धर्मोंको आकर्षित करके अपने प्रवाहसे ससारको उत्पन्न करता है[6] । जिस प्रकार समुद्रमें कल्लोले उठा करती है, वैसे ही दृश्य पदार्थोंको स्वचित्तसे भिन्न समझनेसे,

---

१ विज्ञानवादियोंके मतमें जो योगकी साधना करके बोधिसत्वकी दशभूमिको प्राप्त करते हैं, उन्हींको बोधिकी प्राप्ति होती है, इसलिये इस सम्प्रदायको योगाचार नामसे कहा जाता है । विद्वानोंका कहना है कि असगके योगाचारभूमिशास्त्र नामक ग्रथके उपरसे ब्राह्मणोंने विज्ञानवादको योगाचार सज्ञा दी है ।

२. त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधा निस्स्वभावता ।
सधाय सर्वधर्माणा देशिता निस्स्वभावता ॥ वसुबन्धु–त्रिंशिका २६ ।
तात्त्विक दृष्टिसे विचार किया जाय तो विज्ञानवाद और शून्यवादमें कोई अन्तर नहीं है । दोनों सम्पूर्ण पदार्थोंको निस्स्वभाव कहते हैं । अन्तर इतना ही है कि विज्ञानवादी बाह्य पदार्थोंको मानकर उन्हें केवल विज्ञानका परिणाम कहते हैं, जब कि शून्यवादी बाह्य पदार्थोंको मायारूप मानकर निस्स्वभाव सिद्ध करनेमें सम्पूर्ण शक्ति लगा देते है । परन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि यदि आप लोगोंके मतमें बाह्य पदार्थोंकी तरह माया स्वभावको ग्रहण करनेवाली कोई बुद्धि नहीं मानी गई, तो मायाकी उपलब्धि किस प्रकार होती है ? तो विज्ञानवादी उत्तर देता है कि ये सम्पूर्ण पदार्थ चित्तके विकार है, जो अनादि वासनाके कारण उत्पन्न होते है । देखिये दासगुप्त, A History of Indian Philosophy, पृ १६६,७, तथा बोधिचर्यावतारपजिका ९-१५ से आगे ।

३ चित्त केशोण्डुक माया स्वप्नगधर्वमेव च ।
अलात मृगतृष्णा च असन्त' ख्याति वै नृणाम् ॥
नित्यानित्य तथैकत्वभुमय नोभय तथा ।
अनादिदोषसवधा' बाला कल्पति मोहिता' ॥ लकावतार २-१५७, ८ ।

४. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना ।
बाह्योऽर्थ साव्रृत सत्य चित्तमेकमसाव्रृतम् ॥

५ सर्वसाक्लेशीकधर्मबीजस्थानत्वात् आलय । आलय स्थानमीती पर्यायौ । अथवा लीयन्ते उपनिबध्यतेऽस्मिन् सर्वधर्मा कार्यभावेन । तद्वा लीयते उपनीबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालय. । विजानाति विज्ञान । त्रिंशिका २, स्थिरमतिभाष्य पृ० १८ ।

६. यथा ही ओघ तृणकाष्ठगोमयादीनाकर्षयन् गच्छति एव आलयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यानेज्यकर्मवासना-

अनादि कालकी वासनासे, पदार्थोका द्रष्टा और दृश्य रूप समझनेवाली विज्ञानप्रकृतिके स्वभावसे, तथा पदार्थोका विचित्र अनुभव करनेसे[१] आलयविज्ञानमे प्रवृत्तिविज्ञानकी लहरे उठा करती है। यह आलय-विज्ञान उत्पाद, स्थिति और लयसे रहित है[२], परन्तु यह क्षणिक धारा है, कोई नित्य पदार्थ नहीं। जिस समय अविद्याके नष्ट होनेसे वासनाका अकुर नष्ट हो जाता है, उस समय क्षोभोत्पादक ग्राह्य-ग्राहक भाव भी नहीं रहता। इस दशामे अहकारसे रहित आलयविज्ञान भी व्यावृत्त हो जाता है और केवल एक निर्मल चित्त अविशिष्ट रहता है। इसी अवस्थाको अर्हद्अवस्थाके नामसे कहा गया है,[३] और यहाँ योगी लोगोंका चित्त अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रमे ही स्थित हो जाता है। इस दशाको विज्ञानवादियोंके शास्त्रोंमे तथता, शून्यता, तथागतगर्भ आदि नामोंसे कह कर उसका नित्य, ध्रुव, शिव और शाश्वत रूपसे वर्णन किया गया है।[४]

शका—यदि सम्पूर्ण धर्म केवल विज्ञप्तिमात्र है, तो चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय रूप आदिको वे कैसे जानते है। समाधान—जब तक योगी लोग अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रताका साक्षात्कार नहीं करते, उस समय तक पदार्थोमें ग्राह्य-ग्राहक रूप प्रवृत्तिका नाश नही होता[५]। इस कारण वासनाके कारण ही इन्द्रियोंसे पदार्थोका ग्राह्य ग्राहक रूप ज्ञान होता है, वास्तवमे समस्त धर्म विज्ञानरूप ही है।

शका—विज्ञानवादी लोग तथागतगर्भका नित्य, ध्रुव आदि विशेषणोंसे वर्णन करते हे। इसी प्रकार तैर्थिक लोग भी आत्माको नित्य, कर्ता, निर्गुण और विभु कहते है। फिर बुद्ध भगवानके नैरात्म्यवाद और तैर्थिकोंके आत्मवादमे क्या अन्तर है?[६] समाधान—तथागतगर्भका उपदेश तैर्थिकोंके आत्मवादके तुल्य नही है। मूर्ख तैर्थिक लोगोंको नैरात्म्यवादके सुननेसे भय उत्पन्न होता है, इसलिये तथागतने सम्पूर्ण

नुगत स्पर्शमनास्कारादीनामाकर्षयत् स्रोतसा ससारमव्युपरत प्रवर्तत इति। त्रिंशिका ४, स्थिरमति-भाष्य, पृ २२।

१ स्वचित्तदृश्यग्रहणानवबोध, अनादिकालप्रपचदौष्ठुल्यरूपवासनाभिनिवेश, विज्ञानप्रकृतिस्वभाव और विचित्र रूपलक्षणकौतूहल।

२. उत्पादस्थितिभगवर्जम्।

३. तस्या हि अवस्थाया आलयविज्ञानाश्रितदौष्ठुल्यनिरवशेषप्रहाणादालयविज्ञान व्यावृत्त भवति। सैव चार्हदवस्था। त्रिंशिका ४ भाष्य।

४ असंगने इसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—

न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा
न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुद्धयते पुनः
विशुद्धयते तत्परमार्थलक्षणम्॥ महायानसूत्रालकार।

५. यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञान नावतिष्ठति।
ग्राह्यद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥
यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चित्त न प्रतिष्ठित भवति।
तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न विनिवर्तते न प्रहीयत। त्रिंशिका २६ भाष्य।

६. प्रो. शेर्बात्स्की (Stcherbatsky) ने विज्ञानवादियोंके आलयविज्ञानके सिद्धातको, विचारसन्ततिको छोड प्रच्छन्न रूपसे नित्य आत्मा माननेके सिद्धतकी ओर आना बताया है—This represents a

धर्मोको तथागतगर्भ कहकर तीर्थिकोंको आकर्षण करनेके लिये उपदेश दिया है । इसीलिये इसमें बोधिसत्वों-को आत्मदृष्टि नहीं करनी चाहिये ।[१]

असग, वसुबधु, नन्द, दिङ्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र ये विज्ञानवादके प्रधान आचार्य माने जाते है । असग (४८० ई), जिन्हे आर्यसग भी कहा जाता है, और वसुबधु दोनों सगे भाई थे । ये पेशावर (पुरुषपुर) के रहने वाले ब्राह्मण थे । जीवनके प्रारंभमे वसुबधु सर्वास्तिवादका प्रतिपादन करते थे और अपने जीवनके अतिम वर्षोंमें अपने वडे भाई असगके प्रभावसे विज्ञानवादका प्रतिपादन करने लगे थे । पहले असगको विज्ञानवादका प्रतिष्ठाता समझा जाता था, परन्तु अव मैत्रेय (मैत्रेयनाथ) ऐतिहासिक व्यक्ति समझने जाने लगे है । मैत्रेय असगके गुरु थे, और इन्होंने ही योगाचारकी नींव रक्खी । मैत्रेयनाथने सूत्रालकार, मध्यान्तविभग, धर्मधर्मताविभग, महायानउत्तरतन्त्रशास्त्र, अभिसमयालकारकारिका आदि ग्रथोंका निर्माण किया है । असगने महायानसूत्रालकार, योगाचारभूमिशास्त्र, महायानसूत्र, पचभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसंग्रह आदि शास्त्र लिखे हैं । वसुवधुने अभिधर्मकोष, परमार्थसप्तति, विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रता, सिद्धि, त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रता तथा सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्रोंके ऊपर टीकाये लिखी

---

disguised return from the theory of a stream of the thought to the doctrine of substantial soul

The Conception of Buddhist Nirvana, पृ ३२.

यामाकामी सोगेन (Yamakami sogen) ने आलयविज्ञान और आत्माकी तुलना करते हुए लिखा है—

The Alayavijnana of the Buddhists has its counterpart in the Atman of the orthodox Hindu system of Philosophy, with this difference that the Atman is immutable while the Alayavijnana is continuously changing It might be said to be mutable while the Soul is immutable but it may be said to resemble soul in its continuity Our consciousnesses are dependent upon the Alayavijnana They act or stop, but the Alayavijnana is continuously a consciousness It is universal only in the sense that it can go everywhere, while the Atman is said to be present everywhere The Alayavijnana is said to attain its liberation and amalagamate with the ocean of the 'Great Atman' while the Alayavijnana is the name given to consciousness in the stage of the common people and of one who has just attained the seventh Bhumi or realm of Bodhisattva

Systems of Buddhistic Thought

अध्याय ६, पृ० २११, २३७ ।

१ भगवानाह । न हि महामते तीर्थकरात्मवादतुल्यो मम तथागतगर्भोपदेश । किंतु महामते तथागता शून्यताभूतकोटिनिर्वाणानुत्पादानिमित्ताप्रणिहिताद्याना महामते पदार्थाना तथागतगर्भोपदेशं कृत्वा तथागता अर्हन्त सम्यक्सबुद्धा वालाना नैरात्म्यसत्रासपदविवर्जनार्थं निर्विकल्पनिराभासगोचरं तथागतगर्भमुखोपदेशेन देशयन्ति । न चात्र महामते अनागतप्रत्युत्पन्नै बोधिसत्वैर्महासत्वैरात्माभिनिवेशः कर्तव्य । .. एव हि महामते तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टाना तीर्थकराणामाकर्षणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति । लकावतार पृ० ७७ ।

है । महायान सम्प्रदायके प्ररूपण करनेवाले आचार्योंका नाम लेते समय अश्वघोषका स्थान बहुत महत्त्वका है । अश्वघोष (८० ई०) तथतावाद नामके एक नूतन सिद्धातके जन्मदाता थे । अश्वघोषने लकावतार-सूत्रके आधारसे अपने महायान मार्गके तत्त्वदर्शनकी रचना की है । अश्वघोष अपने जीवनके प्रारंभमे बडे भारी विद्वान् थे । अश्वघोषका सिद्धात केवल शून्यविज्ञानवादका सिद्धात नही है, बल्कि उसमे उपनिषदोके शाश्वतवादकी छाया स्पष्ट मालूम देती है । अश्वघोषने श्रद्धोत्पादशास्त्र, बुद्धचरित, सौदरानन्द, सूत्रालकार, वज्रसूचि आदि अनेक बौद्ध शास्त्रोंकी रचना की है ।

बौद्धोंका अनात्मवाद

(१) उपनिषद्कारोंका मत है कि आत्मा नित्य, सुख और आनन्द रूप है, और यह दृश्यमान जगत इस आत्माका ही रूप है । पति पत्नीको और पत्नी पतिको एक दूसरेके सुखके लिये प्यार नहीं करते, परन्तु प्राणीमात्रकी प्रवृत्ति अपनी-अपनी आत्माके सुखके लिये होती है अतएव आत्मा सर्वप्रिय है । इसलिये आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, क्योंकि आत्माके दर्शन, श्रवण, आदिसे समस्त ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है ।[1] (२) नैयायिक-वैशेषिकोंकी मान्यता है कि आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, और ज्ञान ये आत्माके जाननेके लिग है । आत्मा शरीरसे भिन्न होकर कर्मोका कर्ता और भोक्ता है । आत्माको चेतनाके सबधसे चेतन कहा जाता है । (३) मीमासकोंके मतमे आत्मा चैतन्यरूप है । आत्माके सुख, दुखके सम्बन्धसे आत्मामे परिवर्तन होना कहा जाता है, वास्तवमे नित्य आत्मामे परिवर्तन नहीं होता । (४) साख्य लोगोका मत है कि आत्मा नित्य, व्यापक निर्गुण और स्वय चैतन्यरूप है । बुद्धि और चैतन्य परस्पर भिन्न हैं । अतएव बुद्धिके सम्बन्धसे आत्माको चेतन नही कह सकते । आत्मा निष्क्रिय है, इसलिये इसे कर्ता और भोक्ता भी नहीं कह सकते । प्रकृति ही करने और भोगनेवाली है । प्रकृति और आत्माका सम्बन्ध होनेसे ससारका आरम्भ होता है । (५) जैन लोगोंका कथन है कि यदि आत्माको सर्वव्यापी और सर्वथा अमूर्त मानकर निरवयव माना जाय तो निरश परमाणुकी तरह आत्माका मूर्त शरीरसे सम्बन्ध तथा आत्मामे ध्यान, ध्येय आदिका व्यवहार और आत्माको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये आत्मा व्यवहार नयकी अपेक्षा सकोच और विस्तारवाला होकर सावयव है, तथा निश्चय नयसे अमूर्त होनेके कारण लोकव्यापी है ।

बौद्ध लोग आत्मवादियोकी उक्त सम्पूर्ण मान्यताओंका विरोध करते है ।[2] उन लोगोंका कथन है कि आत्माको नित्य स्वतन्त्र द्रव्य माननेमे दर्शनशास्त्र (Metaphysical) और नीतिशास्त्र (Ethical) सम्बन्धी दोनों तरहकी कठिनाइया आती हैं । यदि आत्माको सर्वथा नित्य स्वीकार किया जाय तो उसमे बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नही बन सकती है । "यदि आत्माको कूटस्थ नित्य मानें तो वह अनन्त काल तक एक-रस रहनेवाला होगा । फिर सदाके लिये रहनेवाले आत्मापर अनुभवोंका ठप्पा कैसे पड सकता है । यदि पड सके तो ठप्पा पडते ही उसका रूप परिवर्तन हो जायगा । आत्मा कोई जड पदार्थ नही है जिससे सिर्फ बाह्य अवयवपर ही लाछन हो । वह तो चेतनमय है, इसलिये ऐसी अवस्थामे इन्द्रियजनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा । वह राग, द्वेष, मोह—इन नाना प्रकारोमेसे किसी एक रूपवाला हो जायगा ।

---

१ स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । · न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम् । बृहदारण्यक उ. २-४-५

२ आत्मवादियोंके पूर्वपक्ष और उसके खडनके लिये देखिये बोधिचर्यावतार परिच्छेद ९, पृ. ४५२ से आगे, तत्त्वसग्रह, पृ ७९-१३० आत्मपरीक्षा नामका प्रकरण ।

तब फिर वह वही आत्मा नहीं हो सकता, जो ठप्पा, लगनेसे पहले था । अतएव वह एक रस भी नहीं हो सकता । फिर आत्मा नित्य कैसे हो सकता है ? यदि थोडी देरके लिये मान भी ले कि आत्मा में ठप्पा लगता है तो वह अभौतिक संस्कार भी नित्य आत्मामें लगकर अविचल हो जायगा । तब फिर शुद्धि या मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है ? • जो लोग पुनर्जन्म भी मानते है और साथ साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी है । जब वह नित्य है तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा, फिर ऐसी एक-रस वस्तुको यदि परिशुद्ध मानते हैं तो वह जन्म-मरणके फेरमे कैसे पड सकता है ? यदि अशुद्ध है तो स्वभावत अशुद्ध होनेसे उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? नित्य कूटस्थ होनेपर संस्कारकी छाप उसपर नहीं पड सकती, यह हम पहले कह चुके है । यदि छापके लिए मनको मानते हैं, तो आत्मा मानने की जरूरत ही क्या रह जाती है ?"[1] नित्य आत्माको माननेमें यह दर्शनशास्त्र सम्बन्धी कठिनाई है । आत्माके माननेमें दूसरी कठिनाई यह आती है कि प्रिय वस्तुको लेकर ही सम्पूर्ण-दुख उत्पन्न होते है, इसलिये जिस समय मनुष्यको अपनी आत्मा सर्वप्रिय हो जाती है, उस समय मनुष्य अपनी आत्माकी सुखसाधन सामग्रिया जुटानेके लिये अहकारका अधिकाधिक पोषण करने लगता है, फलत मनुष्यके दुखकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है[2] । अतएव बौद्धोंने आत्माको कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानकर रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार इन पाच स्कन्धोंके[3] समूहसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिको आत्मा अथवा विज्ञान नामसे कहा है । यह विज्ञान प्रतिक्षण नदीके प्रवाहकी तरह (नदीसोतोविय)[4] बदलता रहता है । जिस प्रकार दीपककी ज्योति क्षण-क्षणमे बदलते रहने पर भी सदृश परिवर्तनके कारण एक अखण्ड रूपसे मालूम होती है, अथवा जिस

---

१ राहुल साकृत्यायन–मज्झिमनिकाय भूमिका पृ त ।

२ दु खेहतुरहकार आत्ममोहात्तु वर्धते ।
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेत् वर नैरात्म्यभावना ॥ बोधिचर्यावतार ९-७८ ।
साहकारे मनसि न शम याति जन्मप्रबन्धो । नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम् ।
अन्य शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी । नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्तिमार्ग ॥
तत्त्वसग्रहपजिका, पृ १०५ ।

तुलनीय—जन्मयोनिर्यतस्तृष्णा ध्रुवा सा चात्मदर्शने । तदभावे च नेय स्याद्बीजाभावे इवाङ्कुर ।
न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन । न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखहेतुषु धावति ॥
यशोविजय, द्वा. द्वात्रिंशिका २५-४, ५ ।

३ नात्मास्ति स्कंधमात्र तु कर्मक्लेशाभिसस्कृतम् ।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥

आत्मेति नित्यो ध्रुवः स्वरूपतोऽविपरिणामधर्मा कश्चित् पदार्थो नास्ति । कर्मभि अविद्यादि-क्लेशैश्च संस्कारमापन्न पचस्कधमात्रमेव, अन्तराभवसन्तानक्रमेण गर्भं प्रविशति । क्षणे क्षणे उत्पद्यमान विनश्यमानमपि तत् स्कधपचक स्वसन्तानद्वारा प्रदीपकलिकावत् एकत्व बोधयति । अभिधर्मकोश ३-१८ टीका ।

४ अमेरिकाके मानसशास्त्रवेत्ता प्रो विलियम जेम्स (William James) ने भी विज्ञान (Consciousness) को विचारोंका प्रवाह मानते हुए नित्य आत्माके स्थानपर चित्तसन्तति (Stream of Thought) को स्वीकार किया है—The unity, the identity, the individuality, and the immateriality that appear in the psychic life are thus accounted for as phenomenal and temporal facts exclusively and with no need of reference to any more simple or substantial agent than the present thought or 'section' of the

प्रकार नदीमें प्रत्येक क्षण नये नये जलके आते रहनेपर भी नदीके जल-प्रवाहका अविकल रूपसे ज्ञान होता है, उसी तरह बाल, युवा और वृद्ध अवस्थामें विज्ञानमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी समान परिवर्तन होनेके कारण विज्ञान (आत्मा) का एक रूप ज्ञान होता है। बौद्धोंका कहना है कि इस विज्ञानप्रवाह (चित्तसंतति) के माननेसे काम चल जाता है, अतएव आत्माको अलग स्वतंत्र पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं।

भवसन्तति

बौद्ध आत्माको न मानकर भी भवकी परम्परा किस प्रकार स्वीकार करते हैं, यह मिलिन्दपण्हके निम्न संवादसे भली भांति स्पष्ट होता है[1]—

मिलिन्द—भन्ते नागसेन! दूसरे भवमें क्या उत्पन्न होता है?

नागसेन—महाराज! दूसरे भवमें नाम और रूप उत्पन्न होता है।

मिलिन्द—क्या दूसरे भवमें यही नाम और रूप उत्पन्न होता है?

नागसेन—दूसरे भवमें यही नाम और रूप उत्पन्न नहीं होता। परंतु लोग इस नाम और रूपसे अच्छे बुरे कर्म करते हैं, और इस कर्मसे दूसरे भवमें दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है।

मिलिन्द—यदि यही नाम-रूप दूसरे भवमें उत्पन्न नहीं होता तो, हमें अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिये?

नागसेन—यदि हमें दूसरे भवमें उत्पन्न न होना हो, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल न भोगना पड़े परन्तु हमें दूसरे भवमें उत्पन्न होना है, अतएव हम बुरे कर्मोंसे निवृत्त नहीं हो सकते।

मिलिन्द—कोई दृष्टांत देकर समझाइये।

नागसेन—कल्पना करो कि कोई आदमी किसीके आम चुरा लेता है। आमोंका मालिक चोरको पकड़कर राजाके पास लाता है और राजासे उस चोरको दण्ड देनेकी प्रार्थना करता है। अब, यदि चोर कहने लगे कि मैंने इस आदमीके आम नहीं चुराये, क्योंकि जो आम इन आमोंके मालिकने बागमें लगाये थे, व आम दूसरे थे, और जो आम मैंने चुराये हैं, वे दूसरे हैं, इसलिये मैं दण्डका पात्र नहीं हूं। तो क्या वह चोर दण्डका भागी नहीं होगा?

मिलिन्द—अवश्य ही आमोंका चोर दण्डका पात्र है।

नागसेन—किस कारणसे?

मिलिन्द—क्योंकि पिछले आम पूर्वके आमोंसे ही प्राप्त हुए हैं।

नागसेन—ठीक इसी प्रकार इस नाम रूपसे हम अच्छे बुरे कर्मोंको करते हैं और इस कर्मसे दूसरे भवमें दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि 'यदि यही नाम दूसरे भवमें उत्पन्न नहीं होता तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिए।'

---

stream But the Thought is a perishing and not an immortal or incorruptible thing Its successors may continuously succeed to it, resemble it, and appropriate it, but they are not it, whereas the soul substance is supposed to be a fixed unchanging thing The Principles of Psychology, अध्याय १०, पृ ३४४, ३४५।

१. मिलिन्दपण्ह, अध्याय २, पृ ४६।

बौद्धोंका कथन है कि जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपकके जलाये जानेपर पहला दीपक दूसरे दीपकके रूपमे नहीं बदल जाता, अथवा जिस प्रकार गुरुके शिष्यको विद्या दान करनेपर गुरुका सिखाया हुआ श्लोक शिष्यके सीखे हुए श्लोकमें नहीं परिणत होता, उसी प्रकार विना किसी नित्य पदार्थके माने विज्ञान-सन्ततिके द्वारा भवपरम्परा चलती है। जिस समय जीवकी मृत्यु होती है, उसी समय मरनेके समयमें रहनेवाला विज्ञान संस्कारोंकी दृढतासे गर्भमें प्रविष्ट होकर फिरसे दूसरे नाम रूपसे संबद्ध हो जाता है। अतएव एक विज्ञानका मरण और दूसरे विज्ञान का जन्म होता है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनिमें मुहर और उसकी छापमें, पदार्थ और पदार्थ के प्रतिबिम्बमें कार्य-कारण संबंध है, उसी तरह एक विज्ञान और दूसरे विज्ञानमे कार्य-कारण संबंध है। विज्ञान कोई नित्य वस्तु नहीं है। इस विज्ञानकी परम्परासे दूसरे भवमें जो मनुष्य उत्पन्न होता है, उस मनुष्यको न पहला ही मनुष्य कह सकते हैं, और न उसे पहले मनुष्यसे भिन्न ही कहा जा सकता है।[1] अतएव जिस प्रकार कपासके बीजको लाल रंगसे रंग देनेसे उस बीजका फल भी लाल रंगका उत्पन्न होता है, उसी तरह तीव्र संस्कारोंकी छापके कारण अविच्छिन्न संतानसे यह मनुष्य दूसरे भवमें भी अपने किये हुए कर्मोके फलको भोगता है। इसलिए जिस प्रकार डाकुओंसे हत्या किये जाते हुए मनुष्यके टेलीफोन द्वारा पुलिसके थानमें खबर देनेसे मनुष्यके अंतिम वाक्योंसे मरनेके पश्चात् भी मनुष्यकी क्रियाये जारी रहती है[2], उसी तरह संस्कारकी दृढताके बलसे मरनेके अंतिम चित्त-क्षणका जन्म लेनेके पूर्व-क्षणके साथ संबंध होता है। वास्तवमें आत्माका पुनर्जन्म नहीं होता, किन्तु जिस समय कर्म (संस्कार) अविद्या से संबद्ध होता है, उस समय कर्मका पुनर्जन्म कहा जाता[3] है। इसीलिये बौद्ध दर्शनमें कर्मको छोडकर चेतना अलग वस्तु नहीं है।[4]

बौद्ध साहित्यमें आत्मासंबंधी मान्यतायें

बौद्ध साहित्यमें आत्माके संबंधमे भिन्न-भिन्न मान्यताये उपलब्ध होती हैं। संक्षेपमे इन मान्यताओंको हम चार विभागमें विभक्त कर सकते है। (१) मिलिन्दपण्ह आदि ग्रंथोंके अनुसार पांच स्कंधोंको छोडकर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। इसलिये पंच स्कंधोंके समूहको ही आत्मा कहना चाहिये। (२) पांच स्कंधोंके अतिरिक्त नैयायिक आदि मतोंकी तरह आत्मा पृथक् पदार्थ हैं। (३) आत्माका अस्तित्व

---

१ मिलिन्दपण्ह अध्याय २, पृ ४०–५०। स्पष्टीकरणके लिये देखिये बोधिचर्यावतार ९–७३ की पंजिका, तत्त्वसंग्रह, कर्मफलसंबंधपरीक्षा तथा लोकायतपरीक्षा नामक प्रकरण।

२ मिसेज राइस डैविड्स, Buddhist Psychology, पृ २५।

३ देखिये वारैन (Warren) की Buddhism in Translation पुस्तकका Rebirth and not Transmigration नामक अध्याय, पृ २३४–२४१।

४ (क) चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। अंगुत्तरनिकाय ३–४५।

(ख) सत्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रं।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्मचित्तमवधूय न चास्ति ॥ बोधिचर्यावतारपंजिका पृ ४७२।

(ग) कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसंभवो।
कम्मा पुनब्भवा होंति एवं लोको पवत्तति ॥
कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं ॥
विसुद्धिमग्ग, अध्याय १९।

तो है परन्तु इसे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों नहीं कह सकते। यह मत वात्सीपुत्रीय बौद्धों का है।[1] (४) आत्मा है। या नहीं, यह कहना असंभव है। इन चारों मान्यताओंका स्पष्टीकरण

(१) आत्मा पाच स्कधोंसे भिन्न नही है :

मिलिन्द—भन्ते! आपका क्या नाम है?

नागसेन—महाराज! नागसेन। परन्तु यह व्यवहारमात्र है, कारण कि पुद्गल[2] (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती।

मिलिन्द—यदि आत्मा कोई वस्तु नही है तो आपको कौन पिंडपात (भिक्षा) देता है, कौन उस भिक्षाका सेवन करता है, कौन शीलकी रक्षा करता है, और कौन भावनाओंका चिन्तन करनेवाला है? तथा फिर तो अच्छे, बुरे कर्मोका कोइ कर्ता और भोक्ता भी न मानना चाहिये, आदि।

नागसेन—मै यह नहीं कहता।

मिलिन्द—क्या रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञानसे मिलकर नागसेन बने है?

नागसेन—नही।

मिलिन्द—क्या पाच स्कधोंके अतिरिक्त कोई नागसेन है?

नागसेन—नहीं।

मिलिन्द—तो फिर सामने दिखाई देनेवाले नागसेन क्या है?

नागसेन—महाराज! आप यहा रथसे आये है, या पैदल चलकर?

मिलिन्द—रथ से।

नागसेन—आप यहा रथसे आये है, तो मै पूछता हू कि रथ किसे कहते है? क्या पहियोंको रथ कहते हैं? क्या धुरेको रथ कहते है? क्या रथमे लगे हुए डण्डोंको रथ कहते है?

(मिलिन्दने इनका उत्तर नकारमे दिया)

नागसेन—तो क्या पहिये, धुरे, डण्डे आदिके अलावा रथ अलग वस्तु है?

(मिलिन्दने फिर नकार कहा)

नागसेन—तो फिर जिस रथ से आप आये है, वह क्या है?

मिलिन्द—पहिये, धुरा, डण्डे आदि सबको मिलाकर व्यवहारसे रथ कहा जाता है। पहिये आदिको छोडकर रथ कोई स्वतत्र पदार्थ नही।

नागसेन—जिस प्रकार पहिये, धुरे आदिके अतिरिक्त रथका स्वतत्र अस्तित्व नहीं है, उसी तरह रूप वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार इन पांच स्कधोको छोडकर नागसेन कोई अलग वस्तु नहीं है।[3]

---

१ आत्मवादकी इन तीन मान्यताओंका उल्लेख धर्मपालाचार्यने अपनी विज्ञानमात्रशास्त्रकी सस्कृत टीकामें किया है। यह टीका उपलब्ध नही है। जापानी विद्वान यामाकामी सोगेनने ने यह उल्लेख अपनी Systems of Buddhist thought नामक पुस्तकके १७ वे पृष्ठपर उक्त ग्रथके हुएनत्साग के चीनी अनुवादके आधारमे किया है।

२ पुग्गलो नुपलब्भति। मिलिन्दपण्हमे अत्ता (आत्मा) शब्दके स्थानपर जीव, पुग्गल और वेदगू शब्दोंका व्यवहार किया है। देखिये मिसेज राइस डैविड्स Question of Milinda।

३. नागसेनोति सखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्त पवत्तति। परमत्थतो पन एत्थ पुग्गलो नुपलब्भति। भासित पन एत महाराज वजिराय भिक्खुनीया भगवतो सम्मुखा—

यथाहि अग संभारा होति सद्दो रथो इति।

एव खन्धेसु सन्तेसु होंति सत्तोति सम्मुति॥ मिलिन्दपण्ह, अध्याय २, पृ.२५-२८।

(२) आत्मा पाच स्कधोसे भिन्न पदार्थ है

बौद्धोंकी दूसरी मान्यता है कि आत्मा पचस्कधोसे पृथक् पदार्थ है। यह मान्यता नैयायिक आदि दार्शनिकों जैसी ही है। यहा पर आत्मा (पुद्गल) को पाच स्कध रूप बोझेको ढोनेवाला कहा है।[1]

(३) आत्मा पाच स्कधोंसे न भिन्न है, न अभिन्न :

बौद्धोंके आत्मा सबधी तीसरे सिद्धान्तको माननेवाले पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीय बौद्ध हैं। ये लोग आत्मा के अस्तित्वको मानते हैं, परन्तु इनके अनुसार जिस तरह अग्निको न जलती हुई लकडीसे भिन्न कह सकते हैं और न अभिन्न, परन्तु फिर भी अग्नि भिन्न वस्तु है, उसी तरह यद्यपि पुद्गल भिन्न पदार्थ है, परन्तु यह पुद्गल न पाच स्कधोंसे सर्वथा भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न। यह न नित्य है और न अनित्य। यह पुद्गल अपने अच्छे, बुरे कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है, इसलिये इसके अस्तित्वका निषेध नहीं कर सकते।

(४) आत्मा अव्याकृत है ·

इस मान्यताके अनुसार आत्मा क्या है, यह नहीं कहा जा सकता। (क) जिस समय अनुराधने बुद्धसे प्रश्न किया कि क्या जीव रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञानसे बाह्य है तो बुद्धने उत्तर दिया कि तुम इसी लोकमे जीव दिखानेमें समर्थ नहीं, फिर परलोककी बात तो दूर रही, इसलिये मैं 'दुःख, और दुखका निरोध' इन दो तत्त्वोंका ही उपदेश करता हूँ। जिस प्रकार किसी तीरसे आहत मनुष्यका 'यह तीर किसने मारा है? कौनसे समयमें मारा है? कौनसी दिशासे आया है?' आदि प्रश्न करना वृथा है, क्योंकि उस समय मनुष्यको इन सब प्रश्नोत्तरोंमें न पडकर घावकी रक्षा की ही बात सोचनी चाहिए, उसी प्रकार आत्मा क्या है? परलोक क्या है? मरनेके बाद तथागत पैदा होता है या नहीं? आदि प्रश्न अव्याकृत हैं[2]। (ख) बहुतसी जगह आत्माके विषयमे प्रश्न पूछे जाने पर बुद्ध मौन धारण करते हैं[3]। इस मौनका कारण है कि यदि वे कहे कि आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी हो जाते हैं और यदि कहा जाये कि आत्मा नहीं है, तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। अतएव एक ओर शाश्वतवाद और दूसरी ओर उच्छेदवादका निराकरण करनेके लिये मौन रहना ही ठीक समझा गया[4]। (ग) अनेक बौद्ध

तथा—दुखमेव हि न कोचि दुक्खितो।
कारको न किरियाव विज्जति।
अत्थि निवुत्ति न निब्बुत्तो पुमा।
मग्गमत्थि गमको न विज्जति॥ विसुद्धिमग्ग, अध्याय १६।

तथा देखिये कथावत्थु १-२, अभिधर्मकोश ३-१८ टीका, दीघनिकाय, पायासिसुत्त, सयुत्तनिकाय ५-१० ६।

१ "भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादान भारनिक्षेप भारहार च। तत्र भार पचोपादानस्कधाः, भारादान तृप्ति, भारनिक्षेपो मोक्षः, भारहार, पुद्गला" तत्त्वसग्रहपजिका, आत्मवादपरीक्षा ३४९, तथा धम्मपद, अत्तवग्गो।

२ सयुत्तनिकाय, अनुराधसुत्त, तथा—स्कंधा सत्वा एव ततो भिन्ना वा' इति प्रश्न सत्त्वस्य विषये, सत्त्वश्च नास्त्येव किमपि वस्तु। तेनाय प्रश्न 'वन्ध्यापुत्र शुक्ल कृष्णो वा' इतिवत् स्थापनीय (अनुत्तरित) एव। अभिधर्मकोश ५-२२ टिप्पणी, बुद्धचर्या पृ १८६ से आगे।

३ किं नु खो गोतम अत्थत्ताति
एव वुत्ते भगवा तुण्ही अहोसि॥
किं पन भो गोतम नत्थत्तानि॥
दुतियं पि खो भगवा तुण्ही अहोसि। सयुत्तनिकाय ४-१००।

४ अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शन। तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण॥
माध्यमिककारिका १८-१०।

सूत्रोंमें आत्माके विषयमें प्रश्न किये जानेपर आत्माका स्पष्ट विवेचन न करके बार बार यही कहा गया है कि रूप आत्मा नहीं, वेदना आत्मा नहीं, सस्कार आत्मा नहीं, विज्ञान आत्मा नही[१] तथा जो लोग रूप, वेदना आदिको आत्मा समझते है, उनके सत्कायदृष्टि कही जाती है[२]। महायान सम्प्रदायने इसी अनन्तावाद (नैरात्म्यवाद) पर अपने विज्ञानवाद और शून्यवादकी स्थापना कर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के नाश करनेके लिये नैरात्म्यवादके प्रतिपादनपूर्वक आत्मदृष्टिसे क्लेशोंकी उत्पत्ति बतायी है[३]। नागार्जुनने कहा है, "बुद्धने यह भी कहा है कि आत्मा है, और यह भी कहा है कि आत्मा नही है। तथा बुद्धने आत्मा और अनात्मा किसीका भी उपदेश नही दिया[४]।"

---

१ मज्झिमनिकाय, महापुण्णमसुत्त १०९ ।

२ सत् काय पञ्च उपदानस्कधा एव । तत्राह मम दृष्टि । अभिधर्मकोश ५-७ ।

३. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशाश्च दोषाश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्याविषय च बुद्ध्वा । योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥ माध्यमिककारिका १८-१८ ।

४. आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशित । बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशित ॥
माध्यमिककारिका १९-६ ।

न्याय-वैशेषिक परिशिष्ट (ग)

(श्लोक ४ से १० तक)

न्याय-वैशेषिकदर्शन

(१) न्याय दर्शनके मूल प्रवर्तक अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं। अक्षपादको महायोगी, अहल्यापति आदि नामोंसे भी कहा गया है[१]। पुराणोंके अनुसार स्वमतदूषक व्यास ऋषिका मुख देखनेके लिए गौतमके पैरोंमें नेत्र थे, इसलिए इनका नाम अक्षपाद पड़ा[२]। प्राचीन मान्यताके अनुसार, गौतम ऋषिके आश्रममें वृष्टिके न होनेपर भी वरुणके वरसे वृक्ष आदि वनस्पतियाँ सदा हरी भरी रहा करती थीं। नैयायिक योग, और शैव नामसे भी कहे जाते हैं। नैयायिक दर्शनमें शिव भगवान जगतकी सृष्टि और संहार करते हैं, वे व्यापक, नित्य, एक और सर्वज्ञ हैं, और इनकी बुद्धि शाश्वती रहती है। नैयायिक लोग प्रमाण, प्रमेय संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह तत्त्वोंके ज्ञानसे दुखका नाश होनेपर मुक्ति स्वीकार करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणोंको मानते हैं।[३] (२) वैशेषिक दर्शनके आद्यप्रणेता कणाद कहे जाते हैं। कणादको कणभक्ष अथवा औलूक्य नामसे भी कहा गया है। पौराणिक मान्यताके अनुसार, कणाद ऋषि रास्तेमें पड़े हुए चावलोंके कणोंका आहार करके कपोती वृत्तिसे अपना निर्वाण करते थे, अतएव इनका नाम कणाद अथवा कणभक्ष पड़ा[४]। कणादने काश्यपगोत्री उलूक ऋषिके घर जन्म

---

१ अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः॥
स्कन्दपुराण, कुमारिकाखण्ड।

२ पुराणोंमें सांख्य-योगकी तरह अक्षपाद और कणादप्रणीत शास्त्रोंको श्रुतिविरुद्ध कहा है—
अक्षपादप्रणीते च काणादे योगसांख्ययोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽर्थः। पद्मपुराण, न्यायकोश पृ २।

३ न्याय ग्रन्थोंमें प्रमाणके लक्षण निम्न प्रकारसे मिलते हैं—

(क) जिस प्रत्यक्ष आदिके द्वारा प्रमाता पदार्थोंको यथार्थ रूपसे जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं—प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्। वात्स्यायनभाष्य १-१-१।

(ख) जो ज्ञानमें कारण हो, उसे प्रमाण कहते हैं—उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। उद्योतकर, न्यायवार्तिक।

(ग) अव्यभिचारी और असंदिग्ध रूपसे पदार्थोंके ज्ञान करनेवाली बोधाबोध स्वभाववाली सामग्रीको प्रमाण कहते हैं—अव्यभिचारिणीमसंदिग्धार्थोपलब्धिम् विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। जयन्त, न्यायमंजरी पृ १२।

(घ) पदार्थोंके यथार्थ रूपसे जाननेको प्रमा और प्रमाके साधनको प्रमाण कहते हैं—यथार्थानुभवः प्रमा। तत्साधनं च प्रमाणम्। उदयन, तात्पर्यपरिशुद्धि।

(ङ) प्रमासे नित्य संबंध रखनेवाले परमेश्वरको प्रमाण कहते हैं—साधनाश्रयव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्। सर्वदर्शनसंग्रह, अक्षपाददर्शन।

४ मुनिविशेषस्य कपोतीं वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात् कणाद इति संज्ञाऽजनि। षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ. १०७।

धारण किया था अतएव इनका नाम औलूक्य पडा। वायुपुराणके अनुसार, औलूक्य द्वारकाके पास प्रभासके रहनेवाले सोमशर्माके शिष्य थे। वैदिक परम्पराका अनुकरण करते हुए हेमचन्द्र, राजशेखर, गुणरत्न आदि जैन विद्वानोंका कथन है कि स्वय ईश्वरने उल्लू (उलूक) का रूप धारण करके कणाद ऋषिको द्रव्य, गुण कर्म सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंका उपदेश किया था। इस उपदेशके उपरसे कणाद ऋषिने जीवोंके उपकारके लिये वैशेषिक सूत्रोंकी रचना की, इसीलिए कणाद ऋषि औलूक्य नामसे कहे जाने लगे।[१] "ईसाकी छठी शताब्दिके चित्साङ् (Ci-tsan) नामक एक चीनी बौद्ध वैशेषिक दर्शनके जन्मदाता उलूकका समय बुद्धसे आठ सौ वर्ष पहले बताते हैं। चित्साङ्का कथन है कि उलूक रातको सूत्रोंकी रचना करते थे और दिनमे भिक्षावृत्ति करते थे, इसलिये इनका नाम उलूक पडा। चित्साङ् ने दूसरी जगह लिखा है कि उलूकके रचे हुए सूत्र साख्य दर्शनके सूत्रोंसे बढे चढे (विशेष) थे, इसलिये उलूकका दर्शन वैशेषिक दर्शनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सूत्रालकारके कर्त्ता अश्वघोषका कहना है कि जैसे रातमें उल्लू शक्तिशाली होता है, वैसे ही ससारमे बुद्धके आनेके पहले यह दर्शन शक्तिशाली था। बुद्धके प्रादुर्भाव होनेपर इस दर्शनका प्रभाव हीन हो गया, इसलिये इस दर्शनको औलूक्य दर्शन कहते है[२]।" वैशेषिकोंका दूसरा नाम पाशुपत है। वैशेषिक लोग द्रव्य,[३] गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय इन छह तत्त्वोंको[४], और प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको स्वीकार करते हैं।

न्याय-वैशेषिकोंके समानतंत्र

नैयायिक और वैशेषिक लोग बहुतसी मान्यताओंसे एकमत हैं, इसलिये इन्हे 'समानत त्र' कहा गया है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने वैशेषिक सिद्धातको न्यायका 'प्रतित त्र' सिद्धात कहा है। बौद्ध विद्वान आर्यदेव और हरिवर्मन् भी न्याय और वैशेषिक सिद्धातोंका भिन्न-भिन्न रूपमे उल्लेख नहीं करते। उद्योतकर अपने न्यायवर्तिकमे वैशेषिक सिद्धातोका ही उपयोग करते है। आगे चलकर वरदराज तार्किकरक्षामे, केशवमिश्र तर्कभाषामें, शिवादित्य सप्तपदार्थीमे, लौगाक्षिभास्कर तर्ककौमुदीमें, विश्वनाथ भाषापरिच्छेद और सिद्धातमुक्तावलिमे, अन्नभट्ट तर्कसग्रहमें और जगदीश तर्कामृतमे न्याय-वैशेषिक सिद्धानोंका समान रूपसे उपयोग करते हैं। विद्वानोंका मत है कि प्रशस्तपादभाष्यकारके समयके वैशेषिक सिद्धात और उद्योतकरके समयके न्याय सिद्धातोमे बहुत कम अन्तर था, परन्तु उत्तरकालीन वैशेषिकोंने आत्मा और अनात्माके

---

१ वैशेषिकः स्यादौलूक्य नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्र विशेषाः, ते प्रयोजनमस्य वैशेषिक शास्त्र तद् वेत्त्यधीते वा वैशेषिकाः। उलूकस्यापत्यमिव। तज्जन्यत्वादौलूक्य शास्त्र, उलूकवेषधारिणा महेश्वरेण प्रणीतमिति प्रसिद्धि। अभिधानचिन्तामणि ३-५२६ वृत्ति।

२. प्रोफेसर ध्रुव, स्याद्वादमजरी, नोट्स, पृ २३-२५।

३ वैशेषिकोके द्रव्य, गुण, काल, आत्मा, परमाणु आदिकी मान्यताओंके साथ जैनदर्शनके सिद्धातोंकी तुलना करनेके लिये देखिये वैशेषिकसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, तथा प्रोफेसर याकोबीका Jain Sutras भाग २, भूमिका, पृ ३३ से ३८।

४ वैशेषिकसूत्र और प्रशस्तपादभाष्यमें द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोंका ही उल्लेख पाया जाता है। हरिभद्र, शकराचार्य आदि विद्वानोंने छह पदार्थोंका उल्लेख किया है। आगे जाकर श्रीधर, उदयन, शिवादित्य आदि विद्वान छह पदार्थोंमें अभाव नामका सातवाँ पदार्थ मिलाकर सात पदार्थोंको स्वीकार करते है। इन विद्वानोंकी मान्यता है कि अभाव तुच्छ रूप नहीं है। अन्य पदार्थोंकी तरह अभाव भी अलग पदार्थ है। यह अभाव भावके आश्रयसे रहता है, इसीलिये भाष्यकारने अभावको अलग पदार्थ नही कहा (अभावस्य पृथगनुपदेश भावपारतन्त्र्यात् न त्वभावात्—न्यायकन्दली पृ० ६)। शिवादित्यने सात पदार्थोके विवेचन करनेके लिये सप्तपदार्थी नामक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की है।

'विशेष' की ओर अधिक ध्यान दिया, और परमाणुवादका विशेष रूपसे अध्ययन किया, तथा उत्तरकालीन नैयायिकोंने न्याय और तर्कको वृद्धिंगत करनेमें अपनी शक्ति लगाई इसलिये आगे चलकर न्याय और वैशेषिक सिद्धांतोंमें परस्पर बहुत अन्तर पड़ता गया। यह अन्तर इतना बढ़ा कि वैशेषिकोंके पदार्थोंका खण्डन करने के लिये नव्य-नैयायिक रघुनाथ आदिको 'पदार्थखण्डन' जैसे ग्रंथोंकी रचना करनी पड़ी। गुणरत्नसूरिने नैयायिक और वैशेषिकोंके मतको अभिन्न[1] बताते हुए उनके साधुओंके समान वेष और आचारका वर्णन करते हुए लिखा है—"ये लोग निरन्तर दण्ड धारण करते हैं, मोटी लंगोटी पहिनते हैं, अपने शरीरको कंबलसे ढके रहते हैं, जटा बढ़ाते हैं, भस्म लपेटते हैं, यज्ञोपवीत रखते हैं, हाथमें जलपात्र रखते हैं, नीरस भोजन करते हैं, प्रायः वृक्षके नीचे वनमें रहते हैं, तूंबी रखते हैं, कन्दमूल और फलके ऊपर रहते हैं, आतिथ्यकर्ममें रत रहते हैं, कोई सस्त्रीक होते हैं और कोई स्त्री रहित होते हैं, दोनोंमें स्त्री रहित अच्छे समझे जाते हैं। ये पंचाग्नि तप तपते हैं, संयमकी उत्कृष्ट स्थितिमें नग्न रहते हैं और प्रातःकाल दांत, पेट आदिको साफ करके अंगमें भस्म लगाकर शिवका ध्यान करते हैं। जब इनको यजमान लोग नमस्कार करते हैं, ये 'ओं नमः शिवाय' बोलते हैं, और सन्यासी लोग केवल 'नमः शिवाय' कहते हैं। ये तपस्वी शैव, पाशुपत, महाव्रतधर और कालमुखके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। नैयायिक और वैशेषिकोंका देवताके विषयमें मतभेद नही है।"

न्याय-वैशेषिकोंमें मतभेद

१ वैशेषिक लोग शब्दको भिन्न प्रमाण नहीं मानते, परन्तु नैयायिक वेदोंके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्दको भिन्न प्रमाण मानकर वेदोंके प्रमाणके अतिरिक्त ऋषि, आर्य और म्लेच्छ आप्तोंको प्रमाण मानते हैं।

२ नैयायिक उपमानको भिन्न प्रमाण मानते हैं, तथा अर्थापत्ति, संभव और ऐतिह्यको प्रमाण मान कर उनका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणोंमें अंतर्भाव करते हैं। वैशेषिक सूत्रोंमें उक्त प्रमाणोंका कोई उल्लेख नहीं। वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाण मानते हैं।

३ नैयायिक लोग सोलह पदार्थ मानते हैं। न्यायसूत्रोंमें द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और समवायके विषयमें कोई चर्चा नहीं आती। वैशेषिकसूत्रोंकी चर्चा प्रधानतया द्रव्य, गुण, आदि पदार्थोंके संबंधमें ही होती है।

४ वैशेषिकसूत्रोंमें ईश्वरका नाम नहीं। न्यायसूत्र ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

५ वैशेषिक मोक्षको निश्रेय अथवा मोक्ष नामसे कहते हैं, और शरीरसे सदाके लिये संबंध छूट जानेको मोक्ष मानते हैं। नैयायिक मोक्षको अपवर्ग के नामसे कहते हैं, और दुखके क्षयको अपवर्ग मानते हैं।

६ वैशेषिक पीलुपाकके सिद्धांतको और नैयायिक पिठरपाकके सिद्धांतको मानते हैं[2]।

वैदिक साहित्यमें ईश्वरके विविध रूप

(१) वैदिक युगके लोग सूर्य, चन्द्र, उषा, अग्नि, विद्युत, आकाश आदिको अपना आराध्य देव समझकर सूर्यकी पूजा और आराधना करते थे। धीरे-धीरे सूर्य आदिका स्थान इन्द्र, वरुण

१ अन्ये केचनाचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं पार्थक्यं न मन्यन्ते। एकदेवतत्वेन तत्त्वानां मिथोऽन्तर्भावेनाल्पीयस एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकाणां मिथो मतैक्यमेवेच्छन्तीत्यर्थः। षड्दर्शनसमुच्चयटीका पृ १२१।

२. देखिये दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy, Vol I, पृ. ३०४–५।

आदि देवताओंका मिला । ये इन्द्र, वरुण आदि देवतागण, जिस तरह कोई बढई अथवा सुनार किसी नूतन पदार्थकी सृष्टि करता है, उसी तरह एक साथ अथवा एक-एक करके जगतकी सृष्टि करते है । तत्पश्चात् वेदोंमे जन, सृज, अण्ड, गर्भ, रेतस आदि शब्दोंका प्रयोग मिलता है, और यहा देवताओंको सृष्टिसर्जक और शासक कहकर पिता रूपसे उल्लेख किया गया है । आगे चलकर सृष्टिको देवताओंकी माया कह कर सृष्टिको मनुष्यबुद्धिके वाह्य बताया है । इन्द्र मायाके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है, और अपने शरीरसे ही अपने माता-पिताका निर्माण करता हे । तत्पश्चात् वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चित रूप देनेके लिये सत्, असत् तथा जीवन, मृत्यु आदि परस्पर विरोधी शब्दोंसे ईश्वरका वर्णन करते[1] है । (२) ब्राह्मणोमे भो ईश्वर सवधी अनेक मनोरंजक कल्पनाये पायी जाती ह । (अ) प्रजापतिने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की, इसके लिये प्रजापतिने तप किया और तीन लोकोंकी सृष्टि की[2] । (ब) सृष्टिके पहले पृथिवी, आकाश आदि किमी पदार्थका भी अस्तित्व नही था । प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये तपश्चरण किया । तपश्चरणके वलसे धूम, अग्नि, प्रकाश, ज्वाला, किरणे और वाष्पकी उत्पत्ति हुई, और बादमे ये सब पदार्थ बादलकी तरह जमकर घनीभूत हो गये । इससे प्रजापतिका लिंग फट गया, और उसमेंसे समुद्र फूट निकला । प्रजापति रुदन करने लगे, क्योंकि अब उनके ठहरनेकी कोइ जगह नहीं रह गई थी । प्रजापतिकी आँखोंके अश्रुबिंदु समुद्रके जलमे गिरे और ये पृथिवीके रूपमे परिणत हो गये । तत्पश्चात् प्रजापतिने पृथिवीको साफ किया और उसमें वायुमंडल और आकाशकी उत्पत्ति हुई ।[3] (स) प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये कठोर तपश्चरण किया । उससे ब्राह्मन् (वेद) और जलकी उत्पत्ति हुई । प्रजापतिने त्रयोविद्याको लेकर जलमे प्रवेश किया, इससे अंडा उत्पन्न हुआ । प्रजापतिने अंडेका स्पर्श किया और फिर अग्नि, बाष्प, मृत्तिका आदिकी उत्पत्ति हुई ।[4]

(३) उपनिषद्–साहित्यमे भी सृष्टि और सृष्टिकर्ताके विषयमे विविध सिद्धातोंका प्रतिपादन किया गया है । (अ) केवल बृहदारण्यक उपनिषद्मे कई कल्पनाये मिलती है । यहाँ असत्, मृत्यु और क्षुधाको एक मानकर मृत्युसे जीवनकी तथा मृत्युसे जल, पृथिवी, अग्नि, वायु, लोक आदिकी सृष्टि स्वीकार की गई है । दूसरे स्थल पर आत्मा अथवा पुरुषसे सृष्टि की उत्पत्ति मानकर कहा गया है कि जिस समय आत्मामे सवेदन शक्तिका आविर्भाव हुआ, उस समय आत्मा अपनेको अकेले पाकर भयभीत हो उठा । आत्मा पुरुष और स्त्री दो भागोंमे विभक्त हुआ । स्त्रीने देखा कि पुरुष उसका सर्जक है और साथ ही उसका प्रेमी भी हे । स्त्रीने गौका रूप धारण कर लिया । पुरुषने बैलका रूप धारण किया । इसी प्रकार वकरी, वकरा आदि युगलोंको उत्तरोत्तर सृष्टि होती गई । अन्यत्र ब्रह्मसे सृष्टिकी रचना मानी गई है । यहा कहा गया है कि सृष्टिके पहले एक ब्रह्म ही था । ब्रह्मने अपनेको पर्याप्त शक्तिशाली न देखकर क्षत्रिय वैश्य, शूद्र जातियोंकी और सत्यकी सृष्टि[5] की । (ब) छान्दोग्य उपनिषद्मे असत्को अंडा बताकर अंडेके फूटनेसे पृथिवी, आकाश, पर्वत आदिकी रचना मानी गई है ।[6] (स) प्रश्न उपनिषद्मे सृष्टिकर्ताको अनादि मानकर कहा गया है कि जिस समय ईश्वरको सृष्टिके रचनेकी इच्छा हुई, उस समय ईश्वरने ईश्वरने रयि और प्राणके युगलको पैदा किया[7] । (ड) मुण्डक उपनिषद्मे अक्षरसे सृष्टि मानी गई

१. देखिये बेल्वेल्कर और रानडेकी History of Indian Philosophy Vol II अध्याय १ ।
२ ऐतरेयब्राह्मण ५–२३ । देखिये वही, अध्याय २ ।
३ तैत्तिरीयब्राह्मण ११–२–९ । वही ।
४ शतपथब्राह्मण ६–१–१–८ और आगे । वही ।
५ बृहदारण्यक उ. अध्याय १ ।
६. छान्दोग्य उ. ३–१९–१ ।
७. प्रश्न उ. १–४ ।

है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें तम, प्राण, आकाश, हिरण्यगर्भ, जल, वायु, अग्नि आदिसे सृष्टिका आरंभ स्वीकार किया गया है।[२]

भारतीय दर्शनमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसा, सांख्य[३] और योग[४] दर्शनकार ईश्वरको सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करते। वेदान्त[५], न्याय[६] और वैशेषिक[७] दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिका रचयिता माना गया है।

ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

ईश्वरवादियोंका मत है कि इस अचेतन सृष्टिका कोई सचेतन नियन्ता होना चाहिये। परमाणु और कर्मशक्तिसे सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती क्योंकि परमाणु और कर्मशक्ति दोनों अचेतन हैं। इसलिये इस सृष्टिका सचेतन नियन्ता सर्वव्यापी, करुणाशील और जीवोंके कर्मोंके अनुसार सुखदुःखका फल देनेवाला एक ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वरके अस्तित्वमें दिये जानेवाले प्रमाणोंको तीन विभागोंमें विभक्त किया जा

---

१ मुण्डक उ. १–७।

२ देखिये रानडे और बेल्वलकरकी Constructive Survey of the Upanisadic Philosophy, अ. २।

३ सांख्यदर्शनके इतिहासको तीन प्रधान युगोंमें विभक्त किया जाता है—(१) मौलिक अर्थात् उपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत और पुराणोंका सांख्य ईश्वरवादी था। (२) दूसरे युगका अर्थात् महाभारतके अर्वाचीन भागमें, तथा सांख्यकारिका और बादरायणके सूत्रोंमें वर्णित सांख्य 'प्रकृतिवाद' के सिद्धांतसे प्रभावित होकर अनीश्वरवादी हो गया। (३) तीसरे युगका अर्थात् ईसाकी सोलहवीं शताब्दिका सांख्यदर्शन विज्ञानभिक्षुके अधिपतित्वमें फिरसे ईश्वरवादकी ओर झुक गया।

४. योगको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। इस मतमें ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानकर एक पुरुष विशेषको ईश्वर माना गया है। यह पुरुषविशेष सदा क्लेश, कर्म, कर्मोंका फल और वासनासे अस्पृष्ट रहता है।

५ वेदान्तके अनुसार, ईश्वर जगतका निमित्त और उपादान कारण है, इसलिये वेदान्तियोंका मत है कि ईश्वरने स्वयं अपनेमेंसे ही जगतको बनाया है, जब कि न्याय-वैशेषिकोंके अनुसार सृष्टिमें ईश्वर केवल निमित्त कारण है। इसके अतिरिक्त, वेदान्त मतमें अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि न मानकर जन्म, स्थिति और प्रलय तथा शास्त्रोंका कारण होनेसे ईश्वरकी सिद्धि मानी गई है।

६ गार्वे (Garbe) आदि विद्वानोंके मतके अनुसार, न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें ईश्वरवादका प्रतिपादन नहीं किया गया है। यहां ईश्वरको केवल द्रष्टा, ज्ञाता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा गया है, सृष्टिका कर्ता नहीं, परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि न्यायभाष्यमें ईश्वरके पितृतुल्य होनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम् ४-१-२१।

७ कुछ विद्वानोंका मत है कि वैशेषिकसूत्रोंमें ईश्वरके विषयका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। यहां परमाणु और आत्माकी क्रिया अदृष्टके द्वारा प्रतिपादित की जाती है। इसलिये मौलिक वैशेषिक दर्शन अनीश्वरवादी था। अथैली (Athalye) आदि विद्वान इस मतका विरोध करते हैं। उनका कहना है कि वैशेषिक दर्शन कभी भी अनीश्वरवादी नहीं रहा। वैशेषिकसूत्रोंका ईश्वरके विषयमें मौन रहनेका यही कारण है कि वैशेषिक दर्शनका मुख्य ध्येय आत्मा और आत्माकी विशेषताओंकी प्ररूपण करना रहा है। Tarka-Samgraha, पृ १३६, ७—देखिये प्रोफेसर राधाकिशनकी Indian Philosophy, Vol, II, पृ २२५।

सकता है—कार्यकारणभावमूलक (Cosmological), सत्तामूलक (Ontological,) प्रयोजनमूलक (Teleological) ।

(१) कार्यकारणभावमूलक : न्याय-वैशेषिकोंका ईश्वरकी सिद्धिमे यह सुप्रसिद्ध प्रमाण है । नैयायिकोंका कहना है , 'जितने भी कार्य होते हैं, वे सब किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए देखे जाते है । इसलिये पृथिवी, पर्वत आदि किसी कर्ताके बनाये हुए है, क्योंकि ये कार्य है । जो जो कार्य होते है, वे किसी कर्ताकी अपेक्षा रखते है, जैसे घट । पथिवी, पर्वत आदि भी कार्य है, इसलिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए है । यह कर्ता ईश्वर ही है ।'[1] शका—हम जो घट आदि साधारण कार्योको देखते है, उनका कोई कर्ता अवश्य है परन्तु पृथिवी, पर्वत आदि असाधारण कार्योके कर्ताका अनुमान नही किया जा सकता । अतएव 'जो कार्य होते है, वे किसी कारणकी अपेक्षा रखते है' यह अनुमान ठीक नही है । समाधान—हमने उक्त अनुमानमें सामान्य रूपसे व्याप्तिका ग्रहण किया है । जिस प्रकार रसोईघरमे धूम और अग्निकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर उस व्याप्तिसे पर्वत आदिमे भी धूम और अग्निकी व्याप्तिका ग्रहण किया जा सकता है, उसी तरह घट आदि कार्य और कुम्हार आदि कर्ताका सबध देखकर पृथिवी, पर्वत आदि सम्पूर्ण कार्योके कर्ताका अनुमान किया जाता है । उक्त अनुमानमे घट केवल दृष्टातमात्र है । दृष्टातके सम्पूर्ण धर्म दार्ष्टातिक मे नहीं आ सकते । इसलिये जैसे छोटेसे छोटे कार्यका कोई कर्ता है, उसी तरह वडेसे वडे पृथिवी आदि कार्योका कर्ता ईश्वर है । शका—अकुर आदिके कार्य होनेपर भी उनका कोई कर्ता नहीं देखा जाता, इसलिये उक्त अनुमान वाधित है । समाधान—अकुर आदि कार्य है, इसलिये उनका कर्ता भी ईश्वर ही है । ईश्वर अदृश्य है, अतएव हम उसे अकुर आदिको उत्पन्न करता हुआ नही देख सकते । (२) सत्तामूलक पश्चिमके एन्सेल्म (Anselm) और दकार्त (Descarte) आदि विद्वान ईश्वरके अस्तित्वमें दूसरा प्रमाण यह देते है कि यदि ईश्वरकी सत्ता न होती तो हमारे हृदयमे ईश्वरके अस्तित्वकी भावना नही उपजती । जिस प्रकार त्रिभुजकी कल्पनाके लिये यह मानना आवश्यक है कि त्रिभुजके तीन कोण मिलकर दो समकोणके बराबर होते है, उसी प्रकार ईश्वरकी कल्पनाके लिये ईश्वरका अस्तित्व मानना अनिवार्य है ।[2] (३) प्रयोजनमूलक ईश्वरके सद्भावमे तीसरा प्रमाण है कि हमे सृष्टिमे एक अद्भुत व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है । यह सृष्टिकी व्यवस्था और उसका सामजस्य केवल परमाणु आदिके सयोगके फल नही हो सकते । इसलिये अनुमान होता है कि कोई ऐसी शक्तिशाली महान् चेतनाशक्ति अवश्य है जिसने इस सृष्टिकी रचना की है ।[3]

---

१ ह्यूम (Hume) आदि पश्चिमके विद्वानोंने इस तर्कका खण्डन किया है । इन लोगोंका कहना है कि जिस प्रकार हम सम्पूर्ण कार्योके कारणका पता लगाते-लगाते आदि कारण ईश्वर तक पहुँचते है, उसी प्रकार ईश्वरके कारणका भी पता क्यों न लगाया जाय ? यदि हम ईश्वर रुप आदि कारणका पता लगाकर रुक जाते है, तो इससे मालूम होता है कि हम ईश्वरको केवल श्रद्धाके आधारपर मान लेना चाहते है । जैन, वौद्ध आदि अनीश्वरवादियों ने भी यह तर्क दिया है ।

२. काण्ट (Kant), आदि पाश्चिमात्य दार्शनिकोंने इस युक्तिका खण्डन किया है । इन लोगोंका कथन है कि यदि हम मनुष्य-हृदयमे ईश्वरकी कल्पनाके आधारसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करे तो ''ससारमे जितने भिक्षुक है, वे मनमे अशर्फियोंकी कल्पना करके करोडपति हो जाये ।''

३ काण्ट (Kant), स्पेसर, (Spencer), प्रोफेसर टिण्डल (Tyndall), प्रोफेसर नाइट (Knight) आदि विद्वानोंका कहना है कि हम ससीम ब्रह्माण्डको देखकर उससे असीम उपादान कारणका अनुमान नही कर सकते । इसलिये जव तक हम अन्य प्रमाणोंके द्वारा ईश्वरका निश्चय न कर ले, अथवा जव तक स्वय ईश्वरके समान शक्तिशाली न वन जाय, तव तक ईश्वरके विषयमे हम अपना निर्णय नहीं दे

आचार्य उदयनने ईश्वर की सिद्धिमें निम्न प्रमाणोंका उल्लेख किया है—

(क) सृष्टि कार्य है, इसलिये इसका कोई कारण होना चाहिये। (ख) सृष्टिके आदिमें दो परमाणुओंमें संबंध होनेसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है, इस आयोजन-क्रियाका कोई कर्ता होना चाहिये। (ग) सृष्टिका कोई आधार चाहिए। (घ) बुनने आदि कार्योंको सृष्टिके पहले किसीने सिखाया होगा, इसलिये कोई आदिशिक्षक होना चाहिये। (ङ) वेदोंमें कोई शक्तिका प्रदाता होना चाहिये। (च) कोई श्रुतिका बनानेवाला होना चाहिये। (छ) वेदवाक्योंका कोई कर्ता होना चाहिये। (ज) दो परमाणुओंके संबंधसे द्व्यणुक बनता है, इसका कोई ज्ञाता होना चाहिये[१]।

ईश्वरविषयक शंकायें

शंका—जगतके निर्माण करनेमें ईश्वरकी प्रवृत्ति अपने लिये होती है, अथवा दूसरेके लिये ? ईश्वर कृतकृत्य है उसकी सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति हो चुकी है, अतएव वह अपनी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिये जगतका निर्माण नहीं कर सकता। यदि ईश्वर दूसरोंके लिये सृष्टिकी रचना करता है तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। करुणासे बाध्य होकर भी ईश्वरने सृष्टिका निर्माण नहीं किया, अन्यथा जगतके सम्पूर्ण प्राणियोंको सुखी होना चाहिये था[२]। ईश्वरवादी—वास्तवमें करुणाके वशीभूत होकर ही ईश्वरकी सृष्टिके निर्माण करनेमें प्रवृत्ति होती है[३]। ईश्वर भिन्न-भिन्न प्राणियोंके पुण्य और पाप कर्मोंके अनुसार सृष्टिका सर्जन करता है, इसलिये सर्वथा सुखमय सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती। जीवोंके अच्छे और बुरे कर्मोंके अनुसार जगतकी रचना करनेसे ईश्वरकी स्वतंत्रतामें कोई बाधा नहीं पड़ सकती। क्योंकि जिस तरह अपने हाथ, पैर आदि अवयव अपने कार्यमें बाधक नहीं होते, इसी तरह जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा रखकर सृष्टिके निर्माण करने से ईश्वरको परावलम्बी नहीं कहा जा सकता। शंका—सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर शरीर सहित होकर सृष्टि रचता है, अथवा शरीर रहित होकर ? यदि ईश्वरको सशरीर माना जाय तो ईश्वरको अदृष्टका विषय कहना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अदृष्टसे ही निश्चित होते हैं। इसी प्रकार ईश्वरको अशरीरी भी नहीं मान सकते, क्योंकि अशरीर ईश्वर सृष्टिको उत्पन्न नहीं कर सकता। ईश्वरवादी—जिस प्रकार शरीर रहित आत्मा शरीर में परिवर्तन उत्पन्न करती है, उसी तरह अशरीरी ईश्वर अपनी इच्छासे संसारका सर्जन करता है। ईश्वरमें इच्छा और प्रयत्नकी उत्पत्ति होनेके लिये भी ईश्वरको सशरीरी मानना ठीक नहीं। क्योंकि ईश्वरकी इच्छा और प्रयत्न स्वाभाविक हैं, कारण कि हम लोग ईश्वरकी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नको नित्य स्वीकार करते हैं।[४] अथवा परमाणुओंको ही ईश्वरका शरीर माना जा सकता है। जिस प्रकार हमारी

सकते। इसलिये प्रयोजनमूलक अनुमानसे हम विश्वके नियामक अथवा संयोजक ईश्वरका ही अनुमान कर सकते हैं, इससे विश्वके रचयिता अथवा उत्पादक ईश्वरका अनुमान नहीं हो सकता।

१ कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ न्यायकुसुमाञ्जलि ५-१।

२. जे एस मिल (J S Mill) आदि पश्चिमके विद्वानोंने भी ईश्वरके विरुद्ध यह शंका उपस्थित की है।

३ अनुपभुक्तफलानां कर्मणां न प्रक्षयः सर्गमन्तरेण न तत्फलभोगाय नरकादिसृष्टिमारभते दयालुरेव भगवान्। उपभोगप्रबन्धेन परिश्रान्तानाम् अन्तरा विश्रान्तये जन्तूनां भुवनोपसंहारमपि करोतीति सर्वमेतत्कृपानिबन्धमेव। न्यायमंजरी पृ. २०२।

४ यत्पुनर्विकल्पितं सशरीरः ईश्वरः सृजति जगद् अशरीरो वेति तत्राशरीरस्यैव स्रष्टृत्वमस्याभ्युपगच्छाम। ननु क्रियावेशनिबन्धकम् कर्तृत्वं न पारिभाषिकं तदशरीरस्य क्रियाविरहात् कथं भवेत्। कस्य च कुत्राशरीरस्य कर्तृत्वं दृष्टमिति। उच्यते। प्रयत्नज्ञानचिकिर्षायोगित्वं कर्तृत्वमाचक्षते। तच्चेश्वरे।

आत्मामे इच्छा होनेके कारण हमारे शरीरमे क्रिया होती है, उसी तरह ईश्वरकी नित्य इच्छासे परमाणुओंमे क्रिया होती है। शका – ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता। किसी पदार्थको प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाननेके लिये इन्द्रिय और पदार्थोका सबध होना आवश्यक है, परन्तु ईश्वरका इन्द्रियोंसे सबध नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वरको इन्द्रियोंके विषयके बाह्य मानते है, इसलिये प्रत्यक्षसे ईश्वरको नहीं जान सकते। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है, अतएव ईश्वरका प्रत्यक्ष न होनेसे ईश्वरको अनुमानसे भी नही जान सकते। आप्तके उपदेशमे और उपमान प्रमाणमे भी प्रत्यक्षकी आवश्यकता पडती है, इसलिये उपमान और शब्दसे भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती [1] ईश्वरवादी—ईश्वर हमारे इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नहीं है, यह ठीक है। परन्तु ईससे हम ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। अधिकसे अधिक हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु किसी हालतमे प्रत्यक्षसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं होता। अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि और असिद्धि दोनों नही हो सकती। उपमान प्रमाणका ईश्वर सिद्धिसे कोई सबध नहीं है। तथा शब्द प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि होती ही है[2]।

ईश्वरके विषयमें आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका मत

पश्चिमके आधुनिक दार्शनिक विद्वान प्राय ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानते है। इन लोगोंका कहना है कि यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता होता और वह प्राणियोंका शुभचिन्तक होता तो गत योरूपीय महायुद्धमे असख्य नर-नारियोंका रक्त पानीकी तरह कभी नही बहाया जाता। अतएव यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर कृपालु है, तो उसे नाना प्रकारके दुःख और व्याधियोंसे परिपूर्ण सृष्टिकी कभी रचना नही करनी चाहिये थी। इस बातको पाश्चात्य विद्वानोंने विभिन्न रूपोंमे प्रगट किया है। एच जी. वेल्स (H G. Wells) का कथन है कि ईश्वरको सर्व शक्तिमान सृष्टिका सर्जक नहीं कह सकते। यदि ईश्वर सृष्टिके प्राणियोंको युद्ध, मृत्यु आदिसे बचानेमे समर्थ होकर भी केवल अपनी क्रीडाके लिये ही सृष्टिका निर्माण करता हैं तो मै उसे घृणाकी दृष्टिसे देखता हूँ। विलियम जेम्स (William James) के कथनानुसार हमें ऐसे ईश्वरकी आवश्यकता है जो हमारे जैसा ही हो, और हम उसे अपना मित्र, साथी, नायक, सेनापति और राजा मानकर अपनी असहाय और हीन दशामें उससे सहानुभूति प्राप्त कर सके। इस विश्वमें ईश्वरीय क्रम दिखाई नहीं देता, इसलिये हम अनादि, अनन्त ईश्वरकी कल्पना नही कर सकते। प्रो हैल्महोल्ट्ज (Prof Helmholtz) का कहना है कि आखमें वे सब दोष हैं जो किसीके देखनेके यत्रमे पाये जा सकते है, और कुछ अधिक भी। इसमे कुछ अत्युक्ति नहीं है कि यदि कोई चश्मा बेचनेवाला इन दोषोंवाला चश्मा मुझे देता तो मैं उसकी मूर्खता या असावधानीको बडे बलपूर्वक दिखाता और उसके चश्मेको लौटा देता। कॉमिटे (Comte) आदिका कहना है कि सौर्यमण्डल ऐसा नही बना जिससे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता। आवश्यकता थी कि चाद पृथिवी-के चारों ओर उतने ही समयमे घूमता जितनेमें पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती हैं। यदि ऐसा होता तो चाद हर रातको पूरा-पूरा चमका करता। लैंग (Lange) और हक्सले (Huxley) आदि विद्वानोंका कथन है, सृष्टिमे उतना ही अपव्यय हैं जितना खेतमे एक खरगोशको मारनेके लिये करोडों तोपे छोडनेमें होता है।

---

१. ईश्वरविषयक अन्य शकाओंके लिये देखिये न्यायमजरी पृ १९०–४।

२ कुसुमाजलि स्तबक ३। तथा, देखिये श्रीधरकी न्यायकदली, पृ. ५४–५७, जयन्तकी न्यायमजरी, पृ. १९४ से आगे। जयन्तने ईश्वरकी सिद्धिमें सामान्यतोदृष्ट अनुमान दिया है— सामान्यतोदृष्ट तु लिंगमीश्वर-सत्तायामिद ब्रूमहे। पृथिव्यादिकार्यं धर्मि तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमिति साध्यो धर्म कार्य-त्वात् घटादिवत्।

प्लोटिनस (Plotinus) कहा करता था कि मुझे तो अपनी उत्पत्तिकी रीतिका ध्यान करके लज्जा आती है। इसमें प्रतीत होता है या तो ईश्वर सृष्टिको न बनाता, या वह बुद्धिमान नहीं है। ईश्वरको चाहिये था कि कान, नाक या अंगूठा आदिसे संतानोत्पत्ति करता[1]। इसी प्रकार मैक्टैगर्ट (McTaggart), कैनन राशडल (Canon Rashdall) आदि विद्वानोंने ईश्वरको अकर्ता और असर्वव्यापक माना है[2]।

न्याय-वैशेषिक साहित्य

कणादके वैशेषिक सूत्रोंकी रचना अक्षपादके न्यायसूत्रोंसे पहले मानी जाती है। यूई (Ui) वैशेषिक दर्शनकी उत्पत्ति बुद्धके समय, और कमसे कम ईसाकी प्रथम शताब्दीके अन्तमें वैशेषिकसूत्रोंकी रचनाका समय मानते हैं। प्रशस्तपाद वैशेषिकसूत्रोंके समर्थ भाष्यकार हो गये हैं। इनका समय ईसाकी पाँचवी-छठी शताब्दी बताया जाता है। वैशेषिकसूत्रोंके ऊपर रावणभाष्य और भारद्वाजवृत्ति नामके भाष्योंका भी उल्लेख मिलता है। ये भाष्य आजकल लुप्त हो गये हैं। प्रशस्तपादभाष्य पर व्योमशेखरने व्योमवती, श्रीधरने न्यायकन्दली, उदयनने किरणावलि और श्रीवत्सने लीलावती, तथा नवद्वीपके जगदीश भट्टाचार्यने भाष्यसूक्ति और शंकरमिश्रने कणादरहस्य टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त शिवादित्यकी सप्तपदार्थी, लौगाक्षिभास्करकी तर्ककौमुदी, विश्वनाथका भाषापरिच्छेद, तर्कसंग्रह, तर्कामृत आदि ग्रंथ वैशेषिक दर्शनका ज्ञान करनेके लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

न्यायसूत्रोंकी रचनाके विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। प्रो याकोबीका मत है कि *न्यायसूत्र* २००–४५० ईसवी सन्में रचे गये हैं। यूई (Ui) ने इस समयको १५०-२५० ईसवी सन स्वीकार किया है। प्रो ध्रुवने उक्त मतोंकी विस्तृत समालोचना करते हुए न्यायसूत्रोंके रचनाके समयको ईसवी सन्के पूर्व दूसरी शताब्दी माना है[3]। वात्स्यायन न्यायसूत्रोंके प्रथम भाष्यकार गिने जाते हैं। इनका समय ईसाकी चौथी शताब्दी माना जाता है। वात्स्यायन पर बौद्ध तार्किक दिङ्नागके आक्षेपोंका परिहार करनेके लिये उद्योतकर (६३५ ई स) ने वात्स्यायनभाष्य पर न्यायवार्तिककी रचना की। न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिमिश्रने (८४० ई स) *न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका* लिखी। वाचस्पतिको *न्यायसूचिनिबंध* और *न्यायसूत्रोद्धारका भी कर्ता कहा जाता* है। वाचस्पतिमिश्रने वेदांत, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनों पर भी ग्रंथोंकी रचना की है। वाचस्पतिके बाद जयंतभट्टका (८८० ई० स०) नाम बहुत महत्त्वका है। इन्होंने कुछ चुने हुए न्यायसूत्रों पर स्वतंत्र टीका लिखी है। जयन्तने न्यायमंजरी, न्यायकलिका आदि ग्रंथोंकी रचना की है। मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें जयन्तका उल्लेख किया है। उदयन आचार्य दसवीं शताब्दीके विद्वान हैं। इन्होंने वाचस्पतिकी तात्पर्यटीकापर तात्पर्यटीकापरिशुद्धि नामकी टीका, न्यायकुसुमांजलि, आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावलि, किरणावलि, न्यायपरिशिष्ट नामक ग्रंथोंकी रचना की है। उदयनकी रचनाओं पर गंगेश नैयायिकके पुत्र वर्धमान आदिने

---

१. ये उद्धरण पं गंगाप्रसाद उपाध्यायकी आस्तिकवाद नामक पुस्तकके १० वें अध्यायमें फ्लिन्ट (Flint) की Theism के आधारसे दिये गये हैं।

२ कहा जाता है कि जिस समय कुसुमांजलिके कर्ता उदयनके नाना युक्तियोंसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेपर भी ईश्वरने दयालुताका भाव प्रदर्शन नहीं किया, उस समय उदयनने ईश्वरको ऐश्वर्यके मदसे मत्त हुआ कहकर ईश्वरके अस्तित्वकी स्थितिको अपने अधीन बताकर निम्न श्लोककी रचना की—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मा अवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

३ देखिये प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी भूमिका, पृ ४१–५४।

टीकाये लिखी हैं। इससे अतिरिक्त भासर्वज्ञका न्यायसार, तथा मुक्तावली, दिनकरी, रामरुद्री नामकी भाषापरिच्छेदकी टीकाये, तर्कसग्रह, तर्कभाषा, तार्किकरक्षा आदि न्यायदर्शनके उल्लेखनीय ग्रन्थोंमेसे है। न्यायदर्शनमे नव्यन्यायका जन्म मिथिलाके गगेश उपाध्यायसे आरभ होता है। गगेशका जन्म ई० स० १२०० मे हुआ था। गगेशने तत्त्वचिंतामणि नामक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थमे नैयायिकोंके चार प्रमाणों पर चर्चा की गई है। तेरहवी शताब्दीमे गगेशके तत्त्वचिंतामणिपर जयदेवने प्रत्यक्षालोक नामकी टीका लिखी। इसके पश्चात् वासुदेव सार्वभौम (ई० स० १५००) ने तत्त्वचितामणिव्याख्या लिखी। वासुदेवके चैतन्य, कृष्णानद, रघुनंदन और रघुनाथ नामके चार उत्तम शिष्य थे। इनमे रघुनाथने तत्त्वचितामणि पर दीधिति, और वैशेषिक मतका खंडन करनेके लिये पदार्थखडन, तथा ईश्वरकी सिद्धिके लिये ईश्वरानुमान नामक ग्रंथ लिखे। इसके अतिरिक्त मथुरानाथ (१५८० ई स.), जगदीश (१५९० ई स) और गदाधर (१६५० ई० स०) ने तत्त्वचितामणि पर टीकाये लिखकर नव्यन्यायको पल्लवित किया।

सांख्य-योग परिशिष्ट (घ)

(श्लोक २५)

सांख्य, योग, जैन और बौद्ध दर्शनोंकी तुलना और उनकी प्राचीनता

साख्य जैन और बौद्धोंकी तरह वेदोंको नहीं मानते, मीमांसकोंके यज्ञ-याग आदिकी निन्दा करते है, तत्वज्ञान और अहिंसापर अधिक भार देते हैं, सासारिक जीवनके दुख रूप साक्षात्कार करनेका उपदेश करते हे, जातिभेद स्वीकार नहीं करते, ईश्वरको नही मानते, सन्यासको प्रधानता देते हैं, जैनोंकी तरह आत्मबहुत्ववाद और बौद्धोंके क्षणिकवादकी तरह परिणामवादको मानते हैं, तथा जैन और बौद्धोंके तीर्थंकरों-की तरह कपिलका जन्म क्षत्रिय कुलमें होना स्वीकार करते हैं । इस परसे अनुमान किया जा सकता है कि साख्य, योग, जैन और बौद्ध इन चारों सस्कृतियोंको जन्म देनेवाली कोई एक प्राचीन सस्कृति होनी चाहिये । ऋग्वेदमे एक जटाधारी मुनिका वर्णन आता है, इस युगमें एक सम्प्रदाय वैदिक देवता और इन्द्र आदिमें विश्वास नहीं करता । यह सम्प्रदाय वेदकी ऋचाओंपर भी कटाक्ष किया करता था । यजुर्वेदमे भी वैदिक धर्मके विरुद्ध प्रचार करनेवाले यतियोंका उल्लेख आता है। एतरेय ब्राह्मण आदि ब्राह्मणोंमे भी वेदको न माननेवाले सम्प्रदायोंकी चर्चा और कर्मकाण्डकी अपेक्षा तपश्चरण, ब्रह्मचर्य, त्याग इन्द्रियजय आदि भाव-नाओंकी उत्कृष्टताका उल्लेख किया गया है । उपनिषद् साहित्यमे तो ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जहा ब्राह्मण क्षत्रिय गुरुसे अध्ययन करते हैं, ऋषि ब्रह्मचर्यको ही वास्तविक यज्ञ मानते हैं, वेदको अपराविद्या कहकर यज्ञ, याग आदिका तिरस्कार करते हैं, और भिक्षाचर्याकी प्रधानताका प्रतिपादन कर ब्रह्मविद्याके महत्त्वका प्रसार करते ह । महाभारतमे भी जातिसे वर्णव्यवस्था न मानकर कर्मसे वर्णव्यवस्था माननेके, अपनी आख और शरीरका मास आदि काटकर दान करनेके, तथा अनेक प्रकारकी कठोर तपश्चर्याये करनेके अनेक उदाहरण पाये जाते हे । इस परसे ऋग्वेदमे भी एक ऐसी सस्कृतिके मौजूद रहनेका अनुमान होता है, जो सस्कृति कर्मकाण्डकी अपेक्षा ज्ञानकाण्डको, और गृहस्थधर्मकी अपेक्षा सन्यासधर्मका अधिक महत्त्व देती थी ।[1] इस सस्कृतिको श्रमण अथवा क्षत्रिय सस्कृति कह सकते हैं ।[2] उपनिषदोका साहित्य अधिकतर इसी सास्कृतिके मास्तिष्ककी उपज[3] कहा जाता हैं ।

---

१. सिन्धमें मोहेन्जोदरो और हरप्पाकी खुदाईमे पायी जानेवाली ध्यानस्थ मूर्तियोंसे भी इस सस्कृतिकी प्राचीनताका अनुमान किया जा सकता हैं ।

२ ब्राह्मण और श्रमण इन दोनो वर्गोके इतिहासका मूल बहुत प्राचीन हैं । जिसतरह ब्राह्मणोंके धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थोंमें श्रमणोंका नास्तिक और असुरके रूपमें उल्लेखकर उनका स्पर्श करके सचेल स्नान आदिका विधान किया गया है, उसी तरह जैन, बौद्ध आदिके ग्रन्थोंमें ब्राह्मणोंका मिथ्यादृष्टि, कुमार्गगामी अभिमानी आदि शब्दोंसे तिरस्कार किया गया है । जितेन्द्रबुद्धि आदि वैयाकरणोंने ब्राह्मण और श्रमणोंके विरोधको सर्प और नकुलकी तरह जाति-विरोध कहकर उल्लेख किया है। विशेषके लिये देखिये प० सुखलालजीकी 'पुरातत्त्व' मे प्रकाशित 'साप्रदायिकता अने तेना पुरावाओनु दिग्दर्शन' नामक लेखमाला । इस लेखमालाका इस पुस्तकके लेखकद्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद 'जैनजगत' में भी प्रकाशित हुआ है।

३. विशेषके लिये देखिये, सन् १९३४ मे बम्बईमें होनेवाली २१ वी इन्डियन साइस काग्रेसके अवसरपर रायबहादुर आर. पी चन्दा (R. P Chanda) का श्रमणसस्कृति (Shramanism) पर पढा

सांख्य-योगदर्शन

साख्य और योगदर्शन बुद्धके समयके पहिले दर्शन माने जाते है ।[१] पतंजलिके योगसूत्र साख्य-प्रवचनके नामसे कहे जाते है, वाचस्पतिमिश्र भी साख्य-योगके उपदेष्टा वार्षगण्यको 'योगशास्त्रव्युत्पादयिता' कहकर उल्लेख करते हैं, तथा स्वय महर्षि पतजलि साख्य तत्त्वज्ञान पर ही योग सिद्धांतोंका निर्माण करते हैं। इससे मालूम होता है कि किसी समय साख्य और योग दर्शनोंमे परस्पर विशेष अन्तर नही था। वास्तवमें साख्य और योग दोनों दर्शनोंको एक दर्शनकी ही दो धारायें कहना चाहिये । इन दोनोंमे इतना ही अन्तर कहा जा सकता है कि साख्यदर्शन तत्त्वज्ञानपर अधिक भार देता हुआ तत्त्वोकी खोज करता है और तत्त्वोके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति स्वीकार करता है, जब कि योगदर्शन यम, नियम आदि योगकी अष्टागी प्रक्रियाका विस्तृत वर्णन करके योगकी सक्रियात्मक प्रक्रियाओंके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध होनेसे मोक्षकी सिद्धि मानता है ।[२] साख्यदर्शनको कापिलसाख्य और योगदर्शनको पातजलसाख्य कह सकते हैं।

सांख्यदर्शन

शुद्ध आत्माके तत्त्वज्ञानको साख्य कहते है[३] । अन्यत्र सम्यग्दर्शनके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको साख्य कहा है ।[४] अन्यत्र पच्चीस तत्त्वोंका वर्णन करनेके कारण साख्यदर्शनको साख्य कहा जाता है ।[५] गुणरत्नने

गया लेख प्रो विन्टरनीजकी Some Problems in Indian Literature नामक पुस्तकमे Ascetic Literature in Ancient India नामक अध्याय, इलियट (Eliot) की Hinduism and Buddhism, भाग २, अध्याय ६ और ७ ।

१. वेबर (Weber) आदि विद्वानोंके मतमे साख्यदर्शन सम्पूर्ण वर्तमान भारतीय दर्शनोंमें प्राचीनतम है । महाभारतमे साख्य और योगदर्शनका 'सनातन' कहकर उल्लेख किया हैं ।

२. साख्य और योगदर्शनमे भेद प्रदर्शन करनेके लिये साख्यको निरीश्वर साख्य और योगको सेश्वर साख्य भी कहा जाता हैं। न्यायसूत्रोंके भाष्यकर वात्स्यायनने साख्य और योग दर्शनोंमे निम्न प्रकारसे भेदका प्रदर्शन किया है—साख्य लोग असत्की उत्पत्ति और सत्का नाश नहीं मानते । उनके मतमे चेतनत्व आदिकी अपेक्षा सम्पूर्ण आत्माये समान है, तथा देह, इन्द्रिय, मन और शब्दमे, स्पर्श आदिके विषयोंमें और देह आदिके कारणोंमे विशेषता होती है । योग मतके अनुयायी सपूर्ण सृष्टिको पुरुषके कर्म आदि द्वारा मानते है, दोष और प्रवृत्तिको कर्मोका कारण वताते हैं, आत्मामे ज्ञान आदि गुणोंको, असत्की उत्पत्तिको और सत्के नाशको स्वीकार करते है—नासत· आत्मलाभ न सत आत्महानम् । निरतिशयाश्चेतनाः । देहेन्द्रियमनस्सु विषयेषु तत्कारणेषु च विशेष इति साख्यानाम् । पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्ग· । कर्महेतवो दोषाः प्रवृतिश्च । स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः । असदुत्पद्यते उत्पन्न निरुध्यते । न्यायभाष्य १-१-२९ ।

३. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं साख्यमित्यभिधीयते । न्यायकोश पृ ९०४ टिप्पणी ।

४. न्यायकोश पृ ९०४ ।

५. पंचविंशतेस्तत्त्वाना सख्यान सख्या । तदधिकृत्य कृत शास्त्र साख्यम् । हेमचन्द्र-अभिधानचिन्तामणि-टीका ३-५२६ । यूनानी विद्वान पाइथैगोरस (Pythagoras) सख्या (Number) के सिद्धान्तको मानते थे । प्रो० विन्टरनीज (Winternitz) आदि विद्वानोंके अनुसार पाइथैगोरसपर भारतीय साख्य सिद्धान्तोंका प्रभाव पडा है । ग्रीक और साख्यदर्शनकी तुलनाके लिये देखिये प्रो. कीथ (Keith) का Samkhya System अ० ६, पृ० ६५ से आगे ।

षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकामें साख्यमतके साधुओंके आचारका निम्न प्रकारसे वर्णन किया है—"साख्य मतके अनुयायी साधु त्रिदडी अथवा एकदडी होते हैं, ये कौपीन धारण करते है, गेरुए रगके वस्त्र पहिनते हैं, बहुतसे चोटी रखते है, बहुतसे जटा बढाते है, बहुतसे छुरेसे मुडन कराते है । ये मृगचर्मका आसन रखते हैं, ब्राह्मणोंके घर आहार लेते है, पाच ग्रास मात्र भोजन करते है, और बारह अक्षरोंकी जाप करते हे । इनके भक्त नमस्कार करते समय 'ओं नमो नारायणाय' कहते है, और साधु केवल 'नारायणाय नम' बोलते है । साख्य परिव्राजक जीवोंकी रक्षाके लिए लकड़ीकी मुखवस्त्रिका (बीटा) रखते हैं । ये जीवोंकी दया पालनेके लिये स्वय जल छाननेका वस्त्र रखते है और अपने भक्तोंको पानी छाननेके लिये छत्तीस अगुल लवा और बीस अगुल चौड़ा मजबूत वस्त्र रखनेका उपदेश देते है । ये मीठे पानी में खारा पानी मिलानेसे जीवोंकी हिसा मानते है, और जलकी एक बूदमे अनत जीवोंका अस्तित्व स्वीकार करते हे । इनके आचार्योके साथ 'चैतन्य' शब्द लगाया जाता है ।" साख्य कर्मकाण्डको, यज्ञ-यागको और वेदको नहीं मानते । ये आध्यात्मवादी होते है, हिंसाका विरोध करते हैं और वेद, पुराण, महाभारत, मनुस्मृति आदिकी अपेक्षा साख्य तत्त्वज्ञानको श्रेष्ठ समझते हे[1] । इन लोगोंका मत है कि यथेष्ट भोगोंका सेवन करनेपर तथा किसी भी आश्रममें रहनेपर भी यदि कपिलके पच्चीस तत्त्वोका ज्ञान हो गया है, यदि साख्य मतमें भक्ति हो गई हैं तो शिखाधारी, मुण्डी अथवा जटाधारीको भी मुक्ति हो सकती है[2] । साख्योंके मतमें पच्चीस तत्त्व, तथा प्रत्यक्ष

---

१ य एष आनुश्रविक श्रौतोऽग्निहोत्रादिक स्वर्गसाधनतया तापत्रयप्रतीकारहेतुरुक्त सोऽपि दृष्टवत् अनैकातिक प्रतीकार.। तथाहि 'मध्यमपिड पुत्रकामा पत्नी प्राश्नीयात् आधत्त पितरो गर्भम्' इति मन्त्रेण । तदेव वेदवचसा बहुन् पिण्डान् पर शतानश्नाति यावदेकोऽपि पुत्रो न जायते । तथा 'पश्येम शरद शतम् जीवेम शरद शतम्' इति श्रुतावास्ते । पर गर्भस्थो जातमात्रो बालो युवापि कुमारो म्रियते। किचान्यत्–स श्रौतो हेतुः अविशुद्ध पशुहिसात्मकत्वात् । क्षययुक्त पुन. पातात् । अतिशययुक्तः तत्रापि स्वामिभृत्यभावश्रवणात् । उक्त च—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभि ॥

पशुवधोऽग्निष्टोमे मानुषवध गोसवव्यवस्था सौत्रामण्या सुरापान रण्डया सह स्वेच्छालापश्च ऋत्विजम् । कल्पसूत्रेऽन्यदपि आकृत्यं भूरि कर्तव्यतयोपदिश्यते । 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्य मरुद्भ्यो वैश्य तपसे तस्कर नारकाय वीरहम्' इत्यादिश्रवणात् । किञ्च—

यथा पकेन पकाभ सुरया वा सुराकृतम् ।
भूतहत्यां तथैवेमा न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥
न हि हस्तावसृग्दग्धौ रुधिरेणैव शुद्धयत ।

'तद्यथाऽस्मिन् लोके मनुष्या पशूनश्नन्ति तथाभिभुञ्जत एवममुष्मिन् लोके पशव मनुष्यानश्नन्ति' इतिश्रुतिशतश्रवणात् । अन्यच्च—

वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येव गम्यते स्वर्ग नरके केन गम्यते ॥

इत्यविशुद्धि सर्वथा श्रौतो दु खत्रयप्रतीकारहेतु. । साख्यकारिका २ माठरभाष्य ।

२ पचविशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रत. ।
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र सशय ॥ पचशिख । भावागणेश–तत्त्वयाथार्थ्यदीपन ।

अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। वैदिक ग्रन्थोंमे कपिलको नास्तिक और श्रुतिविरुद्ध[1] तत्रका प्रवर्तक कहकर कपिलप्रणीत साख्य और पतंजलिके योगशास्त्रको अनुपादेय कहा है।

सांख्यदर्शनके प्ररूपक

कपिल—साख्यदर्शनके आद्य प्रणेता, आदि विद्वान कपिल परमर्षि कहे जाते है[2]। कपिल क्षत्रिय थे। कुछ लोग कपिलको ब्रह्माका पुत्र बताते है। भागवतमे कपिलको विष्णुका अवतार कहकर उन्हें अपनी माता देवहूतिको साख्य तत्त्वज्ञानका उपदेष्टा कहा गया है[3]। विज्ञानभिक्षुने कपिलको अग्निका अवतार बताया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्मे कपिलका हिरण्यगर्भके अवतार रूपमें उल्लेख आता है। रामायणमे कपिल योगीको वासुदेवका अवतार और सगरके साठ हजार पुत्रोंका दाहक बताया गया है। अश्वघोष बुद्धके जन्मस्थान कपिलवस्तुको कपिल ऋषिकी बसाई हुई नगरी कहकर उल्लेख करते है। कपिलने अपने पवित्र और प्रधान दर्शनको सर्व प्रथम आसुरिको सिखाया था। आसुरिने पचशिखको सिखाया और पचशिखने इन दर्शनको विस्तृत किया। पंचशिखके पश्चात् यह दर्शन भार्गव, वाल्मीकि, हारीत और देवल प्रभृतिने और ईश्वरकृष्णने सीखा। कपिलको साख्यप्रवचनसूत्र और तत्त्वसमास नामके ग्रंथोंका प्रणेता कहा जाता है, परन्तु इस कथनका कोई आधार नही जान पडता[4]।

आसुरि—आसुरि कपिलके साक्षात् शिष्य और पचशिखके गुरू कहे जाते है। आसुरिका मत था कि सुख और दुख बुद्धिके विकार है और ये जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलमे है, उसी तरह पुरुषमें प्रतिबिम्बित होते है[5] आसुरिके सिद्धातोंके विषयमे विशेष पता नहीं लगता। आसुरिका समय ईसाके पूर्व ६०० वर्ष कहा जाता हैं।

पचशिख—वाचस्पतिमिश्र, भावागणेश आदि टीकाकार पचशिखका उल्लेख करते है। भावागणेशकी योगसूत्रवृत्तिसे मालूम होता है कि तत्त्वसमासपर पचशिखने विवरण अथवा व्याख्या लिखी थी। पंचशिखका वर्णन महाभारतमे आता हैं। कहा जाता है कि पचशिख अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनदमय आत्माके शिखास्थानमें रहनेवाले ब्रह्मको जानते थे, इसलिये उनका नाम पचशिख पडा। कपिल मतका अनुसरण करनेके कारण पंचशिख कापिलेय नामसे भी कहे जाते थे। चीनके बौद्ध सम्प्रदायके अनुमार पच-

१ अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्र वेदविरुद्ध वेदानुसारि मनुवचनविरुद्ध च। ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य २-१-१। तथा-नास्तिककपिलप्रणीतसाख्यस्य पतजलिप्रणीतयोगशास्त्रस्य चानुपादेयत्वमुक्त भारते मोक्षधर्मेषु—

साख्यं योगः पाशुपत वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नात्र कार्या विचारणा॥

गीता. मध्वभाष्य, अ. २ श्लो ३९। न्यायकोश पृ. ९०४ टिप्पणी।

२ साख्यस्य वक्ता कपिल परमर्षिः पुरातन।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन। महाभारत, मोक्षधर्म।
प्रो राधाकृिश्नन् आदि विद्वान् साख्य सिद्धातके अव्यक्त बीजका ऋग्वेदमे पाये जानेका उल्लेख करते है।

३ कपिलस्तत्त्वसख्याता भगवानात्ममायया।
जात स्वयमज साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्। भागवत ३-२५-१।

४. साख्यसूत्र सर्वप्रथम अनिरुद्ध (१५०० ई. स.) की वृत्ति सहित और कुछ समय बाद विज्ञानभिक्षुके भाष्य (१६५० ई. स.) सहित देखनेमे आते हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षुके पूर्ववर्ती ईश्वरकृष्ण, शकर, वाचस्पतिमिश्र, माधव आदि विद्वान साख्यसूत्रोंका उल्लेख नहीं करते, इस परसे विद्वान साख्यसूत्रोंको चौदहवी शताब्दीके बाद बना हुआ अनुमान करते हैं।

५. देखिये पृ १३८।

शिखको षष्टितंत्रका[1] प्रणेता कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है। पंचशिख चौबीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं और भूतोंके समूहसे आत्माकी उत्पत्ति मानते है। प्रो दासगुप्तका मत है कि ईश्वरकृष्णकी सांख्याकारिका-का और महाभारतमें वर्णन किये हुए सांख्यसिद्धान्तोका चरक (७८ ई स) मे कोई उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए महाभारतमें आया हुआ पंचशिखका सांख्य मौलिक सांख्यदर्शन है, तथा सांख्यकारिकाका ईश्वरकृष्ण का सांख्य सांख्यदर्शनका अर्वाचीनका रूप है। गार्वे (Gaebe) पंचशिखको ईसाकी प्रथम शताब्दीका विद्वान कहते है।

वार्षगण्य—वार्षगण्य विन्ध्यवासीके गुरू थे। महाभारतमे वार्षगण्यको सांख्य-योगके प्रणेताओंमें माना गया है। वाचस्पतिने इनका योगशास्त्र-व्युत्पादयिता कहकर उल्लेख किया है। अहिर्बुध्न्यसंहितामें और वाचस्पति आदिने वार्षगण्यको षष्टितंत्रका रचयिता कहा है। इनका समय ईसवी सन् २३०-३०० कहा जाता है।

विन्ध्यवासी—विन्ध्यवासीका उल्लेख मीमांसाश्लोकवार्तिक और तत्त्वसंग्रहपंजिका मे आता है। इनका असली नाम रुद्रिल था। वसुबंधुके जीवनचरितके लेखक परमार्थके अनुसार, विन्ध्यवासीने वसुबंधुके गुरू बुद्धमित्रको शास्त्रार्थमे पराजित करके अयोध्याके विक्रमादित्य राजासे पारितोषिक प्राप्त किया था। विन्ध्यवासी जय प्राप्त करके विन्ध्याचलको लौट गये और वहीं पर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनका समय ई स. २५०-३२० कहा जाता है।[2]

ईश्वरकृष्ण—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिकाके कर्ता हैं। सांख्यकारिको सांख्यसप्तति भी कहते हैं। यह ग्रंथ षष्टितंत्रके आधारसे रचा गया है। सांख्यकारिकाके ऊपर माठर और गौडपादने टीकाये लिखी है। बौद्ध साधु परमार्थ छठी शताब्दीमें सांख्यकारिकाको चीनमें ले गये थे, और वहाँ उन्होंने इनका चीनी अनुवाद करके इसके ऊपर टीका लिखी थी। पहले ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीको एक ही व्यक्ति समझा जाता था, परन्तु कमलशील तत्त्वसंग्रहपंजिकामें ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीका अलग-अलग उल्लेख करते हुए विन्ध्यवा-सीका रुद्रिल नामसे उल्लेख करते हैं। गुणरत्न भी विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्णको अलग-अलग नामसे कहते हैं, इसलिए ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीको एक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग ईश्वरकृष्णका समय वार्षगण्यके पूर्व मानकर ईश्वरकृष्णका समय दूसरी शताब्दी मानते है। कुछका कहना है कि महाभारतके वार्षगण्य ईश्वरकृष्णसे बिल्कुल अनभिज्ञ है, इसलिये वार्षगण्यको ईश्वरकृष्णके उत्तरकालीन नहीं कहा जा सकता। इन विद्वानोंके मतमें ईश्वरकृष्णका समय ईसवी सन् ३४०-३८० माना जाता है।

वाचस्पतिमिश्र—नवमी शताब्दीमे वाचस्पतिने न्याय-वैशेषिक दर्शनोंकी तरह सांख्यकारिकापर सांख्य-तत्त्वकौमुदी और व्यासभाष्यपर तत्त्ववैशारदी नामक टीकाकी रचना की है।

विज्ञानभिक्षु—वाचस्पतिमिश्रके बाद विज्ञानभिक्षु अथवा विज्ञानयति एक प्रतिभाशाली सांख्य विचा-रक हो गये है। इन्होंने सांख्यसूत्रोंपर सांख्यप्रवचनभाष्य तथा सांख्यसार, पातंजलभाष्यवार्तिक, ब्रह्मसूत्रके ऊपर विज्ञानामृतभाष्य आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। बहुतसे सिद्धांतोंमे विज्ञानभिक्षुका वाचस्पतिमिश्रसे भिन्न अभिप्राय था। विज्ञानभिक्षुने पंचशिख और ईश्वरकृष्णके समयमे लुप्त हुए ईश्वरवादका सांख्यदर्शनमें फिरसे प्रतिपादन किया है। भावागणेशदीक्षित, प्रसादमाधवयोगी और दिव्यसिंहमिश्र नामके इनके तीन प्रधान शिष्य थे।

---

१ वाचस्पतिमिश्र आदि विचारकोके अनुसार षष्टितंत्र वार्षगण्यका बनाया हुआ है। षष्टितन्त्रका भगवती ज्ञातृधर्मकथा, नन्दि आदि जैन आगमोंमे उल्लेख आता है। जैन कथाके अनुसार षष्टितंत्र आसुरिका बनाया हुआ कहा जाता है। जैन टीकाकारोंने षष्टितंत्रका अर्थ कापिलीय शास्त्र किया है।

२ तत्त्वसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका।

इनके अतिरिक्त सनक, नन्द, सनातन, सनत्कुमार अंगिरा वोढु आदि अनेक सांख्य विचारक हो गये है, जिनका अब केवल नाम शेष रह गया है।

योगदर्शन

योगशब्द ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर आता है, परन्तु यहाँ यह शब्द प्राय जोडनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, कठ, मैत्रायणी आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थमें पाया जाता है। यहाँ योगके अंगोंका वर्णन किया गया है। आगे जाकर शांडिल्य, योगतत्त्व, ध्यानविन्दु, हंस, अमृत-नाद, वराह, नादविन्दु, योगकुण्डली आदि उत्तरकालकी उपनिषदोंमें यौगिक प्रक्रियाओंका सांगोपांग वर्णन मिलता है। सांख्यदर्शनके कपिल मुनिकी तरह हिरण्यगर्भ योगदर्शनके आदि वक्ता माने जाते है। हिरण्य-गर्भको स्वयंभू भी कहते है। महाभारत और श्वेताश्वतर उपनिषदमें हिरण्यगर्भका नाम आता है। पतंजलि आधुनिक योगसूत्रोंके व्यवस्थापक समझे जाते है।[1] व्यासभाष्यके टीकाकार वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु भी पतंजलिका योगसूत्रोंके कर्त्ता रूपमें उल्लेख नहीं करते। प्रो० दासगुप्त आदि विद्वानोंके मतानुसार व्याकरण महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि दोनों एक ही व्यक्ति थे। पतंजलिका समय ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाता है। पतंजलिके योगसूत्रोंके ऊपर व्यासने भाष्य लिखा है। व्यासका समय ईसाकी चौथी शताब्दी कहा जाता है। ये व्यास महाभारत और पुराणकार व्याससे भिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। व्यासके भाष्यके ऊपर वाचस्पति मिश्रने तत्त्ववैशारदी नामकी टीका लिखी है। व्यासभाष्यपर भोज (दसवी शताब्दि) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक और नागोजी भट्ट (सतरहवी शताब्दी) ने छायाव्याख्या नामकी टीकायें लिखी हैं। योगकी अनेक शाखाये हैं। सामान्यसे योगके दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। पतंजलि ऋषिके योगको राजयोग कहते है। प्राणायाम आदिसे परमात्माके साक्षात्कार करनेको हठयोग कहते हैं। हठयोगके ऊपर हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता आदि शास्त्र मुख्य है। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके भेदसे योगके तीन भेद भी होते हैं। योगतत्त्व उपनिषद्में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इस तरह योगके चार भेद किये हैं।

जैन और बौद्ध दर्शनमें योग

महाभारत, पुराण भगवद्गीता आदि वैदिक ग्रंथोंके अतिरिक्त जैन और बौद्ध साहित्यमें भी योगका विशद वर्णन मिलता है। जैन आगम ग्रन्थ और प्राचीन जैन संस्कृत साहित्यमें योग शब्द प्राय, ध्यानके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। यहाँ ध्यानका लक्षण, भेद प्रभेद आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। योगविषयक साहित्यको पल्लवित करनेमें सर्व प्रथम हरिभद्रसूरिका नाम विशेष रूपमे उल्लेखनीय है। हरिभद्रने योगके ऊपर योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, षोडशक आदि ग्रन्थोंके लिखनेके साथ पतंजलिके योगशास्त्रका पांडित्य प्राप्त करके पतंजलिके योगसूत्रोंके साथ जैनयोगकी प्रक्रियाओंकी तुलना की है। हरिभद्रके योगदृष्टिसमुच्चयमें मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियोंका स्वरूप जैन साहित्यमें बिलकुल अभूतपूर्व है। जैन योगशास्त्रके दूसरे विद्वान हेमचन्द्रसूरि हैं। इन्होंने योगपर योगशास्त्र नामक स्वतत्र ग्रन्थ लिखकर अनेक जैन यौगिक प्रक्रियाओंका पतंजलिकी प्रक्रियाओंसे समन्वय किया है। हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें शुभचन्द्र आचार्य के ज्ञानार्णवमें आये हुए ध्यान आदिके वर्णनके साथ ध्यान, आसन आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। जैन-योग-साहित्यको वृद्धिगत करनेवाले सत्तरहवीं सदीके अंतिम विद्वान यशोविजय उपाध्याय माने जाते हैं।

---

१. तुलना करो—ननु

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन.।

इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतंजलि कथ योगस्य शासितेति चेत्–अद्धा। अतएव तत्र तत्र पुराणादौ विक्षिप्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिंधुना फणिपतिना सार संजिघृक्षुणानुशासन-मारब्धं न तु साक्षाच्छासनम्। सर्वदर्शनसग्रह १५।

यशोविजयजीने योगके ऊपर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, तथा योगलक्षण, पातजलयोगलक्षणविचार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रा, तारादित्रय, योगमाहात्म्य आदि द्वात्रिंशिकाये लिखनेके साथ हरिभद्रकी योगविंशिका और षोडशकपर टीका लिखकर, पतजलिके योगसूत्रों पर जैन प्रक्रियाके अनुसार वृत्ति रची है। यशोविजयजीने उक्त ग्रन्थोंमें भगवद्गीता, योगवासिष्ट, तैत्तिरीय उपनिषद्, पातजल योगसूत्र आदि वैदिक ग्रथों का उपयोग किया है और साथ ही जैन और पतजलिके योगको प्रक्रियाओंकी तुलना करते हुए अनेक स्थलोंपर पतजलिकी प्रक्रियाका प्रतिवाद किया है।[१] बौद्ध ग्रथोमे भी योगका वर्णन मिलता है। स्वय बुद्धने बोधि प्राप्त करनेके पूर्व योगका अभ्यास किया था। पातजल योगदर्शनकी तरह बौद्धशास्त्रोंमे भी अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदिको धर्मके प्रधान अङ्ग मान इनके विशद वर्णन के साथ हेय, हेयहेतु, हान और हानोपायको तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्य सत्योका उपदेश दिया है। महायान सप्रदायकी विज्ञानवाद शाखा योगाभ्यासपर विशेष ध्यान देनेके कारण ही योगाचार नामसे कही जाती थी। योगाचार सम्प्रदायमें ध्यान, पारमिता, समाधि आदि प्रक्रियाओंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। बौद्धतन्त्रकी क्रियातन्त्रका नाम बहुत महत्त्वका है। अनुत्तरयोगतन्त्रके पचक्रममें भी योगकी पाच दशाओंका वर्णन आता है। हीनयान सम्प्रदायमें भी योगाभ्यासको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[२]

---

१ जैनयोगके विषयमें विशेष जाननेके लिए देखिये प० सुखलालजीकी योगदर्शन और योगविंशिकाकी भूमिका।

२ हीनयानके योगसबधी सिद्धातोंके लिये देखिये मिसेज राइस डेविड्सका Yogavchara's Mannual, पाली टैक्स्ट सोसायटी, १९१६।

मीमांसक परिशिष्ट (ड)

(श्लोक ११ और १२)

मीमांसकोंके आचार विचार

मीमासक दर्शनको जैमिनीय दर्शन भी कहते है। मीमासक लोग उपनिषदोंसे पूर्ववर्ती वेदोंको ही प्रमाण मानते है, इसलिये ये पूर्वमीमासक कहे जाते है। मीमासक धूममार्गके अनुयायी होते हैं। ये यज्ञ-यागके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करके स्वर्गकी प्राप्ति ही अपना मुख्य धर्म समझते है।[१] मीमासक वैदिक हिंसाको हिसा नहीं मानते, पितरोंको तृप्त करनेके लिये श्राद्ध करते है, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये मासकी आहुति देते है, अतिथियोंका मधुपर्क आदिसे सत्कार करते है। पूर्वमीमासावादियोंको कर्ममीमासक भी कहते है। "मीमासक साधु कुकर्मसे रहित होते हैं, यजन आदि छह कर्मोंमे रत रहते हैं, ब्रह्मसूत्र रखते हैं, और गृहस्थाश्रममे रहते है। ये लोग साख्य साधुओंकी तरह एकदण्डी अथवा त्रिदडी होते ह। ये गेरुआ रगके वस्त्र पहिनते है, मृगचर्मके ऊपर बैठते है, कमण्डलु रखते है और सिर मुडाते हैं। इन लोगोंका वेदके सिवाय और कोई गुरु नही है, इसलिये ये स्वय ही सन्यास धारण करते हैं। मीमासक साधु यज्ञोपवीतको धोकर पानीको तीन बार पीते हैं। ये ब्राह्मण ही होते है, और शूद्रके घर भोजन नही करते।" अर्वाचीन पूर्वमीमासक तीन प्रकारके है—प्रभाकर (गुरु), कुमारिलभट्ट (तुतात) और मण्डन मिश्र। भट्ट छह और प्रभाकर पाच प्रमाणोंको अगीकार करते है।

मीमांसकोंके सिद्धांत

१ वेद—वेदको श्रुति, आम्नाय, छन्द, ब्रह्म, निगम, प्रवचन आदि नामोंसे भी कहते है। वेदान्ती लोगोंकी जिज्ञासा ब्रह्मके लिये होती है, जब कि मीमासक लोगोंका अतिम ध्येय धर्म ही होता है। मीमासकोंका मत है, कर्तव्य रूप धर्म अतीन्द्रिय है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता। इसलिये धर्मका ज्ञान वेदवाक्योंकी प्रेरणा (चोदना) से ही होता है। उपनिषदोंका प्रयोजन भी वेदवाक्योंके समर्थन करनेके लिये ही हैं।[२] अतएव वेदोंको ही प्रमाण मानना चाहिये। वेदोंका कोई कर्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता है। जिन शास्त्रोंका कोई कर्ता देखा जाता है, उन शास्त्रोंको प्रमाण नही कहा जा सकता, इसलिये अपौरुषेय होनेके कारण वेदको ही प्रमाण कहा जा सकता है।[३] वेद नित्य है, अबाधित हैं, धर्मके

---

१ देवता उद्दिश्य द्रव्यत्यागो याग। यागादिरेव श्रेयसाधनरूपेण धर्मः।

२ एतेन क्रत्वर्थकर्तृप्रतिपादनद्वारेणोपनिषदा नैराकाङ्क्ष्य व्याख्यातम्। तन्त्रवार्तिक पृ० १३।

३. नैयायिक लोग वेदको ईश्वरप्रणीत मान कर वेदके अपौरुषेयत्वका खडन करते हैं—

वेदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधीयते। तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। अथ मन्येथा अपौरुषेया वेदा सप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदिति। तदेतन्मदम्। विशेषणासिद्धे। पौरुषेयवेदवादिभि प्रलये सप्रदायविच्छेदस्य कक्षीकरणात्। किंच किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नामाप्रमीयमाणकर्तृकत्वमस्मरणगोचरकर्तृकत्व वा। न प्रथम. कल्प। परमेश्वरस्य कर्तुः प्रमितेरभ्युपगमात्। न द्वितीय। विकल्पासहत्वात्। तथाहि। किमेकेनास्मरणमभिप्रेयते सर्वैर्वा। नाद्य.। यो धर्मशीलो जितमानरोष इत्यादिषु मुक्तिकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः। सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञानत्वात्। पौरुषेयत्वे प्रमाणसभवाच्च। वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात्कालिदासादिवाक्यवत्। वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवदिति। ननु—

प्रतिपादक होनेसे ज्ञानके साधन हैं, तथा अपौरुषेय होनेके कारण स्वत प्रमाण हैं ।[१] वेदवाक्योंका अनुमान प्रमाणसे खण्डन नहो हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण वेद प्रमाणसे बहुत निम्न कोटिका है। वेदके अपौरुपेय होनेपर भी अव्यच्छिन्न अनादि सम्प्रदायसे वेद वाक्योंके अर्थका ज्ञान होता है। वेदवाक्य लौकिक वाक्योंसे भिन्न होते है जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्न आयाहि वीतये' आदि । वेद दो प्रकारका होता है— मन्त्र रूप और ब्राह्मण रुप। यह मन्त्र और ब्राह्मण रुप वेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवादके भेदसे पॉच प्रकारका है।[२] विधिसे धर्म सबधी नियमोंका ज्ञान होता है जैसे— 'स्वर्गके इच्छुकको यज्ञ करना चाहिये' यह विधि है । अपूर्व, नियम, परिसख्या, उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग, अधिकरण आदिके भेदसे विधिके अनेक भेद होते है। मन्त्रसे याज्ञिकको यज्ञ सम्बन्धी देवताओं आदिका ज्ञान होता हैं। नामधेयसे यज्ञसे मिलनेवाले फलका ज्ञान होता हैं। निषेध विधिका ही दूसरा प्रकार है। निन्दा, प्रशसा, परकृति और पुराकल्पके भेदसे अर्थवाद चार प्रकारका होता हैं ।

२ शब्दकी नित्यता—मीमासक वेदको नित्य और अपौरुषेय मानते है, इसलिये इनके मतमें शब्दको भी नित्य और सर्वव्यापक स्वीकार किया गया है[३]। मीमासकोंका कहना है कि हमें एक स्थानपर प्रयुक्त गकार आदि वर्णोका, सूर्यकी तरह, प्रत्यभिज्ञानके द्वारा सब जगह ज्ञान होता है, इसलिये शब्दको नित्य मानना चाहिये । तथा, एक शब्दका एक बार सकेत ग्रहण कर लेनेपर कालान्तरमें भी उस सकेतसे

वेदस्याध्ययन सर्व गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययन यथा ॥

इत्यनुमान प्रतिसाधनं प्रगल्भत इति चेत् । तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे।

भारताध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वक ।
भारताध्ययनत्वेन साप्रताध्ययन यथा ॥

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात् । ननु तत्र व्यास कर्तेति स्मर्यते ।

को ह्यन्य पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत ।

इत्यादाविति चेत् । तदप्यसारम्। ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत (तै० आ० ३-१२) इति पुरुषसूक्ते वेदस्य सकर्तृकता प्रतिपादनात् । किं चानित्य शब्द : सामान्यवत्त्वे सत्य-स्मदादिवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद्घटवत् । नन्विदमनुमान स सवाय गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत्। तदतिफल्गु। लूनपुनर्जातकेशदलितकुन्दादाविव प्रत्यभिज्ञाया सामान्यविषयत्वेन बाधकत्वाभावात् । नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणासभवात्कथ तत्प्रणीतत्व वेदस्य स्यादिति चेत् । न तद्भद्रम् । स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणसंभवात् । तस्माद्वेदस्या-पौरुषेयत्ववाचोयुक्ति न युक्ता । सर्वदर्शनसग्रह–जैमिनिदर्शन ।

१. वेदान्ती लोग वेदको अपौरूषेय और आदिमान् , तथा साख्य लोग वेदको पौरूषेय और आदिमान् मानते है।

२. मन्त्र और ब्राह्मण रूप वेदके चार भेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेदकी दस, यजुर्वेदकी छियास्सी, सामवेदकी एक हजार (ये अनध्यायके दिनोंमे पढी जानेके कारण इन्द्रके वज्रसे नष्ट हो गई मानी जाती हैं) और अथर्ववेदकी नौ शाखाये है। ऋग्वेदका आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका अर्थशास्त्र (स्थापत्य) ये चारों वेदोके चार उपवेद होते है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदके अंग, तथा पुराण, न्याय, मीमासा और धर्मशास्त्र ये चार उपाग है। ऋग्वेदका एतरेयब्राह्मण, यजुर्वेदका तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण सामवेदका गोपथब्राह्मण तथा अथर्ववेदका ताण्डयब्राह्मण ये वेदोके ब्राह्मण हैं।

३. शब्दो नित्य व्योममात्रगुणत्वात् व्योमपरिमाणवत्–प्रभाकर ।
शब्दो नित्य निरस्पर्शद्रव्यत्वात् आत्मवत्–भट्ट ।

शब्दके अर्थका ज्ञान होता है। यदि शब्द नित्य न होता तो हमारे पितामह आदिसे निश्चित किये हुए शब्दोंके सङ्केतसे हमे उसी अर्थका ज्ञान न होता, इसलिये शब्दको नित्य ही मानना चाहिये। यदि कहो कि शब्दको नित्य स्वीकार करनेपर सब लोगोंको हमेशा शब्द सुनाई देने चाहिये, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस समय प्रत्येक वर्ण सबधी तालु ओष्ठ आदिका वायुसे सबध होता है, उसी समय शब्दकी अभिव्यक्ति होती है। जिस समय मनुष्य यत्नसे किसी शब्दका उच्चारण करता है, उस समय वायु नाभिसे उठकर, उरमे विस्तीर्ण हो, कण्ठमे फैल, मस्तकमे लग वापिस आती हुई नाना प्रकारके शब्दोकी अभिव्यक्ति करती हैं, इसलिये शब्दकी व्यजक वायुमे ही उत्पत्ति और विनाश होता है। अतएव शब्दको नित्य मानना चाहिये।[1]

३ ईश्वर और सर्वज्ञ—मीमासक ईश्वरको सृष्टिकर्ता और सहारकर्ता नहीं मानते। उनके मतमें अपूर्व ही यज्ञ आदिका फल देनेवाला है, इसलिये ईश्वरको जगत् कर्त्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। वेदोको बनानेके लिये भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय होनेसे स्वत प्रमाण हैं। मीमासकोंका कथन है कि यदि ईश्वर शरीर रहित होकर सृष्टिका सर्जन करता है तो अशरीरी ईश्वरके जगत्के सर्जन करनेकी इच्छाका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि ईश्वर शरीर सहित होकर जगत्को बनाता है तो ईश्वरके शरीरका भी कोई दूसरा कर्ता मानना चाहिये। परमाणुओंको ईश्वरका शरीर मानना भी ठीक नही। क्योंकि बिना प्रयत्नके परमाणुओंमे क्रिया नहीं हो सकती। तथा, ईश्वरके प्रयत्नको नित्य माननेसे परमाणुओंमे सदा ही क्रिया होती रहनी चाहिये। ईश्वरको धर्म-अधर्मका अधिष्ठाता भी नहीं मान सकते। क्योंकि सयोग अथवा समवाय किसी भी सबधसे धर्म और अधर्मका ईश्वरके साथ सबध नहीं हो सकता। तथा, यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, तो वह दु खी जगत्की क्यों रचना करता है? जीवोंके भूत कर्मो के कारण ईश्वर द्वारा दु खी जीवोंकी सृष्टि मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस समय ईश्वरने सृष्टि की, उस समय कोई भी जीव मौजुद नहीं था। दयासे प्रेरित होकर भी ईश्वरकी सृष्टि रचनाको नही मान सकते, क्योंकि सृष्टिको बनानेके समय प्राणियोंका अभाव था। फिर भी यदि अनुकपाके कारण जगत्का सर्जन माना जाय, तो ईश्वरको सुखी प्राणियोंको ही जन्म देना चाहिये था। क्रीडाके कारण भी सृष्टिका निर्माण नही मान सकते। क्योंकि ईश्वर सर्वथा सुखी है, उसे क्रीडा करनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर सृष्टिकी रचना करके फिर उसका सहार क्यों करता है? इसका कारण भी समझमें नहीं आता। इसलिये बीजवृक्षकी तरह अनादि कालसे सृष्टिकी परपरा माननी चाहिये। वास्तवमे नित्य और अपौरुषेय वेदोंके वाक्य ही प्रमाण है। कोई अनादि ईश्वर न सृष्टिका निर्माण और न सृष्टिका सहार करता है।[2]

---

१ नैयायिक सकारण होनेसे', 'ऐन्द्रियक होनेसे' और 'विनाशी होनेसे' शब्दको अनित्य मानते है। देखिये न्यायसूत्र २-२-१३। न्यायदर्शनमे 'वीचीतरग' न्यायसे और 'कदम्बकोरक' न्यायसे शब्दकी उत्पत्ति मानी गई हैं। वैयाकरण अकार आदि वर्णको नित्य मानते है—वर्णो नित्य ध्वन्यन्यशब्दत्वात् स्फोटवत्।

२ सर्वज्ञवन्निपेध्या च स्रष्टु सद्भावकल्पना।
न च धर्मदृते तस्य भवेल्लोकाद्विशिष्टता॥
न चाऽननुष्ठितो धर्मो नाऽनुष्ठानमृते मते।
न च वेदादृते सा स्याद्वेदोन च पदादिभि॥
तस्मात् प्रागपि सर्वेऽमी स्रष्टुरासन् पदादय।

न हि स्रष्टुरस्मदादिभ्योऽतिशय सहज सभवति पुरुषत्वादस्मदादिवदेव। अतो धर्मनिमित्तो वक्तव्य। नचाऽननुष्ठितो धर्म कार्य करोति। न चाऽसतिज्ञानेऽनुष्ठान सभवति। न च वेदादृते ज्ञान। न च वेदः पदपदार्थसबधैर्विना शक्नोति अर्थमवबोधयितु। अत प्रागपि सृष्टे सन्त्येव पदादयः। यथाह मनु—

सर्वेषा च स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे॥

श्लोकवार्तिक सबधाक्षेपपरिहार श्लोक ११४-११६ न्यायरत्नाकर टीका।

मीमासक सर्वज्ञको भी नहीं मानते । मीमासकोंका कहना है कि सर्वज्ञकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे उपलब्धि नहीं होती, इसलिये उसका अभाव ही मानना चाहिये। तथा मनुष्यकी प्रज्ञा, मेधा आदिमें थोड़ा बहुत ही अतिशय पाया जा सकता है। जिस प्रकार व्याकरणशास्त्रका प्रकृष्ट पडित ज्योतिषशास्त्रका ज्ञाता नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार वेद, इतिहास आदिका विद्वान् स्वर्गोके देवताओंको प्रत्यक्षसे जाननेमे पडित नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार आकाशमे दस योजन कूदनेवाला मनुष्य सैकडों प्रयत्न करनेपर भी एक हजार योजन नहीं कूद सकता, और जिस प्रकार कर्ण इन्द्रियमें अतिशय होनेपर भी उससे रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह प्रकृष्टसे प्रकृष्ट ज्ञानी भी अपने विषयका अतिक्रमण न करके ही इन्द्रियजन्य पदार्थोका ही ज्ञान कर सकता है। कोई भी प्राणी सपूर्ण लोकोंके सपूर्ण समयोंके सपूर्ण पदार्थोका ज्ञाता नहीं हो सकता। अतएव कोई अतींद्रिय पदार्थोके साक्षात्कार करनेवाला सर्वज्ञ नहीं है।[1]

४ प्रमाणवाद—मीमासक पहले नहीं जाने हुए पदार्थोको जाननेको प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मतके अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति ये पाच, और कुमारिल भट्ट इन पाच प्रमाणोंमें अभावको मिलाकर छह प्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमासक स्मृतिज्ञानके अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वत प्रमाण मानते हैं। मीमासकोंका कहना है कि ज्ञानकी उत्पत्तिके समय ही हम पदार्थोका ज्ञान (ज्ञप्ति) होता है। अतएव ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें और पदार्थोके प्रकाश करनेमे किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। जिस समय हमे कोई ज्ञान होता है वह ज्ञान स्वत ही प्रमाण होता है, तथा ज्ञानके स्वत प्रमाण होनेसे ही हमारी पदार्थोमे प्रवृत्ति होती है। इसलिये ज्ञानके उत्पन्न होते ही ज्ञानके प्रामाण्यका पता लग जाता है। यदि ऐसा न हो तो हमारी पदार्थोमे प्रवृत्ति न होनी चाहिये। परन्तु अप्रामाण्य ज्ञानमे यह बात नहीं होती। कारण कि मिथ्या ज्ञानमे हमारी इन्द्रियों आदिमे दोष होनेके कारण उत्तरकालमे होनेवाले बाधक ज्ञानसे ही हमारे ज्ञानका अप्रामाण्य सिद्ध होता है। अतएव मीमासकोंके मतमे स्मृति ज्ञानको छोडकर प्रत्येक ज्ञान, जब तक कि वह उत्तरकालमे किसी बाधक ज्ञानसे अप्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता, स्वत. प्रमाण कहा जाता है और उत्तरकालमें वही ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होनेपर परत कहा जाता है। नैयायिक मीमासकोंके स्वत प्रामाण्यवादका विरोध करते हैं, प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको परत मानते हैं। साख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वत, जैन दोनोंको कथचित् स्वत और कथचित् परत., तथा बौद्ध अप्रामाण्य ज्ञानको स्वत और प्रामाण्यको परत मानते हैं।[2]

आत्मा—मीमासक लोग आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इनके मतमे आत्माको शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिसे भिन्न मानकर आत्मबहुत्ववादके सिद्धातको स्वीकार किया गया है। मीमासक विद्वान्

---

१ सभवत मीमासक लोग ईश्वर और सर्वज्ञका सद्भाव न माननेके कारण 'लोकायत', 'नास्तिक' आदि नामोंसे कहे जाने लगे थे। कुमारिल भट्टने इस आक्षेपको दूर करनेके लिये श्लोकवार्तिककी रचना कर उसमें 'आत्मवाद' नामक भिन्न प्रकरण लिखा है—

प्रायेणैव हि मीमासा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमय यत्न कृतो मया ॥ श्लोकवार्तिक पृ० ४ श्लोक १०।

तथा—इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु—
रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोध
प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥ पृ० ७२८ श्लोक १४८।

२ परापेक्ष प्रमाणत्व नात्मान लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकर पक्ष को हि नामाध्यवस्यति ॥
यदि हि सर्वमेव ज्ञान स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थ विज्ञानान्तरमपेक्षेत तत कारणगुणसवादार्थक्रियाज्ञानान्यपि स्वविषयभूतगुणाद्यवधारणे परमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेवोत्सीदेत्। शास्त्रदीपिका पृ० २२।

कुमारिलभट्ट और प्रभाकरके आत्मा संबंधी सिद्धांतोमे मतभेद पाया जाता है। कुमारिलके मतमें आत्माको कर्ता, भोक्ता, ज्ञानशक्तिवाला, नित्य, विभु और परिणामी मानकर अहंप्रत्ययका विषय माना जाता है[1]। प्रभाकर भी आत्माको कर्ता, भोक्ता और विभु स्वीकार करते है, परन्तु वे आत्मामे परिवर्तन नहीं मानते[2]। प्रभाकरके सिद्धातके अनुसार आत्मा ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते, इसलिये आत्मा कभी स्वसंवेदनका विषय नहीं हो सकता। यदि आत्माको स्वसंवेदक माना जाय तो गाढ निद्रामे भी ज्ञान मानना चाहिये।

मोक्ष—गौतमधर्मसूत्र आदि धर्मशास्त्रोंमे धर्म, अर्थ और काम केवल इन तीन पुरुषार्थोंको मानकर धर्मको ही मुख्य पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। मीमासा दर्शनके प्राचीन आचार्य धर्मको सम्पूर्ण सुखोंका कारण मानकर उससे स्वर्गकी प्राप्ति करना ही अपना अन्तिम ध्येय समझते थे। इन लोगोंके समने मोक्षका प्रश्न इतना बलवान नही था। परन्तु उत्तरकालीन मीमासक आचार्य मोक्ष संबंधी प्रश्न से अछूते न रह सके। प्रभाकरके मतके अनुसार ससारके कारण भूतकालीन धर्म और अधर्मके नाश होने पर शरीरके आत्यन्तिक रूपसे नाश होनेको मोक्ष कहा है।[3] जिस समय जीवके शम, दम, ब्रह्मचर्य आदिके द्वारा आत्मज्ञान होनेसे देहका अभाव हो जाता है, उस समय मोक्षकी प्राप्ति होती हैं। मोक्ष अवस्थाको आनन्द रूप नही कह सकते, क्योंकि निर्गुण आत्मामे आनन्द नहीं रह सकता। इसलिये सुख और दुख दोनोंके क्षय होनेपर स्वात्मस्फुरण रूप अवस्थाको ही मोक्ष कहते है। कुमारिल भट्टके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिकी अवस्था मात्रको मोक्ष कहा गया है। कुमारिल भी मोक्षको आनद रूप नहीं मानते।[4] पार्थसारथिमिश्र आदिने भी सुख-दुख आदि समस्त विशेष गुणोंके नाश होनेको मुक्ति माना है।

मीमांसक और जैन

मीमासक याज्ञिक हिंसाको, जातिसे वर्णव्यवस्थाको और वेदके स्वतः प्रमाणको स्वीकार करते है। परन्तु जैन साख्य, बौद्ध, आजीविक आदि श्रमण सम्प्रदायोंकी तरह उक्त बातोंका विरोध करते है। जैन लोग हिंसाके उग्र विरोधी है। ये लोग जातिसे वर्ण व्यवस्थाको नही मानते। ब्राह्मणोंकी मान्यता है कि सबसे पहले ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई, उसके बाद ब्रह्माके अन्य अवयवोंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जन्मे, इसलिये ब्राह्मण ही सर्वपूज्य है। परन्तु आदिपुराण आदि जैन पुराणोंमे इससे विरुद्ध कल्पना देखनेमें आती है। आदिपुराणके अनुसार पहले पहल जब ऋषभदेव भगवानसे असि, मसि आदि छह कर्मोंका उपदेश किया, उस समय उन्होंने पहले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंका सृष्टि की और बादमे व्रतधारी श्रावकोंमेसे ब्राह्मण

---

१. ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान्।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ॥ मी० श्लोकवार्तिक आत्मवाद ७३।

२. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते ॥ प्रकरणपंचिका पृ० १४१।

३ अतो नाविद्यास्तमयो मोक्षः। आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबंधनो मोक्ष इति सिद्धम्। प्रकरणपंचिका पृ० १५६।

४ सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः ॥
न हि कारणवत्किंचिदक्षयित्वेन गम्यते।
तस्मात्कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते ॥
न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्।
भावरूपं सर्वमुत्पत्तिधर्मकं घटादिक्षयधर्मकमेव। अतो न सुखात्मिका मुक्तिरात्मज्ञानेन क्रियते इति।....
सिद्ध्यति चाभावात्मकत्वं मोक्षस्य नित्यता न त्वानन्दात्मकत्वे।
श्लोकवार्तिक संबंधाक्षेपपरिहार श्लोक १०५-१०७ न्यायरत्नाकर टीका।

वर्णका जन्म हुआ। वास्तवमे किसीको जातिसे ऊँच अथवा नीच नहीं कहा जा सकता, इसलिये गुण और कर्मके अनुसार ही वर्णव्यवस्था माननी चाहिये। वैदिक वेदको अपौरुषेय और नित्य होनेके कारण प्रमाण मानते है, और वेदविहित याज्ञिक हिंसाको पाप रूप नहीं गिनते। जैनोंका मानना है कि पूर्वकालीन आर्य वेद हिंसाके विधानसे रहित, और पूर्वकालीन यज्ञ दयामय होते थे। वर्तमान हिंसाप्रधान वेद वादमे महाकालअसुर-ने रचे है और हिंसामय यज्ञोंका भी प्रचार हुआ है। जैन प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्या-नुयोग इन चार वेदोंको मानते है। सिद्धसेन दिवाकरने वेदोंके ऊपर द्वात्रिंशिकाकी रचना की है। भगवानके निर्वा-णोत्सवके वाद स्वयं इन्द्र और देवोंने श्रावक ब्रह्मचारियोंको गार्हपत्य, परमाहवनीयक और दक्षिणाग्नि नामके तीन कुंड वना उनमे त्रिसध्य अग्नि स्थापित करके अग्निहोत्रद्वारा जिन भगवानकी पूजा करनेका उपदेश किया था।

जैन और मीमासकोंके सिद्धातोंकी तुलना करते समय यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि कुमारिलभट्ट प्रकारान्तरसे जैनोंके अनेकातवादके सिद्धातको स्वीकार करते है। कुमारिलका पदार्थोको उत्पाद, व्यय और स्थिति रूप सिद्ध करना[1] अवयवोंको अवयवोंसे भिन्नाभिन्न मानना[2], वस्तुको स्वरूपपररूपसे सत् असत् स्वीकार करना[3], तथा सामान्य और विशेषको सापेक्ष मानना[4], स्पष्ट रूपसे कुमारिलके अनेकात-वादके समर्थन करनेको सूचित करता है। तत्त्वसग्रहकारके कथनसे भी यही मालूम होता है कि निर्ग्रंथ जैनोंकी तरह विप्रमीमासक भी अनेकातवादके सिद्धातको मानते थे।[5] गुणरत्न भी मीमासकोंके प्रकारान्तरसे अनेकातके

---

१ वर्धमानकभगे च रुचक क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिन· शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। श्लोकवार्तिक वनवाद २१—२२।

२ पूर्वोक्तादेव तु न्यायात्सिध्येदत्रावयव्यपि।
तस्याप्यत्यन्तभिन्नत्वं न स्यादवयवै. सह॥ ७५॥

३. स्वरूपपररूपाभ्या नित्य सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते केश्चिद्रूप किंचित्कदाचन।

सर्व हि वस्तु सद्रूप सद्रूप पररूपतश्चासद्रूप। यथा घटो घटरूपेण सन् पटरूपेणासन्। पटोऽप्यसद्रूपेण भावान्तरे घटादौ समवेत तस्मिन् स्वीयाऽसद्रूपाकारा बुद्धिं जनयति। योऽय घट स पटो न भवतीति। मी० श्लोक-वार्तिक अभावपरिच्छेद १२ न्यायरत्नाकर।

४. अन्योन्यापेक्षिता नित्य स्यात्सामान्यविशेषयो।
विशेषाणा च सामान्ये ते च तस्य भवन्ति हि॥
निर्विशेष न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्व देव हि॥
एव च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना॥
केनचिद्ध्यात्मनैकत्व नानात्व चास्य केनचित्।

गोत्व हि शावलेयात्मना वाहुलेयाद्भिद्यते। स्वरूपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्तिरपि गुणकर्मजात्यन्तरात्मना गोत्वाद्भिद्यते। स्वरुपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्त्यन्तरादपि व्यक्ति जात्यात्मना न भिद्यते। स्वरूपेण च भिद्यते इति। अपेक्षाभेदादविरोध। समाविशन्ति हि विरुद्धान्यपि एकत्वापेक्षाभेदात्। एकमपि हि किंचिदपेक्ष्य ह्रस्व किंचिदपेक्ष्य दीर्घ। तथैकोऽपि चैत्रो द्वित्वापेक्षया भिन्नोऽपि स्वात्मापेक्षया न भिद्यते। अनेन एकानेकत्वमपि परिहर्तव्यं। तदेव हि वस्तु स्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा चैकमपि शावलेयादिरूपेणानेक भवतीति न विरोध। मी० श्लोकवार्तिक आकृतिवाद ९, १० तथा ५६ न्यायरत्नाकर।

देखो प० हसराज शर्मा—दर्शन और अनेकातवाद।

५. कल्पनारचितस्यैव वैचित्र्यस्योपवर्णने।
को नामातिशय प्रोक्तो विप्रनिर्ग्रन्थकापिले॥ तत्त्वसग्रह पृ० ५०१।

माननेका उल्लेख करते है ।[1]

मीमांसादर्शनका साहित्य

मीमासासूत्रोंके रचयिता जैमिनी माने जाते है । वैदिक परम्पराके अनुसार जैमिनी ऋषि वेदव्यासके शिष्य थे । वेदव्यासने मूल वेदकी चार सहिताओंकी रचना की और सामवेदकी सहिताको जैमिनीको पढाया । जैमिनीका समय ईसाके पूर्व २०० वर्ष माना जाता है । जैमिनीसूत्रोंके ऊपर भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष नामके विद्वानोंने टीकाये लिखीं है, जो आजकल उपलब्ध नहीं है । जैमिनीसूत्रोंपर भाष्य लिखनेवाले शबरस्वामीका नाम मुख्य रूपसे उल्लेखनीय है । यह शबरभाष्य उत्तरकालके मीमासक लेखकोंका खास आधार रहा है । शबरस्वामीके सिद्धातोंका तत्त्वसग्रहमें खण्डन है । प्राच्य विद्वान शबरको वात्स्यायनका समकालीन और नागार्जुनका उत्तरकालवर्ती मानते है । दूसरे लोग शबरका समय ईसाकी चौथी शताब्दी मानते है । शबरभाष्यके बाद मीमासकदर्शनके मुख्य विचारक प्रभाकर और कुमारिलभट्ट हो गये है । प्रभाकरने (ई० स० ६५०) शबरभाष्य पर बृहती नामकी टीका लिखी है । शास्त्रीय परम्पराके अनुसार प्रभाकर कुमारिलके शिष्य कहे जाते हैं । इन दोनोके विचारोंमें मतभेद होनेके कारण दोनोंके सिद्धान्तोंकी अलग-अलग शाखाये हो गई हैं । प्रभाकरका मत गुरुमतके नामसे प्रसिद्ध है ।[2] बृहती लिखते हुए प्रभाकर कुमारिलके सिद्धातोंका उल्लेख नहीं करते जब कि कुमारिल बृहतीकारके मतका उल्लेख करते हुए मालूम होते हैं । इससे विद्वानोंका मत है कि प्रभाकर कुमारिलके शिष्य नहीं थे, किन्तु वे कुमारिलके पूर्ववर्ती है । प्रभाकरकी बृहतीके ऊपर प्रभाकरके शिष्य कहे जाने वाले शालिकानाथमिश्रने ऋजुविमला नामकी टीका, और प्रभाकरके सिद्धातोंके विवेचन करनेके लिये प्रकरणपंचिका नामक ग्रन्थ लिखे है । प्रभाकरकी बृहती और शालिकानाथकी ऋजुविमला अभी सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशमे नहीं आये, इसलिये प्रकरणपंचिका ही प्रभाकरके सिद्धातोंको जाननेका एक आधार है । कुमारिलभट्ट, भट्टपाद और वार्तिककारके नामसे भी कहे जाते है । तिब्बती ग्रन्थोंमें इनको कुमारलील कहा है । कुमारिल (ई० स० ७००) ने शबरभाष्यके ऊपर स्वतत्र रूपसे टीका लिखी है । यह टीका श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और तुप्टीका नामके तीन खडोंमें विभक्त है । कुमारिल और उद्योतकर बौद्धदर्शन और न्यायके खंडन करनेके लिये अद्वितीय समझे जाते थे । शान्तरक्षितने तत्त्वसग्रहमें कुमारिलका खडन किया है । कुमारिल धर्मकीर्ति और भवभूतिके समकालीन कहे जाते हैं । कुमारिलके पश्चात् कुमारिलके अनुयायी मडनमिश्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है । मडनमिश्रने विधिविवेक, भावनाविवेक, मीमासानुक्रमणी और कुमारिलकी तन्त्रवार्तिककी टीका लिखी है । कहा जाता है कि ये मण्डनमिश्र आगे जाकर वेदान्तमतके अनुयायी हो गये । इसके अतिरिक्त, पार्थसारथिमिश्रने कुमारिलकी श्लोकवार्तिक पर न्यायरत्नाकर, तथा शास्त्रदीपिका, तन्त्ररत्न और न्यायरत्नमाला, सुचरितमिश्रने श्लोकवार्तिककी टीका और काशिका, तथा सोमेश्वरभट्टने तन्त्रवार्तिककी टीका और न्यायसुधा नामके ग्रंथ लिखे । मीमासादर्शनका ज्ञान करनेके लिये माधवका न्यायमालाविस्तर, आपदेवका मीमासान्यायप्रकाश, लौगाक्षिभास्करका अर्थसग्रह और खण्डदेवकी भाट्टदीपिका आदि ग्रथ उल्लेखनीय है ।

---

१ मीमासकास्तु स्वयमेव प्रकारान्तरेणैकानेकाद्यनेकान्तं प्रतिपद्यमानास्तत्प्रतिपत्तये सर्वथा पर्यनुयोगं नार्हन्ति । षड्दर्शनसमुच्चयटीका ।

२. कहा जाता है कि कुमारिलभट्ट 'अत्र तु नोक्तम्, तत्रापि नोक्तम्, इति पौनरुक्तम्' इस वाक्यका अर्थ नहीं समझ सके थे । कुमारिलने इसका अर्थ किया, ' यहा भी नहीं कहा गया, वहा भी नहीं कहा गया, इस लिये फिर कहा गया' । प्रभाकरने कहा कि इस वाक्यका यह अर्थ ठीक नहीं, इसका अर्थ करना चाहिये —'यहाँ यह 'तु' से सूचित किया गया है, और वहाँ 'अपि' से सूचित किया गया है, इसलिये फिर कहा गया है' । कुमारिल इससे बहुत प्रसन्न हुए और अपने शिष्य प्रभाकरको 'गुरु' कहने लगे ।

वेदान्त परिशिष्ट (च)

(श्लोक १३)

वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शनका निर्माण वेदोंके अंतिम भाग उपनिषदोंके आधारसे हुआ है, इसलिये इसे वेदान्त कहते हैं। वेदान्तको उत्तरमीमांसा अथवा ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों दर्शन मौलिक रूपसे भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु बोधायनने इन दर्शनोंको 'संहित' कहकर उल्लेख किया है, तथा उपवर्षने दोनों दर्शनोंपर टीका लिखी है। इससे विद्वानोंका अनुमान है कि किसी समय पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा एक ही समझे जाते थे। "उत्तरमीमांसक साधु अद्वैतवादी होते हैं। ये ब्राह्मण ही होते हैं। इनके नामके पीछे भगवत् शब्द लगाया जाता है। ये साधु कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंसके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। कुटीचर लोग मठमें वास करते हैं, त्रिदंडी होते हैं, शिखा रखते हैं, ब्रह्मसूत्र पहनते हैं, गृह-त्यागी होते हैं और यजमानोंके घर आहार लेते हैं, तथा एकाध बार अपने पुत्रके यहां भी भोजन करते हैं। बहूदक साधुओंका वेष कुटीचरोंके समान होता है। ये लोग ब्राह्मणोंके घर नीरस भोजन लेते हैं, विष्णुका जाप करते हैं, और नदीके जलमें स्नान करते हैं। हंस साधु ब्रह्मसूत्र और शिखा नहीं रखते, कषाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते हैं, गांवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं, धूआं निकलना बंद होनेपर और आगके बुझ जानेपर ब्राह्मणोंके घर भोजन करते हैं और देश-देशमें भ्रमण करते हैं। जिस समय हंस आत्मज्ञानी हो जाते हैं, उस समय वे परमहंस कहे जाते हैं। ये चारों वर्णोंके घर भोजन लेते हैं, इनके दंड रखनेका नियम नहीं है, ये शक्तिहीन हो जानेपर भोजन ग्रहण करते हैं[1]।" वेदान्तके माननेवाले आजकल भी भारतवर्ष और उसके बाहर पाये जाते हैं। जब कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि अन्य भारतीय दर्शनोंकी परम्परा नष्टप्राय हो गई है। ई० स० १६४० में दाराशिकोहने उपनिषदोंका फारसी भाषामें अनुवाद किया था। जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहोर (Schopenhauer) ने औपनिषदिक तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर भारतीय तत्त्वज्ञानकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। शांकर वेदान्तके सिद्धांतोंकी तुलना पश्चिमके आधुनिक विचारक ब्रैडले (Bradley) के सिद्धांतोंके साथ की जा सकती है।

वेदान्तसाहित्य

वेदान्त दर्शनका साहित्य बहुत विशाल है। सर्वप्रथम वेदान्तदर्शन उपनिषदोंमें, और उपनिषदोंके बाद महाभारत और गीतामें देखनेमें आता है। तत्पश्चात् औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, बादरि, आत्रेय और जैमिनी वेदान्तदर्शनके प्रतिपादक कहे जाते हैं। इन विद्वानोंका उल्लेख बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्रमें किया है। वेदान्तदर्शनके प्रतिपादकोंमें बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंका नाम बहुत महत्त्वका है। ब्रह्मसूत्रोंको वेदान्तसूत्र अथवा शारीरकसूत्रोंके नामसे भी कहा जाता है। वेदान्तसूत्रोंके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। वेदान्तसूत्रोंका समय ईसवी सन् ४०० के लगभग माना जाता है। वेदान्तसूत्रोंके ऊपर अनेक आचार्योंने टीकायें लिखी हैं। बादरायणके पश्चात् ब्रह्मसूत्रोंके वृत्तिकार बोधायनका नाम सबसे पहले आता है। बहुतसे विद्वान बोधायन और उपवर्ष दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। बोधायन ज्ञानकर्मसमुच्चयके सिद्धान्तको मानते थे। द्रमिडाचार्यने छान्दोग्य उपनिषद्के ऊपर टीका लिखी थी। इस टीकाका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्पर शांकरी टीकाके टीकाकार आनन्दगिरिने किया है। द्रमिडाचार्य 'भाष्यकार' के नामसे भी कहे जाते थे।

---

१ गुणरत्नसूरि-षड्दर्शनसमुच्चय टीका।

टंक 'वाक्यकार' के नामसे प्रसिद्ध हो गये हैं। टकको आत्रेय अथवा ब्रह्मनन्दिन् नामसे भी कहा जाता है। भर्तृप्रपच भेदाभेद और ब्रह्मपरिणामवादके सिद्धातको मानते थे। शकर और आनदतीर्थने भर्तृप्रपचका बृहदारण्यककी टीकामे उल्लेख किया है। औपनिषदिक ऋषियोंके पश्चात् अद्वैत वेदान्तका सुनिश्चित रूप सर्व प्रथम गौडपादकी माण्डूक्यकारिकामें देखनेमें आता है। गौडपादका समय ईसवी सन् ७८० के लगभग माना जाता है। शकर गौडपाद आचार्यके शिष्य गोविन्दके शिष्य थे। शकर केवलाद्वैतके प्रतिष्ठापक महान् आचार्य माने जाते है। शकराचार्यने अनेक शास्त्रोंकी रचना की है। इन शास्त्रोंमें ईष, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों पर, तथा भगवद्गीता और वेदान्तसूत्रोंके ऊपर टीकाओंका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। शकरका समय ईसवी सन ८०० है। मडन अथवा मडनमिश्र शकरके समकालीन माने जाते है। मंडनने ब्रह्मसिद्धि आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथोंकी रचना की है। मडन दृष्टिसृष्टिवादके प्रतिष्ठापक कहे जाते ह। ब्रह्मसिद्धिके उपर वाचस्पति आदि अनेक विद्वानोंने टीकाये लिखी है। सुरेश्वर शकरके साक्षात् शिष्य थे। सुरेश्वरका समय ईसवी सन् ८२० है। इन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद्-भाष्यवार्तिक आदि ग्रन्थ लिखे है। नैष्कर्म्यसिद्धिके उपर चित्सुख आदिने टीकाये लिखी है। पद्मपाद सुरेश्वरके समकालीन माने जाते है। पद्मपाद भी शकराचार्यके साक्षात् शिष्य थे। पद्मपादने पंचपादिका आदि ग्रंथोंकी रचना की है। पचपादिका के ऊपर प्रकाशात्मन् आदिने टीकायें लिखी हैं। वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमे मैथिल पडित वाचस्पतिमिश्रका नाम भी बहुत महत्त्वका है। वाचस्पतिमिश्रने शाकरभाष्यके उपर अपनी पत्नीके नामपर भामती, और मण्डनकी ब्रह्मसिद्धिके उपर तत्त्वसमीक्षा टीका लिखी है। सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्यके शिष्य थे। सर्वज्ञात्ममुनिने शकर वेदान्तके सिद्धातोका प्रतिपादन करनेके लिये सक्षेपशारीरक नामका ग्रथ लिखा है। इनका समय ईसवी सन् ९०० है। इसके आतिरिक्त, आनन्दबोध (११—१२ शताब्दी) का न्यायमकरन्द और न्यायदीपावलि, श्रीहर्ष (ई० स० ११५०) का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य (ई० स० १२५०) की चित्सुखी, विद्यारण्य (ई० स० १३५०) की पचदशी और जीवन्मुक्ति विवेक, तथा मधुसूदनसरस्वती (१६ वीं शताब्दी) की अद्वैतसिद्धि, अप्पयदीक्षित, (१७ वीं शताब्दी) का सिद्धातलेश, ओर सदानन्दका वेदान्तसार आदि ग्रथ वेदान्त दर्शनके अभ्यासियोंके लिये महत्त्वपूर्ण है।[1]

वेदान्त दर्शनकी शाखायें

भर्तृप्रपच —शकरके पूर्व होनेवाले वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमे भर्तृप्रपंचका नाम बहुत महत्त्वका है। भर्तृप्रपंचका इस समय कोई मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। सुरेश्वरकी वार्तिकके उल्लेखोंसे मालूम होता है कि भर्तृप्रपच अग्निवैश्वानरके उपासक थे और अग्निवैश्वानरके प्रसादसे इन्हें उच्च कोटिका तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ था। भर्तृप्रपंच अद्वैतमतका प्रतिपादन करते हैं। ये शकरकी तरह ब्रह्मके पर और अपर दो भेद करते है, परन्तु दोनों प्रकारके ब्रह्मको सत्य मानते है। भर्तृप्रपचका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी माना जाता है।

शकर—शकराचार्य केवलाद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैतका स्थापन करनेवाले महान प्रतिभाशाली विचारकोंमें गिने जाते है। शकरके मतमे व्यवहारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकारके सत्य माने गये हैं। परमार्थ सत्यमे ससारके सम्पूर्ण व्यवहार अविद्याके कारण ही होते हैं, इसलिये सब मिथ्या हैं। परमार्थसे एक केवल सत्, चित् और आनन्द रूप ब्रह्म ही सत्य है। जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यके जलमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य नाना रूपमे दिखाई देता है, उसी तरह ब्रह्म भी अध्यास अथवा अविद्याके कारण नाना रूपमें प्रतिभासित होता है। केवलाद्वैतके प्रतिपादक शकरके पूर्ववर्ती अनेक आचार्य हो गये हैं, परन्तु उपलब्ध साहित्यमे शकरका अद्वैतवाद ही सर्वप्रधान गिना जाता है।

रामानुज—ये विशिष्टाद्वैतके जन्मदाता माने जाते हैं। रामानुजके मतमे परब्रह्मका स्वरूप उसके विशेषणोंसे ही समझमें आ सकता है, निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये जीव, जगत् और

---

१. विशेष जाननेके लिये देखिये प्रोफेसर दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy vol II अ ११।

ईश्वर इन तीन पदार्थोको मानना चाहिये । जीव और जगत शरीर रूप है और परब्रह्म शरीरी है। रामानुजका समय ११ वीं शताब्दी माना जाता है ।

वल्लभ—ये शुद्धाद्वैतके मुख्य प्रवर्तक गिने जाते हैं । इनके मतमें यह जगत परब्रह्मका ही अविकृत परिणाम है। इसे माया रूप समझकर ब्रह्मकी विवर्त नहीं कह सकते । इसलिये ब्रह्मको माया रहित मानना चाहिये । ब्रह्मन् अंशी है तथा जीव और जड़ ब्रह्मके अंश हैं । जीव भक्तिके द्वारा ही परब्रह्मको प्राप्त करता है । शुद्धाद्वैतको अविकृत ब्रह्मवाद भी कहते हैं। वल्लभका समय ईसाकी १५ वी शताब्दी है ।

विज्ञानभिक्षु—ये अविभागाद्वैतके स्थापक माने जाते हैं । केवलाद्वैत और शुद्धाद्वैतका इन्होंने खंडन किया है। इनके मतमें जिस प्रकार जलमें शक्कर डालनेमें शक्कर जलके साथ अविभक्त हो जाती है, उसी तरह पर जड़ अजड़ जगत परब्रह्ममें अविभक्त रूपसे रहता है । विज्ञानभिक्षुका समय ईसाकी १७ वीं शताब्दी है ।

श्रीकंठाचार्य—ये शक्तिविशिष्ट अद्वैतको मानते हैं। यह सिद्धांत अद्वैतवाद केवलाद्वैतके साथ मिलता जुलता है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ ब्रह्मको सविशेष भावसे प्रधान, और निर्विशेष भावसे गौण माना गया है । ब्रह्मतत्त्व चित् शक्ति और आनन्द शक्तिसे युक्त हैं । यहाँपर इस शक्तितत्त्वको माया रूप अथवा अविद्या रूप न मानकर इसे चिन्मय माना गया है। श्रीकंठका समय १५वीं शताब्दी है ।

भट्टभास्कर—ये औपाधिक भेदाभेदको मानते हैं। भट्टभास्कर भेद और अभेद दोनोंको सत्य मानते हैं । ब्रह्म और जगतमें कार्य-कारण संबंध है । इसलिये कार्य और कारण दोनों ही सत्य हैं, कारणको सत्य और कार्यको कल्पित नहीं कहा जा सकता । भट्टभास्करका समय ईसाकी १०वीं शताब्दी माना जाता है ।

निम्बार्क—स्वाभाविक भेदाभेदको मानते हैं । इनके मतमें जगत ब्रह्मका परिणाम है, इसे काल्पनिक नहीं कह सकते । निम्बार्कके मतमें जीव और जगतको न ईश्वरसे सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं, और न सर्वथा भिन्न । अतएव चेतन और अचेतनको ईश्वरसे भिन्नाभिन्न मानना चाहिये । निम्बार्कका समय ११वीं शताब्दी है।

मध्व—मध्व द्वैत वेदान्ती माने जाते हैं । मध्वके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंमें भेदकी ही सिद्धि होती है। पदार्थ दो तरहके होते हैं—स्वतंत्र और परतंत्र । ईश्वर स्वतंत्र पदार्थ है । परतंत्र पदार्थ भाव और अभावके भेदोंसे दो प्रकारके हैं । भावके दो भेद हैं—चेतन और अचेतन । चेतन और अचेतन ईश्वरके आधीन हैं। मध्वको पूर्णप्रज्ञ अथवा आनन्दतीर्थ भी कहा जाता है। मध्वका समय ईसाकी १२वीं शताब्दी है ।[1]

शंकरका मायावाद

कुछ लोगोंका कहना कि शंकराचार्यने मायावादके सिद्धांतोंकी रचना बौद्धोंके विज्ञानवाद और शून्यवादके आधारसे की है । बादरायणके ब्रह्म सूत्रोंमें, भगवद्गीतामें और बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें मायावादके सिद्धांत नहीं पाये जाते, विज्ञानभिक्षु शंकराचार्यको 'प्रच्छन्नबौद्ध' कहकर उल्लेख करते हैं, पद्मपुराणमें 'मायावाद' को असत् शास्त्र कहा गया है, तथा मध्व शून्यवादियोंके शून्य और मायावादियोंके ब्रह्मको एक बताते हैं। इससे मालूम होता है कि शंकर अपने परमगुरु गौडपादके सिद्धांतोंसे प्रभावित थे। प्रोफेसर दासगुप्तके अनुसार ये गौड़पाद स्वयं बौद्ध विद्वान थे, और उपनिषदों और बुद्धके सिद्धांतोंमें भेद नहीं समझते थे। गौडपादने माण्डूक्य उपनिषद्के उपर माण्डूक्यकारिका टीका लिखकर बौद्ध और औपनिषदिक सिद्धांतोंका समन्वय किया है। आगे चलकर गौडपादके सिद्धांतोंका उनके शिष्य शंकराचार्यने प्रसार किया[2] । प्रोफेसर ध्रुव इस मतसे सहमत् नहीं हैं । ध्रुवका मत है कि हीनयान बौद्धदर्शन ब्राह्मणदर्शनसे प्रभावित होकर ही महायान बौद्धदर्शनके रूपमें विकसित हुआ है ।[3]

१ विशेषके लिये देखिये नर्मदाशंकरका हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास उत्तरार्ध पृ० १७४-१८८ ।

२ गौड़पाद आचार्यकी माण्डूक्यकारिका और नागार्जुनकी माध्यमिककारिकाकी तुलनाके लिये देखिये प्रोफेसर दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy Vol. I, पृ ४२३ से ४२८ ।

३. देखिए प्रोफेसर ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी, पृ० ६२ भूमिका ।

चार्वाक परिशिष्ट (छ)

(श्लोक २०)

चार्वाक मत

चार्वाक पुण्य–पाप आदि परोक्ष वस्तुओंका स्वीकार नही करते, इसलिये इन्हे चार्वाक कहते है ।[१] सुन्दर वाणी होनेके कारण भी ये लोग चार्वाक कहे जाते है ।[२] चार्वाक सामान्य लोगोंके समान आचरण करनेके कारण लोकायन अथवा लोकायतिक कहे जाते है ।[३] पुण्य पापको न स्वीकार करनेके कारण इन्हे नास्तिक कहा गया है ।[४] आत्माको न माननेके कारण इन्हे अक्रियावादी कहा गया हैं । चार्वाक बृहस्पतिके शिष्य थे । बृहस्पतिने देवताओंके शत्रु असुरोंको मोहित करनेके लिये चार्वाक मतकी सृष्टि की थी । धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाकके भेदसे चार्वाक दो प्रकारके बताये गये है । धूर्त चार्वाक पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चार भूतोंको छोडकर आत्माको अलग पदार्थ नही मानते । सुशिक्षित चार्वाक शरीरसे भिन्न आत्माका अस्तित्व मानते है, परन्तु उनके मनमें यह आत्मा शरीरके नाश होनेके साथ ही नष्ट हो जाता है । कोई चार्वाक चतुर्भूत रूप जगतको न मानकर आकाशको पाचवा भूत स्वीकार करके ससारको पचभूत रूप मानते है । "चार्वाक मतके साधु कापालिक होते है । ये शरीरपर भस्म लगाते है, और ब्राह्मणसे लेकर अत्यज तक किसी भी जातिके हो सकते है । ये मद्य और मासका भक्षण करते हे, व्यभिचार करते है, प्रत्येक वर्ष इकट्ठे होकर स्त्रियोंसे क्रीडा करते है, तथा कामको छोडकर और कोई धर्म नही मानते ।"[५] परयोगी आनदघनजीने चार्वाक मतकी उपमा जिनेन्द्रकी कोखसे दी है ।[६]

---

१. चर्वन्ति, भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिक परोक्ष वस्तुजातमिति चार्वाका । गुणरत्नसूरि ।

२ चारुः लोकसमत वाक वाक्यम् यस्य स । वाचस्पत्यकोश ।

३ लोका निर्विचारा सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि । गुणरत्न ।

४ नास्ति पुण्य पापमिति मतिरस्य नास्तिक । हेमचन्द्र ।

यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक पुराणोंमे अद्वैत वेदान्तके प्रतिपादक शकराचार्यको चार्वाक जैन और बौद्धोंकी तरह नास्तिक बताकर शकरके मायावादको असत् शास्त्र कहा है—

मायावादी वेदान्ती (शकर भारती) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने सपद्यते इति ज्ञेयम् ।

अत्र प्रमाणानि साख्यप्रवचनभाष्योदाहृतानि पद्मपुराणवचनानि यथा—

मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्नं बौद्धमेव च ।
मयैव कथित देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥
अपार्थ श्रुतिवाक्याना दर्शयल्लोकगर्हितम् ।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते ॥
सर्वकर्मपरिभ्रशान्नैष्कर्म्य तत्र चोच्यते ।
परमात्मजीवयोरैक्य मयात्र प्रतिपाद्यते ॥

साख्यप्रवचन भाष्य १-१ भूमिका । न्यायकोश पृ० ३७२ ।

५. गुणरत्न षड्दर्शनसमुच्चय टीका ।

६ "लोकायतिक कूख जिनवरनी, अश-विचार जो कीजे,
तत्त्व-विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे" श्रीनमिनाथजीनु स्तवन, गा० ४ ।

प० बेचरदास–जैनदर्शन पृ० ८० भूमिका ।

चार्वाकों के सिद्धांत

चार्वाक आत्माको नही मानते । इनके मतमें चैतन्य विशिष्ट देहको ही आत्मा माना गया है । जिस समय भौतिक शरीरका नाश होता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाता है, अतएव कोई परलोक जानेवाली आत्मा भिन्न वस्तु नहीं है । इसलिये चार्वाकोंका सिद्धात है कि जब तक जीना है, तब तक खूब आनदके साथ जीवनको यापन करना चाहिये, क्योंकि मरनेके बाद फिरसे जीवका जन्म नहीं होता। चार्वाक लोग धर्म, अधर्म और पुण्य, पापको नही मानते । इनके मतमें एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसलिये इनके मतमे ससारसे बाह्य कोई स्वर्ग, नरक, मोक्ष और ईश्वर जैसी वस्तु नहीं है । वास्तवमें काटा लग जाने आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुःख ही नरक है, लोकमें प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, देहका छोडना ही मोक्ष है, और स्त्रीका आलिंगन करना ही सबसे बडा पुरुषार्थ है । चार्वाक वेदको नही मानते, तथा याज्ञिक हिसाका और श्राद्ध आदि कर्मोंका घोर विरोध करते है ।[1]

चार्वाक साहित्य

चार्वाक साहित्यका कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है । इसलिये चार्वाकोंके सिद्धान्तोंके प्रमाणिक ज्ञान प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं है । आजीविक आदि सम्प्रदायोंकी तरह चार्वाक मतका थोडा बहुत ज्ञान जैन, बौद्ध और ब्राह्मणोंके ग्रन्थोंसे होता है । चार्वाक सिद्धातोंके आद्य प्रणेता बृहस्पति कहे जाते हैं । गुणरत्न और जयन्तभट्ट दो चार्वाकसूत्रोंका उल्लेख करते हैं, इससे ज्ञान पडता है कि बृहस्पतिने चार्वाकशास्त्रकी रचना सूत्ररूपमे की थी । शान्तरक्षित तत्त्वसग्रहमे चार्वाक सम्प्रदायके प्ररूपक कम्बलाश्वतरके एक सूत्रका उल्लेख करते है ।[2] विद्वानोंका कहना है कि बौद्ध सूत्रोंमे वर्णित अजितकेशकम्बली और कम्बलाश्वतर दोनों एक ही व्यक्ति थे । [3] इनका समय ईसवी सन् पूर्व ५५०–५०० बताया जाता है। चार्वाकके सिद्धातोंका सक्षिप्त वर्णन जयन्तकी न्यायमजरी, माधवका सर्वदर्शनसग्रह, गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय टीका और महाभारत आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है ।

---

१ लोकायत दर्शनकी देनेके लिए देखिये जगदीशचन्द्र जैन, भारतीय तत्त्व चिन्तन, पृ० ५९–६१ ।

२ कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात् ।
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम् ॥
तथा च सूत्रम्–कायादेवेति । तत्त्वसग्रह श्लोक १८६४ पंजिका ।

३. तत्त्वसग्रह, अंग्रेजी भूमिका ।

विविध परिशिष्ट (ज)

श्लोक १ पृ० ३ पं० १६ आजीविक

भारतके अनेक सम्प्रदायोंकी तरह आजीविक सम्प्रदायका नाम भी आज निश्शेष हो चुका है। आजीविक मतके मतवालोंके क्या सिद्धात थे, इस मतके कौन-कौन मुख्य आचार्य थे, उन्होंने किन-किन ग्रन्थोंका निर्माण किया था, आदिके विषयमें प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आज कोई भी साधन नहीं है। इसलिये आजीविक सम्प्रदायके विषयमें जो कुछ थोडे बहुत सत्य अथवा अर्धसत्य रूपमे जैन और बौद्ध शास्त्रोंमें उल्लेख मिलते है, हमे उन्हींसे सन्तोष करना पडता है। ई० स० पूर्व ३९१ में अशोकका आजीविकोंको एक गुफा प्रदान करनेका उल्लेख मिलता है। ईसाकी ६ ठी शताब्दीके विद्वान वराहमिहिर अपने बृहज्जातकमें आजीविकोंको एकदण्डी कहकर उल्लेख करते है। ई० स० ५७६ मे शीलाक, ई० स० ५९०में हलायुध आजीविक और दिगम्बरोंको, और मणिभद्र आजीविक और बौद्धोंको पर्यायवाची मानकर उल्लेख करते है, तथा ई० स० १२३५ मे राजराज नामके चोल राजाके शिलालेखोंपरसे आजीविकोंके ऊपर कर लगानेका अनुमान किया जाता है।[1] जैन और बौद्ध साहित्यमे न दवच्छ, किससकिच्च और मक्खलि गोशाल इन तीन आजीविक मतके नायकोंका कथन आता है। मक्खलिगोशाल बुद्ध और महावीरके समकालिन प्रतिस्पर्धियोंमे से माने जाते हैं। भगवती आदि जैन आगमोंके अनुसार, गोशाल महावीरकी तपस्याके समय महावीरके शिष्य बनकर छह वर्ष तक उनके साथ रहे, और बादमे महावीरके प्रतिस्पर्धि बनकर आजीविक सम्प्रदायके नेता बने। गोशालक भाग्यवादी थे। इनके मतमें सम्पूर्ण जीव अवश, दुर्बल, निर्वीय है, और भवितव्यताके वशमे है। जीवोंके सक्लेशका कोई हेतु नही है, विना हेतु और विना प्रयत्नके प्राणी सक्लेशको प्राप्त होते है। गोशालक आत्माको, पुनर्जन्मको और जीवके मुक्तिसे लौटनेको स्वीकार करते थे। उनके मतमे प्रत्येक पदार्थमे जीव विद्यमान है। गोशालकने जीवोंको एकेन्द्रिय आदिके विभागमे विभक्त किया था, वे जीव हिंसा न करनेपर जोर देते थे, मुख्य योनि चौदह लाख मानते थे। भिक्षाके वास्ते पात्र नही रखते थे, हाथमे भोजन करते थे, मद्य, मास कदमूल और उद्दिष्ट भोजनके त्यागी होते थे, ओर नग्न रहा करते थे। आजीविक लोगोका दूसरा नाम तेरासिय (त्रैराशिक) भी है। ये लोग प्रत्येक वस्तुको सत्, असत् और सदसत् तीन तरहसे कहते थे, इसलिये ये तेरासिय कहे जाने लगे।[2]

श्लोक १५ पृ० पं० संवर-प्रतिसंवर

क्षेमेन्द्रने साख्यतत्त्वविवेचनमें सवर (सचर) और प्रतिसवर (प्रतिसचर) का लक्षण निम्न प्रकारसे किया है —

सचर—

साम्यवस्थागुणाना या प्रकृति सा स्वभावत. ।
कालक्षोभेण वैषम्यात् क्षेत्रे परयुते पुरा ॥
बुद्धिस्ततश्चाह कारस्त्रिविधोऽपि व्यजायत ।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च क्रमात् ॥
एव क्रमेणैवोत्पत्ति॰ सचर परिकीर्तित ।

---

१ प्रोफेसर होर्नेल ईसाकी छठी शताब्दीतक आजीविकदर्शनके स्वतत्र आचार्योके होनेका अनुमान करते है।

२. प्रोफेसर याकोबी और प्राफेसर वरुआ आदि विद्वानोंके अनुसार महावीरके जैनधर्मके सिद्धान्तोंके ऊपर गोशालकके सिद्धान्तोंका प्रभाव पडा है। विशेषके लिये देखिये प्रोफेसर वरुआकी Pre-Buddhist Indian

प्रतिसचर—

व्युत्क्रमेणैव लीयन्ते तन्मात्रे भूतपचकम् ।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि अहकारे विलीयते ।
अहकारोऽथ बुद्धौ तु बुद्धिरव्यक्तसज्ञके ।
अव्यक्त न क्वचिल्लीन प्रतिसचर इति स्मृत ।

श्लोक २० पृ० पं० क्रियावादी-अक्रियावादी

क्रियावादी जीवोंके अपने अपने कर्मों के अनुसार फल मिलनेके सिद्धान्तोंको मानते है । अक्रियावादियोंका सिद्धात इस सिद्धातसे बिलकुल उल्टा है । जैन और बौद्ध आगम ग्र थोंमें पकुधकात्यायन और मक्खलिगोशालको अक्रियावादी कहकर उल्लेख किया गया है । निगठ नातपुत्त बुद्धको क्रियावाद अक्रियावाद दोनों सिद्धान्तोंके माननेवाला कहते है ।[1] प्रोफेसर बेनीमाधव बरुआ आदि विद्वानोंका मत है कि जैन धर्मका मौलिक नाम किरियावाद (क्रियावाद) था । क्रियावादी महावीर अक्रियावादी और अज्ञानवादियोंका विरोध करते थे, पुण्य-पाप, आस्रव-ब ध, निर्जरा-मोक्षको स्वीकार करते थे, और पुरुषार्थको प्रधान[2] मानते थे । जैन ग्रथोंमें परमतवादियोंके ३६३ मतोंमें क्रियावादी और अक्रियावादियोंके मतोंको गिनाया गया है । क्रियावादी आत्माको मानते है । इनके मतमे दु ख स्वय कृत है, अन्यकृत नहीं । इनके कौत्कल, काडविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु माछयिक, रोमस, हारित, मुड और अश्वलायन आदि १८० भेद है । अक्रियावादी प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्तिके पश्चात् ही पदार्थका नाश मानते है । अक्रियावादी आत्माके अस्तित्वको नहीं मानते, और अपने माने हुए तत्त्वोंका निश्चित रूपसे प्ररूपण नहीं कर सकते । राजवार्तिककारने अक्रियावादियोंके मरीच, कुमार, कपिल, उलक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्धलि, मौद्गलायन, माठर प्रभृति ४० भेद माने है ।[3]

---

philosophy, भाग ३ अ २१ प्रो होर्नेल—Encyclopaedia of Religion and Ethics जि० पृ० २२९ । आजीविकोंकी गणना पाच प्रकारके श्रमणोंमें की गई है । विशेषके लिये देखिये जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमे भारतीय समाज, पृ १२-१७, ४१९-२१

१ तेव्हा नातपुत्त म्हाणाला, 'तू क्रियावादी असून अक्रियावादी अशा श्रमण गौतमाला भेटण्याची का इच्छा करितोस ?, तरीहि सिंह गेलाच तेव्हा बुद्धाने त्यास आपणास क्रियावादी व अक्रियावादी ही दोन्हीं विशेषणे कशी लागू पडतील हे अनेक प्रकारानीं सागितले (महावग्ग ६ ३१ अगत्तर ८-१२) देखिये राजवाडेका दीघनिकाय भाग १ मराठी भाषातर पृ० १०० ।

२. देखिये Pre-Buddhist Indian Philosophy

३. तथा देखिये, जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्यमें भारतीय समाज, पृ० ४२

अनुक्रमणिका



स्याद्वादमंजरीके अवतरण (१)

श्लोक १

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।	पृष्ठ
गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भव तीर्थनिकारतः। ( )	४
सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।	
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य न क्वोपयुज्यते॥	
तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।	
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे॥ (वैशेषिकवचन)	४
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।	
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥	
(आचारांग १-३-४-१२२)	४
एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।	
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥ ( )	५
अभ्रादित्वात् (अभ्रादिभ्यः) (हैमशब्दानुशासन ७-२-४६)	७
शाखादेर्यः (हैमशब्दानुशासन ७ १-११४)	७
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम् (अयोगव्यवच्छेदिका १)	९

श्लोक २

तादर्थ्ये चतुर्थी (हैमशब्दानुशासन २-२-५४)	१०
स्पृहेर्व्याप्यं वा (हैमशब्दानुशासन २-२-२६)	१०

श्लोक ३

अदसस्तु विप्रकृष्टे (हैमव्याकरण संग्रहश्लोक)	११
*रूसउ वा परो मा वा विसं वा परियत्तऊ।	
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया।	
(हेमचन्द्र—श्रेणिकचरित्र २-३२)	१२
न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।	
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति॥	
(वाचकमुख्य उमास्वाति-तत्त्वार्थभाष्यकारिका २९)	१३

श्लोक ४

गम्ययपः कर्माधारे (हैमशब्दानुशासन २-२-७४)	१४

श्लोक ५

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५-२९)	१५
अवकाशादमाकाशम् (उत्तराध्ययन-भावविजयगणिवृत्ति २८-९)	१८

---

* ये अवतरण सम्पूर्णतया उपलब्ध न होकर कुछ अंशमें ही उपलब्ध होते हैं।

श्लोक ७

श्लोक ८

न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।
अशरीरं वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत ॥
(छान्दोग्य उपनिषद् ८-१२) ५३

यावदात्मगुणा. सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः ।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते ॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि सभव सुखदु.खयोः ।
मूलभूतौ च तावेव स्तभौ ससारसद्मन. ॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात् ।
नात्मनः सुखदु खे स्त इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनवधनम् ।
उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते ॥
तदेव धिषणादीना नवानामपि मूलत· ॥
गुणानामात्मनो ध्वस सोऽपवर्ग प्रतिष्ठित ॥
ननु तस्यामवस्थाया कीदृगात्मावशिष्यते ।
स्वरूपैकप्रतिष्ठान परित्यक्तोऽखिलैर्गुणै ॥
ऊर्मिषट्कातिग रूप तदस्याहुर्मनीषिण ।
संसारवधनाधीनदु.खक्लेशाद्यदूषितम् ॥
कामक्रोधलोभगर्वदभहर्षा—ऊर्मिषट्कमिति ।
(जयन्त—न्यायमजरी पृ. ५०८) ५३-५४

सूत्र तु सूचनाकारि ग्रथे तन्तुव्यवस्थयो ।
(हेमचन्द्र—अनेकार्थसग्रह २-४५८) ५४

उपकृत बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम् ( ) ५४

कारणं द्विविध ज्ञेय बाह्यमाभ्यन्तर बुधै ।
यथा लुनाति दात्रेण मेरु गच्छति चेतसा ॥ (लाक्षणिक) ५८

नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धि ( ) ६०

सुखमात्यन्तिक यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
त वै मोक्ष विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभि ॥ (भगवद्गीता) ६२

वर वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाछितम् ।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥ ( ) ६३

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम ( ) ६४

नट्ठ मि य छाउमत्थिए नाणे (आवश्यक पूर्वविभाग ५३९) ६५

पुण्यपापक्षयो मोक्ष (आगमवचन) ६५

श्लोक ९

सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम् । नान्यत्र शरीरस्योपभोगायतनत्वात् ।
अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात् (श्रीधर—न्यायकन्दली) ६८

नानात्मनो व्यवस्थात (वैशेषिकसूत्र ३-२-२०) ६९

आकाशोऽपि सदेश सकृत्सर्वमूर्ताभिसंबधार्हत्वात्
(द्रव्यालकार) ७१

श्लोक १०

	पृष्ठ
ईयकारके (हैमशब्दानुशासन ३-२-१२१)	७७
वहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठाता देहावयवा मर्माणि ( )	७७
गुणादस्त्रिया न वा (हैमशब्दानुशासन २-२-७७)	७७
लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दु स्थितेनामहात्मना । छलजातिप्रधानो य स विवाद इति स्मृत ॥ (हरिभद्रसूरि-अष्टक १२-४)	७७
अभ्युपेत्य पक्ष यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते (उद्योतकर—न्यायवार्तिक १-१-१)	७७
दु शिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननः । शक्या किमन्यथा जेतु वितण्डाटोपमण्डिता ॥ गतानुगतिको लोक कुमार्ग तत्प्रतारित । मा गादिति छलादिनि प्राह कारुणिको मुनि । ( )	७८
प्रमाणप्रमेय ......नि श्रेयसाधिगम (गौतम न्यायसूत्र १-१-१)	७८
अर्थोपलब्धिहेतु प्रमाणम् (वात्स्यायनभाष्य)	७९
सम्यगनुभवसाधन प्रमाणम् (भासर्वज्ञ—न्यायसार)	७९
स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम् (प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार और प्रमाणमीमासा)	७९
प्रवृत्तिदोषजनित सुखदु खात्मक मुख्य फल तत्साधन तु गौणम् (जयन्त—न्यायमजरी)	८०
द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु प्रमेयम् (प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार)	८०
साधर्म्यवैधर्म्य......कार्यसमा (गौतम न्यायसूत्र ५-१-१)	८१

श्लोक ११

महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् (याज्ञवल्क्यस्मृति आचार १०९)	८८
द्वौ मासौ मत्स्यमासेन त्रीन मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुर शाकुनेनेह पच तु ॥ (मनुस्मृति ३-२६८)	८८
श्रूयता धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् (चाणक्य १-७)	८८
सवद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना (मी. श्लोकवार्तिक ४-८४)	९०
पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिन्तो । तव्विसया विसुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकपा ॥ एयाहिंतो वुद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई । इत्तो निव्वाणगया अवाहिया आभवमिमाण ॥ रोगीसिरावेहो इव सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ । परिणामसुदरच्चिय चिट्ठा से वाहजोगे वि ॥ (जिनेश्वरसूरि-पचलिंगी ५८, ५९, ६०)	९१

	पृष्ठ
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥	
(साख्यकारिका ३)	१३६
अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥ ( )	१३७
शुद्धोपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते (व्यासभाष्य)	१३७
सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य........बुद्धेरसाधारणो व्यापारः (साख्यतत्त्वकौमुदी २३)	१३७
बुद्धिदर्पणसक्रान्तमर्थनप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः (वादमहार्णव)	१३७
विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥ (आसुरि)	१३८
पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥ (विन्ध्यवासी)	१३८
अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवति (व्यासभाष्य)	१३९
शब्दगुणमाकाशम् (वैशेषिकसूत्र)	१४०
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ (मुण्डक उपनिषद् १-२-१०)	१४१
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ (साख्यकारिका ५९)	१४२

श्लोक १६

× उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् (न्यायप्रवेश पृ ७)	१४४
× उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलम् कार्यम् । कुतः । अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथाहि । परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणत्वात् । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति । (हरिभद्रसूरि-न्यायप्रवेशवृत्ति पृ ३६)	१४४
द्विष्ठसबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सबन्धवेदनम् ॥ ( )	१४६

× इन अवतरणोंके लिये मुनि हिमांशुविजयजीने मेरा ध्यान आकर्षित किया है ।

श्लोक २६

श्लोक २७

श्लोक २८

श्लोक २९

श्लोक ३०

श्लोक ३१

श्लोक ३२

पृष्ठ

समवान्धात् तमसः (हैमशब्दानुशासन ७-३-८०) २६७

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥

(हेमचन्द्र-योगशास्त्र २-३) २६७

पाणवहाईआण पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो ॥
बज्झाणुट्ठाणेण जेण ण वाहिज्जए तय णियमा ।
सभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति ॥
जीवाइभाववाओ व धाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥

(हरिभद्र-पचवस्तुक चतुर्थद्वार) २६८

नोट—इन अवतरणोंके अतिरिक्त मल्लिषेणने स्याद्वादमञ्जरीमें हरिभद्रकी न्यायप्रवेशवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासा, देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर, रत्नप्रभाचार्यकी स्याद्वादरत्नावतारिका आदि ग्रन्थोंके वाक्योंका शब्दशः उपयोग किया है । मल्लिषेणने इन वाक्योंको अवतरण रूपमें उल्लेख नहीं किया ।

स्याद्वादमंजरीमें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार (२)

१. जैन–

भद्रबाहु—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवली माने जाते है। भद्रबाहु महावीर-निर्वाणके १७० वर्ष बाद मोक्ष गये। उन्होंने आचाराग, सूत्रकृताग, सूर्यप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कध, कल्पसूत्र, व्यवहार और ऋषिभाषित सूत्रोंपर निर्युक्तियोंकी रचना की है। दिगम्बर परम्परामें दो भद्रबाहु हुए है, दूसरे भद्रबाहु मौर्य चन्द्रगुप्तके समकालीन थे। प्रथम भद्रबाहुका समय ईसाके पूर्व चौथी शताब्दि माना जाता है।

आचाराग—द्वादशाग सूत्रोंमे सर्व प्राचीन।

स्थानाग – द्वादशागका तीसरा सूत्र।

उत्तराध्ययन—उत्तराध्ययन चार मूल सूत्रोंमे प्रथम सूत्र। इसमे छत्तीस अध्ययन है। इनमें केशी-गौतमका सवाद राजीमतीका नेमिनाथको उपदेश करना, कपिलका जैन मुनिका शिष्यत्व, कर्मसे जाति आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंका वर्णन है।

आवश्यक—मूल सूत्रोंमें दूसरा सूत्र। इसमे सामायिक, स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन छह आवश्यकोंका वर्णन है। आवश्यक सूत्र बहुत प्राचीन है।

निशिथचूर्णि—यह अनेक चूर्णियोंके रचयिता जिनदासगणि महत्तरकी कृति है। समय ई स ६७६ के लगभग।

वाचकमुख्य—उमास्वाति ही वाचकमुख्यके नामसे कहे जाते है। इन्होंने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके ऊपर भाष्य लिखा है। उमास्वाति प्रशमरति, श्रावकप्रप्ति आदि ग्रथोंके भी कर्ता है। उमास्वातिको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। दिगम्बर इन्हें उमास्वामि कहते है, और कुन्दकुन्द आचायके शिष्य अथवा वशज मानते है। दिगम्बरोंके अनुसार तत्त्वार्थभाष्य उमास्वामिका बनाया हुआ नहीं माना जाता। तत्त्वार्थाधिगम सूत्रोंमे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार पाठभेद पाया जाता हैं। इन सूत्रोंपर दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि तथा श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय आदिने टीकायें लिखी है। समय ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दि।

सिद्धसेन दिवाकर—श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान् तार्किक और प्रतिभाशाली विद्वान। सिद्धसेनने प्राकृत भाषामे सन्मतितर्क तथा सस्कृतमे न्यायावतार और द्वात्रिंशद् द्वात्रिशिकाओंकी रचना की है। सन्मतितर्कपर अभयदेवने, और न्यायावतार पर सिद्धर्षिने टीका लिखी है। सिद्धसेन अपने समयके महान स्वतंत्र विचारक माने जाते थे। इन्होंने श्वेताम्बर आगमकी नयवाद और उपयोगवादकी मूल मान्यताओंका विरोध कर अपने स्वतत्र मतका स्थापन किया है। सिद्धसेनने वेद, तथा न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और साख्य दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। प सुखलालजी सिद्धसेनका समय ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दि मानते हैं।

समतभद्र—समतभद्रका नाम दिगम्बर सम्प्रदायमे सुप्रसिद्ध है। सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमे और समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदायमे आदिस्तुतिकार गिने जाते है। समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार, आप्तमीमासा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रंथोंकी रचना की है। सिद्धसेन और समतभद्रकी कृतियोंमे कई श्लोक समान रूपसे पाये जाते है। प्राय सिद्धसेन और समतभद्र दोनों समकालीन हैं। प्रो के बी पाठकके अनुसार समतभद्र ईसाकी आठवीं शताब्दिके पूर्वाधमें, तथा प. जुगलकिशोरजीके मतमे समतभद्र सिद्धसेनके पूर्ववर्ती हैं, और ईसाकी तीसरी शताब्दिमे हुए है।

जिनभद्रगणि--जिनभद्रगणि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें क्षमाश्रमण और भाष्यकारके नामसे प्रसिद्ध है। ये जैन आगमोंके आचार्य महान सैद्धांतिक विद्वान गिने जाते हैं। जिनभद्रगणिने विशेषावश्यकभाष्य, विशेषण वती, जीतकल्प आदि ग्रंथोंकी रचना की है। समय ईसवी सन्‌की पाचवीं शताब्दि।

गन्धहस्ति सिद्धसेनगणि—पूर्वकालमें सिद्धसेन दिवाकरको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार मानकर सिद्धसेन दिवाकरको ही गन्धहस्ति कहा जाता था। परन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि गंधहस्ति तत्त्वार्थभाष्य वृहद्वृत्ति रचनेवाले भास्वामिके शिष्य सिद्धसेनगणिका ही विशेषण है। तत्त्वार्थभाष्यकी यह वृत्ति भाष्यमहोदधिके नामसे भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि जैन सिद्धातशास्त्रके महान विद्वान थे। सिद्धसेनगणि तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति लिखते समय उमास्वातिके आगम-विरुद्ध मतव्योंपर टीका करते हुए उमास्वातिका सूत्रानभिज्ञ, प्रमत्त आदि शब्दोसे उल्लेख करते है। समय विक्रमकी सातवीं और नौवीं शताब्दिका मध्ये।

हरिभद्रसूरि--श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान प्रतिष्ठित उदार विद्वान गिने जाते हैं। इन्होंने षड्दर्शन-समुच्चय, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, धर्मसंग्रहणी, पंचवस्तुक, अष्टक आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। हरिभद्र बुद्ध, कपिल, पतंजलि और व्यास आदि जैनेतर उन्नायकोंके प्रति भगवान, सर्वव्याधि-भिषग्वर, महामुनि, और महर्षि आदि शब्दोंका प्रयोग कर सम्मान प्रदर्शित करते हैं। हरिभद्र नामके अनेक जैन विद्वान हो गये हैं। प्रस्तुत याकिनीसूनु हरिभद्रका समय ईसाकी आठवीं शताब्दि।

विद्यानन्द—इनको विद्यानन्दि अथवा पात्रकेसरि भी कहा जाता है। विद्यानन्द अपने समयके महान तार्किक दिगम्बर विद्वान थे। इन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रंथोंकी रचना की है। विद्यानन्दने मीमांसकोंके द्वारा जैनदर्शनपर किये जानेवाले आक्षेपोंका बहुत विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है।

न्यायकुमुदचन्द्रोदय--इस ग्रंथके कर्ता दिगम्बर विद्वान प्रभाचन्द्र आचार्य है। यह ग्रंथ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। प्रभाचन्द्रने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखसूत्रपर प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। समय ई. स १०वीं शताब्दि।

पंचलिंगीकार--कथाकोष प्रकरणके रचयिता जिनेश्वरसूरिने पंचलिंगी प्रकरण ग्रंथकी रचना की है। समय विक्रम ११०८ सवत्।

वादिदेव--वादिदेवसूरि वादशक्तिमें अद्वितीय माने जाते थे। इन्होंने कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर विद्वानसे शास्त्रार्थ किया था। वादिदेवने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और उसकी टीका स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रंथोंकी रचना की है। समय ईसवी सनकी १२वीं सदी।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्राचार्य १२वीं सदी के एक महान प्रतिभाशाली श्वेताम्बर आचार्य हो गये हैं। हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, छन्द, योग आदि विविध विषयोंपर अनेक शास्त्रोंकी रचना की हैं। इनमें योगशास्त्र, हैमशब्दानुशासन, हैमव्याकरण, अनेकार्थसंग्रह, प्रमाणमीमांसा आदि उल्लेखनीय है।

द्रव्यालंकार—रामचन्द्र और गुणचन्द्रने स्वोपज्ञवृत्ति सहित द्रव्यालंकारकी रचना की है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों हेमचन्द्राचार्यके शिष्य थे।

समयसागर !—

२. बौद्ध—

दिङ्नाग—दिङ्नाग विज्ञानवादके प्रतिपादक महान तार्किक बौद्ध विद्वान हो गये है। इन्होंने न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्ध न्यायसम्बन्धी अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। समय ईसवी सन्‌की पाँचवी शताब्दी।

न्यायबिंदु—इसके कर्ता धर्मकीर्ति आचार्य हैं। समय ईसवी सन् ६३५।

न्यायविन्दुटीका—धर्मोत्तरने न्यायबिन्दुके उपर टीका लिखी है समय ईसवी सन् ८४७ ।

अशोक—प० अशोकका समय ईसवी सन् ९०० है। उन्होंने अपोहसिद्धि, सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता और अवयविनिराकरण ग्रंथ लिखे है।

प्रज्ञाकरगुप्त—प्रज्ञाकरगुप्तका समक ईसवी सन् ९४० है। मल्लिषेणने इनका अलंकारकारके रूपमे उल्लेख किया है। प्रज्ञाकरगुप्तने प्रमाणवार्तिकालंकारकी रचना की है।

मोक्षाकरगुप्त—मोक्षाकरगुप्तका मल्लिषेणने दो जगह उल्लेख किया है। समय ई स ११०० के लगभग।

तत्त्वोपप्लवसिंह—यह ग्रंथ पाटणके जैन भंडार से मिला है। इसके कर्ता जयराशिभट्ट है। ये तत्त्वोपप्लववादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे भी कहे जाते थे।

३. न्याय–

अपवाद—न्यायसूत्रके प्रणेता। इन्हें गौतम भी कहा जाता है। न्यायदर्शन योगदर्शनके नामसे भी प्रसिद्ध है। कुछ विद्वान न्यायसूत्रोंकी रचनाको ईसवी सन्के पूर्व, और कुछ ईसवी सन्के पश्चात् स्वीकार करते हैं।

न्यायवार्तिक—न्यायवार्तिकके कर्ता प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर है। समय ईसवी सन्की ७ वी शताब्दीका पूर्वार्ध।

जयन्त—न्यायमंजरीके कर्ता। समय ईसवी सन् ८८०।

न्यायभूषणसूत्र—अपर नाम न्यायसार, इसके कर्ता भासर्वज्ञ है। समय ईसवी सन्की दसवी शताब्दिका आरंभ।

उदयन—उदयन आचार्य दसवी शताब्दिके उत्तर भागमे हुए हे। इन्होंने वाचस्पतिमिश्रकी न्यायतात्पर्यटीकापर न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि, किरणावलि आदि ग्रंथोंकी रचना की है।

४. वैशेषिक–

कणाद—वैशेषिक सूत्रोंके रचयिता कणादको कणभक्ष अथवा औलूक्य नामसे भी कहा जाता है। वैशेषिकसूत्रोंकी रचनाका समय कमसे कम ईसाकी प्रथम शताब्दि।

प्रशस्तपाद—वैशेषिकसूत्रोंपर प्रशस्तपादभाष्यके कर्ता। समय ईसवी सन्की चौथी-पाँचवी शताब्दि।

श्रीधर—प्रशस्तपादभाष्यपर न्यायकन्दलीके रचयिता। समय ई स ९९१।

५. सांख्य–

कपिल—साख्यमतके आद्यप्रणेता। कपिलको परमर्षि कहा गया है। अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति।

आसुरि—कपिलके साक्षात् शिष्य थे। समय ईसवी सन्के पूर्व।

विन्ध्यवासी—वास्तविक नाम रुद्रिल। समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दि।

ईश्वरकृष्ण—साख्यकारिका अथवा साख्यसप्ततिके कर्ता। इनके समयके विषयमे विद्वानोंमे मत भेद है। कोई ईश्वरकृष्णको ईसवी सन्के पूर्व प्रथम शताब्दिका, और कोई ईसाकी चौथी शताब्दिका विद्वान कहते है।

गौड़पादभाष्य—शंकराचार्यके गुरू गोविन्दके गुरू। समय ईसवी सन्की ८वीं शताब्दिका आरंभ।

वाचस्पति—सर्वतन्त्रस्वतंत्र वाचस्पतिने साख्यदर्शनपर साख्यकारिकापर साख्यतत्त्वकौमुदी नामकी लिखी है। वाचस्पतिमिश्रने न्याय, योग, पूर्वमीमासा और वेदान्त दर्शनोंपर भी ग्रंथ लिखे है। समय ईसवी सन् ८५०।

वादमहार्णव ?—

६. योग—

पतंजलि—आधुनिक योगसूत्रोंके रचयिता अनेक विद्वान महाभाष्यकार और योगसूत्रोंके कर्ता पतंजलिको एक ही व्यक्ति मानते हैं। इन विद्वानोंके मतमे पतंजलिका समय ईसवी सन्के पूर्व १५० वर्ष माना जाता है।

व्यास—पतंजलिके योगसूत्रोंके टीकाकार। मल्लिषेणने इन्हे पातंजलटीकाकार कहकर उल्लेख किया है। इनके समयके विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ व्यासको ईसवी सनके पूर्व प्रथम शताब्दीका और कुछ ईसवी सनकी चौथी शताब्दिका विद्वान कहते हैं।

७. पूर्वमीमांसा—

जैमिनी—मीमांसासूत्रोंके रचयिता। समय ईसाकी पूर्व २०० वर्ष।

भट्ट—भट्टको कुमारिलभट्ट भी कहा जाता है। शबरभाष्यके टीकाकार। यह टीका श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और तुपटीका इन तीन भागोंमें विभक्त है। समय ८वीं शताब्दिका पूर्वभाग।

मृगेन्द्र ?—

वेद—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद इन चारों वेदोंमें ऋग्वेद संसारके उपलब्ध साहित्यमे प्राचीनतम माना जाता है। ऋग्वेदके समयके विषयमे बहुत मतभेद है। ऋग्वेदका समय कमसे कम ईसवी सन्के पूर्व ४५०० वर्ष माना जाता है। यजुर्वेदको शुक्ल यजुर्वेदसंहिता और कृष्ण यजुर्वेदसंहिता नामकी दो संहिता हैं।

ब्राह्मण—चारों वेदोंके अलग-अलग ब्राह्मण हैं। एतरेयब्राह्मण ऋग्वेदका, और तैत्तिरीयब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदका ब्राह्मण है। ब्राह्मण-साहित्यका समय बुद्धके पूर्व है।

सूत्र—सूत्रसाहित्य वेदका अंग है। आश्वलायन ऋषिने आश्वलायनगृह्यसूत्र और वशिष्ठ ऋषिने वसिष्ठधर्मसूत्रकी रचना की है।

८. वेदान्त—

उपनिषद्—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक, ईशावास्य उपनिषदें—प्राचीन ग्यारह उपनिषदोंमेंसे मानी जाती है। शंकराचार्यने इनपर टीका लिखी है। प्राचीन उपनिषदोंका समय गौतम बुद्धके पूर्व माना जाता है।

शंकर—ब्रह्माद्वैत अथवा केवलाद्वैतके प्रतिष्ठापक। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रके टीकाकार। समय ८वीं शताब्दी है।

नोट—इसके अतिरिक्त, मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें महाभारतकार व्यास, मनुस्मृति, भर्तृहरिका वाक्यपदीय, कालिदासका कुमारसंभव, माघका शिशुपालवध, बाणकी कादम्बरी, वार्तिककार, अमर और त्रिपुरार्णवके उद्धरण दिये हैं, अथवा इनका उल्लेख किया है।

स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका) के श्लोकोंकी सूची (३)

स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका) के शब्दोंकी सूची (४)

स्याद्वादमंजरीके न्याय (५)

न्याय	श्लोक	पृ
१ अदिरसोर्वणिज प्रतिदिन पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्याय ।	१६	१४९
२ अन्धगजन्याय. ।	१४, १९	१२५, १९०
३ अर्धजरतीयन्याय ।	८	५४
४ इतो व्याघ्र इतस्तटी ।	१७	१७८
५ इत्यादि बहुवचनान्ता गणस्य ससूचका भवन्ति ।	२२	२०३
६ उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान् ।	११	९९
७ उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी	१५	१३९
८ गजनिमीलिकान्याय ।	१८, २८	१७९, २४१
९ घट्टकुट्या प्रभातम् ।	६	३९
१० घण्टालोलान्याय ।	६	४२
११ डमरुकमणिन्यायः ।	११	१००
१२ तटादर्शिशकुन्तपोतन्याय ।	१९	१९३
१३ तुल्यबलयोर्विरोध ।	११	१०१
१४ न हि दृष्टेऽनुपपन्न नाम ।	९	६८
१५ स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणान्त ।	१८	१८४
१६ सर्वं हि वाक्य सावधारण ।	४	१३
१७ सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था ।	६	३०
१८ साधन हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धाया साध्य गमयेत् ।	६	३२
१९ सापेक्षमसमर्थम् ।	५	२२
२० सुन्दोपसुन्दन्याय ।	२६	२३५

स्याद्वादमंजरीके विशेष शब्दोंकी सूची (६)

* * *

स्याद्वादमंजरीके संस्कृत, तथा हिन्दी-अनुवादकी टिप्पणियोंके ग्रन्थ और ग्रन्थकार (७)

अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची (८)

अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (९)

अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीके ग्रन्थ (१०)

अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र	द्वा. त्रिंशिका	सिद्धसेन
अयोगव्यवच्छेदिका	स. चरणविजयजी	भक्तामरस्तोत्र	मानतुग
		युक्त्यनुशासन	समतभद्र
आप्तमीमासा	समतभद्र	योगशास्त्र	हेमचन्द्र
कल्याणमदिरस्तोत्र	सिद्धसेन	लोकतत्त्वनिर्णय	हरिभद्रसूरि
तत्त्वनिर्णयप्रासाद	आत्मारामजी	स्वयभूस्तोत्र	समतभद्र

परिशिष्टो के विशेष शब्दो की सूची (११)

परिशिष्टोमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची (१२)

सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची (१३)

अध्यात्मोपनिषद्	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
अनगारधर्मामृत	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई)
अनुयोगद्वारसूत्र	(आगमोदयसमिति सूरत)
अभिधर्मकोश	(स राहुलसास्कृत्यायन काशी विद्यापीठ)
अभिधम्मत्थसगहो (पाली)	(स. धर्मानन्द कोसबी गुजरात पुरातत्वमदिर)
अभिधानचिन्तामणि	(यशोविजय ग्रथमाला काशी)
अभिधान राजेन्द्रकोष	(रतलाम)
अमरकोष	(निर्णयसागरप्रेस बम्बई)
अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	(भावनगर, भीमसिंह माणेक मुबई)
अवयविनिराकरण	(स. हरप्रसादशास्त्री सिक्सबुद्धिस्ट न्यायटेक्स्ट विब्लि-आथेका इडिका)
अष्टसहस्री	(गाधी नाथार ग जैन ग्रन्थमाला बम्बई)
आप्तमीमासा	(सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी)
आदिपुराण	(जैनेन्द्रप्रेस कोल्हापुर)
आस्तिकवाद	(अलाहबाद)
आवश्यक हरिभद्रीय	(आगमोदयसमिति सूरत)
उत्तराध्ययनसूत्र	(देवचंद लालाभाई सूरत)
कर्मग्र थ द्वितीय	(आत्मान द जैन प्रकाशक मण्डल आगरा)
कर्मग्रथ चौथा	(,,)
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	(काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर बम्बई)
कालचक्र	(शारदामदिर देहली)
कौषीतकी उपनिषद्	(निर्णयसागर बम्बई)
गुणस्थानक्रमारोहण	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
गोम्मटसार जीवकाड	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
गोम्मटसार जीवकाड केशववर्णी टीका	(जैनसिद्धातप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
गौतमसूत्र (न्यायदर्शन)	(हरिकृष्णदास गुप्त काशी)
छान्दोग्य उपनिषद्	(निर्णयसागर बबई)
जैनतर्कपरिभाषा	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
जैनसिद्धातदर्पण	(अनन्तकीर्ति जैन ग्रथमाला)
जैनदर्शन (गुजराती)	(प. बेचरदास)
जैनागम साहित्यमे भारतीय समाज	(चौखभा सस्कृत सीरीज)
तत्त्वसग्रहपंजिका	(गायकवाड ग्रथमाला बडौदा)
तत्त्वयाथार्थ्यदीपन	(चौखंभा काशी)
तत्त्वार्थभाष्य	(आर्हतमत प्रभाकर पूना)
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
तत्त्वार्थराजवार्तिक	(सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(गाधी नाथारग जैन ग्रथमाला)
तन्त्रवार्तिक	(काशी)
त्रिलोकसार	(माणिकचन्द्र ग्रथमाला बम्बई)
त्रिंशिका	(स सिल्वन् लेवी पेरिस)
त्रिंशिकाभाष्य	(,,)
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
दर्शन और अनेकांतवाद	(आत्मानन्द जैन प्रकाशक मण्डल आगरा)
दशवैकालिकसूत्र–निर्युक्ति	(देवच द लालाभाई सूरत)
दीघनिकाय (मराठी)	(सं. राजवाडे वडौदा)
द्रव्यसग्रह–वृत्ति	(जैन पब्लिशिंग हाउस आरा)
द्रव्यानुयोगतर्कणा	(रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई)
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका–सिद्धसेन	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका–यशोविजय	(,,)
धर्मस ग्रहणीवृत्ति	(देवच द लालाभाई सूरत)
धम्मपद (पाली)	(गुजरात पुरातत्त्वमदिर)
नन्दिसूत्रटीका	(देवच द लालाभाई सूरत)
नयचक्रसग्रह	(माणिकचद जैन ग्रन्थमाला बम्बई)
नयप्रदीप	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
नयोपदेश	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
नियमसार	(जैनग्रथरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
न्यायकुसुमाजलि	(कलकत्ता)
न्यायकोश	(सस्कृत सीरीज बम्बई १८९३)
न्यायकदली	(विजयनगर ग्रथमाला)
न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि	(चौखभा काशी)
न्यायप्रदीप	(हिन्दीग्रथरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
न्यायप्रवेश-वृत्ति-प जिका	(गायकवाड ग्रथमाला वडौदा)
न्यायबिन्दु–टीका	(चौखभा काशी)
न्यायभाष्य	(विद्याविलास प्रेस काशी)
न्यायमजरी	(विजयनगर सस्कृत सीरीज)
न्यायवार्तिक	(विद्याविलास प्रेस काशी)
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(विजयनगर सस्कृत सीरीज)
न्यायसूत्रवृत्तितात्पर्य विवृत्ति	(हरिकृष्णदास गुप्त काशी)
न्यायावतार	(हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावलि, जैनसाहित्य सशोधक कार्यालय अहमदावाद)
पातजलयोगसूत्र–भाष्य	(सस्कृत और प्राकृत सीरीज बम्बइ)
पुराण	(श्री वे कटेश्वर प्रेस बम्बई)
पचाध्यायी	(नाथारगजी गाधी शोलापुर)
पचास्तिकाय–टीका	(रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला बम्बई)
प्रकरणपजिका	(चौख भा काशी)
प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरिवृत्ति	(देवच द लालाभाई सूरत)

प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णयसागर बम्बई)
प्रमेयरत्नकोष (जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
प्रवचनसार टीका (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई)
प्रवचनसारोद्धार (देवचंद लालाभाई सूरत)
प्रश्न उपनिषद् (निर्णयसागर बम्बई)
प्राकृत साहित्यका इतिहास (चौखंबा संस्कृत सीरीज)
बुद्धचर्या (ज्ञानमण्डल बनारस)
बुद्धचरित (Ed Cowell Aryan series)
बृहदारण्यक उपनिषद् (आनदाश्रम संस्कृत सीरीज पूना)
बोधिचर्यावतार–पंजिका (बिब्लिओथेका इंडिका)
ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य (निर्णयसागर बम्बई)
भक्तामरस्तोत्र (काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर)
भगवतीसूत्र टीका (आगमोदय समिति सूरत)
भारतीय तत्त्व चिन्तन (राजकमल प्रकाशन)
मज्झिमनिकाय (अनु राहुलसांकृत्यायन महाबोधिसभा बनारस)
मध्यमकावतार (स. पूसिन्)
मनुस्मृति (निर्णयसागर बम्बई)
महाभारत (,,)
महायान सूत्रालंकार (स. सिल्वन् लेवी पेरिस)
माध्यमिककारिका-वृत्ति (पीटर्सबर्ग)
मिलिन्दपण्हा (पाली) (V Trenckner London 1880)
मीमांसाश्लोकवार्तिक टीका (चौखंभा काशी)
मुण्डक उपनिषद् (निर्णयसागर बम्बई)
युक्तिप्रबोध (रतलाम)
युक्त्यनुशासन (माणिकचंद जैन ग्रंथमाला बम्बई)
योगबिन्दु (स० सुआली भावनगर)
योगशास्त्र (जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
रघुवंश (निर्णयसागर बम्बई)
लोकप्रकाश (हीरालाल हंसराज जामनगर)
लोकतत्त्वनिर्णय (आत्मानंद जैन सभा भावनगर)
लंकावतारसूत्र (नंजिओ क्योटो १९२३)
विशेषावश्यकभाष्य (यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
विसुद्धिमग्ग (पाली) (पालीटेक्स्ट सोसायटी लंडन)
शब्दकल्पद्रुम (हरिचरणवसु कलकत्ता)
शास्त्रदीपिका (निर्णयसागर बम्बई)
शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका (देवचंद लालाभाई सूरत)
श्वेताश्वतर उपनिषद् (निर्णयसागर बम्बई)
षड्दर्शनसमुच्चय–राजशेखर (यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
षड्दर्शनसमुच्चय–मणिरत्नटीका (चौखंभा काशी)

षड्दर्शनसमुच्चय–गुणरत्नटीका (आत्मानंद सभा भावनगर)
सन्मतितर्क (गुजराती) (पूजाभाई जैन ग्रंथमाला अहमदाबाद)
सन्मतितर्कटीका (गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद)
सत्यार्थप्रकाश (अजमेर सं १८९३)
सप्तभंगीतरंगिणी (रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई)
समवायांगसूत्र-टीका (आगमोदय समिति सूरत)
सर्वदर्शनसंग्रह (प्राच्यविद्यासंशोधन मंदिर पूना)
सर्वार्थसिद्धि (जैनेन्द्र मुद्रणालय कोल्हापुर)
सागारधर्मामृत (माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई)
सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता (सं हरप्रसाद सिक्स बुद्धिस्ट टैक्स्ट)
सूत्रकृतांगसूत्र–टीका (आगमोदय समिति सूरत)
स्थानांगसूत्र–टीका (,,)
संयुत्तनिकाय (पाली) (पालिटैक्स्ट सोसायटी १८९८)
सांख्यकारिका माठरभाष्य (चौखंभा काशी)
सांख्यप्रवचनभाष्य (विद्याविलास प्रेस काशी)
स्याद्वादमंजरी–लिखित —रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास (गुजराती) (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी अहमदाबाद)

A History of Indian Philosophy Vol I (Cambridge University 1922)
A History of Indian Philosophy Vol II (,, ,, 1932)
A History of Indian Literature Vol II (Calcutta University 1933)
A History of Pre-Buddhist Indian Philosophy (Calcutta 1921)
Buddhism in Translation (Harvard Oriental Series 1922)
Buddhist Psychology (London 1914)
Constructive Survery of the Upanisadic Philosophy (Poona 1926)
Encyclopedia of Ethics and Religion
Hinduism and Buddhism (London 1921)
History of Indian Philosophy Vol II (Poona 1927)
Indian Philosophy Vol II (Library of Philosophy 1927)
Jain Sutras Vol II (S B E XLV)
Milinda Questions (London 1930)
Mannual of Indian Buddhism (Strassburg 1896)
Pancastikayasara (Jain Publishing House Arrah 1920)
Response in Living and Non-living (London 1902)
Shramanism (Indian Science Congress 1934)
Syadvada Manjari (Bombay Sanskrit and Prakrit Series 1933)
Systems of Buddhistic Thought (Calcutta University 1912)
Some Problems of Indian Literature (Caclutta University 1925)
Samkhya System (Cal 1918)
The Principles of Psychology (London 1890)
The Central Conception of Buddhism (London 1923)
The Conception of Buddhist Nirvana (Leningrad 1927)

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास द्वारा सचालित

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) गोम्मटसार जीवकाण्ड

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, श्री ब्रह्मचारी प० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत सस्कृत छाया तथा नयी हिन्दी टीका युक्त। अवकी बार पडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बडी सस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है। पचमावृत्ति। मूल्य—उन्नीस रुपये।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, प० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत सस्कृत छाया और हिन्दी टीका। प० खूबचन्दजी द्वारा सशोधित। जैन सिद्धान्त-ग्रन्थ है। चतुर्थावृत्ति। मूल्य—सत्रह रुपये।

(३) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

स्वामिकार्तिकेयकृत मूल गाथाएँ, श्री शुभचन्द्र कृत वडी सस्कृत टीका तथा स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक प० कैलासचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दी टीका। डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययन-पूर्ण अग्रेजी प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सपादन। द्वितीयावृत्ति। मूल्य—उन्नीस रुपये।

(४) परमात्मप्रकाश और योगसार

श्री योगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रश दोहे, श्री ब्रह्मदेवकृत सस्कृत टीका व प० दौलतरामजीकृत हिन्दी टीका। विस्तृत अग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। महान् अध्यात्मग्रन्थ। डॉ० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन। नवीन चतुर्थ सस्करण। मूल्य—अठारह रुपये।

(५) ज्ञानार्णव

श्री शुभचन्द्राचार्यकृत महान् योगशास्त्र। सुजानगढ निवासी प० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। चतुर्थ आवृत्ति। मूल्य—बारह रुपये।

(६) प्रवचनसार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित ग्रन्थरत्नपर श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका एव श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीकाएँ तथा पाडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीका। डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अग्रेजी अनुवाद तथा विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। तृतीयावृत्ति। मूल्य—पन्द्रह रुपये।

(७) बृहद्द्रव्यसंग्रह

आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित मूल गाथाएँ, सस्कृत छाया, श्री ब्रह्मदेवविनिर्मित सस्कृतवृत्ति और प० जवाहरलाल शास्त्रीप्रणीत हिन्दीभाषानुवाद। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ। चतुर्थावृत्ति। मूल्य—बारह रुपये पचास पैसे।

(८) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक । प० टोडरमल्लजी तथा प० दौलतरामजीकी टीकाके आधार पर प० नाथूरामकी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका सहित । श्रावकमुनिधर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन । पष्ठावृत्ति । मूल्य—पाँच रुपये ।

(९) पञ्चास्तिकाय

श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज । श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत 'समयव्याख्या' (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) एव श्री जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सस्कृत टीकाओसे अलकृत और पाडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीकाके आधारपर प० पन्नालालजी बाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दी अनुवाद सहित । तृतीयावृत्ति । मूल्य—सात रुपये ।

(१०) स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा श्री मल्लिषेणसूरिकृत सस्कृत टीका । श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए० पी० एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है । बडी खोजसे लिखे गये ८ परिशिष्ट हैं । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—इक्कीस रुपये ।

(११) इष्टोपदेश

श्री पूज्यपाद-देवनन्दि आचार्यकृत मूल श्लोक, पडितप्रवर श्री आशाधरकृत सस्कृतटीका, प० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, बैरिस्टर चम्पतरायजीकृत अग्रेजी टीका तथा विभिन्न विद्वानो द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एव अग्रेजी पद्यानुवादो सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना । द्वितीय आवृत्ति । मूल्य—दो रुपये पचास पैसे ।

(१२) लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीरचित करणानुयोग ग्रन्थ । पडितप्रवर टोडरमल्लजीकृत बडी टीका सहित । श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीका अमूल्य सम्पादन द्वितीयावृत्ति । मूल्य—छत्तीस रुपये ।

(१३) द्रव्यानुयोगतर्कणा

श्री भोजकविकृत मूल श्लोक तथा व्याकरणाचार्य ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत हिन्दी अनुवाद । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—ग्यारह रुपये पचीस पैसे ।

(१४) न्यायावतार

महान् तार्किक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरकृत मूल श्लोक व जैनदर्शनाचार्य प० विजयमूर्ति एम० ए० कृत श्री सिद्धर्षिगणिकी सस्कृतटीकाका हिन्दीभाषानुवाद । न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—छ रुपये ।

(१५) प्रशमरतिप्रकरण

आचार्य श्री उमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्री हरिभद्रसूरिकृत सस्कृतटीका और प० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है । प्रथमावृत्ति । मूल्य—छ रुपये ।

(१६) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)

श्री उमास्वातिकृत मूलसूत्र और स्वोपज्ञ भाष्य तथा पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण। द्वितीयावृत्ति। मूल्य—छ रुपये।

(१७) सप्तभंगीतरंगिणी

श्री विमलदासकृत मूल और पंडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा कृत भाषाटीका। न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। तृतीयावृत्ति। मूल्य—छ रुपये।

(१८) समयसार

आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित महान् अध्यात्म ग्रन्थ, तीन टीकाओं सहित नयी आवृत्ति। (अप्राप्य)

(१९) इष्टोपदेश

मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मूल्य—पचहत्तर पैसे

(२०) परमात्मप्रकाश

मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथाएँ। मूल्य—दो रुपये।

(२१) योगसार

मूल गाथाएँ व हिन्दी सार। मूल्य—पचहत्तर पैसे।

(२२) कार्तिकेयानुप्रेक्षा

मूल गाथाएँ और अंग्रेजी प्रस्तावना। मूल्य—दो रुपये पचास पैसे।

(२३) प्रवचनसार

अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठांतर सहित। मूल्य—पाँच रुपये।

(२४) अष्टप्राभृत

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्री रावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर। मूल्य—दो रुपये।

(२५) मोक्षमाला (भावनाबोध सहित)

श्रीमद् राजचन्द्रकृत मूल गुजराती ग्रन्थका श्री हंसराजजीकृत हिन्दी अनुवाद। इसमें जैन धर्मको यथार्थ समझानेका प्रयास किया गया है। भाषाशैली बहुत सुन्दर और सरल है। इसमें १०८ शिक्षापाठ है। साथमें भावनाबोधमें बारह भावनाओंका सुन्दर दृष्टान्तसहित वर्णन है। पुन छप रहा है।

(२६) श्रीमद् राजचन्द्र

श्रीमद् राजचन्द्रके मूल गुजराती पत्रो व रचनाओंका श्री हंसराजजीकृत हिन्दी अनुवाद। तत्त्वज्ञान-पूर्ण महान् ग्रन्थ है। मूल्य—बाईस रुपये पचास पैसे।

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मँगानेवालोंको कमिशन दिया जायेगा। इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें।



श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगासकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

१ श्रीमद् राजचन्द्र २ मोक्षमाला ३ तत्त्वज्ञान ४ श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला ५ पत्रशतक ६ समाधिसोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोका अनुवाद) ७ सहजसुख-साधन ८ सुबोध सग्रह ९ नित्यनियमादि पाठ (भावार्थ सहित) १० पूजासचय ११ आठ दृष्टिनी सज्झाय १२ ज्ञानमञ्जरी (अप्राप्य) १३ आलोचनादि पद सग्रह १४ चैत्यवदन चोवीसी (अप्राप्य) १५ नित्यक्रम १६ श्रीमद् लघुराजस्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत १७ आत्मसिद्धि शास्त्र १८ श्री समयसार सक्षिप्त (अप्राप्य) १९ धर्मामृत (अप्राप्य) २० अनित्यपचाशत् तथा हृदयप्रदीप २१ नित्यनियमादि पाठ भावार्थयुक्त (हिन्दी) २२ परमात्मप्रकाश २३ तत्त्वज्ञान तरगिणी २४ आत्मानुशासन २५ अध्यात्म राजचन्द्र (अप्राप्य) २६ अध्यात्मरसतरग २७ श्रीमद् राजचन्द्र जन्मशताब्दी महोत्सव पूजादि स्मरणाजलि काव्यो २८ सुवर्ण-महोत्सव—आश्रम परिचय २९ Shrimad Rajchandra, A Great Seer 30 Mokshamala (Out of Print)

आश्रमके गुजराती प्रकाशनोका पृथक् सूचीपत्र मगाइये । सभी ग्रन्थोपर डाकखर्च अलग रहेगा ।

प्राप्तिस्थान

१ श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,

स्टेशन—अगास, पोस्ट—बोरिया

वाया—आणद (गुजरात)

पिन ३८८१३०

२ श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,

(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

चौकसी चेम्बर, खारा कुवा, जौहरी बाजार

बम्बई—४००००२

